दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति

[इन्डोनीसिया, मलायीशिया, कम्बोडिया, विएतनाम, लाओस, सियाम, फिलिप्पीन, बरमा और श्रीलंका]

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी. लिट्. (पेरिस)

भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार और

मंगलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित



श्री सरस्वती सदन

ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव, नई दिल्ली-११००२९

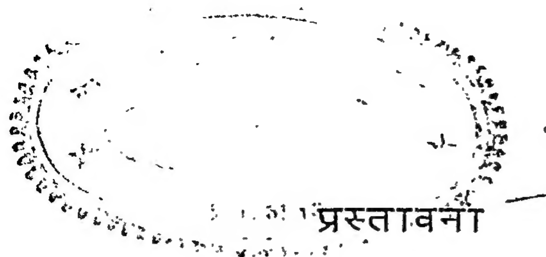
[मूल्य ८० रुपये

प्रकाशक :
श्री सरस्वती सदन
ए-१/३२, सफ़दरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली-२९



पांचवां संस्करण : १९९१

मुद्रक :
चमन ऑफसैट प्रेस
१६७४, सुईवालान, नई दिल्ली-२



प्रस्तावना

जहाँ तक धर्म, भाषा और संस्कृति का सम्बन्ध है, अब से कुछ सदी पहले तक दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया के प्रायः सभी देश भारत के उसी प्रकार से अंग थे, जैसे कि सौराष्ट्र, वंग, कलिङ्ग और पाण्डय आदि थे। इन्डोनीसिया, मलायीसिया, कम्बोडिया, विएत-नाम और सियाम आदि में भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे और वहाँ के पूर्व-निवासियों को अपने धर्म में दीक्षित कर भारतीय संस्कृति के रंग में रंग लिया था। इन देशों के राजाओं के नाम प्रायः भारतीय थे, अपने राज्य के कार्यों के लिये वे प्रधानतया संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, और अपने शिलालेखों को ब्राह्मी तथा अन्य भारतीय लिपियों में उत्कीर्ण कराते थे। संस्कृत के सैकड़ों शिलालेख इन देशों से उपलब्ध हुए हैं। इन देशों के प्रायः सभी निवासी शैव, वैष्णव आदि भारतीय धर्मों के अनुयायी थे, और वहाँ बहुत-से ऐसे मठ और आश्रम विद्यमान थे जिनमें वैदिक, पौराणिक तथा बौद्ध साहित्य का पठन-पाठन हुआ करता था। कितने ही मन्दिर, विहार, चैत्य, स्तूप आदि भी इन देशों के राजाओं तथा सम्भ्रान्त लोगों द्वारा बनवाये गये थे, जिनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, बुद्ध, बोधिसत्त्व आदि की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित थीं। इन मन्दिरों व स्तूपों आदि के भग्नावशेष बड़ी संख्या में आज भी इन देशों में विद्यमान हैं। कुछ मन्दिर तो अब तक भी सुरक्षित दशा में हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया का इन्डोनीसिया देश पहले हालैण्ड के अधीन था, और इन्डोचायना (कम्बोडिया, लाओस और विएत-नाम) फ्रांस के। इस दशा में इस क्षेत्र के प्राचीन इतिहास की खोज का कार्य मुख्यतया डच और फ्रेञ्च विद्वानों द्वारा किया गया, और उसका परिचय प्राप्त करने के लिये इन्हीं देशों की पुस्तकों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये पुस्तकें अंग्रेजी में न होकर डच और फ्रेंच भाषाओं में हैं। यही कारण है, जो हमारे भारतीय पाठकों को अपने देश के धर्म तथा संस्कृति के अन्य देशों में प्रसार के इस गौरवमय इतिहास के सम्बन्ध में समुचित जानकारी नहीं हो सकी है। गत वर्षों में इस सम्बन्ध में अंग्रेजी में कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, पर हिन्दी में अभी इस विषय के साहित्य की बहुत कमी है।

मैंने यत्न किया है, कि दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया के प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का वृत्तान्त सरल एवं सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करूँ। मुझे आशा है, पाठक इस पुस्तक को उपयोगी पायेंगे और इस द्वारा भारत के साँस्कृतिक इतिहास के एक गौरव-पूर्ण एवं विस्मृत अध्याय के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

सहायक ग्रन्थ

Aymontier, E. : Histoire de l'ancient Cambodge.
Briggs, L.P. : The Ancient Khmer Empire.
Chhabra, B. C. : Expansion of Indo-Aryan Culture.
Coedes, G. : Inscriptions du Cambodge. 6 Vols.
Coedes, G. : Les Etats Hindouises Indochineet Indonesia.
Chatterji, B. R. : Hindu Influence in Cambodia.
Chatterji & Chakravartty. : India and Java.
Coomarswamy, A. K. : History of Indian and Indonesian Art.
Ghosh, M. R. ; History of Combodia.
Hall, H. G. A. : History of South-east Asia.
Krom, N. J. : Barabadur, Archaeological Description.
Le May, R. A. : History of South-east Asia.
Le May, R. : A Concise History of Buddhist Art in Siam.
Majumdar, R. C. : Ancient Indian Colonies in the Far East
(1) Champa
(2) Suvarnadvipa
Majumdar, R. C. : Hindu Colonies in the Far East.
Majumdar, R. C. : Kambuj desh.
Maspero, G. : Le Royanmpe de Champa.
Mus, Paul. : Barabadur.
Paramentier, H. : History of Khmer Architecture.
Paramentier, H. : Les Monuments Chams de l'annam.
Quartisch Wales. : The Making of Greater India.
Quartisch Wales. : Towards Angkor.
Rowland, H. : The Art and Architecture of India.
Sastri, K. A. N. : South Indian Influence in the Far East.
Schnichter, F. M. : Forgotten Kingdoms of Sumatra.
Stern, P. : Le temple Khmer.
Stern P. : L'evolution de l'art Khmer.
Stutterheim. W. F. : Indian influence in old Balinese Art.
Wales, H. G. Q. : Towards Angkor.
With, K. : Java.
Zimmer. : The art of Indian Asia.

विषय-सूची

चित्र-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

(१) भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का क्षेत्र—दक्षिण-पूर्वी एशिया

मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व (चीन, जापान और कोरिया) के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया भी भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। भारत के पूर्व में बरमा, मलायीसिया, इण्डोनीसिया, सियाम, कम्बोडिया, लाओस, विएत-नाम और फिलिप्पीन के राज्य हैं, जिन सब में न केवल भारत के धर्मप्रचारक ही शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि धर्मों का प्रचार करने के लिये गये थे, अपितु कितने ही उपनिवेश भी वहाँ भारतीयों द्वारा स्थापित किये गये थे। इन देशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध तो बहुत प्राचीन समय से था। पर जब राजा अशोक ने धर्म द्वारा अन्य देशों को विजय करने की नीति को अपनाया, और आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) के नेतृत्व में बौद्धों की तृतीय महासभा ने विदेशों में प्रचारक-मण्डल भेजने का आयोजन किया, तो भारत से पूर्व की ओर के इन प्रदेशों में भी बौद्ध स्थविर और भिक्षु धर्म प्रचार के लिये गये थे। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व तक इन देशों में किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। भारत के धर्मप्रचारकों ने जहाँ इन देशों में अपने धर्मों का प्रचार किया, वहाँ साथ ही सभ्यता के मार्ग पर भी उन्हें अग्रसर किया। बौद्धों के अतिरिक्त शैव, वैष्णव आदि पौराणिक धर्मों के प्रचारक भी इन देशों में गये, और वहाँ के निवासियों को उन्होंने अपने धर्मों का अनुयायी बनाया।

पर भारतीय लोग केवल धर्मप्रचार के प्रयोजन से ही इस क्षेत्र के देशों में नहीं गये थे। वहाँ उन्होंने अपने बहुत-से उपनिवेश भी बसाये थे। बरमा से लगाकर सुदूर चीन तक हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर में जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, मौर्योत्तर युग में वे सब भारतीय बस्तियों से परिपूर्ण हो गये थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की यह प्रक्रिया शुङ्ग-सातवाहन युग में प्रारम्भ हुई थी, और गुप्त साम्राज्य के समय तक इसका चरम विकास हो गया था। प्राय: तेरहवीं सदी तक इस क्षेत्र के ये भारतीय राज्य कायम रहे। इनके राजा भारतीय थे, और इनकी भाषा, संस्कृति, शासनविधि तथा धर्म आदि सब भारतीय थे। भारत के जिन प्रदेशों से जाकर लोग वहाँ बसते थे, अपने नये नगरों व बस्तियों के नाम वे मातृ-भूमि के अपने पुराने नगरों व जनपदों के नाम पर ही रखा करते थे। वंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा के दक्षिण-पूर्वी सिरे पर नये वंग की स्थापना की, जो अब बंका कहाता है। इसी प्रकार आधुनिक क्रा की स्थल-ग्रीवा में नये तक्षशिला का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बसकर भारतीयों ने वहाँ की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया, और अधिक पूर्व में जाकर नई चम्पा नगरी की स्थापना की। अंग जनपद की राजधानी

का नाम चम्पा था। वहाँ से गये भारतीयों ने उसी के नाम पर अपने नये उपनिवेश का नाम चम्पा रखा। धीरे-धीरे चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ गई। समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चम्पा ने एक साम्राज्य का निर्माण किया, जिसके विविध प्रान्तों के नाम कौठार, पांडुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चम्पा के राजाओं के नाम नर-वाहन विक्रान्तवर्मा, इन्द्रावर्मा आदि थे, और उनके राज्य में पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था। ये राजा शासन-कार्य के लिये संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, और इन द्वारा उत्कीर्ण कराए हुए कितने ही शिलालेख इस समय विद्यमान हैं। चम्पा के पश्चिम में एक अन्य भारतीय उपनिवेश था, जिसमें वर्तमान समय के कम्बोडिया और सियाम के प्रदेश अन्तर्गत थे। चीनी लोगों ने इसे फूनान नाम से लिखा है, और इस उपनिवेश की स्थापना कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी। आगे चलकर इस राज्य (कम्बुज) ने भी बहुत उन्नति की। इसके राजा भी भारतीय थे, और इसमें भी भारतीय धर्मों का प्रचार था। इन्डोनीसिया के सुमात्रा, जावा आदि सभी द्वीपों में प्राचीन समय में भारतीयों के उपनिवेश स्थापित थे। यही दशा मलाया और बरमा की भी थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी प्रदेशों में हिन्दू मन्दिरों, मठों, बौद्ध विहारों, चैत्यों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं के शिलालेख भी इन प्रदेशों से बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख प्राप्त हुए हैं, अपितु भारतीय व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेख भी वहाँ से मिलते हैं, क्योंकि भारत के साहसी व्यापारी प्राचीन काल में बड़ी संख्या में इन देशों में व्यापार के लिये जाया-आया करते थे। धर्मप्रचार के उद्देश्य से इन देशों में जाने का सूत्रपात बौद्धों द्वारा किया गया था, पर उनका अनुकरण कर बहुत से शैव तथा वैष्णव प्रचारक भी इन देशों में गये, और वहाँ के निवासियों को उन्होंने अपने धर्मों का अनुयायी बनाया। यही कारण है, जो शैव और वैष्णव मन्दिर भी इन देशों में अच्छी बड़ी संख्या में निर्मित हुए, और उनके अवशेष वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं। भारतीय धर्मों तथा संस्कृति का प्रभाव इन देशों से अब तक भी नष्ट नहीं हुआ है। सियाम, बरमा और कम्बोडिया आदि देशों के लोगों का धर्म अब भी बौद्ध है, और वे भारत को अपनी धर्मभूमि मानते हैं। मलायीसिया और इन्डोनीसिया के लोग अब धर्म से मुसलमान हैं, पर उनकी भाषा, रहन-सहन, प्रथा-परम्परा, संस्कृति आदि पर भारत की बहुत गहरी छाप है। वस्तुतः, दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों का विकास भारत के उपनिवेशों के रूप में ही हुआ था, और एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय तक ये उसी ढंग से भारत के अंग रहे, जैसे कि गान्धार, कपिश और कम्बोज थे। इसीलिये अनेक लेखक इस क्षेत्र के देशों को 'वृहत्तर भारत' संज्ञा से सूचित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि भाषा, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, राजवंश और कला आदि की दृष्टि से देखा जाए, तो दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों को भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के अन्तर्गत मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(२) सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप

प्राचीन भारतीय दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों से परिचित थे, और भारत के व्यापारी इन देशों में व्यापार के लिए जाया-आया करते थे। वे इन्हें सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप कहा करते थे, क्योंकि इनके साथ व्यापार में उन्हें बहुत अधिक लाभ होता था, और इनकी खानों से वे सोना प्राप्त भी किया करते थे। सम्भवतः, बरमा से मलाया तक का प्रदेश सुवर्णभूमि कहाता था, और उससे पूर्व में स्थित इन्डोचायना का प्रायद्वीप (कम्बोडिया, लाओस और विएत-नाम) तथा वर्तमान इन्डोनीसिया के अन्तर्गत विविध द्वीप (सुमात्रा, जावा, वाली, बोर्नियो आदि) स्वर्णद्वीप नाम से जाने जाते थे। बरमा में इरावदी और उसकी सहायक नदियों की रेत से अब तक भी सोना निकाला जाता है, और मलाया में भी सोने की खानें विद्यमान हैं। अतः प्राचीन भारतीयों द्वारा इस प्रदेश को सुवर्णभूमि कहा जाना उचित ही था। इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त गरम मसाले, चीनी, क़ीमती काष्ठ आदि प्रभूत परिमाण में होते थे, और इनके क्रय-विक्रय से प्रभूत धन कमाया जा सकता था। इस दृष्टि से इनका सुवर्ण-द्वीप नाम भी संगत था। प्राचीन रोमन लोग भी इन्हें "क्रिसी" कहा करते थे, जिसका शब्दार्थ भी सुवर्णद्वीप है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप शब्दों का प्रयोग स्थूल रूप से किया गया है, और इनसे वे विविध प्रदेश अभिप्रेत थे जो भारत के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में स्थित हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के साथ भारत का सम्बन्ध पहले व्यापार द्वारा हुआ था, अतः सुवर्णभूमि तथा सुवर्णद्वीप का उल्लेख सबसे पूर्व व्यापार के सिलसिले में ही आया है। बौद्ध साहित्य में जातक कथाओं का विशिष्ट स्थान है। बुद्ध के पूर्व जन्मों को निमित्त बनाकर उनमें बहुत-सी ऐसी कथाएँ दी गई हैं, जो प्राचीन इतिहास पर भी प्रकाश डालती हैं। इन जातक कथाओं में व्यापार के लिए सुवर्णभूमि व सुवर्णद्वीप जाने वाले साहसी व्यापारियों के कथानक भी विद्यमान हैं। जातक कथाओं का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के बौद्ध युग से है, और उन द्वारा उसी युग की दशा पर प्रकाश पड़ता है। महाजनक जातक (कावेल ६, २२) के अनुसार मिथिला के राजकुमार महाजनक ने धन कमाने के उद्देश्य से एक ऐसे जहाज द्वारा सुवर्णभूमि की यात्रा की थी, जिस पर सात सार्थवाह अपने पण्य के साथ व्यापार के लिए जा रहे थे। सुस्सोन्दी जातक (कावेल ३, १२४) में सग्ग नामक व्यापारी की समुद्रयात्रा का वर्णन है। उसने भरुकच्छ (भृगुकच्छ या भड़ौंच) से जहाज द्वारा यात्रा प्रारम्भ की थी, और वह सुवर्णभूमि गया था। सुप्पारक जातक (कावेल ४, ८६) में भी भरुकच्छ से सुवर्णभूमि जाने वाले एक व्यापारी जहाज का उल्लेख है। एक जातक में वाराणसी के समीप के एक वर्धकि-ग्राम की कथा दी गई है, जिसके एक हज़ार बढ़ई परिवारों ने जंगल काटकर लकड़ी से बड़े-बड़े जहाज बनाये और अपने परिवार सहित उनमें बैठकर गंगा के रास्ते वे समुद्र में पहुंच गये, और वहाँ से जलमार्ग द्वारा एक ऐसे द्वीप में, जहाँ कि विविध प्रकार के फलफूल प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होते थे। सुवर्णभूमि के आकर्षण से ही इन वर्धकि-परिवारों ने अपने अभिजन का परित्याग किया था।

व्यापार के लिए सुवर्णभूमि जाने वाले व्यापारियों की कुछ कथाएँ कथासरित्सागर, वृहत्कथामञ्जरी और वृहत्कथाश्लोकसंग्रह में भी पायी जाती हैं। ये तीनों ग्रन्थ गुणाढ्य-कृत पालि भाषा की वृहत्कथा नामक पुस्तक पर आधारित हैं। गुणाढ्य की मूल पुस्तक वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। वृहत्कथाश्लोकसंग्रह में सानुदास नामक एक व्यापारी की कथा दी गई है। आचेर नाम का एक साहसी व्यक्ति बहुत-से साथियों को लेकर सुवर्णभूमि के लिए प्रस्थान कर रहा था। सानुदास भी उनके साथ हो लिया। पहले वे जहाज द्वारा जल मार्ग से गये और समुद्र को पार कर वे ऐसी भूमि पर पहुँच गये, जहाँ से आगे बढ़ने के लिए उन्हें दुर्गम पर्वत को पार करना था। वेत्रपथ (लताओं और वृक्षों की लटकती हुई जड़ों को पकड़-पकड़ कर) से वे पहाड़ की चोटी पर चढ़े। उससे आगे चलने पर उन्हें एक नदी मिली, जिसे उन्होंने वंश पथ (बांसों से बनाए हुए बेड़े या पुल) द्वारा पार किया। नदी के पार उतरकर उन्हें दो पहाड़ियों के बीच की बहुत-ही तंग तथा ढलान वाली पगडण्डी से आगे बढ़ना था। इसके लिए उन्होंने बकरियों का प्रयोग किया, जिनके द्वारा ही ऐसे रास्ते को पार किया जा सकता था, क्योंकि बकरियाँ तंग पहाड़ी रास्तों पर भी सुगमता से आ-जा सकती हैं। इस प्रकार आचेर की यह मण्डली जब अजापथ से जा रही थी; दूसरी ओर से आती हुई एक अन्य मण्डली से उसका सामना हुआ। दोनों का एक साथ अजापथ से आ-जा सकना असम्भव था, अतः आचेर की आज्ञा से दूसरी ओर से आने वाली मण्डली के लोगों पर हमला कर दिया गया और उन्हें धक्का देकर खड्ड में फेंक दिया गया। अन्य भी अनेक बाधाओं का सामना आचेर व सानुदास के साथियों को करना पड़ा। पर सुवर्ण का आकर्षण इतना बड़ा था, कि उन्होंने यात्रा की कठिनाइयों की जरा भी परवाह नहीं की। अन्त में वे एक ऐसी नदी के तट पर पहुँच गये, जिसकी रेत में सुवर्ण के कणों की सत्ता थी। सुवर्णभूमि तक पहुँचने के लिये प्राचीन भारत के व्यापारियों को कैसे-कैसे मार्गों से जाना पड़ता था, और किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, वृहत्कथाश्लोकसंग्रह की इस कथा से उसका कुछ आभास मिल जाता है।

कथासरित्सागर की अनेक कथाओं में जलमार्ग द्वारा सुवर्णद्वीप जाने वाले व्यापारियों का वृतान्त दिया गया है। एक कथा के अनुसार समुद्रशूर नाम के व्यापारी ने जहाज से सुवर्णद्वीप के लिए प्रस्थान किया था, और वह कलसपुर के बन्दरगाह पर गया था (कथासरित्सागर, तरंग ५४, श्लोक ९७ से)। रुद्र नाम का व्यापारी जब सुवर्णद्वीप से वापस आ रहा था, तो उसका जहाज मार्ग में समुद्र में डूब गया था (तरंग ५४, श्लोक ८६ से)। व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप जाने वाले ईश्वरवर्मा और यशःकेतु नामक व्यापारियों की कथाएँ भी कथासरित्सागर में विद्यमान हैं (तरंग ५७ और ८६)। एक अन्य कथा के अनुसार कटाह द्वीप की राजकुमारी का जहाज भारत की ओर आते हुए मार्ग में सुवर्णद्वीप के पास नष्ट हो गया था, और राजकुमारी ने उस द्वीप में शरण प्राप्त की थी (तरंग १२३)। कटाहद्वीप को वर्तमान समय के केड्डा या केडाह (कडार) के साथ मिलाया गया है। कथासरित्सागर की अन्य भी कई कथाओं में कटाह द्वीप जाने वाले व्यापारियों का वर्णन है। गुहसेन नाम का व्यापारी अपनी पत्नी देवस्मिता के साथ

ताम्रलिप्ति से कटाह द्वीप गया था।

कथाकोश में नागदत्त नामक एक व्यापारी की कथा दी गई है, जो धन उपार्जन करने के लिए पाँच सौ जहाजों को लेकर समुद्र यात्रा के लिए चला था। मार्ग में उसके जहाज एक ऐसे स्थान पर फँस गए, जो पहाड़ियों से घिरा हुआ था। नागदत्त ने अपनी विपत्ति की सूचना एक तोते के पैर में बँधे हुए पत्र द्वारा बाहर भेजी। यह पत्र सुवर्णद्वीप के राजा सुन्दर के हाथ लग गया, और उसने नागदत्त का संकट से उद्धार किया।

हरिभद्र सूरि ने अपने कथा ग्रन्थ समराइच्चकहा (समरादित्य कथा) में भारतीय व्यापारियों द्वारा की जाने वाली समुद्र, यात्राओं के अनेक विवरण लिखे हैं। एक कथा के अनुसार धन नाम का एक सार्थवाह-पुत्र धन कमाने के उद्देश्य से सुसम्म नामक नगर से चला और दो महीने बाद वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ उसने अपना सब पण्य बेच दिया, पर उसे पर्याप्त मुनाफा नहीं हुआ। अतः ताम्रलिप्ति से उसने 'परतीरभाण्ड' (विदश जाने वाला माल) खरीदा और एक जहाज का प्रबन्ध कर उस पर वह सब माल लाद दिया। समुद्र यात्रा शुरू करने से पहले सार्थवाह-पुत्र धन ने दीनों और अनाथों को धन बांटा, जलनिधि (समुद्र) की पूजा की और फिर यानपात्र (जहाज) की पूजा भी करके वह जहाज पर सवार हो गया। लंगर उठा लिए गये और पाल खोल दिए गये। समुद्र पाताल के समान गहरा था। उछलती हुई लहरें जल-हस्तियों जैसी जान पड़ती थीं। पण्य को बेचने के लिए सार्थवाह-पुत्र धन का जहाज कटाहद्वीप पहुँचा, और धन का नन्दक नाम का सेवक भेंट-उपहार का सामान लेकर वहाँ के राजा के पास गया। राजा ने उसका सम्मान किया, और उसे निवास के लिए स्थान दियाँ। ताम्रलिप्ति से लाया हुआ सब भाण्ड कटाह द्वीप में बेच दिया गया, और वहाँ से प्रतिभाण्ड लेकर वापसी यात्रा प्रारम्भ की गई।

केवल कथा-ग्रन्थों में ही नहीं, अपितु प्राचीन भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी सुवर्ण-भूमि और स्वर्णद्वीप के उल्लेख विद्यमान हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र (२, ११) में सुवर्ण-भूमि से प्राप्त होने वाले अगुरु का उल्लेख है। मिलिन्दपन्हो (पृष्ठ ३५९) में एक स्थान पर जहाज के एक ऐसे स्वामी का विवरण है, जो व्यापार के लिए समुद्र को पार कर तक्कोला या चीन या सुवर्णभूमि या अन्यत्र बन्दरगाहों पर जाया करता था। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध पालिग्रन्थ निद्देस में उन क्लेशों का वर्णन किया गया है, धन और सुख की अभिलाषा से समुद्र-यात्रा करने वाले नाविकों को जिनका बहुधा सामना करना पड़ता था। इस प्रसंग में वहाँ लिखा है, कि नाविक लोग इन स्थानों पर जहाजों द्वारा जाया करते हैं—(१) गुम्ब, (२) तक्कोल, (३) तक्कसिला, (४) कालमुख, (५) मरणपार, (६) वेसुंग, (७) वेरापथ, (८) जावा, (९) तमली, (१०) वंग, (११) एलवद्धन, (१२) सुवण्णकूट, (१३) सुवण्णभूमि, (१४) तम्बपण्णी, (१५) सुप्पार, (१६) भरुकच्छ, (१७) सुरट्ठ, (१८) अंगणेक, (१९) गणगन, (२०) परमगंगन, (२१) योन, (२२) परमयोन, (२३) अल्लसन्द, (२४) मरुकन्तार, (२५) जण्णुपथ, (२६) अजपथ, (२७) मेन्ढपथ, (२८) शंकुपथ, (२९) छत्तपथ, (३०) वंसपथ, (३१) सकुणपथ, (३२) मूसिकपथ, (३३) दरिपथ, और (३४) वेत्ताधार। इनमें अनेक स्थान

मान्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और दक्षिण हैं। अनेक विद्वानों के मत में इन्द्रद्वीप बरमा का नाम था, और कशेरूमान् मलाया का। वारुण बोर्नियो का नाम था। ताम्रपर्णी श्रीलंका को कहते थे। गभस्तिमान् आदि अन्य नाम किन प्रदेशों या द्वीपों के लिए प्रयुक्त होते थे, यह स्पष्ट नहीं हैं। गरुड़ और वामन पुराणों में सौम्य और गान्धर्व के स्थान पर कटाह और सिंहल शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनका पाठ इस प्रकार है—"नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा।" इस पाठ में भारतवर्ष के भाग के रूप में जिस 'कटाह' का उल्लेख किया गया है वह अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी वर्णित है। कथासरित्सागर में अनेक ऐसी कथाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध कटाह द्वीप के साथ है। ऐसी एक कथा का उल्लेख ऊपर किया भी जा चुका है। जैन ग्रन्थ समराइच्चकहा में भी कटाह द्वीप से सम्बद्ध एक कहानी दी गई है। इन प्राचीन ग्रन्थों में कटाहद्वीप का उल्लेख एक शश्य-श्यामल, धनधान्य से पूर्ण व समृद्ध प्रदेश के रूप में किया गया है। मलाया प्रायद्वीप में केडाह नामक एक प्रदेश है, जिसे कटाह के साथ मिलाया गया है।

कथासरित्सागर की एक कथा प्राचीन भूगोल की जानकारी के लिए अत्यन्त महत्त्व की है। इसमें चन्द्रस्वामिन् नाम के एक व्यक्ति की कथा दी गई है, जिसका पुत्र और छोटी बहिन कहीं खो गए थे। वह उनकी खोज में निकला, और उसे ज्ञात हुआ कि कनकवर्मा नाम के एक व्यापारी ने उन्हें बचा लिया है और वे उसी के पास हैं। अतः चन्द्रस्वामिन कनकवर्मा की खोज में चला। उसने सुना, कि वह नारिकेल द्वीप में है। जब वह नारिकेल द्वीप पहुँचा, तो उसे ज्ञात हुआ कि कनकवर्मा वहाँ से कटाह द्वीप जा चुका है। कनकवर्मा के पीछे-पीछे चन्द्रस्वामिन् कटाहद्वीप से कर्पूरद्वीप गया और वहाँ से सुवर्णद्वीप और सिंहलद्वीप। यह तो स्पष्ट ही है, कि ये विविध द्वीप भारत के पूर्व और दक्षिण में स्थित थे। नारिकेल द्वीप का उल्लेख ह्यु एनत्सांग ने भी किया है। उसके अनुसार उस द्वीप की स्थिति लंका के २०० मील दक्षिण की ओर थी, और वहाँ नारियल प्रचुरता से होते थे। वर्तमान समय के निकोबार द्वीप की नारिकेल द्वीप से समता प्रतिपादित की गई है। कर्पूरद्वीप का उल्लेख अरब लेखकों ने भी किया है। यह नाम या तो बोर्नियो द्वीप का था, और या सुमात्रा के उत्तर-पश्चिमी भाग का। इस क्षेत्र में अब भी कपूर बहुत होता है। सिंहलद्वीप स्पष्टतया लंका को कहा गया है। कटाहद्वीप के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

वायुपुराण के अड़तालीसवें अध्याय में ऐसे द्वीपों का वर्णन है, जो भारत के दक्षिण में स्थित थे। इनमें छः द्वीप अंगद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वराहद्वीप हैं। अंगद्वीप बंगाल की खाड़ी में सियाम के तट पर था। इसी को अरब लेखकों ने अंगदिय नाम से लिखा है। मलयद्वीप वर्तमान समय का मलाया था। वायु पुराण के अनुसार इस द्वीप में मणि-माणिक्य, सुवर्ण तथा चन्दन प्रचुरता से होते थे। इसका प्रधान नगर लंका था, जिसे आधुनिक लेंकासुख के साथ मिलाया जा सकता था। वर्तमान मलाया में भी सोना, चन्दन आदि प्रभूत परिमाण में होते हैं। शंखद्वीप का उल्लेख अरब लेखकों ने भी किया है, और उन्होंने इसे संखे नाम से लिखा है। यह श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत था, और मलाया से तीन दिन की यात्रा की दूरी पर स्थित था। वराह द्वीप वहीं था, जिसे अरब

लेखकों ने वरवा द्वीप के नाम से लिखा है। सम्भवतः, यमद्वीप यमकोटि था, जिसे अल-वरूनी ने लंका से ९०° पूर्व में स्थित बताया है। वायु पुराण में वर्णित विविध द्वीपों के आधुनिक नामों में मतभेद हो सकता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये सब द्वीप दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थित थे।

वाल्मीकीय रामायण में भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों का उल्लेख है। उसमें एक श्लोक आया है, जो महत्त्व का है—

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥

यही श्लोक कुछ पाठभेद के साथ हरिवंश पुराण, क्षेमेन्द्रकृत रामायणमञ्जरी और सद्धर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र में भी पाया जाता है। इनमें सुवर्णरूप्यक के स्थान पर 'सुवर्णकुड्य' पाठ दिया गया है। इन ग्रन्थों में जिस यवद्वीप का उल्लेख है, वह वर्तमान समय का जावा है, जो इन्डोनीसिया के अन्तर्गत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्वीप है। प्राचीन साहित्य में अन्यत्र भी जावा को यवद्वीप कहा गया है। सुवर्णकुड्य का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में भी आया है। चीनी ग्रन्थों में इसी को 'किन-लिन' कहा गया है, और उसकी स्थिति फू-नान (कम्बोडिया) से ५०० मील पश्चिम में बताई गई है। इस प्रकार सुवर्णकुड्य की स्थिति मलाया प्रायद्वीप में होनी चाहिए। रामायण के पाठ 'सुवर्ण रूप्यक द्वीप' को यदि ठीक माना जाए, तो यह भी संगत है, क्योंकि ग्रीस और रोम के प्राचीन लेखकों ने चिसी द्वीप (सुवर्णद्वीप) के साथ अर्ग्यरे द्वीप (रूप्यक द्वीप) का भी उल्लेख किया है।

इसी प्रसंग में रामायण का एक अन्य श्लोक है—

आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः।
अन्तर्जलचरा घोरा नरव्याघ्रा इतिश्रुतम्॥

रामायणमंजरी में इस श्लोक की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है—'अन्तर्जलचरान् घोरान् समुद्रद्वीपसंश्रयान्'। यहाँ जल में अनवहत प्रवेश रखने वाले जिन घोर किरातों का उल्लेख है, वे 'समुद्रद्वीप' के निवासी थे। सम्भवतः जिस द्वीप को आजकल सुमात्रा कहा जाता है, उसी का प्राचीन नाम समुद्रद्वीप था, और सुमात्रा समुद्र शब्द का ही अपभ्रंश है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'पारसमुद्र' और 'पास' संज्ञक दो प्रदेशों का उल्लेख है। सम्भवतः, पारसमुद्र वही है, जिसे रामायणमंजरी में समुद्रद्वीप (सुमात्रा) कहा गया है, और 'पास' आधुनिक पासे है, जो सुमात्रा के उत्तरी भाग में है। मंजुश्री-मूल-कल्प में दक्षिण-पूर्वी एशिया के कतिपय द्वीपों के नाम इस प्रकार उल्लिखित किये गये हैं—

कर्मरंगाख्यद्वीपेषु नाडिकेर समुद्भवम्।
द्वीपे वारुसके चैव नग्न-वलिसमुद्भवे॥
यवद्वीपे वा सत्त्वेषु तदन्यद्वीप समुद्भवाः।
वाचा रकार बहुला तु वाचा अस्फुटतां गताः॥

इन श्लोकों में कर्मरंग, नाडिकेर, वारुसक, वलि, यवद्वीप और नग्न—इन द्वीपों तथा प्रदेशों का उल्लेख कर इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इनकी भाषा में 'र' की बहुलता है, और वे भली-भांति समझ में नहीं आतीं। ये सब द्वीप व प्रदेश दक्षिण-पूर्वी

एशिया के ही हैं। कर्मरंग का उल्लेख बाणभट्ट के हर्षचरित में भी आया है। इसकी स्थिति मलाया प्रायद्वीप में थी। ह्यु एनत्सांग ने इसी को कामलंका नाम से लिखा है। इसी का एक अन्य नाम चर्मरंग भी था, और मंजुश्रीमूलकल्प में ही अन्यत्र इसका यही रूप दिया गया है। मलाया में लिगोर के समीप इस प्रदेश की स्थिति थी। नाडिकेर द्वीप निकोबार का नाम था, और वारुसक वरुस का जो सुमात्रा में है। वलि द्वीप वर्तमान समय का बाली है, और यवद्वीप जावा। नग्न द्वीप कौन-सा था, यह स्पष्ट नहीं है। पर मंजुश्री-मूलकल्प में वर्णित ये सब द्वीप एवं प्रदेश दक्षिण-पूर्वी एशिया में ही थे।

बौद्ध ग्रन्थ निद्देस में बहुत-से ऐसे प्रदेशों का परिगणन किया गया है, जहां धन की लालसा से नाविक लोग जाया करते थे। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनमें भी बहुतों का सम्बन्ध दक्षिण-पूर्वी एशिया के ही साथ है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारतीयों को दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों तथा द्वीपों का समुचित ज्ञान था, और वे इनमें व्यापार आदि के प्रयोजन से आया-जाया भी करते थे।

(४) सुवर्णभूमि के मार्ग

भारत से सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप जाने-आने के लिए भारत के नाविक प्रधानतया तीन मार्गों का प्रयोग किया करते थे। उत्तरी भारत के व्यापारी गंगा के मार्ग से पहले ताम्रलिप्ति पहुंचते थे, जो गंगा नदी के मुहाने पर बन्दरगाह था। ताम्रलिप्ति से वे अन्डेमान द्वीप के उत्तर से होते हुए या अन्डेमान और निकोबार द्वीपों के बीच से होते हुए मलाया प्रायद्वीप पहुंच जाते थे, जहाँ क्रा के जलडमरू-मध्य के समीपवर्ती प्रदेश में अनेक बन्दरगाहों की सत्ता थी। दूसरा मार्ग भारत के पूर्वी समुद्रतट के बन्दरगाहों से प्रारम्भ होता था। भारत के पूर्वी समुद्रतट पर मुख्य बन्दरगाह दन्तपुर, चिन्नगंजाम और कावेरीपट्टनम् थे। इनसे प्रस्थान करने वाले जहाज बंगाल की खाड़ी को पार कर सीधे मलाया प्रायद्वीप चले जाते थे। तीसरा मार्ग लंका (सिंहल द्वीप) से प्रारम्भ होता था, और निकोबार द्वीप के दक्षिण से होता हुआ मलाया पहुंचता था।

मलाया प्रायद्वीप से दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों तथा द्वीपों को जाने के लिए भी अनेक मार्गों का प्रयोग किया जाता था। मलाया के दक्षिण में सिंगापुर है, जिसे मलक्का का जलडमरू-मध्य सुमात्रा से पृथक् करता है। भारत के जहाजों के सामने तीन विकल्प हुआ करते थे—(१) वे सुमात्रा द्वीप के दक्षिण से होकर पूर्व में स्थित चम्पा, कम्बुज आदि उन प्रदेशों में जाए, जहाँ वर्तमान समय में कम्बोडिया और विएत-नाम हैं। यह मार्ग बहुत लम्बा पड़ता था, और महासमुद्र के तूफानों के कारण यह निरापद भी नहीं था। (२) मलक्का के जलडमरूमध्य से होकर पूर्वी देशों को जाया जा सकता था। यह मार्ग छोटा तो पड़ता था, पर क्योंकि यह अधिक चौड़ा नहीं है, अतः इससे यात्रा करने पर जलदस्युओं का भय बना रहता था। मलक्का के जलडमरूमध्य के उत्तर तथा दक्षिण में जलदस्युओं के बहुत-से अड्डे थे, और उनके आक्रमणों तथा उन द्वारा व्यापारिक माल के लूट लिये जाने की संभावना से व्यापारी लोग सदा आशंकित रहते थे। (३) तीसरा विकल्प यह था, कि क्रा के स्थलडमरू-मध्य के समीप बंगाल की खाड़ी के

पूर्वी तट पर जो अनेक वन्दरगाह विद्यमान थे, उन पर व्यापारिक माल को उतार दिया जाए, और वहाँ से उसे स्थल-मार्गों द्वारा सियाम की खाड़ी के वन्दरगाहों पर पहुंचा दिया जाए। मलाया प्रायद्वीप की लम्वाई चौड़ाई से वहुत अधिक है, और उसमें क्रा का स्थल-डमरू-मध्य तो चौड़ाई में वहुत ही कम है। स्थल के मार्ग से उसे पार कर सकना कठिन नहीं है। महासमुद्र के तूफानों तथा मलक्का के जलडमरू-मध्य के जलदस्युओं के संकट से वचने के लिए भारत के व्यापारी इस स्थल-मार्ग को श्रेष्ठ मानते थे, और इसका उपयोग किया करते थे। क्रा के स्थलडमरू-मध्य के पश्चिमी तट (वंगाल की खाड़ी पूर्वी तट) पर तकुआ-पात्नंग और केडाह के वन्दरगाह थे, जहाँ भारत से आने वाले जहाजों का माल उतार दिया जाता था। वहाँ से उसे खुश्की के रास्तों से पूर्व की ओर ले जाया जाता था, और क्रा के स्थलडमरू-मध्य के पूर्वी तट (सियाम की खाड़ी के पश्चिमी तट) पर विद्यमान चैया, पतनी और लिगोर के वन्दरगाहों पर पहुंचाया जाता था। वहां उन्हें फिर जहाजों पर लाद देते थे, और जलमार्ग द्वारा चम्पा, कम्वुज तथा चीन आदि पूर्वी देशों में ले जाते थे। इन विविध मार्गों के साथ-साथ अनेक वन्दरगाह उस समय विकसित हो गये थे, जिनमें धन-उपार्जन के वहुत अवसर थे।

ताम्रलिप्ति से जो जहाज वरमा जाते थे, उन्हें महासमुद्र के तूफानों का अधिक भय नहीं रहता था, क्योंकि उनका मार्ग प्रायः समुद्र-तट के साथ-साथ होता था। इरावदी नदी के मुहाने के समीप स्थित वन्दरगाह पर इन जहाजों का पण्य उतार दिया जाता था, और वहाँ से उसे स्थल-मार्गों द्वारा वरमा के विविध प्रदेशों, सियाम, चम्पा और कम्वुज तक ले जाया जाता था।

भारत से पूर्वी देशों को जाने के लिए ऐसे मार्ग भी थे, जिनमें समुद्रयात्रा की आवश्यकता नहीं होती थी, एक स्थल मार्ग असम (कामरूप) से उत्तरी वरमा जाता था, और वहाँ से इरावदी, सालविन तथा मेकांग नदियों की घाटियों से होता हुआ दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त तक चला जाता था। इस प्रान्त के दक्षिणी भाग में भी भारतीयों ने एक उपनिवेश की स्थापना की थी, जिसका नाम उन्होंने गान्धार रखा था।

(५) भारतीय उपनिवेशों का प्रारम्भ

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों तथा द्वीपों के साथ भारत का सम्वन्ध व्यापार के प्रयोजन से प्रारम्भ हुआ था। व्यापार द्वारा धन कमाने के प्रयोजन से ही भारत के व्यापारी इस क्षेत्र के प्रदेशों में जाया-आया करते थे। वाद में धर्म प्रचार तथा उपनिवेशों की स्थापना के लिए भी भारतीय लोग वहाँ जाने लगे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वौद्ध, मौर्य तथा शुंग युगों में भारत और इन देशों के सम्वन्ध का प्रधान कारण व्यापार ही था। जातक कथाओं और कथासरित्सागर सदृश कथा-साहित्य में दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों की यात्रा के विषय में जो भी कथाएँ दी गई हैं, उन सवमें यात्रियों और नाविकों का यही उद्देश्य था कि इन देशों में भारतीय पण्य को वेचकर और वहाँ के पण्य व सोने-चाँदी को भारत लाकर धन कमाया जाए। इन कथाओं के व्यापारियों तथा नाविकों को न तूफान से जहाज के नष्ट हो जाने की चिन्ता थी, न मार्ग में दस्युओं से लूटे जाने की, और

न किसी अज्ञात द्वीप में पहुंच जाने पर विकट परिस्थिति का सामना करने की। जहाज द्वारा समुद्रतट पर पहुंच कर वे ऐसे प्रदेशों में भी अपने पण्य ले जाते थे, जहाँ कोई सड़कें नहीं थीं। वृक्षों की जड़ों और लता-वल्लरियों के सहारे विषम भूमि पर वे आगे बढ़ते थे, और भेड़ बकरियों द्वारा बनायी गई पगडण्डियों से चल कर अपने लक्ष्य पर पहुंचते थे। धन की लालसा में ये व्यापारी कैसे-कैसे कष्ट उठाते थे, इसका भी प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन किया गया है। पर इनके लिए धन का आकर्षण इतना अधिक था, कि ये यात्रा के कष्टों की जरा भी परवाह नहीं करते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों से उन्हें इतना बहुमूल्य पण्य व सोना चांदी आदि प्राप्त हो जाते थे, कि इनके नाम ही सुवर्णद्वीप, रूप्यकद्वीप, ताम्रद्वीप, यवद्वीप, शंखद्वीप, कर्पूरद्वीप और नारिकेल द्वीप आदि रख दिए गये थे। इन नामों से ही यह सूचित हो जाता है, कि इन प्रदेशों से उन्हें किस प्रकार के पण्य की प्राप्ति हुआ करती थी। धन के लिए सुदूर प्रदेशों की यात्रा करने वाले ये प्राचीन भारतीय व्यापारी कोलम्बस और वास्को-डी-गामा सदृश मध्यकालीन यूरोपियन यात्रियों के समान ही साहसी थे। जिन भारतीयों ने पहले-पहल दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन प्रदेशों का पता किया, और उनके निवासियों के साथ व्यापार प्रारम्भ किया, यदि उनके यात्रा विवरण इस समय उपलब्ध हो सकें, तो वे कोलम्बस आदि के यात्रा वृत्तान्तों से किसी भी प्रकार महत्त्व में कम न होंगे।

व्यापारियों का अनुसरण कर भारत के धर्मप्रचारकों ने भी इन प्रदेशों में जाना प्रारम्भ किया। राजा अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) के नेतृत्व में विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो आयोजन किया गया था, उसमें सोण और उत्तर नाम के स्थविरों को सुवर्णभूमि भेजा गया था। वहाँ के राजा के कोई सन्तान जीवित नहीं थी, क्योंकि उसके समीपवर्ती समुद्र में एक राक्षसी रहती थी, जो राजा की सन्तान को जन्म लेते ही खा जाती थी। सोण और उत्तर ने उस राक्षसी की शक्ति का नाश किया, जिससे राजा की सन्तान की अकाल मृत्यु का भय दूर हुआ। सम्भवतः, महावंश की इस कथा द्वारा यह संकेत मिलता है, कि धर्म प्रचार के लिए सुवर्णभूमि जाने वाले के स्थविर चिकित्सा में भी प्रवीण थे, और उन्होंने रोग रूपी राक्षसी का संहार कर राजा की सन्तान की प्राणरक्षा की थी। कम्बोडिया का फू-नान राज्य कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण द्वारा स्थापित किया गया था, जो शायद वहाँ धर्म प्रचार के लिए ही गया था। चम्पा के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार उरोज नामक ऋषि को शिव ने चम्पा का राजा बना कर भेजा था। जब ये ऋषि, स्थविर व धर्म-प्रचारक दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन प्रदेशों में जाने लगे, तो उनका सम्पर्क वहाँ के निवासियों के साथ हुआ, जो सभ्यता के क्षेत्र में बहुत पिछड़े हुए थे। भारतीय प्रचारकों से उन्होंने न केवल धर्म की शिक्षा ग्रहण की, अपितु सभ्यता का पाठ भी पढ़ा। ये प्रचारक वहीं पर बस गए, और वहाँ की स्त्रियों से उन्होंने विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए। इस प्रकार अनेक ऐसे उपनिवेशों का सूत्रपात हुआ, जिनके निवासी संकर जातियों के थे, पर जिन्होंने भारतीयों की संस्कृति तथा धर्म को पूरी तरह से अपना लिया था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में बहुत-से भारतीय उपनिवेश क्षत्रिय राजवंशों के

कुमारों द्वारा भी स्थापित किए गए थे। ये कुमार अपने राज्य व मातृ-भूमि को सदा के लिए नमस्कार कर अपने साथियों के साथ इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों में आ बसे थे। कम्बोडिया, विएत-नाम, मलाया, बरमा आदि के कितने ही प्राचीन भारतीय उपनिवेशों में यह अनुश्रुति विद्यमान थी, कि उनके राजवंशों का प्रारम्भ भारत के राजकुमारों द्वारा किया गया था। इन अनुश्रुतियों का उल्लेख अगले अध्यायों में यथास्थान किया जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुशाण, शक आदि विदेशी आक्रान्ताओं के कारण जब भारत के अनेक प्राचीन राज्यों की स्वतन्त्रता का लोप हो गया, तो उनके राजवंशों के अनेक साहसी राजकुमारों ने इन सुदूर प्रदेशों में जाकर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। भारत के इतिहास में यह परम्परा कोई नई नहीं थी। मगधराज जरासन्ध के आक्रमणों के कारण अन्धकवृष्णि गण के लोग कृष्ण के नेतृत्व में द्वारका में जा बसे थे, और यवनों से आक्रान्त होकर पंजाब के मालव तथा शिवि गणों ने राजस्थान की मरुभूमि में प्रवास किया था। कुछ इसी ढंग की प्रक्रिया भारत के मध्यदेश के उन राज्यों तथा राजवंशों के साथ भी हुई, जिन्होंने कुशाणों तथा शकों द्वारा आक्रान्त किये जाने पर समुद्र पार के इन प्रदेशों में प्रवास किया और वहाँ नये उपनिवेशों व राज्यों की स्थापना की।

(६) सुवर्णभूमि के पुराने निवासी और भारत के साथ उनका सम्बन्ध

दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन प्रदेशों व द्वीपों में भारतीयों ने अपने उपनिवेश बसाये थे, वे सर्वथा गैर-आबाद नहीं थे। वहां अनेक जातियों का निवास था, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से जो विविध स्तरों पर थीं। कतिपय जातियाँ ऐसी थीं, जो पुरातन प्रस्तर युग के स्तर पर थीं, और सभ्यता में बहुत पिछड़ी हुई थीं। उनके वंशज वर्तमान समय में सुदूर जंगलों तथा पर्वतों की उपत्यकाओं में निवास करते हैं और शिकार द्वारा निर्वाह करते हैं। खेती का उन्हें परिज्ञान नहीं है। वहाँ ऐसी जातियों का भी निवास था, जो शिकारी दशा से ऊपर उठकर पशुपालक दशा पर पहुंच चुकी थीं और जिन्होंने खेती को भी प्रारम्भ कर दिया था। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया की बहुसंख्यक जातियाँ अधिक उन्नत दशा में थीं, और उन्होंने खेती के साथ-साथ कतिपय उद्योगों व व्यवसायों का भी विकास कर लिया था। प्राचीन भारत के कथा-साहित्य में धन की लालसा से सुवर्णभूमि जाने वाले जिन नाविकों व व्यापारियों का उल्लेख है, दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन्हीं निवासियों के साथ उनका व्यापार-सम्बन्ध था और उन्हीं को भारत का पण्य बेचकर वे धन कमाया करते थे।

सभ्यता की दृष्टि से अपेक्षया अधिक समुन्नत इन जातियों को स्थूल रूप से 'मलय' या 'मालय' संज्ञा दी गई है। मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, बोर्नियो, जावा, मदुरा, बाली, सेलेबस आदि के बहुसंख्यक निवासी इसी जाति के हैं, और भारत के लोग जब इन प्रदेशों में उपनिवेश बसाने के लिए गए, तो वहां इसी जाति का निवास था। सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय लोग मलय लोगों की तुलना में अधिक उन्नत थे। अतः भारतीयों ने उनके प्रदेशों में न केवल अपने राज्य ही स्थापित किए, अपितु अपने धर्म, भाषा तथा संस्कृति का भी वहाँ प्रसार किया और सांस्कृतिक दृष्टि से मलय लोगों को

अपने रंग में रंग लिया।

बरमा से विएत-नाम और उससे भी परे फिलिप्पीन तक फैली हुई मलय जातियों की भाषाओं का अध्ययन कर अनेक विद्वान् इस परिणाम पर पहुंचे हैं, कि इन भाषाओं का भारत की मुंडारी, सन्थाली व खासी भाषाओं के साथ सम्बन्ध हैं, और ये उसी भाषा-परिवार की हैं, जिसकी कि भारत की मुंडारी आदि भाषाएँ हैं। क्योंकि भाषा और नस्ल में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, अतः यह मानना भी असंगत नहीं होगा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की मलय जातियाँ और भारत की मुंडा व सन्थाल जातियाँ नस्ल की दृष्टि से एक ही परिवार की हैं। इस मत का प्रतिपादन सब से पूर्व जर्मन विद्वान् स्मिड्ट ने किया था, और भारत की मुंडारी आदि भाषाओं तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की मलय भाषाओं में आधारभूत एकता की पहचान करने के अनन्तर उन्होंने यह मन्तव्य प्रस्तुत किया था कि मलय लोगों का आदि निवास-स्थान भारत में था, और वहीं से धीरे-धीरे पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व की ओर उनका प्रसार हुआ था। पहली और दूसरी सदियों में उपनिवेशों की स्थापना के लिए भारतीयों का जिस ढंग का प्रवाह पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी दिशाओं की ओर प्रारम्भ हुआ था, वैसा ही एक प्रवाह किसी अज्ञात प्राचीन काल में भारत में निवास करने वाली मुंडा, सन्थाली आदि जातियों का भी उन्हीं दिशाओं में हो चुका था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विशाल क्षेत्र में जो मलय जातियाँ निवास करती हैं, उनके पूर्वज भारत से ही वहाँ जाकर बसे थे। स्मिड्ट के इस मन्तव्य का समर्थन अन्य भी अनेक विद्वानों द्वारा किया गया, जिनमें सिल्वां लेवी, प्रज्युलुस्की, और ज्यूल ब्लाक के नाम उल्लेखनीय हैं। इन फ्रेंच विद्वानों ने स्मिड्ट के मत का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया, कि द्रविड़ और आर्य जातियों के प्रवेश से पूर्व मुंडा, सन्थाल, खासी आदि जो जातियां भारत में निवास करती थीं, वे न केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में ही फैलीं, अपितु दक्षिण-पश्चिम में वे मेडेगास्कर तक भी गईं। इन जातियों ने भारतीय आर्यों की भाषा, पूजाविधि तथा धार्मिक विश्वासों को प्रभावित किया। पर क्योंकि द्रविड़ों और आर्यों के आक्रमणों के कारण इनके लिए भारत में अपने पुराने प्रदेशों में निश्चिन्त रूप से बसे रह सकना सुगम नहीं रहा था, अतः ये अन्य देशों में चले जाने के लिए विवश हुईं, और इन्होंने बरमा, मलाया, सुमात्रा, जावा, मेडेगास्कर आदि को आबाद किया। जिन युक्तियों को प्रस्तुत कर स्मिड्ट, सिल्वां लेवी आदि विद्वानों ने इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया है, उनका उल्लेख यहाँ कर सकना सम्भव नहीं है, और न उसका विशेष उपयोग ही है। यहाँ इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है, कि इन विद्वानों की युक्तिपरम्परा का आधार वह साम्य है, जो दक्षिण-पूर्वी एशिया की मलय भाषाओं तथा भारत की मुण्डारी, खासी आदि भाषाओं में पाया जाता है, और साथ ही उन पूजाविधियों, धार्मिक विश्वासों तथा पुरातन कथाओं की सत्ता है जो भारत तथा सुवर्णभूमि में प्रायशः सदृश रूप में पायी जाती हैं। स्मिड्ट ने दक्षिण-पूर्वी तथा पूर्वी एशिया की मलय भाषाओं को 'आउस्ट्रिक' संज्ञा प्रदान की थी, और मुण्डारी, खासी आदि भारतीय भाषाओं से आउस्ट्रिक भाषा की समता प्रदर्शित की थी। सिल्वां लेवी और प्रज्युलुस्की ने प्रतिपादित किया, कि इस आउस्ट्रिक भाषा का प्रभाव भारतीय आर्यों की संस्कृत आदि भाषाओं पर भी पड़ा, और

संस्कृत के कितने ही शब्द मुण्डारी खासी (जो आउस्ट्रिक या मलय भाषा के परिवार की थीं) आदि पुरानी भाषाओं से लिए गए हैं। साथ ही, भारत में अनेक प्रदेशों के नाम शब्दों के द्वन्द्वों में प्रयुक्त होते रहे हैं, जैसे अंग-वंग, कलिंग-त्रिलिंग, कोसल-तोसल, उत्कल-मेकल और पुलिन्द-कुलिन्द। संज्ञावाचक शब्दों को इस प्रकार द्वन्द्व में प्रयुक्त करने की परम्परा आउस्ट्रिक भाषाओं में पायी जाती है, और संस्कृत में इसे वहीं से लिया गया है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में नागी और मत्स्यगन्धा के विषय में जो कथाएँ आती हैं, उनसे मिलती-जुलती कथाएँ दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक प्रदेशों में भी पायी जाती हैं। इससे भी यह परिणाम निकाला गया है, कि इन कथाओं का मूल-स्रोत एक ही है। संस्कृत साहित्य में इनका प्रवेश जिन जातियों के साथ सम्पर्क के कारण हुआ, वही जातियां इन्हें भारत से दूर दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी ले गईं। ये कथाएं ऐसे प्रदेशों में ही विकसित हो सकती थीं, जिनकी स्थिति समुद्र के समीप हो। उत्तर-पश्चिम की ओर से आये हुए द्रविड़ों और आर्यों में इनका विकास सम्भव नहीं था, क्योंकि इनका सम्बन्ध जल व सागर के साथ है। भारत की प्राचीन आर्य तथा द्रविड़ सभ्यताओं में अनेक तत्त्व ऐसे हैं, जो उनमें पूर्ववर्ती मुण्डा, सन्थाल आदि जातियों से आये हैं। धर्म के क्षेत्र में एक ऐसा तत्त्व योनि और लिंग की पूजा का है। पौराणिक हिन्दू धर्म में योनि और लिंग की पूजा को स्थान प्राप्त है। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के पुराने निवासियों में भी यह प्रचलित थी, जिसे उन्होंने उसी स्रोत में ग्रहण किया था, जिससे कि भारतीय आर्यों ने उसे प्राप्त किया था। यह स्रोत मुण्डा व खासी सदृश जातियों के अरिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता था।

कतिपय विद्वानों का यह भी मत है, कि अत्यन्त प्राचीनकाल में कभी सुवर्णभूमि या दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों ने पश्चिम की ओर अपना प्रसार करते हुए भारत में भी प्रवेश किया था, और भारत की प्राचीन भाषा, कथाओं तथा धर्म के कतिपय तत्त्वों में दक्षिण-पूर्वी एशिया की भाषा आदि से जो सादृश्य है, उसका यही कारण है। इस मत के प्रतिपादकों में क्रोम और हार्नेल मुख्य हैं। इन विद्वानों का मत स्मिड्ट तथा सिल्वां लेवी आदि के मन्तव्य से पूर्णतया विपरीत है। पर बहुसंख्यक विद्वान् यही मानते हैं, कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भी एक बार भारत में निवास करने वाली कतिपय जातियों के लोगों ने पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी दिशा में प्रवास किया था और वहाँ जाकर अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। सुवर्णभूमि में जाकर बसने वाले ये लोग मलय या मालय जाति के थे, और वहाँ के निवासी वर्तमान समय में भी मुख्यतया इसी जाति के हैं। उनसे पहले जो लोग वहाँ बसते थे, उनके वंशज बहुत कम संख्या में हैं, और वे प्रायः सघन जंगलों में निवास करते हैं।

जो मालय या मलय जाति दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों और द्वीपों में जाकर आबाद हुई, वह पहले भारत में निवास करती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में मालव, मालय तथा मलय— इन तीन रूपों में इसका उल्लेख मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'मालव' को आयुधजीवि संघों में परिगणित किया गया है। महाभारत में मालवों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है, और उनकी स्थिति उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण तीनों दिशाओं में बतायी गयी है। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो मालव

(ग्रीक-मल्लोई) गण से भी उसका युद्ध हुआ था। मालव गण पंजाब में था। राजस्थान के जयपुर क्षेत्र से भी मालव गण के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो मौर्य युग के बाद के हैं। रामायण तथा मत्स्य पुराण में भी मालवों का उल्लेख है, और उनका निवास पूर्वी प्रदेशों में कहा गया है। प्राचीन साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मालवों का उल्लेख मिलता है। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन काल में भारत में 'मालव' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जन (जाति या कबीला) था, और उसकी शाखाएँ इस देश में दूर-दूर तक फैली हुई थीं। यद्यपि इस जन के लिए प्राचीन साहित्य में प्रायः 'मालव' शब्द का प्रयोग किया गया है, पर 'मालय' शब्द भी कहीं-कहीं मिलता है। नासिक से प्राप्त हुए एक शिलालेख में 'मालय' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने समय में कतिपय शब्दों में य और व दोनों अक्षर एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हुआ करते थे, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रसिद्ध सातवाहन वंशी राजा पुलुमायी के लिए अनेक शिलालेखों में पुलुमावी भी प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार मालय के लिए मालव का प्रयोग किया जाना भी असंगत नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः, मालव, मालय और मलय एक ही जाति थी, जो अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत के बहुत-से प्रदेशों में बसी हुई थी, और फिर भारत से बाहर अन्यत्र भी फैल गई। भारत में कितने ही ऐसे प्रदेश व स्थान हैं जो इस जाति के नाम पर हैं। पंजाब का एक प्रदेश मांझा-मालवा कहाता है। एक मालवा मध्यप्रदेश में है, और सुदूर दक्षिण में मलाबार (मलयबार) है। पुराणों में जो सात कुलपर्वत गिनाये गये हैं, उनमें एक मलय पर्वत भी है। महावंश और टालमी के भूगोल के अनुसार लंका में भी एक मलय पर्वत था। दक्षिणी भारत के तमिलनाडु में भी एक मलय देश की सत्ता के संकेत प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं। बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध आचार्य वज्रबोधि ७१९ ईस्वी में धर्मप्रचार के लिए चीन गया था। उसका पिता काञ्ची के राजा का गुरु था, और वे मलय देश के निवासी थे। अलबरूनी के अनुसार मलय देश काञ्ची के १६० मील दक्षिण में था।

मालय या मालव जाति के लोगों ने भारत में जाकर जहाँ-जहाँ अपनी बस्तियाँ बसायीं, अपने जातीय नाम के चिह्न भी वे वहाँ-वहाँ लगाते गये। यही कारण है, जो दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा अन्यत्र कितने ही ऐसे स्थान हैं, जिनके साथ इस जाति का नाम किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है। मलाया प्रायद्वीप का मलाया नाम स्पष्टतया इसी जाति के साथ सम्बद्ध है। सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप के बीच में मलक्का का जलडमरूमध्य है। इस मलक्का का भी मालय से सम्बन्ध है। सुमात्रा में एक नदी मलायु है, और वहाँ का एक पर्वत भी इसी नाम का है। वहाँ के पाँच गाँव भी मलायु नाम के हैं, और वहाँ निवास करने वाली एक जाति भी मलायु कहाती है। लाओस का एक पुराना नाम माला या मालव भी है, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के हजारों द्वीपों में एक मोलक्का भी है। मालदीव (मालद्वीप) भी सम्भवतः मालव जाति से सम्बद्ध है, और अफ्रीका के पूर्व में स्थित मागलस्सी (मैडागास्कर) द्वीप के नाम पर भी मालव का प्रभाव प्रतीत होता है। मागलस्सी और मालव का सम्बन्ध इस बात से भी सूचित होता है, कि इन्डोनीसिया की मलय भाषा का एक ऐसा रूप इस द्वीप में प्रचलित रहा है, जिसमें संस्कृत के शब्दों का

भी मिश्रण था। अनेक विद्वानों ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि भारत की मालव या मालय जाति ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के समान हिन्द महासागर के मालदीव और मागलस्सी द्वीपों में भी प्रवास किया था और वहाँ भी अपनी वस्तियां वसायी थीं।

जिस मालव या मालय जाति ने भारत से वाहर जाकर सुदूर प्रदेशों में प्रवास किया था, वह आर्य या द्रविड़ न होकर एक अन्य जातीय वर्ग की थी, और उसका सम्वन्ध दक्षिण-पूर्वी एशिया की आउस्ट्रिक जाति से था, यह इस वात से भी प्रमाणित होता है कि मालवों के जो वहुत-से सिक्के जयपुर के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं, उनपर के अनेक नाम न संस्कृत मूलक हैं और न द्रविड़ भाषाओं से उनका कोई सम्वन्ध है। भपम्यन, मजुप, मपोजय, मपय, मगजस, मगज, मगोजव, गोजर, मसप, मपक, पच्च, मगच्च, गजव, जामक, जमपय और पय सदृश जो नाम मालव सिक्कों पर विद्यमान हैं, वे किसी ऐसी भाषा के हैं जो भारत की संस्कृत आदि भाषाओं से सर्वथा भिन्न थी। साथ ही, यह भी ध्यान देने योग्य है कि संज्ञावाचक इन शब्दों में द्वन्द्वों का प्रयोग किया गया है, जो आउस्ट्रिक भाषाओं की एक अनुपम विशेषता है। पय, म-पय, ज-म-पय और गजव, म-गजव के द्वन्द्व इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं, कि मालव या मालय लोगों की प्राचीन भाषा का आउस्ट्रिक भाषा परिवार के साथ सम्वन्ध था। भारत के ये मालय लोग ही सुवर्णभूमि में जाकर आवाद हुए थे। सुमात्रा की कतिपय मलय जातियों में यह अनुश्रुति भी पायी जाती है, कि उनके पूर्वज भारत से आकर वहाँ वसे थे।

यहाँ हमने उन युक्तियों का अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया है, जिन द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता है, कि पहली-दूसरी सदियों से भी वहुत पहले भारत की प्राचीनतम आदि निवासी जातियों ने—जिनमें मालय या मालव जाति प्रमुख थी—दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों व द्वीपों को आवाद किया था। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि यह मत किसी ठोस आधार पर आश्रित नहीं है। मालव गण के लोगों को यदि आर्य व द्रविड़ न मानकर मुण्डा, सन्थाल और खासी लोगों के वर्ग का माना जाए, तभी इस युक्तिपरम्परा में कोई वल हो सकता है। पर मालव गण की स्थिति पहले पंजाव में थी, और वाद में उसने राजस्थान की मरुभूमि में प्रवास किया था। जातीय दृष्टि से मालव लोग अपने पड़ौसी शिवि, क्षुद्रक, क्षत्रिय, कठ, मद्रक आदि गणों के निवासियों से भिन्न थे, यह स्वीकार कर सकना सुगम नहीं है। यदि यह माना जाए, कि इन सव गणों के लोग भी आउस्ट्रिक वर्ग के ही थे, तो यह भी संगत नहीं होगा। इस दशा में मालय व मालव जाति द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया को आवाद करने की वात को अभी एक ऐसा तथ्य नहीं समझ लेना चाहिये, जिसके सम्वन्ध में मतभेद की कोई गुंजाइश न हो। मुण्डारी, खासी आदि भाषाएँ वोलने वाले भारत के लोग अव तक भी सभ्यता में वहुत पिछड़े हुए हैं। पर जिन मालवों ने सिकन्दर के आक्रमण का वीरतापूर्वक सामना किया था, वे पंजाव के अन्य गणराज्यों के लोगों के समान ही सभ्य तथा उन्नत थे। सम्भवतः, वे आर्य जाति के ही थे और उनका मुण्डा आदि जातियों से कोई सम्वन्ध नहीं था। स्मिड्ट और सिल्वां लेवी सदृश विद्वानों ने जिस मत का प्रतिपादन किया है, उसकी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती, पर उस पर और अधिक विचार किया जाना चाहिये।

दूसरा अध्याय

मलायीसिया और इन्डोनीसिया में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना

(१) मलाया प्रायद्वीप के भारतीय उपनिवेश

मलाया प्रायद्वीप बंगाल की खाड़ी के दक्षिण-पूर्व में है। वर्तमान समय में वह मलायीसिया के संवर्ग-राज्य के अन्तर्गत है, जिसमें मलाया के अतिरिक्त सवाह (उत्तरी वोर्नियो) और सरावक भी सम्मिलित हैं। यद्यपि मलाया की आबादी बहुत कम है, वह अभी एक करोड़ तक भी नहीं पहुंची है, पर भौगोलिक दृष्टि से इस देश का महत्त्व बहुत अधिक है। यूरोप, पश्चिमी एशिया और भारत से पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया जाने का सबसे छोटा मार्ग मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण से मलक्का के जलडमरू-मध्य से होकर जाता है। प्राचीन समय के उपनिवेशक तथा व्यापारी पूर्वी देशों को जाने के लिए प्रधानतया इसी मार्ग का उपयोग किया करते थे, और इसी कारण जब भारतीयों ने सुवर्णभूमि के विशाल क्षेत्र में अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किए, तो सबसे पूर्व उन्होंने मलाया में ही अपनी बस्तियां बसायीं।

मलाया प्रायद्वीप के इन भारतीय उपनिवेशों का परिचय चीनी साहित्य से प्राप्त हुआ है। चीन के लिआंग वंश के इतिहास में लंग-किया-सू नाम के एक राज्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें उसे ४०० से अधिक वर्ष पूर्व स्थापित हुआ कहा गया है। इस राज्य की स्थिति मलाया प्रायद्वीप में थी। लिआंग वंश का शासन काल छठी सदी के पूर्वार्ध में था, अतः लंग-किया-सू राज्य की स्थापना पहली सदी के अन्तिम भाग में हुई होगी। यह राज्य भारतीयों द्वारा स्थापित एक उपनिवेश था, यह इससे सूचित होता है कि वहां के राजा ने चीन के सम्राट् के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए अपने राज्य के सम्बन्ध में यह कहा है कि वहां संस्कृत भाषा प्रचलित है। इस राज्य का जो परिचय चीनी साहित्य से मिलता है, उसके अनुसार लंग-किया-सू के एक राजा का एक निकट सम्बन्धी बहुत गुणी तथा योग्य था। जनता उसकी ओर आकृष्ट होने लगी, जिससे चिन्तित होकर राजा ने उसे कारागार में डाल दिया। पर वहां उसकी जंजीरें स्वयं टूट गईं। राजा ने समझा कि उसमें कोई अलौकिक शक्ति है, जिसके कारण उसे बन्दी बना कर रख सकना सम्भव नहीं है। अतः उसने उसे अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया। वह अब भारत चला गया, और वहां उसने एक राजकुमारी से विवाह किया। लंग-किया-सू के राजा की मृत्यु हो जाने पर राज्य के प्रमुख व्यक्तियों तथा राजपदाधिकारियों ने राजकुल के बहिष्कृत कुमार को वापस बुलाया, और उसे राजा घोषित कर दिया। उसने २० साल से अधिक समय तक शासन किया, और उसके पश्चात् उसका पुत्र भगदात (भगदत्त) राजसिंहासन पर

आरूढ़ हुआ। ५१५ ईस्वी में भगदात ने चीन के सम्राट् की सेवा में अपना राजदूत भेजा था, जिसका नाम आदित्य था। ५१५ के बाद भी लंग-किया-सू के राजदूत चीन जाते रहे, और चीनी साहित्य में उनके वृत्तान्त भी विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि लंग-किया-सू एक भारतीय उपनिवेश था। वहां संस्कृत का प्रचलित होना, वहां के एक राजा का नाम भगदात या भगदत्त होना और वहां के एक राजदूत का नाम आदित्य होना इसी तथ्य की ओर स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं।

लंग-किया-सू की स्थिति मलाया में ही थी और वह इस प्रायद्वीप के किस भाग में स्थित था, इस सम्बन्ध में विद्वानों ने जो विवेचन किया है, उसका निर्देश करना भी उपयोगी होगा। यि-त्सिग ने श्रीक्षेत्र (प्रोम) और द्वारवती (सियाम) के मध्यवर्ती प्रदेश में स्थित जिन अनेक राज्यों की सूची दी है, लंग-किया-सू भी उनमें एक है। इसी प्रकार ह्यु एन-त्सांग ने कामलंका नामक एक राज्य का उल्लेख किया है, जो श्रीक्षेत्र और द्वारवती के बीच के प्रदेश में स्थित था। लंग-किया-सू और कामलंका को एक मानकर पेलिओ ने यह प्रतिपादित किया है, कि यह राज्य या तो तनासरिम में था और या क्रा के जलडमरूमध्य के समीप इसकी स्थिति थी। पेलिओ के अनुसार लंग-किया-सू को ही बाद के चीनी साहित्य में लिंग-या-स्स्यु-किया कहा गया है। नागर-कृतागम नामक जावा के एक प्राचीन ग्रन्थ में लंकासुक नाम के एक स्थान का उल्लेख मिलता है, जिसे कतिपय विद्वानों ने लिंग-या-स्स्यु-किया के साथ मिलाया है। ध्वनि की दृष्टि से ये दोनों शब्द एक ही स्थान के बोधक हैं। अतः चीनी साहित्य के लिंग-किया-सू, कामलंका और लिंग-या-स्स्यु-किया की नागर-कृतागम के लंकासुक से अभिन्नता मानना युक्तिसंगत हो सकता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार लंकासुक केडाह का प्राचीन नाम था, जिसे भारतीय साहित्य में कटाहद्वीप कहा गया है। केडाह की स्थिति मलाया प्रायद्वीप में है। यदि लंग-किया-सू, लिंग-या-स्स्यु-किया और लंकासुक को एक मान लिया जाए, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि लिआंग वंश के इतिहास में लिंग-किया-सू या लिंग-या-सू नामक जिस राज्य का उल्लेख है और लिआंग वंश से कम से कम चार सदी पूर्व जिसकी स्थापना बताई गई है, वह मलाया प्रायद्वीप में ही स्थित था। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि यद्यपि प्रायः सभी विद्वान् इस राज्य की स्थिति मलाया के क्षेत्र में स्वीकार करते हैं, पर उस प्रायद्वीप में यह राज्य कहां विद्यमान था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। सिल्वां लेवी सदृश कुछ विद्वानों ने तो यह भी स्वीकार नहीं किया है, कि लंकासुक और लंग-किया-सू एक ही थे। हमारे लिए इस विवाद में न पड़कर यह निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि लंग-किया-सू मलाया प्रायद्वीप में स्थित था और वह भारतीयों द्वारा स्थापित एक उपनिवेश था। उसमें संस्कृत का प्रचार था, और वहां के राजाओं तथा राजपुरुषों के नाम भी भारतीय थे। इसी प्रकार लंकासुक की स्थिति भी मलाया में ही थी। वहां इस राज्य की स्मृति वर्तमान समय में भी विद्यमान है, और वहां के पटनी राज्य में उसे 'लोकोनसुक' नाम से स्मरण किया जाता है।

को-लो-चो-फेन नामक एक राज्य का उल्लेख तांग वंश के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले चीनी ग्र.थों में पाया जाता है। इसी को अन्यत्र किया-लो-चो-फू और किया लो-चो-फो

भी कहा गया है। चीन के ग्रन्थों के अनुसार इस राज्य की स्थिति पन-पन के उत्तर में विद्यमान तू-हो-लो से उत्तर की ओर थी। तू-हो-लो द्वारवती का चीनी नाम था, और वह मीनम नदी की घाटी में एक राज्य था। को-लो-फो-शेन को कलशपुर के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। कथासरित्सागर की एक कथा के अनुसार समुद्रशूर नाम का एक व्यापारी जहाज से सुवर्णभूमि गया था, और जहाज के टूट जाने पर वह कलशपुर के बन्दरगाह पर जा पहुँचा था। मंजुश्री-कल्प में कलशवरपुर का उल्लेख कर्मरंग के साथ किया गया है। सिल्वाँ लेवी के अनुसार ह्यु एनत्सांग द्वारा लिखित कामलंका और भारतीय साहित्य के कर्मरंग व चर्मरंग एक ही स्थान को सूचित करते हैं। क्योंकि कामलंका की स्थिति श्रीक्षेत्र (प्रोम) और द्वारवती के मध्यवर्ती प्रदेश में थी, अतः उसके (चर्मरंग के) साथ उल्लिखित कलशवरपुर या कलशपुर को भी मलाया प्रायद्वीप के इसी क्षेत्र में कहीं होना चाहिए। चीनी ग्रन्थों के अनुसार को-लो-फो-शेन पन-पन और तू-हो-लो के उत्तर में स्थित था, और वहाँ उसके समुद्रतट के समीप होने का कोई संकेत नहीं मिलता है। पर यदि को-लो-फो-शेन और कलशपुर को एक माना जाए, तो इस राज्य को भी समुद्र के तटवर्ती किसी प्रदेश में स्थित स्वीकार करना होगा। पन-पन की स्थिति मलाया प्रायद्वीप के लिगोर में की गई है। अतः कलशपुर लिगोर के उत्तर में समुद्रतट के समीप ही कहीं स्थित था।

चीनी साहित्य के अनुसार पन-पन के दक्षिण-पूर्व में [illegible] नाम के एक अन्य राज्य की स्थिति थी। इसके राजवंश का नाम [illegible] था, और सातवीं सदी में जो राजा वहाँ के राजसिंहासन पर आरूढ़ था, उसका [illegible] नाम [illegible] था। सन् ६१०-६१२ के बीच इस राजा ने अपना दूत चीन के [illegible] वंश के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इस प्रदेश के चीनी ग्रन्थों में [illegible] राज्य के विषय में यह वर्णन मिलता है, कि उसकी राजधानी [illegible] से घिरी हुई थी, और वहाँ के राज-प्रासाद व अन्य इमारतें [illegible] थीं। [illegible] २५ [illegible] [illegible]

[illegible]

ने दा-नपाति को 'भयोत्पाक सेनापति' की उपाधि से सम्मानित किया। ४५६ ईस्वी में पा-होअंग के राजा ने लाल और श्वेत रंगों के तोते चीनी सम्राट् को उपहार के रूप में भेजे, और भेंट-उपहार का यह क्रम ४६४ और ४६६ ईस्वी में भी जारी रहा। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में पा-होअंग राज्य के विषय में जो विवरण विद्यमान हैं, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वह एक भारतीय राज्य था। उसके राजाओं के साथ 'वर्मा' शब्द का होना ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण है। पा-होअंग को वर्तमान पहंग के साथ मिलाया गया है, पर सब विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इस राज्य की स्थिति मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी भाग में थी, और चीन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

चीन के प्राचीन साहित्य में कन-तो-ली या किन-तो-ली नाम के एक अन्य भारतीय राज्य का उल्लेख आया है। वहां लिखा है, कि कन-तो-ली के रीति-रिवाज और आचार-विचार कम्बुज तथा चम्पा के सदृश थे, और वहां के लोग रंगबिरंगे सुन्दर वस्त्र बनाने में बहुत प्रवीण थे। सुंग वंश के चीनी सम्राट् हिआ-वू (४५४-४६५ ईस्वी) के शासन काल में कन-तो-ली के राजा चे-पो-लो-ना-लिअन्-तो (श्रीवर नरेन्द्र) ने चाउ-ओउ-तो (रुद्र भारतीय) के हाथ सोने-चांदी की बहुमूल्य वस्तुएं चीन के सम्राट् की सेवा में उपहार रूप से भेजी थीं। ५०२ ईस्वी में राजा किऊ-तान-सीओउ-पा-तो-लो (गौतम सुभद्र) ने चीन के सम्राट् के दरबार में अपने दूत भेजे थे। कुछ समय पश्चात् इस राजा की मृत्यु हो गई, और उसका पुत्र पी-ये-पा-मो (प्रियवर्मान) कन-तो-लो के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। ५१६ में इस नए राजा ने पि-युअन्-पा-मो (वि···वर्मान्) नाम के एक उच्च राजपदाधिकारी को एक पत्र के साथ चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। ५२० ईस्वी में उसने अनेक बहुमूल्य वस्तुएं भेंट रूप से चीनी सम्राट् के पास भेजी थीं। यह सिलसिला ५६३ ईस्वी तक जारी रहा, और कन-तो-ली के राजाओं का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। चीनी विवरणों से यह भी सूचित होता है, कि इस राज्य में बौद्ध धर्म को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। कन-तो-ली के राजाओं के नामों के जो चीनी रूपान्तर चीनी ग्रन्थों में दिए गए हैं, उनके सही-सही भारतीय रूप क्या थे, इस सम्बन्ध में मतभेद सम्भव है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इस राज्य के रा ा भारतीय थे और यह भारतीयों का ही एक उपनिवेश था। मलाया प्रायद्वीप में कन-तो-ली की स्थिति कहां थी, यह प्रश्न विवादास्पद है। वर्तमान समय में मलाया में कन्तुरी व खन्तुली नामक एक स्थान है, प्राचीन कन-तो-ली के साथ जिसकी समता कल्पित की जा सकती है। मजूमदार के अनुसार इसे प्राचीन कडार से मिलाना अधिक संगत है।

पन-पन नाम का एक अन्य भारतीय राज्य मलाया प्रायद्वीप में विद्यमान था, जिसके विषय में चीनी ग्रन्थों में यह लिखा गया है कि वहां का राजा ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान करता था, और इससे लाभ उठाने के लिए बहुत-से ब्राह्मण भारत से उसके दरबार में आते रहते थे।

(२) मलाया प्रायद्वीप के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेष

प्राचीन समय में मलाया प्रायद्वीप में अनेक भारतीय उपनिवेश या राज्य विद्यमान थे, और उनमें भारतीय धर्मों, भाषा तथा संस्कृति की सत्ता थी, यह बात पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों से भी प्रमाणित होती है। गुनोंग जरई (केड्डा पर्वतशिखर) की उपत्यका में स्थिति सुन्गइ बतू नामक जागीर में एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, और साथ ही पत्थर की कुछ मूर्तियाँ भी, जो शिव, दुर्गा, गणेश और नन्दी आदि पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। इस मन्दिर और उसमें उपलब्ध मूर्तियों के काल को निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है। पर इस मन्दिर के पड़ोस में ही केड्डा में एक ऐसे बौद्ध विहार के अवशेष विद्यमान हैं, जिसके निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया गया था। इस विहार के भग्नावशेषों में संस्कृत का एक अभिलेख भी मिला है, जिसकी लिपि के आधार पर उसे चौथी या पाँचवीं सदी का माना जाता। यह संस्कृत लेख इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है, कि इस बौद्ध विहार का निर्माण चौथी या पाँचवीं सदी में हो चुका था, और उस समय तक मलाया प्रायद्वीप के इस प्रदेश में भारतीयों ने अपनी बस्तियां बसा ली थीं। मलाया के वेलेज़ली प्रान्त के उत्तरी भाग से भी कुछ स्तम्भों के खण्ड प्राप्त हुए हैं, जिन पर संस्कृत के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। ये स्तम्भ किसी बौद्ध-विहार के भग्नावशेष हैं। इन पर उत्कीर्ण संस्कृत लेखों के आधार पर इन्हें भी चौथी या पाँचवीं सदी का माना जाता है। सेलिन्सिग (पेरक) नामक स्थान पर सोने का एक आभूषण मिला है, जिस पर गरुड़ पर आरूढ़ विष्णु की प्रतिमा अंकित है, इसी स्थान के समीप एक वृक्ष से गिर जाने के कारण जो गड्ढा हो गया था, उससे एक मोहर प्राप्त हुई है, जिस पर श्री विष्णुवर्मा नाम के एक भारतीय राजा का नाम अंकित है। यह नाम जिस लिपि में है, वह भी पाँचवीं सदी की है।

मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित तकुआ-पा (जिसकी समता टालमी द्वारा उल्लिखित तक्कोला के साथ प्रतिपादित की गई है) से भी अनेक प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं। फानो पहाड़ी से एक प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष मिले हैं, जिनमें विष्णु की एक मूर्ति भी है। इनका काल छठी या सातवीं सदी में माना जाता है। को खान द्वीप के दक्षिणी भाग में एक पुराने मन्दिर के खण्डहर विद्यमान हैं, जो सुन्गई बतू जागीर में स्थित मन्दिर के अवशेषों के सदृश हैं। खो-फा नरई से भी एक मन्दिर के अवशेष मिले हैं, जिनमें पौराणिक देवी-देवताओं की तीन सुन्दर मूर्तियाँ भी हैं। इन्हें सातवीं या आठवीं सदी का समझा जाता है। यहाँ तमिल भाषा का भी एक अभिलेख मिला है।

मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी तट पर तकुआ-पा के सामने के प्रदेश में अनेक प्राचीन बस्तियों के अवशेष विद्यमान हैं, जिनमें चैया, नखोन-स्रीथम्मरट (नखोन श्रीधर्मराट्) और विएंग स्रा के प्राचीन अवशेष विशेष महत्त्व के हैं। चैया के भग्नावशेषों में एक स्तंभ भी है, जिस पर संस्कृत का एक लेख उत्कीर्ण है। इसी प्रकार तकुआ-पा और लिगोर के खण्डहरों में भी संस्कृत के अनेक लेख मिले हैं, जिनकी लिपि के आधार पर उन्हें चौथी या पाँचवीं सदी का माना जाता है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है, कि चौथी या पाँचवीं सदी में इन स्थानों पर भारतीय लोग अपने उपनिवेश स्थापित कर चुके थे।

मलाया प्रायद्वीप में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो अवशेष प्रकाश में आये हैं, उनमें संस्कृत के अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। संस्कृत के ये लेख निम्नलिखित स्थानों से प्राप्त हुए हैं—वेलेज़ली प्रान्त के टोकून नामक स्थान से सात लेख, वेलेज़ली प्रान्त के एक अन्य भाग से चार लेख, केड्डा (केडाह) से एक लेख, तकुआ-पा से एक लेख, लिगोर से पाँच लेख और चैया से दो लेख। इन लेखों की लिपि से यह परिणाम निकाला जाता है, कि ये सब चौथी या पाँचवीं सदी के हैं। क्योंकि ये लेख मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं, अतः यह मानना सर्वथा संगत होगा कि चौथी व पाँचवीं सदी तक भारतीय उपनिवेश मलाया प्रायद्वीप के बहुत-से स्थानों पर स्थापित हो चुके थे।

वेलेज़ली प्रान्त के उत्तरी भाग से संस्कृत के जो चार लेख प्राप्त हुए हैं, वे ऐसे प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण हैं, जो एक बौद्ध विहार के किसी स्तम्भ के टुकड़े प्रतीत होते हैं। इनमें से एक लेख में "महानाविक बुद्धगुप्तस्य रक्तमृत्तिका वास् (तव्यस्य)" शब्द आये हैं, और जिस प्रस्तर-खण्ड पर यह लेख उत्कीर्ण है, उस पर एक स्तूप और सात छत्रों की रूपरेखा भी अंकित है। सम्भवतः, यह लेख महानाविक बुद्धगुप्त द्वारा बौद्ध विहार को दिये गए दान को सूचित करने के प्रयोजन से लिखवाया गया था। बुद्धगुप्त रक्तमृत्तिक का निवासी था। रक्तमृत्तिका की स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक मत प्रकट किये हैं। चीनी साहित्य में चिह्-तू नाम के एक राज्य का उल्लेख मिलता है, जो सियाम या उसके किसी समीपवर्ती प्रदेश में था। चिह्-तू का अर्थ लाल मिट्टी है। अतः यह प्रतिपादित किया गया, कि बुद्धगुप्त चिह्-तू का निवासी था। पर मुर्शिदाबाद के १२ मील दक्षिण में एक स्थान है, जो रंगामाटी कहाता है। गौड़ देश (बंगाल) की प्राचीन राजधानी कर्णसुवर्ण नगरी थी। उसके समीप एक बौद्ध विहार विद्यमान था, जिसे ह्यू एन्-त्साँग ने लो-तो-मो-चिह का विहार कहा है। लो-तो-मो-चिह रक्तामृत या पालिभाषा के रत्त-मत्तिका का चीनी रूपान्तर है। यही स्थान अब रंगामाटी कहाता है, जो मुर्शिदाबाद के १२ मील दक्षिण में है। अधिक संगत यही प्रतीत होता है, कि महानाविक बुद्धगुप्त बंगाल के रत्तमत्तिका या रंगामाटी स्थान का निवासी था, और वहाँ से अपना जहाज लेकर वह मलाया प्रायद्वीप गया था। यह स्थान भागीरथी नदी के समीप ही है, जो उस समय नौका नयन के लिए प्रयुक्त भी हुआ करती थी। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि रक्तमृत्तिका के सम्बन्ध में कतिपय अन्य भी मत हैं, जो पर्याप्त रूप से संगत प्रतीत होते हैं। टालमी ने अपने भूगोल में र्‌हदमरकोत्त नाम के एक स्थान का उल्लेख किया है। साँ मार्ता के अनुसार यह एक प्राचीन राज्य की राजधानी थी, किसका संस्कृत नाम रंगमती था, और जो ब्रह्मपुत्र नदी के पश्चिमी तट पर स्थित थी। एक अन्य विद्वान यूल ने टालमी के र्‌हदमरकोत्त का संस्कृत रूप रंगमृत्तिका प्रतिपादित किया है। महानाविक बुद्धगुप्त के निवासस्थान रक्तमृत्तिका की स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी उसके संस्कृत अभिलेख द्वारा मलाया प्रायद्वीप के वेलेज़ली प्रान्त में भारतीय भाषा तथा धर्म की सत्ता में तो कोई सन्देह रह ही नहीं जाता। वेलेज़ली प्रान्त के उत्तरी भाग से प्राप्त अन्य संस्कृत लेखों में निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—"सर्वेण प्रकारेण सर्वस्मात् सर्वथा सर्व···सिद्धयात्राः सन्तु"। सम्भवतः, इस लेख में महानाविक बुद्धगुप्त द्वारा समुद्रयात्रा के

पूर्ण रूप से सफल होने की प्रार्थना की गई है। एक अन्य लेख यह है—"अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्म कारण..."

केड्डा में मिला संस्कृत लेख चार पंक्तियों में हैं, जो इस प्रकार है—

ये धर्मा हेतुप्रभवा तेषां हेतुं तथागतो (ह्यवदत्)
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।
अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्मकारणम्
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते॥

यह एक प्रसिद्ध बौद्ध सूत्र है, जो केड्डा के एक प्राचीन विहार के खण्डहरों में उत्कीर्ण है। यह सूत्र या सुत्त बरमा तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुआ है। मलाया प्रायद्वीप में संस्कृत के जो अन्य प्राचीन अभिलेख मिले हैं, वे बहुत खण्डित दशा में हैं। उनके कुछ शब्द ही पढ़े जा सके हैं, अतः उनके सम्बन्ध में विस्तार से लिखना उपयोगी नहीं होगा।

मलाया प्रायद्वीप में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो खोज की गई है, और उससे वहाँ के भारतीय उपनिवेशों पर जो प्रकाश पड़ता है, उसके सम्बन्ध में श्री लांजोकिए के ये वाक्य, उद्धरणीय हैं—ये उपनिवेश संख्या में बहुत अधिक थे और पूर्वी तट पर चुमफोन, चैया, बैन्डन नदी की घाटी, नखोन स्रीधम्मंरट (लिगोर), यल (पटनी के समीप), और (पहंग में) सेलेन्सिग में तथा पूर्वी तट पर मलक्का, वेलेज़ली प्रान्त, तकुआ-पा और लनया व तेनासरिम नदियों के मुहानों पर स्थित थे। यह असंदिग्ध है, कि इनमें सबसे महत्त्व-पूर्ण नखोन स्रीधम्मरट का उपनिवेश था। यह बौद्ध धर्म का केन्द्र था, और इसी द्वारा नखोन स्रीधम्मरट के विशाल स्तूप तथा उसकी चौगर्दी में विद्यमान पचास मन्दिरों में से कतिपय का निर्माण कराया गया था। नखोन स्रीधम्मरट के उत्तर में चैया की स्थिति थी, जहाँ पहले ब्राह्मण धर्म का प्रचार था, पर बाद में उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था ये दोनों उपनिवेश कृषि प्रधान थे। पर सेलेन्सिंग, व तकुआ-पा सदृश अन्य उपनिवेशों में टिन तथा सोने की खानें थीं, जिनके कारण वे अत्यन्त समृद्ध हो गए थे।

डॉ० एच० जी० क्वारिच वेल्स नामक विद्वान् मलाया के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंचे हैं। उनके अनुसार भारतीय उपनिवेशकों ने तकुआ-पा को अपना केन्द्र बनाया था, और वहीं से उन्होंने अन्यत्र अपना प्रसार किया था। वे जल तथा स्थल दोनों मार्गों से दक्षिण-पूर्व तथा पूर्व के प्रदेशों में गए थे और वहां उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी समुद्रतट के साथ के तकुआ-पा के समीपवर्ती प्रदेशों में वर्तमान समय में भी ऐसे लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, जिनकी मुखाकृति भारतीयों के सदृश है। नखोन स्रीधम्मरट तथा पतलुंग में अब तक भी ऐसे ब्राह्मणों की अनेक बस्तियाँ विद्यमान हैं, जो भारतीयों के वंशज हैं और यह मानते हैं कि उनके पूर्वज भारत से आकर वहाँ बसे थे। चैया और नखोन स्रीधम्मरट में वास्तुकला के अनेक ऐसे अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जो पूर्णतया भारतीय हैं। भारतीय वास्तुकला से प्रभावित होकर बाद में मलाया प्रायद्वीप की अपनी कला का विकास हुआ, जो स्थानीय पर्यावरण के अनुरूप थी।

(३) सुमात्रा के प्राचीन भारतीय उपनिवेश

मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में सुमात्रा की स्थिति है। इन्डोनीसिया के गणराज्य में जो हजारों द्वीप अन्तर्गत हैं, सुमात्रा उनमें सबसे बड़ा है। बोर्नियो द्वीप का क्षेत्रफल सुमात्रा से अधिक है, पर उसका उत्तरी भाग मलायीसिया के अन्तर्गत है। मलक्का का जलडमरू-मध्य इसे मलाया से पृथक् करता है, और सुण्डा का जलडमरू-मध्य जावा से। सुमात्रा की लम्बाई १०६० मील है, और अधिकतम चौड़ाई २४८ है। छोटे-छोटे द्वीपों की एक शृंखला सुमात्रा के समुद्रतट के साथ-साथ दक्षिण-पश्चिम की ओर गई है, और एक अन्य शृंखला उसके उत्तर-पूर्व में। क्षेत्रफल में १,६७,४८० वर्गमील के लगभग होते हुए भी सुमात्रा की जनसंख्या एक करोड़ से भी कम है, और उसके सब निवासी किसी एक जाति के नहीं हैं। उनमें नसल, भाषा आदि के अनेक भेद विद्यमान हैं।

सुमात्रा की भौगोलिक स्थिति बड़े महत्त्व की है। वह भारत और चीन के बीच में पड़ता है, और समुद्र मार्ग से जाने वाले व्यापारी उसके बन्दरगाहों पर आश्रय ग्रहण किया करते थे। इस दशा से यह स्वाभाविक था, कि इस द्वीप में भारतीयों की बस्तियाँ भी स्थापित होने लगें। फ्रेंच विद्वान् फरां (Ferrand) ने प्रतिपादित किया है, कि यवद्वीप जावा का नाम न होकर सुमात्रा का प्राचीन नाम था। रामायण ने जिसे यवद्वीप कहा है, टालमी के भूगोल में जिसे इअबादिऊ कहा गया है, फाइयान ने ये-पो-ती के रूप में जिसका उल्लेख किया है, चीनी ग्रन्थों में य-तियाओ, चाङ्-पो, व ताउ-पो से जो अभिप्रेत है और आर्यभटीय तथा सूर्यसिद्धान्त में जिसे यवकोटि लिखा गया है, वह जावा न होकर सुमावा था। पर अन्य विद्वानों को यह मत स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः, यवद्वीप, ये-पो-ती आदि से जावा का ही ग्रहण करना चाहिए, सुमात्रा का नहीं। टालमी ने इअबादिऊ के साथ बरुसाई और सबदेवई का भी उल्लेख किया है, जिनसे सुमात्रा के पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी प्रदेश अभिप्रेत हैं।

सुमात्रा के भारतीय उपनिवेशों में श्रीविजय सबसे प्रसिद्ध हैं। इसकी स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवीं सदी में इसका विशेष रूप से उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ोस के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। श्रीविजय के शैलेन्द्र वंशी राजा बड़े वीर और प्रतापी थे, और वे अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। अगले अध्याय में हम इस पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे। पर श्रीविजय के अतिरिक्त सुमात्रा में अन्य भी अनेक भारतीय उपनिवेश थे, जिन्हें बाद में श्रीविजय के राजाओं ने जीत लिया था। इनका परिचय चीनी ग्रन्थों से मिलता है। सातवीं सदी के एक चीनी ऐतिहासिक ग्रन्थ के अनुसार मो-लो-यू के राजा ने चीन के सम्राट् की सेवा में अपना दूतमण्डल भेजा था (६४४ ईस्वी)। मो-लो-यू की वर्तमान ज़ाम्बी या यंबी के साथ एकता प्रतिपादित की गई है, जो कि दक्षिण सुमात्रा में हरी नदी के तट पर अवस्थित है। चीनी यात्री यि-त्सिंग भारत आते हुए और चीन वापस जाते हुए इस स्थान पर ठहरा था, और उसके यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि सातवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही इस पर चे-ली-फो-चे (श्रीविजय) का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। सातवीं सदी के ही एक

अन्य चीनी ग्रन्थ में राज्यों की एक सूची दी गई है, जिसमें मो-लो-चे और तो-लंग-पो-हुअंग नाम भी आये हैं। मो-लो-चे की मो-लो-यू के साथ और तो-लंग-पो-हुअंग की तुलंगववंग के साथ एकता प्रतिपादित की गई है। तुलंगववंग की स्थिति सुमात्रा के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश में है। चीनी साहित्य द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट है, कि सुमात्रा में श्रीविजय के अतिरिक्त अन्य भी अनेक राज्यों की सत्ता थी, जिन्हें बाद में श्रीविजय द्वारा जीत लिया गया था।

श्रीविजय राज्य के अनेक शिलालेख इस समय उपलब्ध हैं। उनसे शैलेन्द्र वंशी राजाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पर इस राज्य के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में कुछ बातें चीनी साहित्य द्वारा ज्ञात होती हैं। ३९२ ईस्वी में कालोदक नाम के एक बौद्ध भिक्षु द्वारा एक बौद्ध ग्रन्थ का चे-युल-येउ-किङ् नाम से चीनी में अनुवाद किया गया था। इसमें जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है, और यह लिखा है कि समुद्र में २५०० राज्यों (द्वीपों) की सत्ता है। इनमें एक स्स्यु-ली था, और एक चो-ये। छठी सदी में इस चीनी ग्रन्थ पर एक टीका लिखी गई थी, जिसमें चो-ये का अर्थ 'जय' या 'विजय' दिया गया है। इससे फरां ने यह परिणाम निकाला है कि चे-युल-येउ-किङ् में चो-ये नामक जिस राज्य का उल्लेख है, वह श्रीविजय ही था। क्योंकि इस ग्रन्थ का काल चौथी सदी में है, अतः यह मानना असंगत नहीं होगा कि श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी से पूर्व ही हो चुकी थी। श्रीविजय राज्य के प्रारम्भिक इतिहास पर छः शिलालेखों से भी प्रकाश पड़ता है। इनमें एक शिलालेख संस्कृत भाषा में है, जो लिगोर (मलाया प्रायद्वीप में) से उपलब्ध हुआ है। शेष शिलालेख पुरानी मलय भाषा में हैं, जिनमें से तीन पलेमबङ् से मिले हैं, और एक जाम्बी से। ये दोनों स्थान सुमात्रा में है। मलय भाषा का एक शिलालेख बंक द्वीप से प्राप्त हुआ है। बंक द्वीप सुमात्रा के उत्तर-पूर्वी कोने पर समुद्रतट से कुछ दूरी पर स्थित है। ये पाँचों लेख सातवीं सदी के हैं, जब कि श्रीविजय का राज्य उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था। पलेमबङ् से उपलब्ध पहले लेख में श्रीविजय के राजा श्रीजयनाश या जयनाग के कुकृत्यों का उल्लेख है। पलेमबङ्ग के दूसरे लेख और जाम्बी के लेख में श्रीविजय के अधीनस्थ प्रदेशों के निवासियों को चेतावनी दी गई है, कि यदि वे विद्रोह करने का विचार भी मन में लाएँगे, तो न केवल विद्रोहियों को अपितु उनके पारिवारिक जनों को भी कठोर दण्ड दिए जाएँगे। श्रीविजय के राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उनके राज्य में बौद्ध धर्म का भलीभांति प्रचार था। चीनी यात्री यि-त्सिंग सात साल (६८८-६९५ ई०) तक श्रीविजय में रहा था, और वहाँ निवास करते हुए उसने संस्कृत भाषा तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। उसके यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होता है, कि चीन से भारत जाने वाले भिक्षु श्रीविजय में रहकर संस्कृत की शिक्षा प्राप्त किया करते थे। श्रीविजय केवल बौद्ध धर्म का ही केन्द्र नहीं था, व्यापार और सामुद्रिक परिवहन की दृष्टि से भी उसकी स्थिति अत्यन्त महत्त्व की थी। श्रीविजय के राजा भी अपने राजदूत चीन के राजदरबार में भेजते रहते थे। ६७० से ७४१ ईस्वी तक के काल में श्रीविजय से जो अनेक राजदूत चीन गए, उनके वृत्तान्त चीनी साहित्य में विद्यमान हैं। ७२४ ई० में श्रीविजय के राजा चे-ली-तो-लो-पा-मो

(श्रीन्द्रवर्मा) द्वारा जो दूतमण्डल चीन भेजा गया था, उसके साथ भेजे गए भेंट-उपहारों में दो बौने, एक हब्शी लड़की और पांच रंगों का एक तोता भी था। इस दूतमण्डल के नेता का नाम कुमार था।

इसमें सन्देह नहीं, कि सुमात्रा में भारतीयों द्वारा जो अनेक उपनिवेश स्थापित किए गए थे, श्रीविजय उनमें सर्वप्रधान था। उसके राजाओं ने पहले सम्पूर्ण सुमात्रा को अपने अधीन किया, और बाद में मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो आदि की भी विजय की। श्रीविजय के साम्राज्य विस्तार पर आगे चलकर यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा।

पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेष—सुमात्रा से भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जो वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। जाम्बी से पत्थर की बनी बुद्ध की एक मूर्ति मिली है, और सेगुन तोग से कांस्य द्वारा निर्मित एक अन्य बुद्ध मूर्ति। इन्हें पांचवीं या छठी सदी का माना जाता है। सुमात्रा में बौद्ध धर्म का प्राधान्य था, पर उसके समीपवर्ती बंक द्वीप में पौराणिक धर्म की सत्ता थी, यह वहां से प्राप्त हुई विष्णु की एक मूर्ति से सूचित होता है। यह मूर्ति सातवीं सदी की है। इनके अतिरिक्त बोधिसत्वों तथा अन्य देवी देवताओं की भी अनेक मूर्तियां सुमात्रा तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों से प्राप्त हुई हैं, जो सातवीं सदी या उससे पूर्ववर्ती काल की हैं। शैलेन्द्र वंश के राजाओं के शासनकाल के तो बहुत-से अवशेष सुमात्रा तथा उसके साम्राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों में विद्यमान हैं, जिन पर श्रीविजय साम्राज्य का वृत्तान्त देते समय प्रकाश डाला जाएगा।

(४) जावा में भारतीय उपनिवेशों का प्रारम्भ

सुमात्रा के पूर्व में जावा की स्थिति है, जिसे सुण्डा का जलडमरू-मध्य सुमात्रा से पृथक् करता है। इस द्वीप की लम्बाई ६२२ मील है, और चौड़ाई ५५ से १२१ मील तक है। मदुरा और समीप के कतिपय द्वीपों को सम्मिलित करके जावा का क्षेत्रफल ५१,००० वर्गमील के लगभग है। क्षेत्रफल में यह सुमात्रा से एक तिहाई से भी कम है, पर इन्डोनीसिया का यह सबसे आबाद द्वीप है और इसकी जनसंख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। सघन आबादी का मुख्य कारण जावा की उपजाऊ तथा शस्य श्यामल भूमि है। चावल, गन्ना, काफी, तम्बाकू, चाय, नील आदि वहाँ प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं। वहां के जंगल भी बड़े सघन हैं, और उनके वृक्षों की लकड़ी बहुत कीमती है। जावा की सागौन की लकड़ी इमारती काम के लिए बहुत विख्यात है। जावा के समुद्रतट के साथ-साथ भी अनेक द्वीप विद्यमान हैं, जिनमें मदुरा या मधुरा मुख्य है। जो जलडमरू-मध्य द्वारा जावा को मदुरा से पृथक् करता है, कहीं-कहीं तो उसकी चौड़ाई एक मील से भी कम है। यही दशा कुछ अन्य द्वीपों की भी है। इसीलिए उन्हें जावा का ही अंग माना जाता है।

बरमा, मलाया और सुमात्रा के समान जावा में भी भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी। पर दुर्भाग्य से इन उपनिवेशों का प्रारम्भिक इतिहास अभी अज्ञात है। रामायण में यवद्वीप का उल्लेख मिलता है, यह पहले लिखा जा चुका है। उसके

"यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्, सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।" (वाल्मीकि रामायण २, ११) श्लोक में यवद्वीप का सुवर्णद्वीप के अन्तर्गत रूप से उल्लेख है, और इस श्लोक को अन्य भी अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है। टालमी ने भी इअबादिऊ नामक एक स्थान का उल्लेख किया है। यवद्वीप और इअबादिऊ जावा के ही नाम थे, यह प्रायः सभी विद्वानों को स्वीकार्य है। रामायण ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल तक अपने वर्तमान रूप में आ चुकी थी, और टालमी का समय दूसरी सदी में था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है, कि ईस्वी सन् की पहली सदी तक यवद्वीप या जावा भारतीयों को ज्ञात हो चुका था, और वहाँ उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसानी प्रारम्भ कर दी थीं। जावा के इन प्राचीनतम भारतीय उपनिवेशों के सम्बन्ध में जो भी जानकारी इस समय उपलब्ध है, उसके दो स्रोत हैं—(१) जावा में प्रचलित पुरानी अनुश्रुतियाँ या दन्त कथाएं, और (२) चीन के प्राचीन ग्रन्थों में संकलित वृत्तान्त।

सर स्टैम्फोर्ड रैफल्स नामक विद्वान ने उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जावा के इतिहास पर ग्रन्थ लिखा था, जिसमें वहाँ की प्राचीन अनुश्रुतियाँ भी संकलित हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार जिन उपनिवेशकों ने जावा में सबसे पूर्व अपनी बस्ती बसायी थीं, उनका नेता अजिसक था, जो अस्तिन के राजकुल से सम्बद्ध था। अस्तिन हस्तिनापुर का अपभ्रंश है। जावा की इस प्राचीन अनुश्रुति में अजिसक के नेतृत्व में उस द्वीप में गए उपनिवेशकों का सम्बन्ध हस्तिनापुर के कुरुवंश के साथ जोड़ा गया है। जावा की ही एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार हस्तिनापुर या अस्तिन के राजकुल के लोग पहले गुजरात में जाकर बसे थे, और बाद में उनके वंशज वहाँ से जावा गए थे। जावा की एक अन्य प्राचीन अनुश्रुति में उस द्वीप में भारतीय उपनिवेश स्थापित करने का श्रेय कलिंग को दिया गया है। किलङ्ग (कलिंग) के राजा ने बीस हजार परिवारों को जावा में बसने के लिए भेजा था, जहाँ उनके सदस्यों की संख्या में तो वृद्धि होती रही, पर सभ्यता के क्षेत्र में वे कोई उन्नति नहीं कर सके। पर बाद में जावा के संवत् २८९ (जावा में शक संवत् का प्रचलन था) में ईश्वर की कृपा से वहाँ कानो नाम का एक राजा हुआ, जिसने वहाँ के निवासियों को उन्नति पथ पर अग्रसर करना प्रारम्भ किया। कुछ सदियों बाद वहा अस्तिन राज्य स्थापित हुआ, जिसके राजा क्रमशः पुलसर, अविआस, पाण्डु देवनाथ और जयवय हुए। इस अनुश्रुति में जो भी नाम आए हैं, उनका महाभारत की कथा के साथ सम्बन्ध है। अस्तिन और हस्तिनापुर के एक होने की बात ऊपर लिखी जा चुकी है। पुलसर पराशर का अविआस व्यास का और जयवय जयभय का रूपान्तर हैं, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है।

पर जावा में प्रचलित बहुसंख्यक अनुश्रुतियों के अनुसार जिस अजिसक द्वारा वहाँ उपनिवेश स्थापित किया गया था, वह अस्तिन (हस्तिनापुर) के पाण्डव राजा का मन्त्री था, और उसने जावा के संवत् (शक संवत्) के प्रथम वर्ष में उस द्वीप में पदार्पण किया था। इस द्वीप का नाम पहले नुसा केन्दंग था, और वहाँ रसक्स (राक्षस) लोगों का निवास था। अजिसक द्वारा वहाँ सभ्यता का सूत्रपात किया गया और इस द्वीप का नाम यवद्वीप (जावा) रखा गया। अजिसक के सम्बन्ध में जो विविध अनुश्रुतियाँ जावा

में प्रचलित हैं, उनमें उसे अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। कुछ के अनुसार वह एक शक्तिशाली राजकुमार या राजपुरुष था, और उसने जावा में आकर एक समृद्ध उपनिवेश की स्थापना की थी। कतिपय अनुश्रुतियों में अजिसक को एक ऋषि या देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पर सब इस सम्बन्ध में एकमत हैं, कि उसी द्वारा जावा में सुव्यवस्थित शासन, धर्म तथा विद्याध्ययन का सूत्रपात किया गया था।

जावा में भारतीय उपनिवेश की स्थापना के सम्बन्ध में चीनी साहित्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ विद्यमान हैं। फाइ-सिन ने पन्द्रहवीं सदी में सिगच-शेंग-लन नाम से एक ग्रन्थ लिखा था, जिसके अनुसार जावा के दूत जब १४३२ ई० में चीन के सम्राट् की सेवा में भेंट लेकर आए, तो उन्होंने एक पत्र भी अर्पित किया, जिसमें लिखा था कि उनका राज्य १३७६ वर्ष पहले स्थापित हुआ था। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि ५६ ई० में जावा में अजिसक द्वारा भारतीय उपनिवेश की स्थापना की गई थी। शक संवत् और ईस्वी सन् में ७८ वर्षों का अन्तर है। जावा की एक अनुश्रुति के अनुसार अजिसक ने जावा संवत् (शक संवत्) के प्रथम वर्ष में उस द्वीप में पदार्पण किया था। फाइ-सिन ने वहाँ सभ्यता के श्रीगणेश का समय ५६ ई० में माना है, जो शक संवत् के प्रारम्भ से २२ साल पहले पड़ता है। दोनों में अन्तर इतना कम है, कि उनमें जो असंगति है, उसे किसी साधारण भूल का परिणाम समझा जा सकता है।

चीनी साहित्य से बाद के जावा के इतिहास पर अधिक प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार ये-तिआओ के राजा तिआओ-पियेन ने १३२ ईस्वी में अपना राजदूत चीन के राजदरबार में भेजा था। पेलिओ ने ये-तिआओ को यवद्वीप (जावा) का चीनी रूप प्रतिपादित किया है, और फरां के अनुसार तिआओ-पियेन का संस्कृत रूप देववर्मा है। पेलिओ और फरां द्वारा चीनी शब्दों के जो संस्कृत रूपान्तर प्रस्तुत किये गए हैं, उन्हें सही मानने पर यह भी स्वीकार करना होगा, कि दूसरी सदी तक जावा में भारतीय राज्य भलीभाँति स्थापित हो चुका था, और उसके राजसिंहासन पर भारतीय राजा आरूढ़ थे। तीसरी सदी में भी चीन और जावा में राजनयिक सम्बन्ध कायम रहा। पर पाँचवीं सदी के चीनी साहित्य से जावा पर जो प्रकाश पड़ता है, वह विशेष महत्त्व का है। भारत से लंका होकर चीन वापस जाते हुए प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान ४१४-४१५ ई० में पाँच मास जावा में ठहरा था। उस समय इस द्वीप में पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था। पर कुछ समय पश्चात् वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ, और शीघ्र ही वह वहाँ का प्रधान धर्म बन गया। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को प्राप्त है। गुणवर्मा कि-पिन के राजा संघानन्द का पुत्र था, और उसकी प्रवृत्ति शुरू से ही धर्म की ओर थी। राजसिंहासन का परित्याग कर उसने बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण किए, और लंका चला गया। कुछ समय वहाँ रहकर वह यवद्वीप गया। वहाँ की राजमाता ने स्वप्न में एक भिक्षु को देखा, जो जहाज पर यवद्वीप आ रहा था। अगले दिन प्रातःकाल गुणवर्मा समुद्रमार्ग से यवद्वीप पहुंच गया। राजमाता ने उसका उपदेश सुन बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, और कुछ समय पश्चात् माता के प्रभाव से यवद्वीप के राजा ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय एक शत्रुसेना ने यवद्वीप पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध धर्म के अनुयायी राजा

के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि शत्रु का सामना करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नहीं। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उन्होंने कहा, दस्युओं को दण्ड देना हिंसा नहीं है, उन्हें नष्ट करना धर्म है। यवद्वीप का राजा बौद्ध धर्म तथा गुणवर्मा के इतने प्रभाव में था, कि उसने राजगद्दी का परित्याग कर भिक्षुव्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की, पर मन्त्रियों के अनुनय-विनय करने पर उसने इस शर्त पर राजा बने रहना स्वीकार किया, कि उसके राज्य में प्राणियों की हिंसा बन्द कर दी जाए। चीनी साहित्य में गुणवर्मा को कि-पिन के राजा का पुत्र कहा गया है। कि-पिन से काश्मीर अभिप्रेत है या कपिशा (अफगानिस्तान में), इसपर विद्वानों में मतभेद है। पर बहुसंख्यक विद्वान् गुणवर्मा को काश्मीर का ही राजकुमार मानते हैं। गुणवर्मा ने केवल जावा में ही बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं किया, अपितु उनकी कीर्ति चीन भी पहुंच गई और वहां के राजा ने उन्हें अपने देश में निमन्त्रित किया। नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी के जहाज से ४३१ ई० में वह चीन पहुंचे और वहीं पर उनकी मृत्यु हुई। गुणवर्मा का जो वृत्तान्त चीनी साहित्य में विद्यमान है, उससे यह भली-भाँति प्रगट हो जाता है कि पाँचवीं सदी में जावा का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और इन दोनों के प्रतिनिधि एक-दूसरे देश में आते-जाते रहते थे। इसीलिए चीनी साहित्य में जावा के अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि चीन के राजदरबार में अपने दूत भेजे थे। सम्भवतः, पाँचवीं सदी में सम्पूर्ण जावा द्वीपकिसी एक राजा के शासन में नहीं था। वहाँ अनेक राज्यों की सत्ता थी, जिनके राजा चीन के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान करते रहते थे। ऐसा एक राज्य हो-लो-तान था, जहां से ४३४ और ४५२ ई० के बीच में पाँच दूत-मण्डल चीन गए थे। हो-लो-तान के राजा द्वारा भेजे गए इन दूतमण्डलों के अतिरिक्त चीनी ग्रन्थों में दो अन्य दूतमण्डलों का उल्लेख है, जिन्हें चो-पो के राजा ने ४३३ और ४३५ ई० में चीन भेजा था। चो-पो को जावा या यवद्वीप का चीनी रूपान्तर माना जाता है, और ४३५ ई० में उसके जिस राजा ने अपना राजदूत चीन भेजा था, चीनी ग्रन्थों में उसका नाम चे-ली-पो-ता-तो-अ-ला-पा-मो लिखा गया है। विविध विद्वानों द्वारा इसे संस्कृत के श्रीपादधरवर्मन्, भट्टार द्वार वर्मन् या श्रीपादपूर्णवर्मन् का चीनी रूपान्तर प्रतिपादित किया गया है। प्रायः एक ही समय में चो-पो तथा हो-लो-तान से राजदूतों के चीन भेजे जाने से यह प्रश्न उठता है, कि इन दोनों राज्यों में क्या सम्बन्ध था। चीनी विवरणों का सूक्ष्मता से विवेचन कर विद्वान इस परिणाम पर पहुंचे हैं, कि पाँचवीं सदी में जावा में अनेक राज्यों की सत्ता थी, जिनमें एक हो-लो-तान भी था। चो-पो जहाँ सम्पूर्ण यवद्वीप को कहते थे, वहाँ उस द्वीप में इस नाम का एक राज्य भी था, जो हो-लो-ता से भिन्न था। वस्तुतः, चीनी ग्रन्थों से जावा और उसके प्राचीन राज्यों के विषय में जो विवरण मिलता है, वह इतना अस्पष्ट है कि उससे किसी सुनिश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता।

सुई वंश के काल (५८९-६१८ ई०) के दो चीनी ग्रन्थों में तू-पो नामक एक देश का उल्लेख है, जिसमें दस राजधानियों या नगरों की सत्ता थी। इनके शासक राजा कहाते थे। पेलिओ ने तू-पो की जावा के साथ एकता प्रतिपादित की है, और चीनी विवरण से यह परिणाम निकाला है, कि छठी सदी में जावा दस या अनेक राज्यों में विभक्त था।

तांग वंश के काल (६१८-६०६ ई०) के प्राचीन चीनी इतिहासों में ऐसे २८ सामन्त राजाओं का उल्लेख है, जो जावा के राजा को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। हो-लो-तान इनमें एक था। उसके अतिरिक्त एक राज्य हो-लिङ् था, तांग वंश के सम्राटों के साथ जिसके राजाओं का राजनयिक सम्बन्ध विद्यमान था। सम्भवतः, हो-लिङ् के राजाओं ने जावा के अन्य सब राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था और उनके राजाओं की स्थिति हो-लिङ् के सामन्तों के सदृश हो गई थी। इसीलिए तांग युग के ग्रन्थों में सम्पूर्ण जावा के लिए भी हो-लिङ् शब्द का प्रयोग किया गया है।

हो-लिङ् को कलिंग का चीनी रूपान्तर माना गया है। सम्भवतः, भारत के कलिंग प्रान्त से बहुत-से उपनिवेशकों ने जावा में अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। जावा की एक अनुश्रुति के अनुसार किलङ्ग (कलिंग) के राजा ने बीस हजार परिवारों को वहाँ बसने के लिए भेजा भी था। जावा के एक राज्य का नाम जो हो-लिङ् पड़ा, वह कलिंग से आकर वहाँ बसे हुए लोगों के कारण ही था। सुदूर जावा में जाकर उन्होंने नये कलिंग (हो-लिङ्) की स्थापना की थी। सम्भवतः, हो-लिङ् का राज्य मध्य जावा में था, और हो-लो-तान की स्थिति पश्चिमी जावा में थी। इन राज्यों के जो कतिपय शिलालेख व पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्य अवशेष प्राप्त हुए हैं, उन्हीं से यह परिणाम निकाला गया है। इन दो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक राज्य जावा में विद्यमान थे, पर चीनी ग्रन्थों से उनके इतिहास पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

(५) जावा के प्राचीन अभिलेख

जावा में कतिपय ऐसे उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे वहां के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। ये लेख संस्कृत में हैं, और चीनी विवरणों की तुलना में ये बहुत अधिक प्रामाणिक हैं। इनमें सबसे पुराने वे चार शिलालेख हैं, जो बटाविया के समीप मिले हैं। बटाविया पश्चिमी जावा का मुख्य नगर है, और समुद्रतट पर स्थित है। पहले तीन शिलालेख बटाविया के समीप ची-अरुतोन, जम्बू और कबोन-कोपी नामक स्थानों से प्राप्त किये गए हैं, और चौथा शिलालेख तूगू से मिला है जो स्थान समुद्र के तट पर है। पहले तीन शिलालेखों में पूर्णवर्म्मा नाम के एक राजा का उल्लेख है, जिसकी राजधानी तारुम या तारुमा नगरी थी। पूर्णवर्म्मा को 'अवनिपति' और 'प्रचुर-रिपुशराभेद्यविख्यातवर्म्मा' (बहुत-से शत्रुओं के शर जिसे कभी परास्त नहीं कर सके) कहा गया है। चौथा लेख भी पूर्णवर्म्मा का है, और उसे इस राजा के बाईसवें शासन वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। यह लेख विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इसमें जहाँ पूर्णवर्म्मा के पितामह को 'राजर्षि' और पिता को 'राजाधिराज' कह कर स्मरण किया गया है, वहाँ साथ ही तारुमा के राजाओं की कतिपय कृतियों का भी इसमें उल्लेख पाया जाता है। पूर्णवर्म्मा के 'गुरु' (पिता) राजाधिराज ने चन्द्रभागा नाम की एक नहर खुदवायी थी, जो पुरी (तारुमा) के पास से होकर समुद्र में जा गिरती थी। राजा पूर्णवर्म्मा ने स्वयं भी एक नहर का निर्माण कराया था, जिसका नाम गोमती था। इसके निर्माण के सम्बन्ध में शिलालेख के ये श्लोक उद्धरण के योग्य हैं—

नरेन्द्रध्वजभूतेन श्रीमता पूर्णवर्म्मणा
प्रारभ्य फाल्गुने मासि खाता कृष्णाष्टमीतिथौ ।
चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां दिनैस्सिद्धैकविंशकैः ॥
आयता षट्सहस्रेण धनुषां सशतेन च ।
द्वाविंशेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका ॥
पितामहस्य राजर्षेविदार्य शिविरावनिम् ।
ब्राह्मणैर्गोसहस्रेण प्रयाति कृतदक्षिणः ॥

राजा पूर्णवर्म्मा ने गोमती नाम की जो नई नहर खुदवायी थी, वह ६१२२ धनुष लम्बी थी। उसकी खुदाई फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को शुरू हुई थी, और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन वह बन कर तैयार हो गई थी। उसके बनने में केवल २१ दिन लगे थे। नहर के निर्माण के पूरा हो जाने पर राजा पूर्णवर्म्मा ने एक हजार गौवें ब्राह्मणों को दक्षिणा में प्रदान की थीं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि पूर्णवर्म्मा पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था। या तो वह स्वयं भारतीय था, और या उसने भारतीय धर्म तथा संस्कृति को पूर्णरूप से अपना लिया था।

बटाविया के समीप प्राप्त हुए पूर्णवर्म्मा के पहले दो शिलालेखों पर अभिलेखों के साथ-साथ पदचिह्न भी उत्कीर्ण हैं, जिन्हें राजा के अपने पैरों का चिह्न (पादनिम्बद्वय) कहा गया है।

तस्येदम्पादबिम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम् ।
भक्तानां यन्नृपाणाम्भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूनाम् ॥

शिला पर उत्कीर्ण पूर्णवर्म्मा के दोनों पैरों के बिम्ब को भक्त नृपतियों (अधीनता स्वीकृत करने वाले राजाओं) के लिए सुखकर और शत्रुओं के लिए शल्यरूप बताया गया है। इन पदबिम्बों की तुलना विष्णु के पदों से यह कहकर की गई है—

विक्रान्तस्यावनिपतेः श्रीमतः पूर्णवर्म्मणः।
तारूमनगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पद द्वयम् ॥

रामायण में जहाँ यवद्वीप और उसके समीप के अन्य द्वीपों का वर्णन है, वहीं उसी प्रसंग में विष्णु के तीन पदों का भी उल्लेख किया गया है—

तत्र योजन विस्तारम् उच्छ्रितं दशयोजनम् ।
शृङ्गं सौमनसं नाम जातरूपमयं ध्रुवम् ॥
तत्र पूर्वं पदं कृत्वा पुरा विष्णुः त्रिविक्रमे ।
द्वितीयं शिखरे मेरोश्चकार पुरुषोत्तमः ॥

रामायण के इन श्लोकों के अनुसार विष्णु ने जब अपने पद उठाये, तो पहला पद उन्होंने सौमनस पर्वतशृंग पर रखा और दूसरा मेरुपर्वत के शिखर पर। विष्णुपदों की पूजा की परम्परा पौराणिक हिन्दू धर्म में विद्यमान है। राजा पूर्णवर्म्मा ने भी उसका अनुकरण कर अपने पदबिम्ब शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये थे, ताकि 'भक्तनृपति' तथा प्रजाजन इन 'सुखकारी' पदबिम्बों की पूजा कर सकें। यवद्वीप के प्रसंग में ही विष्णु पदों का जो उल्लेख रामायण में किया गया है, उससे यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा

कि विष्णु पदों की पूजा का सूत्रपात जावा में ही हुआ था, या यह पूजा वहाँ भली-भाँति प्रचलित थी, जिसके कारण 'तारुमनगरेन्द्र' पूर्णवर्म्मा ने भी अपने पादद्वय के बिम्ब प्रजा द्वारा पूजित होने के प्रयोजन से शिलाओं पर उत्कीर्ण करा दिये थे।

बटाविया के समीप कवोन कोपी से प्राप्त हुए पूर्णवर्म्मा के तीसरे शिलालेख के साथ हाथी के पाद उत्कीर्ण हैं, जिन्हें ऐरावत हाथी के पाद कहा गया है (**ऐरावताभस्य विभातीदम्पदद्वयम्**)। पौराणिक अनुश्रुति में ऐरावत हाथी को दैवी या लोकोत्तर समझा जाता है। अतः यदि दैव-गुण-सम्पन्न राजा पूर्णवर्म्मा के पदविम्बों के साथ ही उसके ऐरावत हाथी के पादविम्बों की भी पूजा की जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

बटाविया के क्षेत्र से प्राप्त शिलालेखों के कारण जावा में राजा पूर्णवर्म्मा की सत्ता के सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। उनसे यह भी प्रमाणित हो जाता है, कि इस राजा की राजधानी तारुमानगरी थी। पर इन शिलालेखों पर कोई संवत् अंकित नहीं है, अतः पूर्णवर्म्मा के काल का अनुमान केवल इन अभिलेखों की लिपि के आधार पर ही किया जा सकता है। इन शिलालेखों में अक्षरों की जो आकृति पायी जाती है, वह चम्पा के राजा भद्रवर्मा और शम्भुवर्मा के अभिलेखों के अक्षरों से मिलती-जुलती है। भद्रवर्मा का काल पाँचवीं सदी मे था, और शम्भुवर्मा का छठी सदी में। इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि पूर्णवर्म्मा भी छठी सदी के लगभग तारुमानगरी के राज-सिंहासन पर आरूढ़ रहा होगा। यद्यपि इन शिलालेखों से तारुमा के राजवंश तथा उसके इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, पर उनसे यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है, कि पूर्णवर्म्मा के समय में पश्चिमी जावा अविकल रूप से भारतीय धर्म, भाषा तथा संस्कृति के प्रभाव में था।

पूर्णवर्म्मा के इन चार शिलालेखों के बाद के जो अन्य प्राचीन शिलालेख जावा से प्राप्त हुए हैं, वे आठवीं सदी और उसके पश्चात् काल के हैं। पर इस बीच का एक शिलालेख मध्य जावा के तुक-मस नामक स्थान से मिला है, जो मेरबबू पर्वत की उपत्यका में है। यह एक विशाल चट्टान पर उत्कीर्ण है, और केवल एक पंक्ति का है। अभिलेख इस प्रकार है—

"उशु (च्यम्) वुरुहानुजाता क्वचिच्छिलावालुक निर्गतेयम्।
क्वचित् प्रकीर्ण्णा शुभशीततोया संप्रश्रुता मे (ध्य) करीव गंगा॥

इस अभिलेख में न किसी राजा का नाम है, और न कोई तिथि या संवत् ही दिया गया है। इसमें केवल एक ऐसी जलधारा का काव्यमय रूप से वर्णन है, जो गंगा के समान पवित्र है, जिसका उद्गम कमल (अम्बुरुह) से हुआ है और जो कहीं शिलाओं के बीच से होकर बहती है और कहीं रेती पर से। लिपि को दृष्टि में रखकर इस अभिलेख को भी छठी सातवीं सदी का माना जाता है। यह अभिलेख इस कारण विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इसके ऊपर सोलह आकृतियाँ या चिह्न उत्कीर्ण हैं, और उन सब का सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ है। इनमें शंख, गदा, चक्र, त्रिशूल, परशु, माला, कमल और कुम्भ की आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। त्रिशूल का सम्बन्ध शिव से है, शंख, गदा आदि का विष्णु से, कुम्भ का अगस्त्य से और परशु का परशुराम से। यह शिलालेख इस तथ्य को

प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है, कि छठी सातवीं सदियों में मध्य जावा में भी पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था, और वहां के निवासी संस्कृत भाषा का प्रयोग किया करते थे। जावा के इन प्राचीन अभिलेखों की भाषा विशुद्ध संस्कृत है। छठी-सातवीं सदी का एक अन्य अभिलेख मध्य जावा के दिभङ् पथार में पाया गया है। पर यह इतना अधिक घिस गया है कि इसे पढ़ा नहीं जा सका है। बाद के काल के जो अनेक अभिलेख जावा में मिले हैं, उन पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

(६) बोर्नियो के प्राचीन भारतीय उपनिवेश

क्षेत्रफल की दृष्टि से दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में बोर्नियो सबसे बड़ा है। जावा की तुलना में वह सात गुने से भी अधिक है, पर उसकी आबादी बहुत कम है। अभी वह पचास लाख तक भी नहीं पहुँच पाई है। बोर्नियो का एक भाग मलायीसिया के अन्तर्गत है, और शेष इन्डोनीसिया में है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य द्वीपों व प्रदेशों के समान बोर्नियो में भी प्राचीन समय में भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी, जिनका परिचय हमें वहां उपलब्ध हुए अभिलेखों द्वारा मिलता है। इसमें सबसे पुराने वे चार शिलालेख हैं, जो कि १८७९ ईस्वी में मुअरा कामङ् नामक स्थान से प्राप्त किए गए थे। यह स्थान कोती या कुतेई प्रदेश में महकम नदी के तट पर है। चीन देश की एक पुरानी नौका के भग्नावशेष भी इस स्थान से उपलब्ध हुए हैं, जिससे सूचित होता है, कि कभी यह जलमार्ग द्वारा यातायात का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। सम्भवतः, भारतीयों ने भी जलमार्ग से ही आकर इस प्रदेश में अपनी बस्तियों का सूत्रपात किया था। मुअरा कामङ् से सुवर्णनिर्मित तीन प्राचीन वस्तुएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनमें एक विष्णु की मूर्ति है। अभिलेख प्रस्तरस्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, जिनकी ऊँचाई छः फीट के लगभग है। ये स्तम्भ यज्ञों के लिए यूपों (यज्ञस्तम्भों) के रूप में बनवाए गए थे, और इन पर जो अभिलेख उत्कीर्ण हैं, उनका सम्बन्ध राजा मूलवर्मा के साथ है, जिसने कि यज्ञों का अनुष्ठान करते समय इन यूपों का निर्माण कराया था। ये अभिलेख शुद्ध संस्कृत में हैं, और इनकी लिपि से यह अनुमान किया गया है, कि इन्हें पाँचवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में उत्कीर्ण कराया गया था। पहले अभिलेख में मूल वर्मा ने पशु, भूमि, वृक्ष आदि का दान कर जो पुण्य कार्य किए, उनका उल्लेख है। इन्हीं पुण्य कृत्यों के उपलक्ष में विप्रों द्वारा उस यूप को स्थापित किया गया था, जिस पर कि यह लेख उत्कीर्ण है।

दूसरा अभिलेख अधिक महत्त्व का है। उसमें मूलवर्मा के वंश का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

श्रीमतः श्रीनरेन्द्रस्य कुण्डुङ्गस्य महात्मनः
पुत्रोऽश्ववर्म्मा विख्यातः वंशकर्ता यथांशुमान्।
तस्य पुत्राः महात्मानः त्रयस्त्रय इवाग्नयः
तेषां त्रयानां प्रवरः तपोबलदमान्वितः।
श्री मूलवर्म्मा राजेन्द्रो यष्ट्वा बहुसुवर्णकम्
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयं द्विजेन्द्रैः सम्प्रकल्पितः॥

इस अभिलेख के अनुसार कुण्डुन्ग नाम के नरेन्द्र का पुत्र अश्ववर्मा था, जो अंशुवर्मा के समान एक नए वंश के कर्ता (वंश-प्रवर्तक) के रूप में विख्यात हुआ। अश्ववर्मा के तीन पुत्र थे, जिनमें तप, वल और दम की दृष्टि से मूलवर्मा सर्वश्रेष्ठ था। मूलवर्मा ने वहुसुवर्णक यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसके लिए ब्राह्मणों द्वारा यह यूप वनवाया गया। कुण्डुन्ग शव्द संस्कृत का प्रतीत नहीं होता। अतः कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, कि मूलवर्मा के पूर्वज भारतीय न होकर वोर्नियो की किसी मूल जाति के थे। कम्वुज (कम्वोडिया) के राजवंश का प्रारम्भ कौण्डिन्य से हुआ, यह वहाँ के अन्यतम राजा राजेन्द्र वर्मा के एक अभिलेख में सूचित किया गया है। **(सोमा कौण्डिन्यवंशाम्वरतल-तिलको भूपतिर्भु रिकीर्तिः)**। इसी प्रकार चम्पा के राजवंश का प्रारम्भ भी कौण्डिन्य द्वारा हुआ कहा गया है **(तत्र स्थापितवान्शूलं कौण्डिन्य स्तव् द्विजर्षभः)**। कम्वुज और चम्पा दोनों के अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है, कि कौण्डिन्य का अश्वत्थामा के साथ निकट सम्वन्ध था। चम्पा, कम्वुज और वोर्नियो—तीनों के राजवंशों के प्रवर्तक के रूप में कौण्डिन्य या कुण्डुन्ग का उल्लेख महत्त्व की वात है। कुण्डुन्ग और कौण्डिन्य तथा अश्वत्थामा और अश्ववर्मा अभिन्न थे, यह कल्पना असंगत नहीं होगी। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारतीय उपनिवेशकों की जिस धारा द्वारा पहले-पहल दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में अपनी वस्तियाँ स्थापित की गई थीं, उसका नेता कौण्डिन्य था, और उसी के वंशजों या अनुयायियों ने विविध स्थानों पर अपने राज्य स्थापित किए थे। इसीलिए मूलवर्मा के पिता अश्ववर्मा को 'वंशकर्ता' कहा गया है। महाभारत के आदिपर्व में उन वीर पुरुषों के लिए वंशकर्ता विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिन्होंने किसी नये राज्य की स्थापना की हो।

राजा मूलवर्मा ने वहुसुवर्णक संज्ञा के जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया था, उसका उल्लेख रामायण में भी मिलता है। वहाँ इसे अश्वमेध, अग्निष्टोम, गोमेध और राजसूय के साथ परिगणित किया गया है **(अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो वहुसुवर्णकः। राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा)**।

एक अन्य अभिलेख में वप्रकेश्वर के पुण्यक्षेत्र में राजा मूलवर्मा द्वारा ब्राह्मणों को वीस हजार गौवें दक्षिणा में दिए जाने का उल्लेख है—

श्रीमतो नृपमुख्यस्य राज्ञः श्रीमूलवर्मणः
दानं पुण्यतमे क्षेत्रे यद्दत्तं वप्रकेश्वरे।
द्विजातिभ्योऽग्नि कल्पेभ्यः विंशति गोसहस्रिकम्
तस्य पुण्यस्य यूपोऽयं कृतो विप्रैरिहागतैः॥

मुअरा कामङ् से प्राप्त चार अभिलेखों के अतिरिक्त राजा मूलवर्मा के तीन अन्य अभिलेख भी उपलब्ध हुए हैं। इनका सम्वन्ध भी मूलवर्मा द्वारा किए गए दान-पुण्य से ही है। यज्ञों का अनुष्ठान कर ब्राह्मणों को जो दान-दक्षिणा मूलवर्मा द्वारा दी गई थी, उसी का इन अभिलेखों में विशद रूप से विवरण दिया गया है। वप्रकेश्वर क्षेत्र की स्थिति कहाँ थी, यह निश्चित कर सकना कठिन है। सम्भवतः, भारत के अमरनाथ और वदरीनाथ के समान वोर्नियो में भी वप्रकेश्वर शिव की पूजा प्रचलित थी, और उसी के मन्दिर के

कारण उस स्थान का नाम भी वप्रकेश्वर-क्षेत्र पड़ गया था।

राजा मूलवर्मा के सात यूप-अभिलेखों के अतिरिक्त वोर्नियो में आठ अन्य प्राचीन अभिलेख भी विद्यमान हैं, जो एक चट्टान पर उत्कीर्ण हैं। यह चट्टान पश्चिमी वोर्नियो में वातो-पहुत नामक स्थान पर है, जो कि सोअनगेई तेकारक नाम की जलधारा के समीप है। अभिलेखों के साथ-साथ इस चट्टान पर छत्रों की एक शृंखला भी उत्कीर्ण है। ये अभिलेख अस्पष्ट हैं और उनके कुछ शब्द ही पढ़े जा सके हैं। पर इन शब्दों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि इस चट्टान पर वौद्ध धर्म का वह सुप्रसिद्ध सूत्र उत्कीर्ण कराया गया था, जो मलाया आदि अन्यत्र भी उत्कीर्ण मिलता है। यह सूत्र "ये धर्मा हेतुप्रभवाः तेषां हेतुं तथागतो ह्यवदत्, तेषां च यो निरोधः एवंवादी महाश्रमणः" तथा उसके साथ एक अन्य श्लोक है, जिन्हें इसी अध्याय में पहले उद्धृत किया जा चुका है। पश्चिमी वोर्नियो की एक चट्टान पर उत्कीर्ण इन वौद्ध सूत्रों से इस वात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ-साथ वौद्ध धर्म भी इस द्वीप में प्रचलित था।

यूपों और चट्टानों पर उत्कीर्ण संस्कृत के अभिलेखों के अतिरिक्त वोर्नियो से पुरातत्त्व-सम्बन्धी अन्य भी अनेक ऐसे प्राचीन अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जो वहाँ भारतीय धर्मों तथा संस्कृति के प्रचार को प्रमाणित करते हैं। मुअरा कामङ् के उत्तर में तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में कोम्वेङ् नामक स्थान पर एक गुफा है, जिसमें वहुत-सी प्राचीन मूर्तियों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। इस गुफा में दो कोठरियां हैं। पिछली कोठरी से वलुए पत्थर से निर्मित वारह मूर्तियाँ; पत्थर को तरास कर वनाई गई अनेक कला-कृतियाँ तथा कुछ लकड़ी की कड़ियाँ मिली हैं जो जीर्ण दशा में हैं। मूर्तियाँ पौराणिक हिन्दू और वौद्ध दोनों धर्मों की हैं। पौराणिक हिन्दू मूर्तियाँ शिव, गणेश, अगस्त्य, नन्दीश्वर, व्रह्मा, नन्दी, स्कन्द और महाकाल की हैं। गणेश की दो मूर्तियाँ हैं। शेष मूर्तियों का सम्वन्ध वौद्ध धर्म से है। पौराणिक मूर्तियों में सवसे वड़ी महादेव शिव की खड़ी मूर्ति है। शिवजी कमलासन पर खड़े हैं, उनकी चार भुजाओं में से दाईं ओर की दो भुजाओं में माला और त्रिशूल हैं, और वायें ओर की ऊपर वाली भुजा में चमर है। एक भुजा खाली है। सिर पर मुकुट, गले में माला, यज्ञोपवीत और पैरों में कड़े पहने हुए हैं। वौद्ध मूर्तियों में एक ऐसी है, जिसका दायां हाथ वरद मुद्रा में है। कोम्वेङ् की गुफा से प्राप्त इन मूर्तियों की एक विशेषता यह है, कि ये शुद्ध भारतीय कला की प्रतीत होती हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया या जावा की कला का इन पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता। इससे यह अनुमान किया गया है, कि इनका निर्माण ऐसे समय में हुआ था जवकि भारतीयों को वोर्नियो में अपने उपनिवेश स्थापित किए अधिक समय नहीं हुआ था। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि पहले यह मूर्तियाँ कहीं अन्यत्र मन्दिरों में प्रतिष्ठापित थीं। सम्भवतः, शत्रुओं के आक्रमणों से वचाने के लिए इन्हें कोम्वेङ् की गुफा में लाकर छिपा दिया गया था। जिन मन्दिरों में ये प्रतिष्ठापित थीं, वे लकड़ी द्वारा वनाए गए होंगे। इसीलिए उनके कोई भग्नावशेष इस समय विद्यमान नहीं हैं। कोम्वेङ् की गुफा में लकड़ी की जो कड़ियां मिली हैं वे भी सम्भवतः किसी मन्दिर से ही लाई गई

हैं। ये मन्दिर महकम नदी की घाटी के प्रदेश में स्थित होंगे, क्योंकि भारतीयों द्वारा अपने जो उपनिवेश बोर्नियो में स्थापित किए गए थे, वे प्रधानतया इसी प्रदेश में थे।

महकम नदी के प्रदेश के अतिरिक्त वोर्नियो की एक नदी कपुआस भी है। इसके तटवर्ती प्रदेश से भी प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। वातो-पहुत की जिस चट्टान का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह कपुआस नदी के क्षेत्र में ही है। इसके अतिरिक्त सपौक नामक स्थान पर एक मुखलिंग मिला है, जो वहाँ पौराणिक धर्म की सत्ता का स्पष्ट प्रमाण है। संगौ से दो पंक्तियों का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसे अभी पढ़ा नहीं जा सका है। संपित नदी के मुहाने से एक पात्र मिला है, जिसमें सोने के बहुत-से ऐसे पत्थर थे जिन पर पुराने अक्षर उत्कीर्ण हैं। वोर्नियो से उपलब्ध यह सब पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत के नाविकों और व्यापारियों ने अच्छी बड़ी संख्या में वहाँ जाना प्रारम्भ कर दिया था, और वहाँ अपने अनेक उपनिवेश भी स्थापित कर लिए थे।

(७) वाली, सेलेवस और फिलिप्पीन में भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

वाली—यवद्वीप (जावा) के पूर्व में वाली द्वीप की स्थिति है। वाली एक छोटा-सा द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल केवल २०९५ वर्गमील है। इसकी जनसंख्या दस लाख से कुछ अधिक है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में यही एकमात्र ऐसा द्वीप है, जहाँ के निवासी पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। इन्डोनीसिया और मलायीसिया के अन्तर्गत विविध द्वीपों और प्रदेशों के लोग अब भारतीय धर्मों का परित्याग कर इस्लाम को अपना चुके हैं, पर वाली के निवासी वर्तमान समय में भी उसी ढंग से पौराणिक हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, जैसे कि प्राचीन काल में सुमात्रा, वोर्नियो मलाया आदि अन्य सब प्रदेशों के लोग किया करते थे। भारत से वाहर के इन प्रदेशों में हिन्दू धर्म का क्या रूप था, इसका अनुशीलन वाली में प्रचलित धर्म द्वारा भली-भाँति किया जा सकता है। इसी कारण भारतीय संस्कृति के इतिहास में वाली द्वीप का विशेष महत्त्व है।

पर आश्चर्य की बात यह है, कि वाली द्वीप से अभी तक कोई ऐसे पुरातत्त्वसम्बन्धी प्राचीन अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं, जिनमें वहाँ की प्राचीन भारतीय वस्तियों, उनके राजाओं और वहाँ भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रचार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सके। इस विषय में जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र साधन चीनी साहित्य है, जिसमें वाली का उल्लेख पो-ली नाम से किया गया है। चीनी साहित्य में वर्णित पो-ली वाली ही है, यह मत फ्रेंच विद्वान् पेलिओ द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अनेक अन्य विद्वानों ने पो-ली की समता सुमात्रा के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश से निरूपित की है। इसका कारण यह है, कि चीनी ग्रन्थों के अनुसार पो-ली एक सुविशाल प्रदेश था, जिसे पश्चिम से पूर्व की ओर पार करने में ५० दिन और उत्तर से दक्षिण की ओर पार करने में २० दिन लगते थे। वाली जैसे छोटे-से द्वीप पर यह वर्णन कदापि लागू नहीं होता। पर अन्य सब दृष्टियों से विचार करने पर वर्तमान समय में विद्वानों का यही मत है, कि चीनी

ग्रन्थों का पो-ली वाली द्वीप ही था। चीन के लियांग वंश (५०२-५५६ ई०) के इतिहास में पो-ली (वाली) का सबसे पूर्व उल्लेख आया है। वहाँ लिखा है, कि "राजा का वंशनाम कौण्डिन्य है। इससे पहले उसका चीन के साथ कभी सम्बन्ध नहीं हुआ था। अपने पूर्वजों और उनके काल के विषय में पूछने पर वह केवल इतना ही बता सका, कि शुद्धोदन की पत्नी उसी के देश की कन्या थी। राजा वेलबूंटे वाला रेशमी वस्त्र शरीर पर पहनता है, सिर पर सुवर्ण निर्मित एक ऐसा मुकुट धारण करता है जो सप्तरत्नों से जटित होता है। सुवर्ण-जटित तलवार को हाथ में लिए वह सुवर्ण-सिंहासन पर बैठता है, और उसके पैर चाँदी के पादपीठ पर रहते हैं। उसकी परिचारिकाएँ सुवर्ण-पुष्पों और विविध प्रकार के रत्नों से विभूषित होती हैं। उनमें से कुछ श्वेत चंवर का मोरछल लिए रहती हैं। जब राजा कहीं बाहर जाता है, तो उसका रथ हाथी द्वारा खींचा जाता है। रथ का निर्माण नानाविध सुगन्धित काष्ठों द्वारा किया जाता है। रथ के ऊपर पंखों का चौरस चंदवा होता है, जिसके दोनों ओर जरी के परदे लटके रहते हैं। शंख और नगाड़े बजाते हुए लोग उसके आगे और पीछे चलते हैं।" इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि छठी सदी में वाली एक समृद्ध तथा उन्नत राज्य था। ५१८ ईस्वी में वहाँ के राजा ने चीन के सम्राट् की सेवा में अपना राजदूत भी भेजा था। इसके बाद ५२३ ईस्वी में जावा के राजा द्वारा एक अन्य दूतमण्डल चीन भेजा गया। ५२३ में जावा के जिस राजा ने अपना दूतमण्डल चीन भेजा था, चीनी ग्रन्थों में उसका नाम पिन-क लिखा गया है, जिसे श्लेगल ने कलविङ्क का रूपान्तर माना है।

चीन के सुई राजवंश (५८६-६१८ ईस्वी) के इतिहास में भी बाली (पो-ली) का उल्लेख मिलता है। वहाँ इस देश के राजा के कुल को च-रि-य-क कहा गया है, जो सम्भवतः क्षत्रिय का रूपान्तर है। इस इतिहास में यह भी लिखा है, कि पो-ली के निवासी ऐसे अस्त्र का प्रयोग करते हैं जो गोलाकार होता है, और जिसके बीच में पकड़ने के लिए एक छेद रहता है। यह सम्भवतः, कृष्ण के चक्र के समान एक अस्त्र था, जिसे बाली के लोग प्रयुक्त किया करते थे। इसी इतिहास में यह भी लिखा है, कि वाली के निवासी कु-पेई नामक पौधे के फूलों को कात कर कपड़े बनाया करते थे और उन्हें शरीर पर धारण करते थे। कु-पेई स्पष्टतया कार्पास (कपास) का द्योतक है, जिसे भारतीय लोग अपने देश से वाली भी ले गए थे, और वहाँ भी उसकी खेती करने लगे थे।

सातवीं सदी के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध चीनी यात्री यि-त्सिंग ने जो यात्रा-विवरण लिखा है, उसके अनुसार वाली में बौद्ध धर्म के मूलसर्वास्तिवादी निकाय का प्रचार था। इस द्वीप में भारतीयों ने कई सदी पूर्व ही अपने उपनिवेश बना लिए थे, और अन्य भारतीय धर्मों के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी वहाँ प्रचार हो गया था।

सेलेबस (सुलवेसि)—बोर्नियो के पूर्व तथा फिलिप्पीन के दक्षिण में केंकड़े की आकृति का एक द्वीप है, जिसे सेलेबस या सुलवेसि कहते हैं। सुलवेसि का अर्थ है, लौहद्वीप। प्राचीन समय में यह द्वीप भी भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। इस द्वीप में करमा नामक नदी के तटवर्ती सेमपागा स्थान से पीतल की एक सुन्दर बुद्ध मूर्ति मिली है। मूर्ति का दायाँ हाथ तथा कन्धा खुले हैं, चेहरा गोल तथा भव्य है, हाथ-पैर टूटे हुए

हैं। मूर्ति पर जो चीवर बनाया गया है, उसके चुनट को देखकर मथुरा की कुषाणकालीन लाल पत्थर की मूर्तियों का स्मरण हो आता है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति सुमात्रा और जावा की प्राचीन मूर्तियों से भिन्न प्रकार की है। इसे अमरावती (दूसरी सदी) या प्रारम्भिक गुप्त काल (चौथी सदी) की शैली की मूर्ति कहा जा सकता है। सेलेबस से उपलब्ध हुई यह मूर्ति इस तथ्य की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है, कि चौथी-पाँचवीं सदी तक इस द्वीप में भी भारतीय संस्कृति का प्रवेश हो गया था।

फिलिप्पीनं—फिलिप्पीन में भी अनेक स्थानों पर पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो वहाँ प्राचीन समय में भारतीय धर्म तथा संस्कृति की सत्ता का संकेत करते हैं। १८२० ईस्वी में सीबू से तांबे की एक शिव-मूर्ति मिली थी, जो तीन इंच से कुछ बड़ी है और उसकी आकृति पर भारतीय या जावा की कला की छाप है। मिनदानो द्वीप के स्पेरांजा नामक कसबे के समीप एक खड्डे से सोने की एक मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो एक देवी की है। मूर्ति के सिर पर सुसज्जित मुकुट है, और हाथ तथा भुजाएँ अनेक आभूषणों से विभूषित हैं। गले तथा कन्धों पर अनेकविध आभूषण हैं। मूर्ति का वजन दो सेर के लगभग है, और इसके निर्माण के लिए शुद्ध सोने का प्रयोग किया गया है। फिलिप्पीन की प्राचीन लिपियाँ भी ब्राह्मीमूलक थीं। इनमें जो बहुत-से ग्रन्थ विद्यमान थे, स्पेन के लोगों ने सोलहवीं सदी में उनका विनाश किया। फिलिप्पीन के निवासी यह मानते हैं, कि उनकी आचार-संहिता मनु और लाओ-त्से की स्मृतियों पर आधारित है। इसीलिए वहाँ की विधानसभा के द्वार पर इन दोनों की मूर्तियाँ भी स्थापित की गई हैं। फिलिप्पीन के अनेक प्रदेश अब तक भी 'विषय' कहाते हैं। गुप्तकाल में प्रान्त या जिले के लिए भारत में 'विषय' शब्द का ही प्रयोग हुआ करता था।

(८) मलायीसिया और इन्डोनीसिया में भारतीय संस्कृति का प्रथम युग

आठवीं सदी में शैलेन्द्र वंश के प्रतापी राजाओं ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, और शीघ्र ही मलायीसिया तथा इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों व द्वीपों को जीत कर, अपने अधीन कर लिया। इस क्षेत्र में जो बहुत-से भारतीय उपनिवेश व राज्य स्थापित थे, वे सब शैलेन्द्र साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए। ये शैलेन्द्र राजा सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया भारतीय थे, और इनके संरक्षण में भारतीय धर्मों ने अच्छी उन्नति की थी। इनके इतिहास पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। पर क्योंकि सातवीं सदी के साथ मलायीसिया और इन्डोनीसिया में उस युग का अन्त हो गया, जब कि वहाँ बहुत-से छोटे-बड़े भारतीय उपनिवेश व राज्य विद्यमान थे, अतः इस युग की संस्कृति पर विहंगम दृष्टि डालना उपयोगी होगा। यह युग ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग शुरू हुआ था, और शैलेन्द्र साम्राज्य के विकास हो जाने पर इसका अन्त हुआ।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ-काल के लगभग जब भारतीयों ने मलायीसिया और इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में बसना प्रारम्भ किया, तो ये प्रदेश सर्वथा गैर-आबाद नहीं थे। वहाँ मलाया जाति के जिन लोगों का निवास था, उनके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। इस क्षेत्र के ये पुराने निवासी सभ्यता की दृष्टि से अधिक

उन्नत नहीं थे। जब भारतीय उपनिवेशकों के साथ उनका सम्पर्क हुआ, तो स्वाभाविक रूप से उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया। इतिहास का यह एक सर्वमान्य नियम है, कि जब किसी अवनत सभ्यता का उन्नत सभ्यता के साथ सम्पर्क होता है, तो अवनत सभ्यता के लोग उन्नत सभ्यता को अपनाने लगते हैं, और धीरे-धीरे उसी को आत्मसात् कर लेते हैं। इसी प्रक्रिया के कारण भारत पर आक्रमण करने वाले युइशि, शक, कुशाण, हूण आदि लोगों ने भारतीय धर्म, भाषा, संस्कृति व सभ्यता को अपना लिया था, और इसी के कारण मध्य एशिया की तुर्क जातियाँ अरबों के सम्पर्क में आकर इस्लाम में दीक्षित हो गई थीं। मलायीसिया और इन्डोनीसिया में भी यही प्रक्रिया हुई। वहाँ के पुराने निवासी जब भारतीय उपनिवेशों के सम्पर्क में आए, तो उन्होंने भारत के धर्म, भाषा व संस्कृति आदि को अपना लिया, और शीघ्र ही वे पूर्णतया भारतीय रंग में रंग गए। मलाया, जावा, बोर्नियो आदि के जिन राजाओं के शिलालेखों का इसी अध्याय में ऊपर उल्लेख किया गया है, जातीय दृष्टि से वे भारतीय थे या इन प्रदेशों के पुराने निवासी—यह निर्धारित कर सकना कठिन है। पर उनके अभिलेखों से यह सर्वथा स्पष्ट है, कि वे भारत के राजाओं के समान संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे, पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा करते थे और दान-दक्षिणा द्वारा ब्राह्मणों का सम्मान किया करते थे। यदि ये राजा जातीय दृष्टि से भारतीय नहीं भी थे, तो भी संस्कृति और धर्म में ये पूर्णतया भारतीय बन गए थे, यह सर्वथा असंदिग्ध है।

बोर्नियो में मुअरा कामङ् नामक स्थान से राजा मूलवर्मा के जो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, वे एक ऐसे राज्य एवं समाज का चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, जो पूर्णतया पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रभाव में था। मूलवर्मा द्वारा यज्ञों का अनुष्ठान किया गया था और उनके लिए यूपों की स्थापना भी की गई थी। उसने बहुसुवर्णक सदृश यज्ञ का भी अनुष्ठान किया था, जो राजसूय, अश्वमेध और अग्निष्टोम जैसे यज्ञों के समान महत्त्व का था, और दान-दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को हजारों गौवें प्रदान की थीं। साथ ही, अन्य भी विविध वस्तुएँ यज्ञों के उपलक्ष में उसने ब्राह्मणों को दान में दी थीं। मूलवर्मा द्वारा शासित बोर्नियो का प्रदेश हिन्दू धर्म का इतना महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था कि वहाँ वप्रकेश्वर सदृश 'पुण्यतम क्षेत्र' भी विकसित हो गए थे, जिन्हें वहाँ के निवासी पवित्र तीर्थस्थान मानते थे। बोर्नियो के भारतीय उपनिवेशों में केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड का ही अनुष्ठान नहीं किया जाता था, अपितु शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द तथा महाकाल आदि पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी पूजा के लिए मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं। जावा और मलाया में उपलब्ध हुए शिलालेखों से भी यही सूचित होता है, कि इन प्रदेशों में याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा देवी देवता-प्रधान हिन्दू धर्म का प्रचार था। वहाँ से भी दुर्गा, गणेश, नन्दी आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। भारत में प्रचलित पौराणिक कथाओं का भी इन प्रदेशों में प्रवेश हो चुका था। विष्णु के पदों की पूजा वहाँ प्रचलित थी, और साथ ही इन्द्र के ऐरावत हाथी के पदचिह्नों की भी। शंख, चक्र और गदा धारण करने वाले विष्णु, त्रिशूलधारी शिव तथा कुम्भोद्भव अगस्त्य की इन प्रदेशों में उसी ढंग से पूजा की जाती थी, जैसे कि भारत में। गंगा इनके निवासियों की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र

नदी थी। इसीलिए जावा के तुकमस नामक स्थान से प्राप्त शिलालेखों में एक ऐसी जलधारा का उल्लेख है, जो गंगा के समान पवित्र थी। सुदूर मलायीसिया और इन्डोनीसिया में बस जाने के बाद भी इन प्रदेशों के भारतीय उपनिवेशक अपने देश की गोमती और चन्द्रभागा सदृश नदियों को भुला नहीं सके थे। इसीलिए जावा के राजा पूर्णवर्मा ने जो नई नहरें अपने राज्य में खुदवाई थीं, उनके नाम गोमती और चन्द्रभागा रखे थे। इन उपनिवेशों या राज्यों की भाषा शुद्ध संस्कृत थी, और उसे उसी ब्राह्मी लिपि में लिखा जाता था, जो चौथी पांचवीं सदियों में भारत में प्रचलित थी।

इस युग में मलायीसिया और इन्डोनीसिया के क्षेत्र में पौराणिक हिन्दू धर्म का ही प्रचार प्रधान रूप से था, इस बात की पुष्टि फाइयान के यात्रा-विवरण द्वारा भी होती है। उसने जावा के विषय में लिखा है, कि वहां पौराणिक हिन्दू धर्म की ही प्रधानता थी, बौद्ध धर्म की नहीं। पर बाद में इस क्षेत्र के प्रदेशों तथा द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ, और सातवीं सदी के अन्त तक वह वहां भली भांति स्थापित हो गया। जावा में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय गुणवर्मा को दिया जाना चाहिए, जो पाँचवीं सदी में वहाँ गया था। उसके प्रभाव में आकर जावा की राजमाता ने बौद्ध धर्म को अपना लिया था, और अपनी माता के अनुकरण में वहाँ के राजा ने भी। गुणवर्मा हीनयान के मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का अनुयायी था। इसीलिए जावा तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बौद्ध धर्म के इसी सम्प्रदाय का प्रचार हुआ था। सातवीं सदी के अन्त में जब चीनी यात्री यि-त्सिग ने इस क्षेत्र की यात्रा की थी, तो बौद्ध धर्म की जड़ें वहाँ सुदृढ़ हो चुकी थीं, और अनेक ऐसे विद्या-केन्द्र भी वहाँ विकसित हो गए थे जिनमें बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त की जा सकती थी। इस प्रकार का सबसे महत्त्वपूर्ण विद्याकेन्द्र श्रीविजय था। भारत जाते समय यि-त्सिग छः मास वहाँ ठहरा था, और वहाँ रहकर उसने शब्द-विद्या (संस्कृत व्याकरण) का अध्ययन किया था। भारत से वापस लौटते हुए भी वह कुछ समय के लिए श्रीविजय रुका था, और फिर चीन जाकर शीघ्र ही वहाँ से पुनः श्रीविजय लौट आया था। भारत यात्रा में जो बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ इस चीनी विद्वान् ने प्राप्त किये थे, श्रीविजय में रहकर उसने उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। यि-त्सिग ने इस कार्य के लिए श्रीविजय को क्यों चुना, इसका कारण उसने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"दक्षिणी महासमुद्र के द्वीपों के बहुत-से राजा तथा सामन्त बौद्ध धर्म के प्रति आस्था रखते हैं, और उसका सम्मान करते हैं। उनकी मनोवृत्ति सत्कर्मों के संचय की ओर है। भोज (श्रीविजय) नगरी में एक हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु व श्रमण निवास करते हैं, जो सदा ज्ञान के उपार्जन तथा सत्कार्यों में संलग्न रहते हैं। मध्य देश (भारत के उत्तरी प्रदेश) में जिन विषयों का अनुशीलन व अध्ययन किया जाता है, उनका अध्ययन व अनुशीलन यहाँ भी उसी ढंग से होता है। नियम, आचार, पूजाविधि भी यहाँ मध्यदेश के ही समान हैं। यदि किसी चीनी भिक्षु को बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करके व उन पर प्रवचन सुनने के लिए पश्चिम की ओर (भारत में) जाना हो, तो यह अच्छा होगा कि मध्यदेश जाने से पहले वह एक दो साल यहाँ (श्रीविजय में) रह ले।" कितने ही चीनी भिक्षुओं ने भारत जाने से पूर्व श्रीविजय में निवास कर संस्कृत भाषा तथा बौद्ध

ग्रन्थों का अध्ययन किया भी था। इनमें युन-की, ता-त्सिन, चेंग-कोउ ताओ-होंग और फा-लांग के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीविजय (सुमात्रा) के समान जावा भी बौद्ध धर्म के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। इसीलिए हुई-निंग नामक चीनी भिक्षु भारत की यात्रा के लिए जाते समय मार्ग में तीन साल जावा में रहा था, और वहां रहते हुए ज्ञानभद्र नामक एक स्थानीय भिक्षु के सहयोग से अनेक बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य भी उस द्वारा किया गया था।

यद्यपि गुणवर्मा द्वारा हीनयान के मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का प्रचार किया गया था, पर श्रीविजय में महायान सम्प्रदाय का विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ। यह बात न केवल यि-त्सिंग के यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होती है, अपितु सुमात्रा में प्राप्त एक शिलालेख से भी इसी का संकेत मिलता है। पलेमबांग से तीन मील पूर्व में तलाङ् तुवो नामक स्थान पर एक शिलालेख विद्यमान है, जिसमें श्रीजयनाग द्वारा प्राणिमात्र के हित-कल्याण के लिए बनवाये गए श्रीक्षेत्र का उल्लेख है। इस शिलालेख में कल्याणमित्र, प्रणिधान, बोधिचित्त, रत्नत्रय, वज्रशरीर, जन्मवशिता, कर्मवशिता, क्लेशवशिता, अनुत्तराभिसम्यक्संबोधि सदृश ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो महायान सम्प्रदाय के विशिष्ट दार्शनिक शब्द हैं। इस शिलालेख में जो वज्रशरीर शब्द आया है, उससे यह भी सूचित होता है, कि श्रीविजय में महायान के उस सम्प्रदाय का प्रचार हुआ था जो वज्रयान और मन्त्रयान के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् भी भारत से श्रीविजय गए थे, और उनके कारण इस नगरी के बौद्ध अध्ययन के केन्द्र के रूप में विकसित होने में बहुत सहायता मिली थी। सातवीं सदी में आचार्य धर्मपाल नालन्दा से वहां गए थे, और आठवीं सदी के प्रारम्भकाल में आचार्य वज्रबोधि लंका से चीन जाते हुए पांच महीने श्रीविजय में ठहरे थे। उनके साथ उनके शिष्य अमोघवज्र भी थे। ये दोनों महायान के तान्त्रिक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य थे, और सुमात्रा में वज्रयान के प्रचार के सम्बन्ध में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

पांचवीं सदी से मलायीसिया और इन्डोनीसिया के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का भी प्रचार प्रारम्भ हो गया था, और आठवीं सदी तक वहां इस धर्म ने प्रधान स्थान प्राप्त कर लिया था। पर इसके कारण पौराणिक हिन्दू धर्म का वहां से अन्त नहीं हो गया था। भारत के ये दोनों धर्म वहाँ साथ-साथ फलते-फूलते रहे और उनमें अविरोध तथा समन्वय की भावना कायम रही।

मलायीसिया और इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों के साथ भारत का केवल धार्मिक सम्बन्ध ही नहीं था। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी भारत के इन औपनिवेशिक राज्यों का अपने मूल देश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ था। मलाया के लंग-किया-सू राज्य का इसी अध्याय में पहले उल्लेख किया जा चुका है। वहाँ के राजा ने अपने एक निकट सम्बन्धी को जब राज्य से बहिष्कृत कर दिया, तो वह भारत चला गया और वहाँ उसने एक भारतीय राजकुमारी के साथ विवाह कर लिया। बाद में इस बहिष्कृत कुमार को लंग-किया-सू वापस बुलाया गया और उसे राजा के पद पर अभिषिक्त किया गया। इससे यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि प्राचीन काल में भारत और

मलाया में वैवाहिक सम्बन्ध भी हुआ करते थे और इन देशों में परस्पर आना-जाना भी एक साधारण बात थी।

मलायीसिया और इन्डोनीसिया को भारतीय साहित्य में सुवर्णद्वीप कहा गया है, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप जाने वाले भारतीय नाविकों तथा व्यापारियों की बहुत-सी कथाएं जातक-ग्रन्थों तथा कथा-सरित्सागर सदृश कथा साहित्य में पायी जाती हैं। चीनी साहित्य से भी भारत और सुवर्ण द्वीप के व्यापार के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएं प्राप्त होती हैं। मलाया में तुन-सुन नामक एक राज्य था। उसके विषय में चीनी साहित्य में लिखा है, कि गंगा के परे के विविध देशों के लोग व्यापार के लिए तुन-सुन आया करते थे। पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से जो व्यापारी यहाँ के बाजार में प्रतिदिन आते हैं, उनकी संख्या एक हजार से भी अधिक होती है। सब प्रकार के बहुमूल्य पण्य का यहां क्रय-विक्रय होता है।

भारतीय धर्मों के साथ-साथ भारतीय शासन-संस्थाओं तथा सामाजिक आचार-विचार का भी इस क्षेत्र के प्रदेशों में प्रवेश हुआ। चीनी साहित्य में तान-तान नामक एक राज्य का उल्लेख है, जो इसी क्षेत्र में स्थित था। तान-तान के राजकुल को वहाँ क्षत्रिय कहा गया है, और उसके राजा का नाम शिलिङ्ग्या (श्रृंग) लिखा गया है। उसके सम्बन्ध में यह भी उल्लिखित है, कि श्रृंग के आठ मंत्री थे, जो ब्राह्मण वर्ण से लिए गये थे। वह सिर पर मुकुट धारण करता था, और कण्ठ में मणि की मालाएं। उसके वस्त्र मलमल के होते थे, और पैरों में वह चमड़े के उपानह पहना करता था। जब उसे कहीं दूर जाना होता, तो वह हाथी की सवारी किया करता था। युद्ध के समय वहाँ शंख और नगाड़े बजाये जाते थे। चीनी साहित्य में अनेक स्थानों पर सुवर्णद्वीप के विविध राज्यों के राजाओं, राजदरबारों तथा वहाँ के लोगों के रहन-सहन पर प्रकाश डाला गया है। इन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम भारत के ही किसी प्रदेश का वर्णन पढ़ रहे हों। खान-पान, भोजन, विवाह आदि सामाजिक जीवन के सभी अंगों का जो रूप सुवर्णद्वीप के विविध प्रदेशों में था, वह भारत से बहुत मिलता-जुलता था। यह सर्वथा स्वाभाविक भी था, क्योंकि भारतीयों ने ही इन प्रदेशों व द्वीपों में जाकर जहाँ अपनी स्थायी बस्तियाँ बसायी थीं, वहाँ साथ ही वहाँ के पुराने निवासियों को भी अपनी संस्कृति के रंग में रंग लिया था।

तीसरा अध्याय

शैलेन्द्र साम्राज्य का उत्थान और पतन

(१) शैलेन्द्र साम्राज्य के इतिहास की सामग्री

मलायेशिया, इन्डोनीसिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों में जो बहुत-से भारतीय उपनिवेश व राज्य ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में स्थापित हुए थे, आठवीं सदी में उनकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता कायम नहीं रह सकी थी। वे सब प्रायः एक शक्तिशाली साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे, जिसके राजा या सम्राट् शैलेन्द्र वंश के थे। जिस प्रकार भारत के प्रतापी गुप्तवंशी सम्राटों ने अन्य बहुत-से राजाओं को जीतकर या उनसे अधीनता स्वीकार कराके एक सुविस्तृत गुप्त साम्राज्य का निर्माण किया था, वैसे ही शैलेन्द्र वंश के राजाओं ने मलाया, सुमात्रा, जावा, वोर्नियो आदि को जीतकर एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसमें दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी प्रदेश व द्वीप अन्तर्गत थे। कुछ समय के लिए तो विएतनाम का चम्पा राज्य और कम्वोडिया का कम्बुज राज्य भी शैलेन्द्र राजाओं की अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश हुए थे। शैलेन्द्र राजाओं की सामुद्रिक शक्ति बहुत अधिक थी। जल सेना का प्रयोग करके ही वे दक्षिण-पूर्वी एशिया के सैकड़ों द्वीपों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। उधर दक्षिणी भारत के चोलवंशी राजा भी समुद्र पार के प्रदेशों में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर थे। परिणाम यह हुआ, कि ग्यारहवीं सदी में शैलेन्द्र और चोल राजाओं में संघर्ष का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण शैलेन्द्रों की शक्ति को बहुत धक्का लगा। वाद में दक्षिणी भारत के पाण्डय राजाओं तथा सिंहल (लंका) से भी शैलेन्द्रों के युद्ध हुए। दक्षिण-पूर्वी एशिया का यह साम्राज्य प्रायः चौदहवीं सदी तक कायम रहा, यद्यपि वारहवीं सदी के वाद उसकी शक्ति में बहुत कमी आ गई थी।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास में शैलेन्द्र साम्राज्य का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उसे इस क्षेत्र का 'गुप्त साम्राज्य' कहा जाता है। पर शैलेन्द्र वंश के प्रतापी सम्राटों का क्रमवद्ध वृत्तान्त अव तक उपलब्ध नहीं हो सका है। उनके विषय में जो भी जानकारी हमें है, वह अत्यन्त अस्पष्ट और अपर्याप्त है। इन सम्राटों की राजधानी तक के विषय में अभी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं हो सका है। जिस ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर शैलेन्द्र साम्राज्य के इतिहास को जानने का प्रयत्न किया गया है, उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) उत्कीर्ण शिलालेख (२) अरव लेखकों के वृतान्त, और (३) प्राचीन चीनी इतिहासों में विद्यमान विवरण। पहले इन तीनों पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

उत्कीर्ण शिलालेख—(१) जावा के जोगजाकर्ता प्रदेश के कालसन नामक गांव से एक शिलालेख मिला है, जिसे शक संवत् ७०० (७७८ ईस्वी) में उत्कीर्ण कराया गया था। अभिलेख संस्कृत में है, और उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष महत्त्व की हैं—

राज्ये प्रवर्धमाने राज्ञः शैलेन्द्र वंशतिलकस्य।
शैलेन्द्र राजगुरुभिस्ताराभवनं कृतं कृतिभिः।
शकनृपकालातीतैर्वर्षशतैः सप्तभिर्महाराजः।
अकरोद्गुरु पूजार्थं ताराभवनं पणंकरणः॥
ग्रामः कालसनामा दत्तः संघाय साक्षिणःकृत्वा

इस अभिलेख के अनुसार शैलेन्द्रवंशतिलक राजा के समृद्धिशाली राज्य में शैलेन्द्र राजाओं के राजगुरुओं द्वारा तारामन्दिर का निर्माण कराया गया था। शैलेन्द्र महाराजा पणंकरण ने ७०० शक संवत् में अपने गुरु के सम्मान में (गुरु पूजार्थम्) एक तारा मन्दिर बनवाया, और कालस नामक गांव (बौद्ध) संघ को दान में दिया। इसी अभिलेख में महाराज पणंकरण द्वारा भावी नृपतियों से भी यह प्रार्थना की गई है, कि वे इस विहार के परिपालन में सदा तत्पर रहें। कालसन के इस शिलालेख द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि शैलेन्द्र वंश के राजाओं का शासन जावा पर भी विद्यमान था, और ये राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

(२) जावा के जोगजाकर्ता प्रदेश के केलुरक नामक स्थान से एक अन्य अभिलेख प्राप्त हुआ है, जो स्पष्ट न होने के कारण भली-भाँति पढ़ा नहीं जा सका है। इसे शक संवत् ७०४ (७८२ ईस्वी) में उत्कीर्ण कराया गया था। इस अभिलेख में सबसे पूर्व बौद्ध धर्म के रत्नत्रय (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति सम्मान प्रगट किया गया है, और फिर "वैरीवरवीर विमर्दन" और सब दिशाओं के राजाओं को जीतने वाले "शैलेन्द्र वंश तिलक" राजा इन्द्र (धरणीन्द्र) का उल्लेख कर यह बताया गया है, कि उसका गुरु कुमारघोष था, जो गौड़ देश का निवासी (गौड़ीद्वीपगुरु) था। इस राजगुरु कुमारघोष द्वारा मंजुश्री की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी, और राजा द्वारा यह अनुरोध किया गया था, कि भावी नृपति इस धर्मसेतु की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहें। अभिलेख के अन्त में श्री संग्राम धनञ्जय नामक राजा का भी उल्लेख है, और यह कहा गया है कि उस द्वारा राजगुरु ने सत्कार ग्रहण किया था। श्रीसंग्राम धनञ्जय राजा इन्द्र का उत्तराधिकारी था या यह भी इन्द्र का ही नाम था, यह स्पष्ट नहीं है। पर केलुरक के इस अभिलेख से यह सूचित होता है, कि शैलेन्द्र वंश के राजा बड़े प्रतापी थे, शत्रुओं का विनाश करने में उन्होंने अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया था, और चारों दिशाओं में उन्होंने विजय-यात्राएँ की थीं।

(३) मलाया प्रायद्वीप में लिगोर नामक स्थान से एक अन्य अभिलेख मिला है, जो शक संवत् ६९७ (७७५ ईस्वी) का है। वस्तुतः ये दो अभिलेख हैं जो एक ही प्रस्तरखण्ड पर उत्कीर्ण हैं। पहले अभिलेख में श्रीविजयेन्द्रराज की प्रशस्ति के अनन्तर यह कहा गया है, कि श्रीविजयेन्द्रभूपति ने ईंटों से तीन बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया। और राजा के आदेश से राजस्थविर (राजगुरु) जयन्त ने तीन स्तूप बनवाए। जयन्त की मृत्यु के

पश्चात् उसके शिष्य व उत्तराधिकारी अधिमुक्ति ने ईंटों के पुराने तीन चैत्यों के समीप दो नये चैत्य बनवाये। अन्त में श्रीविजयनृपति की देवेन्द्र के साथ तुलना कर उस द्वारा ६९६ शक संवत् में एक स्तूप का निर्माण कराने का उल्लेख है। दूसरे अभिलेख में एक श्लोक तो पूरा है, और दूसरे श्लोक के केवल कुछ अक्षर ही हैं। यह विष्णुनामक (विष्णवाख्य) राजाधिराज की प्रशस्ति के रूप में है। यह राजाधिराज शैलेन्द्र वंश का था, यह इस अभिलेख में आये इन शब्दों से प्रगट है—"शैलेन्द्रवंश प्रभुनिगदतः।" साथ ही, इस अभिलेख में शैलेन्द्र वंश के इस राजा को 'महाराजनामा' भी कहा गया है।

लिगोर के इस अभिलेख के कारण इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि आठवीं सदी में शैलेन्द्र वंश के राजाओं का शासन मलाया में भी विद्यमान था।

(४) नालन्दा (विहार) की खुदाई में सन् १९२१ में एक ताम्रपत्र मिला था, जिसमें सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्रीबालपुत्र देव द्वारा नालन्दा में बनवाये हुए एक विहार के लिए पालवंशी राजा देवपाल से कह कर राजगृह विषय (जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पालमक गाँवों के दान कराये जाने का उल्लेख है। ये गाँव इस प्रयोजन से नालन्दा के विहार को दान किये गए थे, ताकि इनकी आमदनी से 'चतुर्दिशार्य्य-भिक्षुसंघ' के 'बलिचरु-सत्रिचीवर पिण्डपातशयनासनग्लानप्रत्मय भैषज्य' आदि का खर्च चल सके। यह ताम्रपत्र राजा देवपाल के शासन के ३९वें वर्ष (८४१ ईस्वी) का है, और इसमें सुवर्णद्वीप के राजा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

आसीदशेषनरपाल विलोल मौलिमालामणि द्युति विबोधितपादपद्म।
शैलेन्द्र वंश तिलको यवभूमिपालः श्रीवीरवैरिमथनानुगताभिधानः॥
तस्याभवन्नय पराक्रम शीलशाली राजेन्द्र मौलिशत दुर्ललिताङ्घ्रियुग्मः
सूनुर्युधिष्ठर पराशर भीमसेन कर्णार्जुनार्जितयशाः समराग्रवीरः॥

राज्ञः सोमकुलान्वयस्य महतः श्रीधर्मसेतोःसुता।
तस्याभूदवनीभुजोऽग्रमहिषी तारेव ताराह्वया॥
तस्यान्तस्य नरेन्द्रवृन्द विनमत्पादारविन्दासनः
सर्वोर्व्वीपतिगर्वखर्व्वणचणः श्री बालपुत्रोऽभूत्॥
नालन्दागुणवृन्दलुब्धमनसा भक्ता च शौद्धोदने
र्बुध्वा शैलसरित्तरंग तरलां लक्ष्मीमिमां शोभनाम्।
यस्तेनोन्नतसौधधामधवलः सङ्घार्य मित्रश्रिया
नाना सद्गुण भिक्षुसंघवसतिस्तस्यां विहार कृतः॥

सुवर्णद्वीप का राजा यवभूमिपाल (यवभूमि = जावा, जावा का स्वामी) शैलेन्द्र वंश का शिरोमणि था, और उसने वीर शत्रुओं का मथन कर कीर्ति उपार्जित की थी। इस शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल का पुत्र समराग्रवीर था, जिसका विवाह चन्द्रवंश के श्रीधर्मसेतु की कन्या तारा के साथ हुआ था। समराग्रवीर के तारा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम श्रीबालपुत्र (श्री बालपुत्रदेव) था। उसने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया, और उसके कतिपय खर्चों को चलाने के लिए पालवंशी राजा देवपाल

से दूत द्वारा अनुरोध कर पांच ग्राम दान में दिलवाये।

नालन्दा के इस ताम्रपत्र का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। इसमें पालवंशी राजा देवपाल के समकालीन शैलेन्द्रवंशी राजा श्रीबालपुत्र देव का उल्लेख है, जिससे इस राजा के काल का सही-सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही, उसके पिता समराग्रवीर तथा उसके एक पूर्वज का भी इसमें वर्णन है। शैलेन्द्रवंश के राजाओं को इस ताम्रपत्र में यवभूमिपाल कहा गया है, जिससे जावा पर उनके शासन की सत्ता प्रमाणित होती है।

(५) दक्षिणी भारत में चोलवंश के राजाओं के अनेक ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें शैलेन्द्रवंशी राजाओं का भी उल्लेख है। इनमें सबसे महत्त्व का चोल राजा राजराज राजकेसरीवर्मा का वह दानपत्र है, जो २७ ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण है। यह अभिलेख संस्कृत और तमिल दोनों भाषाओं में है। इस अभिलेख से सूचित होता है, कि शैलेन्द्र वंश के राजा श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मा ने अपने पिता चूड़ामणिवर्मा के नाम पर नाटपट्टन में एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था, और इस चूड़ामणिवर्मा विहार में निवास करने वाले भिक्षुओं के खर्च को चलाने के लिए चोलराजा राजराज ने एक ग्राम दान में दिया था। मारविजयोत्तुंगवर्मा को इस अभिलेख में 'शैलेन्द्रवंश सम्भूत' (शैलेन्द्र वंश में उत्पन्न), 'श्रीविषयाधिपति' (श्रीविषय का अधिपति), और 'कटाहाधिपत्यमातन्वन्, (कटाह पर अपने आधिपत्य को विस्तृत करने वाला) और 'कटाहाधिपति' कहा गया है। अभिलेख के तमिल भाग में कटाहाधिपति के स्थान पर 'किडारत अरैयण' आया है, जिससे कटाह और किडार की एकता का संकेत मिलता है। कटाह द्वीप के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में पहले लिखा जा चुका है। मलाया प्रायद्वीप का केड़ाह या केड्डा कटाह या किडार का उत्तराधिकारी है। राजा राजराज के अभिलेख के अनुसार शैलेन्द्रवंशी राजा मारविजयोत्तुङ्गवर्मा श्रीविषय का अधिपति था, और उसने कटाह, किडार या केड्डा पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। श्रीविषय की श्रीविजय के साथ समता स्वीकार कर सकना असंगत नहीं है। श्रीविजय की स्थिति सुमात्रा में थी, और वह इस क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण राज्य था, जिसके राजा अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थे। क्योंकि मारविजयोत्तुंगवर्मा राजराज का समकालीन था, अतः उसका काल ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ भाग में रखा जा सकता है। जिस प्रकार नालन्दा से प्राप्त पालवंशी राजा देवपाल के ताम्रपत्र से शैलेन्द्रवंशी राजा श्रीबालपुत्रदेव तथा उसके पूर्वजों का परिचय प्राप्त होता है, वैसे ही राजराज के दानपत्र से शैलेन्द्र वंश के राजा मारविजयोत्तुंगवर्मा और उसके पिता चूड़ामणि वर्मा के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है।

राजराज के उत्तराधिकारी चोल राजा राजेन्द्र चोल ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों एवं प्रदेशों पर भी आक्रमण किये थे, और कटाह को जीतकर उस क्षेत्र के विविध राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया था। शैलेन्द्र राजाओं के लिए चोल आक्रमणों का सामना कर सकना सुगम नहीं था। चोल राजा राजेन्द्र चोल तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा समुद्र के पार दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों की विजय करने का उल्लेख जिन पुराने

अभिलेखों में विद्यमान है, वे भी शैलेन्द्र साम्राज्य के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

अरब लेखकों के विवरण—पुराने अरब लेखकों के विवरणों में शैलेन्द्र वंश का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पर उनमें जावग या जावक नाम के एक समृद्ध राज्य का वर्णन मिलता है, जिसकी स्थिति मलयीसिया व इन्डोनीसिया के क्षेत्र में थी। अरब व्यापारी सुलेमान (८५१ ईस्वी) ने लिखा है, कि "कलाह्-बार (मलाया प्रायद्वीप में क्रा के स्थल-डमरूमध्य के चारों ओर का प्रदेश) जावक के साम्राज्य का एक भाग है। जावक की स्थिति भारत के दक्षिण में है। कलाह्-बार और जावक एक ही राजा के शासन में हैं।" इब्न ऊल-फकीह (९०२ ईस्वी) ने सुलेमान के विवरण को दोहराते हुए उसके साथ यह और जोड़ दिया है, कि जावग के बाद दक्षिण में अन्य कोई देश नहीं है, और जावक का राजा बहुत धनी व समृद्ध है। इब्न रोस्तां ने ९०३ ईस्वी के लगभग जावक के विषय में यह लिखा था, कि उसका राजा महाराजा कहाता है। पर उसे भारत के राजाओं में सबसे बड़ा इस कारण नहीं माना जाता, क्योंकि उसका निवास द्वीपों में है। उसके समान धनी एवं शक्तिशाली कोई अन्य राजा नहीं है, और न किसी की उसके समान आमदनी ही है।

जावक के विषय में अरब लेखक अबू-जैद हसन (९१६ ईस्वी) ने जो सूचनाएँ दी हैं, वे विशेष महत्त्व की हैं। उसके अनुसार "जावक और चीन के बीच समुद्र से एक महीने का रास्ता है, जो हवा के अनुकूल होने पर और कम हो सकता है। इसके राजा को महाराज कहा जाता है। राज्य का क्षेत्रफल ९०० वर्ग फर्सङ्ग के लगभग है। वहां का राजा अन्य भी बहुत-से द्वीपों का अधिपति है, जिनकी लम्बाई का विस्तार १००० फर्सङ्ग या इससे भी अधिक है। जिन राज्यों पर वह शासन करता है, उनमें से एक स्रीबुज (श्रीविजय) द्वीप है। उसका क्षेत्रफल ४०० वर्ग फर्सङ्ग के लगभग है। ८०० वर्ग फर्सङ्ग का द्वीप रामी भी उसके अधीन है। अरब और चीन के आधे-आध में अवस्थित कलाह (क्रा) का समुद्रतटवर्ती प्रदेश भी इस महाराजा की अधीनता में है। कलाह् का क्षेत्रफल ८० वर्ग फर्सङ्ग के लगभग है। कलाह (क्रा) नगर कपूर, चन्दन, हाथी दाँत, मुसब्बर, रांगा, आबनूस, मसाले और अन्य नानाविध वस्तुओं के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है। इस (कलाह या क्रा) बन्दरगाह और ओमन (अरब में) के बीच निरन्तर सामुद्रिक यातायात होता रहता है। महाराजा का इन सब द्वीपों पर आधिपत्य है। जिस द्वीप में वह स्वयं निवास करता है, वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक बहुत घना बसा हुआ है।"

अरब लेखक मसूदी (९४३ ईस्वी) ने भी जावग का वृत्तान्त लिखा है। उसके अनुसार भारत एक विशाल देश है, जो पहाड़ों से समुद्र तक विस्तीर्ण है। उसके बाद जावग की स्थिति है, जिसका महाराजा बहुत-से द्वीपों पर शासन करता है। महाराज का साम्राज्य अत्यन्त विशाल है, और उसकी सेना भी अनगिनत है। जो द्वीप इस महाराज के आधिपत्य में है, तेज से तेज जहाज भी दो साल में उनका पूरा चक्कर नहीं लगा सकता। इसके राज्य में सब प्रकार के मसाले तथा सुगन्धित द्रव्य उत्पन्न होते हैं, और संसार का कोई भी राजा उसके समान धनी नहीं है। महाराज के साम्राज्य में स्रीबुज भी सम्मिलित

है, और जावग के द्वीप भी। रामनी तथा उसके साथ के बहुत-से द्वीप और चम्पा का सारा समुद्र उसके शासन-क्षेत्र के अन्तर्गत है।

इस सम्बन्ध में अलबरूनी का विवरण भी महत्त्व का है। उसने लिखा है, कि "इस महासागर के पूर्वी द्वीप भारत की अपेक्षा चीन के अधिक समीप पड़ते हैं। जावग के इन द्वीपों को हिन्दू लोग सुवर्णद्वीप कहते हैं। जावग के द्वीपों को सुवर्णद्वीप इस कारण कहा जाता है, क्योंकि वहां की थोड़ी-सी मिट्टी धोने पर बहुत-सा सोना निकल आता है।"

जावग और उसके शासक 'महाराज' के सम्बन्ध में जो विवरण अरब लेखकों के ग्रन्थों में पाए जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट है, कि जावग के महाराज एक ऐसे विशाल साम्राज्य के स्वामी थे, जिसके बहुत-से द्वीप अन्तर्गत थे। जिन अरब लेखकों के विवरण ऊपर दिए गए हैं, उनका काल नौवीं से ग्यारहवीं सदी तक है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि भारत और चीन के मध्यवर्ती द्वीपों की श्रृंखला पर शासन करने वाले जावग के महाराजाओं का विशाल साम्राज्य इन सदियों में विद्यमान था। यही समय था, जब कि मलाया, जावा, नालन्दा आदि से प्राप्त अभिलेखों के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र में शैलेन्द्र वंश के प्रतापी राजा शासन कर रहे थे। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा, कि अरब विवरणों में जावग के जिन महाराजाओं का उल्लेख है, वे शैलेन्द्र वंश के ही थे।

चीनी विवरण—चीन के प्राचीन इतिहास-विषयक ग्रन्थों में सन फो-त्सी नाम के एक राज्य का उल्लेख है, जिसके राजाओं ने दसवीं सदी में अपने अनेक दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजे थे। सन् ९०४ या ९०५ में इस राज्य की राजधानी के शासक को अनेकविध भेंट उपहारों के साथ चीन भेजा गया था, और चीन के सम्राट् ने उसका यथोचित सम्मान किया था। ९६० ई० में सन-फो-त्सी के राजा सी-ली हू-त हिअ-ली-तन ने ली-चे-ती को अपना दूत बनाकर चीन भेजा था। अगले वर्ष ९६१ में सन फो-त्सी के जिस राजा ने चीन में अपना दूतमण्डल भेजा था, चीनी ग्रन्थों में उसका नाम चे-ली वू-ये लिखा गया है। ९६२ में इस राजा ने तीन राजदूत चीन भेजे, और उनके साथ बहुत-सी वस्तुएं भेंट उपहार में भेजी गईं। वापसी में वे भी बहुत-सी वस्तुएं चीन से अपने साथ लाए।

सन फो-त्सी और चीन में राजनीतिक सम्बन्ध ग्यारहवीं सदी में भी कायम रहे। सन १००३ में सन फो-त्सी के राजा से-ली-चू-ल-वू-नी-फू-म-तिअउ-हव ने अपने दूत चीन भेजे थे, और सन् १००८ में राजा से-री-मा-ल-पी ने। सन फो-त्सी के इन राजाओं के चीनी नामों को श्रीचूड़ामणिवर्मदेव और श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मा के साथ मिलाया गया है। जैसाकि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, शैलेन्द्रवंश-सम्भूत इन राजाओं के नाम चोल वंश के अभिलेखों में भी आए हैं। शैलेन्द्र वंश के ये राजा चोल सम्राट् राजराज के समकालीन थे, और श्रीविषय (श्रीविजय) तथा कटाह द्वीप के ये स्वामी थे। अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है, कि सन फो-त्सी के जिन राजाओं द्वारा चीन के सम्राटों की सेवा में दूतमण्डल भेजे जाने का विवरण चीनी ग्रन्थों में विद्यमान है, वे शैलेन्द्र वंश के ही थे, और सन् फो-त्सी से चीनी लेखकों को शैलेन्द्र साम्राज्य ही अभिप्रेत था।

शैलेन्द्र साम्राज्य के सम्बन्ध में जो भी जानकारी अब तक प्राप्त की जा सकी है, वह इसी ऐतिहासिक सामग्री द्वारा उपलब्ध हुई है। यद्यपि इसके आधार पर इस सुविशाल साम्राज्य का क्रमबद्ध इतिहास तैयार नहीं किया का सकता, पर जो सूचनाएं इससे मिलती हैं वे भी कम महत्त्व की नहीं हैं।

(२) शैलेन्द्र वंश का उद्भव तथा उसका प्रधान केन्द्र

यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि मलायीसिया और इन्डोनीसिया के बहुत-से प्रदेशों व द्वीपों पर आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजाओं का शासन था। पर इस वश का उद्भव कहां से हुआ, और इसके राजाओं का प्रमुख केन्द्र कौन-सा था, इस प्रश्न पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस सम्बन्ध में सबसे पूर्व फ्रेंच विद्वान् सेदे (Coede's) ने यह मत प्रतिपादित किया था, कि शैलेन्द्र साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय थी, जिसकी स्थिति सुमात्रा द्वीप के पलेमबङ् में थी। श्रीविजय सुमात्रा का अन्यतम राज्य था, जिसके राजाओं ने पहले सुमात्रा के अन्य राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया, और फिर मलाया प्रायद्वीप तथा जावा के विविध राज्यों को अपने अधीन किया। सेदे के इस मन्तव्य का मुख्य आधार लिगोर (मलाया) में प्राप्त वह अभिलेख है, जिसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। लिगोर के एक अभिलेख में श्रीविजयेन्द्रराज, श्रीविजयेश्वर भूपति और श्री विजयनृपति विशेषणों से श्रीविजय के एक राजा का उल्लेख है, जिसने कि कतिपय चैत्यों का निर्माण करवाया था। लिगोर के इसी प्रस्तर-खण्ड के दूसरे पार्श्व पर जो अभिलेख है, उनमें शैलेन्द्र वंश के विष्णु नामक (विष्णवाख्य) राजाधिराज की प्रशस्ति वर्णित है। लिपि की दृष्टि से दोनों अभिलेख एक ही काल के हैं, यद्यपि उन्हें उत्कीर्ण कराने वाले व्यक्ति भिन्न हैं। सेदे ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि लिगोर के एक अभिलेख में जिस राजा को श्रीविजयनृपति, श्रीविजयेन्द्रराज और श्री विजयेश्वरभूपति कहा गया है, दूसरे अभिलेख में उसी की शैलेन्द्रवंशप्रभुनिगदत' व 'राजाधिराज' विशेषणों के साथ प्रशस्ति अंकित की गई है। वह राजा शैलेन्द्र वंश का था, श्रीविजय का यह स्वामी था, और विष्णु उसका व्यक्तिगत नाम था। अन्य बहुत-से राजाओं को उसने अपना वशवर्ती बनाया हुआ था, जिसके कारण उसे 'राजाधिराज' कहना सर्वथा संगत था। श्रीविजय का यही राज्य था, जिसे अरब लेखकों ने जावग तथा चीनी लेखकों ने सान फो-त्सी कहा है। श्रीविजय के शैलेन्द्रों का राज्य सुमात्रा और मलाया के अतिरिक्त जावा पर भी था, जैसा कि कालसन तथा केलुरक अभिलेखों से प्रमाणित होता है। ये शैलेन्द्र राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और इन्हीं द्वारा जावा में महायान सम्प्रदाय का प्रसार हुआ था।

फ्रेंच विद्वान् सेदे ने जिस मत का प्रतिपादन किया था, फरां, क्रोम आदि द्वारा उसे समर्थन प्राप्त हुआ। पर स्टुटरहाइम ने इस मत का विरोध करते हुए यह मन्तव्य प्रस्तुत किया, कि शैलेन्द्र वंश का आदि-केन्द्र जावा में था, और वहां अपनी शक्ति को भलीभांति स्थापित कर इसके राजाओं ने सुमात्रा को भी जीत लिया था, और इस प्रकार वे 'श्रीविजयनृपति' व श्रीविजयेश्वरभूपति' (श्रीविजय के स्वामी व अधिपति) बन गए थे।

शैलेन्द्र वंश का प्रधान केन्द्र या आदि-स्थान कहां था, इस विषय में अब तक भी विद्वान् किसी सर्वसम्मत मत को नहीं पहुंच सके हैं। सुमात्रा के श्रीविजय को उनका प्रधान केन्द्र मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है, कि इस द्वीप में अब तक कोई भी ऐसा अभिलेख उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसमें शैलेन्द्र वंश का उल्लेख हो। उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले अभिलेख या तो जावा में मिले है और या मलाया में। साथ ही, सुमात्रा द्वीप में किसी प्राचीन बौद्ध विहार, चैत्य या स्तूप आदि के ऐसे अवशेष भी प्राप्त नहीं हुए हैं, जिनका सम्बन्ध शैलेन्द्र राजाओं के साथ हो। अरब लेखकों ने जावक के जिस समुद्र राज्य का उल्लेख किया है, श्रीविजय से उसकी समता निरूपित कर सकना भी सुगम नहीं है। यह सर्वथा सम्भव है, कि अरबों ने जिसे जावक कहा है, वह जावा या यवद्वीप हो, जहां से शैलेन्द्र राजाओं के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। कतिपय विद्वानों के मत में जावक की स्थिति मलाया प्रायद्वीप में थी। इस मत का आधार यह है, कि अरब लेखकों ने जावक के शासक को 'महाराज' की संज्ञा दी है, और लिगोर (मलाया) के अभिलेख में भी शैलेन्द्र वश के राजा को 'महाराजनामा' कहा गया है।

दक्षिणी भारत तथा लंका के साहित्य से भी कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे जावक का मलाया प्रायद्वीप में होना सूचित होता है। तमिल साहित्य में शावक, सावक या जावक नाम के एक राज्य का उल्लेख है, जिसके दो राजाओं—भूमिचन्द्र और पुण्यराज—के नाम भी वहां दिए गए हैं। यह शावक, सावक या जावक अरब लेखकों के जावक या जावग से अभिन्न हैं, यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा। लंका के इतिहास चुल्लावंश में जावक के राजा चन्द्रभानु द्वारा लंका पर आक्रमण करने का वर्णन है। वहां लिखा है, कि राजा पराक्रमबाहु द्वितीय के शासन के ग्यारहवें वर्ष में जावक का राजा चन्द्रभानु तीर्थयात्रा के बहाने सेना को साथ ले कक्खला नदी पर उतरा। जावक सैनिकों ने विषाक्त बाणों का प्रयोग करते हुए धोखे से नदी के सारे घाटों पर अधिकार कर लिया, और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हरा कर सम्पूर्ण लंका को लूटा। पर वह देर तक लंका पर अधिकार नहीं रख सका। कुछ वर्ष पश्चात् चन्द्रभानु ने फिर लंका पर आक्रमण किया। इस बार उसकी सेना में बहुत-से पाण्डय, चोल तथा अन्य तमिल सैनिक भी थे। लंका पर आक्रमण करने वाला यह जावक राजा चन्द्रभानु वस्तुतः कहां का राजा था, इस सम्बन्ध में एक शिलालेख से बहुत प्रकाश पड़ता है, जो मलाया प्रायद्वीप में लिगोर के समीप चैया से प्राप्त हुआ है। यह शिलालेख ताम्ब्रलिंग के राजा चन्द्रभानु का है, और इसका काल तेरहवीं सदी का है। चैया के अभिलेख का राजा चन्द्रभानु चुल्लवंश के जावक राजा चन्द्रभानु से अभिन्न है, यह कल्पना सुगमता से की जा सकती है। लंका के राजा पराक्रमबाहु द्वितीय का काल भी तेरहवीं सदी में ही था।

राजा चन्द्रभानु ने जब दूसरी बार लंका पर आक्रमण किया था, तो पाण्ड्य देश के राजा की सहायता भी उसे प्राप्त थी। पर पाण्डय देश के एक अभिलेख से ज्ञात होता है, कि कुछ समय पश्चात् पाण्ड्य राजा जटावर्मन वीरपाण्ड्य ने शावक (जावक) के राजा को न केवल परास्त ही किया, अपितु उसे मौत के घाट भी उतार दिया। यह अभिलेख १२६४ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। १२६५ ईस्वी का जटावर्मन् वीरपाण्ड्य का

एक अन्य अभिलेख है, जिसमें कि उस द्वारा परास्त किए गए राजाओं में कडारम के राजा का भी परिगणन किया गया है। जटावर्मन् वीरपाड्य ने शावक (जावक) और कडारम के जिस राजा को युद्ध में परास्त किया था, वह जावक का राजा चन्द्रभानु ही था (जिसका शिलालेख मलाया में चैया से प्राप्त हुआ है), यह मानना असंगत प्रतीत नहीं होता। कडारम से कटाह या केड्डा अभिप्रेत है, जिसकी स्थिति भी मलाया प्रायद्वीप में ही थी। इसी को चीनी लोग कन-तो-ली कहा करते थे, जो बाद में सान-फो-त्सी कहा जाने लगा था।

शैलेन्द्र राजाओं का आदि-स्थान या प्रधान केन्द्र मलाया प्रायद्वीप में था, इस मत का प्रतिपादन जिन युक्तियों द्वारा किया जाता है, उनका उल्लेख कर देने के अनन्तर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह मन्तव्य भी सर्वसम्मत नहीं है। वस्तुतः, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री की इतनी कमी है कि अभी कोई भी मत अन्तिम रूप से स्वीकार्य नहीं समझा जा सकता। शैलेन्द्र राजाओं का आदि-स्थान चाहे सुमात्रा में हो और चाहे जावा या मलाया में, यह निश्चित है कि इस वंश के प्रतापी राजा मलाया, सुमात्रा, जावा और समीप के अन्य द्वीपों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए थे, और अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उन्होंने सुदूर पूर्व में कम्बुज और चम्पा पर भी आक्रमण किए थे।

शैलेन्द्र वंश के उद्भव के सम्बन्ध में श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने एक सर्वथा नवीन मत को प्रतिपादित किया है, जो विशेष महत्त्व का है। इस मत के अनुसार शैलेन्द्र वंश के लोग भारत से सुवर्णद्वीप गए थे, और वहां जाकर उन्होंने एक नए शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। वर्तमान समय में भारत का जो प्रदेश उड़ीसा कहाता है, प्राचीन समय में उसे कलिंग कहते थे। पलूरा का प्रसिद्ध बन्दरगाह कलिंग के समुद्रतट पर स्थित था, और बंगाल की खाड़ी के पश्चिमी तट से सुवर्णद्वीप जाने वाले नाविक और व्यापारी प्रायः पलूरा से ही प्रस्थान किया करते थे। छठी सदी में कलिंग देश पर गांग वंश के राजाओं का शासन था, जिनकी राजधानी कलिंगनगर (गंजाम जिले में आधुनिक मुखलिंगम्) थी। कलिंग में गांग वंश का संस्थापक महाराज इन्द्रवर्मा था, अभिलेखों में जिसे त्रिकलिंग का स्वामी कहा गया है। इस समय तक गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो चुका था, और उसके अन्तर्गत सुदूरवर्ती प्रदेशों में अनेक राजवंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए थे। कलिंग का गांग वंश भी इनमें एक था। पर उसके अतिरिक्त शैलोद्भव नामक एक अन्य राजवंश ने भी कलिंग के अन्यतम प्रदेश में अपना पृथक राज्य कायम कर लिया था। शैलोद्भव वंश का संस्थापक रणभीत नामक व्यक्ति था, जिसका स्वतन्त्र राज्य छठी सदी के उत्तरार्ध में विद्यमान था। इसी प्रकार शैल नाम का एक अन्य राजवंश भी प्राचीन काल में विद्यमान था। जिसका परिचय मध्यप्रदेश के रघोली नामक स्थान से एक ताम्रपत्र से मिलता है। इस वंश का संस्थापक श्रीवर्धन था, जिसके वंशज जयवर्धन प्रथम ने विन्ध्य के क्षेत्र की विजय की थी। जयवर्धन के पौत्र जयवर्धन द्वितीय के लिए अभिलेखों में 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' विरुदों का प्रयोग किया गया है, जिनसे उसका एक शक्तिशाली राजा होना सूचित होता है। शैल वंश के एक अभिलेख में इस वंश

का उद्भव हिमालय (शैलेन्द्र) की सुता गंगा से बताया गया है, और उसके राजा को 'शैलवंशतिलक' कहा गया है। उड़ीसा (कलिंग) और उसके पश्चिम में स्थित विन्ध्य क्षेत्र पर छठी-सातवीं सदियों में गांग, शैलोद्भव और शैल राजवंशों का शासन था, यह अभिलेखों द्वारा प्रमाणित है। इन तीनों वंशों का सम्बन्ध शैलेन्द्र हिमालय और उसकी सुता गंगा के साथ था, यह भी स्पष्ट है। जिन गांग, शैल या शैलोद्भव लोगों ने कलिंग तथा विन्ध्य के क्षेत्र में छठी सदी में अपने विविध राज्य स्थापित किए थे, उन्होंने ही समुद्र पार पूर्व की ओर अग्रसर होकर सुवर्णद्वीप में शैलेन्द्र वंश के राज्य की स्थापना की थी, श्री मजूमदार ने यह मत प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है, कि कलिंग के गांग वंश के राजाओं के नामों के साथ 'महाराज' या 'महाधिराज' लगा रहता है, जैसे कि विष्णुगोप महाधिराज तथा श्री पुरुषपृथ्वीकोगंनीमहाराज। लिगोर (मलाया) में उपलब्ध शैलेन्द्र वंश से सम्बद्ध अभिलेख में भी इस वंश के राजा के लिए 'विष्णवाख्यो महाराज नामा' प्रयोग किया गया है, जो गांग वंश के राजाओं के नामों की शैली के सर्वथा अनुरूप है।

पर श्री मजूमदार ने जो मत प्रतिपादित किया है, वह केवल कल्पना पर आधारित है। उसके लिए कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। शैलेन्द्र वंश के उद्भव के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों ने श्री मजूमदार के मत से सर्वथा भिन्न मत भी प्रस्तुत किए हैं। सेदे के अनुसार शैलेन्द्र राजा पहले फूनान के शासक थे। जब उन्हें वह देश छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा, तो उन्होंने आठवीं सदी में अपना नया राज्य स्थापित कर लिया, और नौवीं सदी में फिर से फूनान के अपने पुराने प्रदेश को अधिगत करने का प्रयत्न किया। श्री प्रज़्लुस्की ने यह विचार प्रस्तुत किया है, कि सुवर्णद्वीप का एक पुराना देवता शैलेन्द्र या गिरीश शिव था, जिससे शैलेन्द्र वंश का उद्भव हुआ था। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार शैलेन्द्र वंश का सम्बन्ध दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के साथ था। ये सब मत पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित न होने के कारण विशेष महत्त्व नहीं रखते। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि मलाया, सुमात्रा और जावा के शैलेन्द्र राजा सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतया भारतीय थे। उन द्वारा न केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रसार में अनुपम सहायता मिली, अपितु नागरी लिपि का भी उन्हीं द्वारा इस क्षेत्र में प्रयोग प्रारम्भ किया गया। तांग वंश (६१८-६०६ ईस्वी) के चीनी ऐतिहासिक ग्रन्थों में हो-लिंग नाम के एक राज्य का उल्लेख आता है, जिसकी स्थिति जावा में थी। तांग सम्राटों का हो-लिंग के साथ घनिष्ठ राजनयिक सम्बन्ध विद्यमान था। हो-लिंग को कलिंग का चीनी रूपान्तर माना गया है, जिससे सूचित होता है कि सातवीं सदी में चीनी लोग जावा को कलिंग भी कहा करते थे। सम्भवतः इस प्रदेश को यह नाम शैलेन्द्र राजाओं द्वारा ही दिया गया था, जो भारत के कलिंग प्रदेश से वहाँ जाकर बसे थे। जावा की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार क्लिङ्ग (कलिंग) के राजा ने बीस हजार परिवारों को वहाँ बसने के लिए भेजा था। जावा के एक राज्य का नाम जो हो-लिंग पड़ा, वह कलिंग (उड़ीसा) से आकर बसे हुए, लोगों के कारण ही था। सम्भवतः, यह प्राचीन अनुश्रुति भारत के कलिंग प्रदेश से आकर बसने

वाले नये उपनिवेशकों को सूचित करती है, जो कलिंग के गांग, शैलोद्भव या शैल कुल के किसी कुमार के नेतृत्व में जावा में आकर बसे थे, और वहां उन्होंने नये कलिंग (हो-लिंग) की स्थापना की थी। समयान्तर में जावा के इस कलिंग राज्य ने पड़ोस के अन्य सब राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया, और फिर मलाया प्रायद्वीप तथा सुमात्रा में भी अपनी शक्ति का विस्तार कर विशाल शैलेन्द्र साम्राज्य का विकास किया।

(३) शैलेन्द्र साम्राज्य का उत्थान

जब यह भी सुनिश्चित रूप से निर्धारित न किया जा सका हो, कि शैलेन्द्र वंश के राजाओं की राजधानी कौन-सी थी, और उन्होंने किस स्थान को केन्द्र बनाकर अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो उनके क्रमबद्ध इतिहास को लिख सकना एक असम्भव बात ही है। पर बहुसंख्यक विद्वानों को अभी यह मत ही स्वीकार्य है, कि शैलेन्द्र राजाओं की राजधानी श्रीविजय (सुमात्रा में) थी, और उसी को केन्द्र बनाकर उन्होंने अपने साम्राज्य का निर्माण किया था। इन राजाओं के सम्बन्ध में जो भी सूचनाएं अभिलेखों तथा अरब और चीनी विवरणों से उपलब्ध हैं, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनके आधार पर शैलेन्द्र साम्राज्य के उत्थान का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उसे संक्षेप के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

सातवीं सदी में श्रीविजय के राज्य का उत्कर्ष प्रारम्भ हो गया था और पड़ोस के अन्य राज्यों को जीत कर उसने अपने साम्राज्य का निर्माण शुरू कर दिया था। इसीलिए पलेमबङ् के दूसरे अभिलेख और जाम्बी के अभिलेख में श्रीविजय के अधीनस्थ प्रदेशों के निवासियों को यह चेतावनी दी गई है, कि यदि वे विद्रोह का विचार भी मन में लाएंगे, तो उन्हें कठोर दण्ड दिए जाएंगे। इन अभिलेखों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। सुमात्रा के विविध प्रदेशों के अतिरिक्त वंक द्वीप पर भी सातवीं सदी में ही श्रीविजय का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। ६८६ ईस्वी में श्रीविजय की सेनाओं ने जावा पर भी आक्रमण किया था। श्रीविजय के सातवीं सदी के इन प्रतापी राजाओं में एक श्रीजयनाश या श्रीजयनाग था, जिसका नाम पलेमबङ् से उपलब्ध प्रथम लेख में आया है, जहां उसके सुकृत्यों का उल्लेख किया गया है। आठवीं सदी में श्रीविजय राज्य का और अधिक उत्कर्ष हुआ, और मलाया प्रायद्वीप भी उसकी अधीनता में आ गया। लिगोर (मलाया) से प्राप्त जिस अभिलेख में श्रीविजयनृपति या श्रीविजयेन्द्रभूपति द्वारा तीन बौद्ध चैत्यों के निर्माण का उल्लेख है, उसके सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। यह अभिलेख ७७५ ईस्वी का है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आठवीं सदी के मध्य भाग तक मलाया पर भी श्रीविजय का आधिपत्य स्थापित हो गया था। मलाया को अपनी अधीनता में लाने वाले श्रीविजय के ये राजा शैलेन्द्र वंश के थे, यह भी लिगोर प्रस्तरखण्ड के दूसरे पार्श्व पर उत्कीर्ण अभिलेख से प्रमाणित होता है, जहाँ कि शैलेन्द्रवंशप्रभु विष्णुनामक राजाधिराज का उल्लेख है। सेदे ने इसी अभिलेख के आधार पर श्रीविजय के राजाओं को शैलेन्द्र वंश का माना है। सातवीं सदी का अन्त होने से पहले

ही श्रीविजय की सेनाओं ने जावा पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे, और आठवीं सदी में यह द्वीप अवश्य ही उनकी अधीनता में आ गया था। जावा के कालसन गांव से ७७८ ईस्वी का जो अभिलेख मिला है, उसमें शैलेन्द्र वंश के महाराज पणंकरण द्वारा अपने गुरु के सम्मान में तारा मन्दिर के निर्माण तथा कालस नामक गांव को बौद्ध संघ के लिए दान में दिए जाने का उल्लेख है। कालसन के इस अभिलेख से यह भली-भाँति प्रकट हो जाता है, कि ७७८ ईस्वी तक जावा भी शैलेन्द्रों के प्रभुत्व में आ चुका था। कालसन के अभिलेख में ज़ावा में तारामन्दिर का निर्माण कराने वाले जिस शैलेन्द्रवंशी राजा महाराज पणंकरण का उल्लेख है, क्या वह श्रीविजय का भी राजा था, इस सम्बन्ध में एक मत यह है, कि शैलेन्द्र राजाओं ने जावा की विजय कर वहाँ एक पृथक् राजवंश को स्थापित कर दिया था, जो सम्भवतः श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों के आधिपत्य को स्वीकार करता था। महाराजा पणंकरण का ७७८ ईस्वी में जावा पर शासन था, और लगभग इसी समय (७७५ ईस्वी) में लिगोर (मलाया) पर श्री विजयेन्द्रभूपति शासन कर रहा था, जिसने भी वहाँ तीन बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था। लिगोर के शासक इस श्रीविजयेन्द्रभूपति का नाम राजाधिराज विष्णु था, और सम्भवतः महाराज पणंकरण इस राजाधिराज के प्रभुत्व को स्वीकार करता था।

शैलेन्द्र वंश के शक्तिशाली राजा केवल सुमात्रा, मलाया, जावा और उनके समीपवर्ती द्वीपों को ही अपने आधिपत्य में लाकर संतुष्ट नहीं हो गए, सुदूर पूर्व में उन्होंने कम्बुज (कम्बोडिया) और चम्पा (विएत-नाम या अनाम) के भारतीय राज्यों पर भी आक्रमण किया। चम्पा के राजा सत्यवर्मा (७७४ ईस्वी) के शासन काल में जावा की जल सेना ने उसे आक्रान्त किया, और वहाँ धन-जन का बुरी तरह विनाश किया। राजा सत्यवर्मा के पो-नगर के अभिलेख में जावा के इन आक्रान्ताओं को 'कृष्णरुक्ष पुरुष' और 'कालोग्रपापात्मक' कहा गया है। इन्होंने जहाजों द्वारा चम्पा पर आक्रमण किया था, और वहाँ के मन्दिर को आग लगाकर मुखलिंग को वहाँ से उठा ले गए थे। चम्पा की अनुश्रुति के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण द्वापर युग के ५९११वें वर्ष में राजा विचित्रसगर द्वारा कराया गया था। सत्यवर्मा के अपने वीर सैनिकों के साथ जावा के आक्रान्ताओं का पीछा किया, और सामुद्रिक युद्ध में उन्हें परास्त किया। पर शिव की मुखलिंग मूर्ति को वह प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि आक्रान्ताओं ने उसे नष्ट कर दिया था। सत्यवर्मा ने जावा के सैनिकों द्वारा विनष्ट मन्दिर का पुनरुद्धार किया, और उसमें मुखलिंग शिव की नई मूर्ति प्रतिष्ठापित की।

पर जावा के चम्पा पर आक्रमण बाद में भी जारी रहे। सत्यवर्मा के पश्चात् इन्द्रवर्मा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उसके शासनकाल में ७८७ ईस्वी में जावा की जल सेना ने चम्पा पर पुनः आक्रमण किया, और वहाँ के एक अन्य प्राचीन मन्दिर भद्राधिपतीश्वर को विनष्ट किया। यह मन्दिर भी बहुत पुराना था, और चम्पा की अनुश्रुति के अनुसार इसका निर्माण हजारों साल पूर्व हुआ था। जावा के आक्रान्ताओं को परास्त कर इन्द्रवर्मा ने मन्दिर का पुनः निर्माण कराया, और उसमें इन्द्रभद्रेश्वर शिव की मूर्ति प्रतिष्ठापित की। यद्यपि जावा के आक्रान्ता चम्पा पर स्थायी रूप से अपना

आधिपत्य स्थापित नहीं कर सके, पर सुदूर पूर्व के उस देश में जाकर वहाँ के मन्दिरों को नष्ट करना कोई साधारण बात नहीं थी। इससे प्रगट होता है, कि जावा की सामुद्रिक शक्ति बहुत अधिक थी। आठवीं सदी में जावा पर शैलेन्द्र वंश के राजाओं का ही शासन था। अतः चम्पा के जिन अभिलेखों में 'जवबल' (जावा की सेना) द्वारा किए गए आक्रमणों का उल्लेख है, वे जावा पर शासन करने वाले शैलेन्द्र राजाओं द्वारा ही किए गए थे, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है।

जावा के शैलेन्द्र राजाओं ने चम्पा के समान कम्बुज पर भी आक्रमण किए, और उस पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में ही कम्बुज जावा का वशवर्ती हो गया था। जावा के राजा संजय के ७३२ ईस्वी के एक अभिलेख में यह कहा गया है, कि उसने पड़ोस के राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया था। कौन-से राजा संजय द्वारा परास्त किए गए थे, यह उसके अभिलेख से स्पष्ट नहीं होता। पर चरित परह्यन्गन् नामक एक ग्रन्थ में उन राज्यों के नाम दिए गए हैं, जिन्हें सेन या सन्नाह के पुत्र राजा संजय द्वारा विजय किया गया था। इन राज्यों में कमिर (ख्मेर) और वारस के नाम भी हैं। कमिर या ख्मेर कम्बुज देश के निवासियों का ही नाम था। कम्बोडिया में स्दोक काक थाम नामक स्थान पर उपलब्ध एक अभिलेख के अनुसार इन्द्रपुर के राजा जयवर्मा द्वितीय ने एक धार्मिक अनुष्ठान इस प्रयोजन से किया था कि कम्बुज देश फिर कभी जावा के प्रभुत्व में न आने पाए। स्दोक काक थाम का अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में है और उसे १०५२ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। पर उसमें जिस राजा जयवर्मा का उल्लेख है, उसका शासन काल ८०२ से ८६९ ईस्वी तक था। इस अभिलेख से यह स्पष्ट है, कि जयवर्मा के शासन काल से पूर्व आठवीं सदी में कम्बुज पर जावा का प्रभुत्व रह चुका था।

कम्बुज पर जावा के शैलेन्द्र राजाओं ने आक्रमण किए थे, इसका संकेत अरब व्यापारी सुलेमान के विवरण से भी प्राप्त होता है। सुलेमान का यह विवरण ८५१ ईस्वी में लिखा गया था। इसके अनुसार ख्मेर का राजा एक दिन अपने वजीर के साथ बैठा हुआ था। बातचीत में जावक के महाराज, उसके वैभव तथा उसके अधीनस्थ देशों का जिकर आ गया। उसे सुनकर ख्मेर के राजा ने कहा, कि मैं चाहता हूँ कि जावक के राजा का कटा हुआ सिर मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। जब यह बात जावक के महाराज को ज्ञात हुई, तो उसने ख्मेर पर आक्रमण करने के लिए एक हज़ार जहाज तैयार कराए और उन्हें सैनिकों से भर कर गुप्त रूप से हमला कर दिया। ख्मेर का राजा परास्त हो गया, और उसके सिर को काटकर जावक ले जाया गया। अरब लेखकों को जावक या जावा से शैलेन्द्र साम्राज्य ही अभिप्रेत था, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए शैलेन्द्र सम्राटों ने कम्बुज और चम्पा पर भी आक्रमण किए थे, और कुछ समय तक ये राज्य उनकी अधीनता में भी रहे थे। यद्यपि वे देर तक इन सुदूरवर्ती राज्यों पर अपना प्रभुत्व कायम नहीं रख सके, पर आठवीं सदी में सुवर्णद्वीप तथा सुवर्णभूमि के प्रायः सभी द्वीप एवं प्रदेश शैलेन्द्र सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। इन जावक या शैलेन्द्र महाराजाओं के विषय में अरब लेखकों ने जो

महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं, उनका उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा, कि अरब विवरणों के अनुसार जावक साम्राज्य अत्यन्त शक्तिशाली एवं समृद्ध था। इब्न खोरदाद्वह (८४४ ई०) ने लिखा है, कि जावक का राजा महाराज कहाता था, और उसकी दैनिक आमदनी २०० मन सोना थी। महाराज इस सोने को ठोस ईंटों के रूप में परिवर्तित करके जल में फेंक दिया करता था। ये वहीं सुरक्षित रहा करती थीं, क्योंकि महाराज का खजाना जल में ही था। सौदागर सुलेमान ने भी यही बात एक दूसरे ढंग से लिखी है। उसके अनुसार जावक के राजा के महल और समुद्र के बीच में एक उथली झील थी। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय राजा सोने की एक ठोस ईंट इस झील में फेंक दिया करता था। राजा की मृत्यु हो जाने पर इन सब ईंटों को पानी से निकाल कर गिना जाता था, और उनका वजन करके राजकीय वहियों में दर्ज कर दिया जाता था। फिर इस सोने को राज-परिवार के सदस्यों, सेनापतियों, राजकीय गुलामों और अन्य कर्मचारियों में उनकी हैसियत के अनुसार बांट दिया जाता था, और जो शेष बचता था उसे गरीबों को दे दिया जाता था।

चीन के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों में सान फो-त्सी नाम से जिस राज्य का उल्लेख है, वह शैलेन्द्र साम्राज्य ही था। सान फो-त्सी के विषय में जो जानकारी चीनी ग्रन्थों से प्राप्त होती है, उसका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है। वस्तुतः, दक्षिण-पूर्वी एशिया के इतिहास में शैलेन्द्र साम्राज्य का निर्माण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में जो बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, शैलेन्द्र राजाओं ने उन्हें एक साम्राज्य के अन्तर्गत कर दिया था। जहाँ आज मलायीसिया और इन्डोनीसिया के राज्य हैं, प्रायः उन सब में इस साम्राज्य के कारण राजनीतिक एकता हो गई थी, जिससे इस क्षेत्र की आर्थिक समृद्धि तथा सांस्कृतिक उन्नति में बहुत सहायता मिली थी। शैलेन्द्र साम्राज्य की सामुद्रिक शक्ति भी बहुत अधिक थी, और वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

शैलेन्द्र राजाओं का महत्त्व इतना अधिक होते हुए भी उनका क्रमबद्ध इतिहास ज्ञात नहीं है। लिगोर (मलाया) के अभिलेख से हमें विष्णु नाम के शैलेन्द्र वंशी महाराज का परिचय मिलता है, जिसका काल आठवीं सदी के उत्तरार्ध (७७५ ई०) में था। कालसन (जावा) के अभिलेख में शैलेन्द्र वंश के महाराज पणंकरण का उल्लेख है, जिसने कि ७७८ ई० में तारा के मन्दिर का निर्माण कराया था। यह पणंकरण महाराज विष्णु (जिसका उल्लेख लिगोर के अभिलेख में है) का उत्तराधिकारी था, या जावा का एक ऐसा पृथक् शैलेन्द्र वंशी राजा था जो श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों के प्रभुत्व को स्वीकार करता था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, पणंकरण का सम्बन्ध शैलेन्द्र वंश की एक ऐसी शाखा के साथ था जो श्रीविजय के शैलेन्द्र वंश से भिन्न थी, पर शैलेन्द्र साम्राज्य के उत्कर्ष काल में उसकी अधीनता को स्वीकार करती थी। जावा के मतराम राज्य का विवरण लिखते हुए हम सोलो के एक अभिलेख पर प्रकाश डालेंगे, जिसमें कि मतराम (जावा में) के राजाओं की एक वंशावली भी दी गई है। इसमें संजय, रकई मतराम, श्रीमहाराज, रकई पणंकरण और उनके बाद के सात राजाओं के नाम हैं। जावा के राजा

संजय द्वारा कम्बुज देश की विजय की गई थी, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है, उसके बाद मतराम और फिर पणंकरण जावा के राजा बने। संजय का काल ७३२ ई० में था, और पणंकरण का ७७८ ई० में, जो सर्वथा संगत है। पर पणंकरण से कुछ समय पूर्व (७७५ ई० में) मलाया में शैलेन्द्र-वंशी महाराज विष्णु का शासन था। सोलो के अभिलेख में विष्णु का नाम नहीं है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि जावा के संजय, रकई मतराम और रकई पणंकरण आदि राजा शैलेन्द्र वंश के होते हुए शैलेन्द्र सम्राटों की उस प्रधान शाखा के नहीं थे, जिसका प्रधान केन्द्र श्रीविजय में था, और सुमात्रा तथा मलाया जिसके सीधे शासन में थे। शैलेन्द्र साम्राज्य के उत्कर्ष के समय (आठवीं सदी) में जावा के ये राजा—जो शैलेन्द्र कुल के ही थे—श्रीविजय के सम्राटों का प्रभुत्व स्वीकार करते थे, पर नौवीं सदी में इन्होंने श्रीविजय के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र कर लिया था। नौवीं सदी में जावा किस प्रकार श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य से पृथक् हुआ, इस पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जाएगा।

शैलेन्द्र वंश की मुख्य शाखा के राजा महाराज या राजाधिराज विष्णु का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसका परिचय लिगोर के अभिलेख से मिलता है। केलुरक (जावा) के अभिलेख में शैलेन्द्रवंशतिलक, वैरीवरवीरविमर्दन महाराज धरणीन्द्र द्वारा मंजुश्री की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किए जाने का वर्णन है, और इस राजा के विषय में यह भी लिखा गया है कि उसने सब दिशाओं में अन्य राजाओं को परास्त किया था। यह अभिलेख ७८२ ई० का है। अतः राजा धरणीन्द्र को महाराज विष्णु के बाद का समझा जा सकता है। केलुरक के इसी अभिलेख में श्रीसंग्राम धनञ्जय नाम के एक अन्य राजा का भी उल्लेख है। संग्राम धनञ्जय और धरणीन्द्र में क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है।

नालन्दा के ताम्रपत्र में 'शैलवंशतिलक' 'वीरवैरीमथनानुगताभिधान' राजा यवभूमिपाल और उसके पुत्र समराग्रवीर का उल्लेख है, जिसके पुत्र श्रीबालपुत्र देव ने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया था। यह लेख सन् ८४१ का है, अतः शैलेन्द्र महाराज श्रीबालपुत्र देव का काल नौवीं सदी के मध्य भाग में रखा जा सकता है। उससे पूर्व समराग्रवीर शैलेन्द्र साम्राज्य का स्वामी था, और उससे पहले यवभूमिपाल, जो व्यक्ति का नाम भी हो सकता है और राजा का विशेषण भी। पर ये सब राजा धरणीन्द्र तथा विष्णु के बाद के थे, इसमें सन्देह नहीं। श्रीबालपुत्रदेव के पश्चात् जो अनेक राजा श्रीविजय के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, उनमें से कुछ के नाम चोल अभिलेखों तथा कतिपय अन्य साधनों से ज्ञात होते हैं। इनका सम्बन्ध शैलेन्द्र साम्राज्य के ह्रास काल के साथ है, अतः अगले प्रकरण में इनका उल्लेख किया जाएगा।

(४) चोल राज्य से संघर्ष और शैलेन्द्र साम्राज्य का पतन

ग्यारहवीं सदी में सुदूर दक्षिणी भारत के चोलवंशी राजा बड़े प्रतापी थे, और उन्होंने दूर-दूर तक विजययात्राएँ कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। चोल साम्राज्य के विकास का प्रधान श्रेय राजराज प्रथम को है, जो ९८५ ई० में राज-सिंहासन पर

आरूढ़ हुआ था। दक्षिणी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों को अपने अधीन कर राजराज प्रथम ने कलिङ्ग की भी विजय की थी, और मालदीव द्वीपसमूह पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। राजराज द्वारा चोल साम्राज्य के विस्तार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसके पुत्र राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४) ने उसे जारी रखा, और उत्तरी भारत पर आक्रमण कर बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। राजेन्द्र की सेनाएँ विजय-यात्रा करती हुई गंगातट तक पहुँच गई थीं, जिसके कारण उसने गंगैकोण्ड की उपाधि भी धारण की थी।

राजराज और राजेन्द्र द्वारा स्थापित चोल साम्राज्य की सामुद्रिक शक्ति भी बहुत अधिक थी। हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी के पश्चिमी तट पर चोल साम्राज्य की स्थिति थी और उनके पूर्वी तट पर शैलेन्द्र साम्राज्य की। जलशक्ति में दोनों ही साम्राज्य अत्यन्त समृद्ध थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि उनमें परस्पर सम्पर्क स्थापित हो। जिस समय राजराज प्रथम चोल साम्राज्य के उत्कर्ष के लिए प्रयत्न-शील था, तभी शैलेन्द्र साम्राज्य के राजसिंहासन पर श्री चूडामणिवर्मदेव विराजमान था। इन दोनों सम्राटों में मैत्री-सम्बन्ध की सत्ता थी, जिसका परिचय उस विशाल ताम्र-पत्र द्वारा प्राप्त होता है, जो इस समय लाइडन के कलाभवन में है, और लाइडन अभिलेख कहाता है। इस अभिलेख में २१ ताम्रपत्र हैं, और यह प्रधानतया संस्कृत में है, यद्यपि इसके कुछ अंश तमिल भाषा में भी हैं। लाइडन के इस अभिलेख से ज्ञात होता है, कि कटाह के राजा चूड़ामणिवर्मदेव ने नागपट्टन नामक स्थान पर एक बौद्ध विहार का निर्माण प्रारम्भ कराया था। पर इस विहार के पूरा होने से पहले ही राजा चूड़ामणिवर्म-देव की मृत्यु हो गई थी। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मा-ने अपने पिता द्वारा प्रारम्भ कराए गए विहार को पूरा कराया, और अपने पिता के नाम पर इस विहार का नाम चूड़ामणिवर्मविहार रखा। अपने राज्य काल के २१वें वर्ष में चोल सम्राट राजराज ने इस विहार के लिए एक ग्राम दान में दिया था, और बाद में उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल द्वारा इस दान की पुष्टि भी की गई थी। लाइडन के इस अभिलेख में राजा श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मदेव के साथ 'श्रीविषयाधिपति' और 'कटा-हाधिपत्यमातन्वन्' विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। अभिलेख के तमिलभाग में कटाह के स्थान पर कडारम आया है। कटाह और कडारम मलाया प्रायद्वीप के केड्डा या केडाह प्रदेश के प्राचीन नाम थे। श्रीविषय से श्रीविजय ही अभिप्रेत है, यह निर्विवाद है। श्रीविजय के अधिपति और कटाह पर अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने वाले राजा श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मदेव को लाइडन अभिलेख में "शैलेन्द्रवंशसम्भूत" भी कहा है, जिस सबसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता है, कि शैलेन्द्र वंश के सम्राट् चूड़ामणि-वर्मदेव और श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मदेव चोल राजा राजराज के समकालीन थे, और उनका इस चोल राजा के साथ घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध था। तभी उन्होंने चोल साम्राज्य के अन्तर्गत नागपट्टन में एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था, और चोल राजा ने उसके लिए एक ग्राम दान में दिया था।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कि शैलेन्द्र वंश के इन दोनों राजाओं का उल्लेख

चीनी ग्रन्थों में भी मिलता है। १००३ ई० में सान फो-त्सी के राजा से-ली-चू-ल-वू-नी-फू-म-तिअउ्ह्व ने अपने दूत चीन भेजे थे, और सन् १००८ में राजा से-रो-मा-ल-पी ने। सान फो-त्सी (शैलेन्द्र साम्राज्य) के इन राजाओं ने चीनी नामों को लाइडन अभिलेख के श्रीचूड़ामणिवर्मदेव और श्रीमारविजयोत्तुंगवर्मदेव के साथ मिलाया गया है, जो स्पष्ट रूप से युक्तिसंगत है। चोल अभिलेख के अनुसार भी इन राजाओं का काल ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ भाग में ही था।

पर शैलेन्द्र और चोल साम्राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध देर तक कायम नहीं रहा। कुछ समय पश्चात उनमें युद्ध प्रारम्भ हो गया, और चोल सम्राट् राजेन्द्र द्वारा बंगाल की खाड़ी को पार कर समुद्र मार्ग से शैलेन्द्र साम्राज्य पर आक्रमण किए गए। चोल राजेन्द्र के अभिलेखों में इन आक्रमणों और समुद्रपार के प्रदेशों की विजय के स्पष्ट विवरण विद्यमान हैं। राजेन्द्र चोल के शासन काल के छठे वर्ष (१०१७-१८ ईस्वी) में उत्कीर्ण हुआ एक अभिलेख तिरुवालांगाड् नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है, जिसमें चोल राजा द्वारा कटाह की विजय का उल्लेख है। यह अभिलेख संस्कृत और तमिल दोनों में है, और इसके एक संस्कृत श्लोक में समुद्र को पार कर कटाह को जीतने वाली और अन्य सब राजाओं को अपने सम्मुख झुकने के लिये विवश करने वाली चोल सेनाओं के वीर कृत्यों का विवरण दिया गया है। राजेन्द्र चोल के अन्य भी अनेक अभिलेखों में कडारम (कटाह) की विजय का उल्लेख है। पर शैलेन्द्र वंश के अधीनवर्ती समुद्रपार के प्रदेशों को जीतने का सुविस्तृत विवरण तंजोर के अभिलेख में दिया गया है, जिसे राजेन्द्र चोल के राज्यकाल के उन्नीसवें वर्ष (१०३०-३१) में उत्कीर्ण कराया गया था। इसके अनुसार राजेन्द्र चोल ने उफनते हुए समुद्र में बहुत-से जहाज़ कडारम के राजा संग्रामविजयोत्तुंगवर्मा के विरुद्ध भेजे थे, जिन्होंने कि इस राजा को उसकी सेना के हाथियों तथा खजाने के साथ बन्दी बना लिया था। समुद्र के मार्ग से किये गये इस आक्रमण द्वारा जो प्रदेश राजेन्द्र चोल के स्वत्व में आ गये थे, इनके नाम इस अभिलेख में इस प्रकार दिये गये हैं, श्रीविजय, पन्नई (सुमात्रा में), मलैयूर (मलायु या जाम्बी), मायिरुण्डिगम (मलाया प्रायद्वीप में), इलंगोसोगम (मलाया प्रायद्वीप में), माप्पप्पालम (क्रा के स्थलडमरूमध्य के समीप), मेविलिम्बंगम (लिगोर के समीप), वलैप्पन्डूरू (पाण्डुरंग), तलैत्तक्कोलम (तक्कोला), मा-दमालिंगम (मलाया प्रायद्वीप में) इलामुरिदेशम (सुमात्रा के उत्तरी प्रदेश में), मानक्कवारम (निकोबार द्वीप) तथा कटाह या कडारम। चोल अभिलेखों में राजेन्द्र द्वारा विजित समुद्रपार के जिन प्रदेशों के नाम दिये गये हैं वे कहाँ स्थित थे और वर्तमान समय में उनके क्या नाम हैं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि इन सबकी स्थिति मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों में थी। सम्भवतः, ये सब श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों के अधीनस्थ राज्य थे, और राजेन्द्र चोल ने समुद्रपार अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए इन सबको अपना वंशवर्ती बना लिया था। तंजोर अभिलेख में संग्राम-विजयोत्तुंगवर्मा को कडारम (कटाह) का राजा कहा गया है, और श्रीविजय को बड़े-बड़े रत्नों से विभूषित द्वारों वाला नगर वर्णित किया गया है। सम्भवतः, ग्यारहवीं सदी तक कटाह को शैलेन्द्र साम्राज्य की द्वितीय राजधानी

की स्थिति प्राप्त हो चुकी थी। कटाह (केड्डा) सदृश महत्त्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र का राजधानी के रूप में प्रयुक्त किया जाना स्वाभाविक ही था।

यद्यपि चोल सम्राट् राजेन्द्र समुद्रपार के शैलेन्द्र साम्राज्य को परास्त करने में समर्थ हुआ था, पर वह देर तक उसे अपनी अधीनता में नहीं रख सका। सम्भवतः वह शीघ्र ही स्वतन्त्र हो गया था, क्योंकि चोल राजा वीर राजेन्द्र (१०६३-७०) को एक वार फिर कडारम (कटाह) पर आक्रमण कर उसे जीतने की आवश्यकता हुई थी। वीर राजेन्द्र के एक अभिलेख में उस द्वारा कडारम की विजय का उल्लेख आया है। पर वीर राजेन्द्र के लिये भी समुद्रपार के शैलेन्द्र साम्राज्य पर शासन कर सकना सुगम नहीं था। वह उसके राजा से अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट हो गया, और उसका राज्य उसे वापस लौटा दिया गया। अपने अभिलेख में वीर राजेन्द्र ने लिखा है, कि कडारम के राजा ने उसकी चरणपूजा की, जिस पर उसका राज्य उसे वापस दे दिया गया। पर शैलेन्द्र और चोल राजाओं के संघर्ष का इससे भी अन्त नहीं हो पाया। ऐसा प्रतीत होता है, कि वीर राजेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् कटाह के शैलेन्द्र राजा ने अपने को पुनः स्वतन्त्र घोषित कर दिया, जिसके कारण चोल सम्राट् को फिर उस पर आक्रमण करने की आवश्यकता हुई। वीर राजेन्द्र का उत्तराधिकारी कुलोत्तुंग चोल (१०७०-११२०) था। उसके भी एक अभिलेख में कटाह पर आक्रमण तथा उसके विनाश का उल्लेख है। पर इस चोल राजा के समय में शैलेन्द्र और चोल साम्राज्यों में एक वार फिर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इसका कारण सम्भवतः यह था, कि चोल राजा को भारत में अपने पड़ोसी राज्यों के युद्धों से ही अवकाश नहीं मिलता था, और वह कलिंग के युद्धों में बुरी तरह से फँसा हुआ था। इस दशा में समुद्रपार के शैलेन्द्र राज्य को अपनी अधीनता में रख सकना उसके लिये क्रियात्मक नहीं था। कुलोत्तुंग चोल और शैलेन्द्र वंशी राजा के सम्बन्ध इस काल में कितने मैत्रीपूर्ण हो गये थे, यह लाइडन के छोटे अभिलेख से सूचित होता है। यह अभिलेख राजराज प्रथम के उस अभिलेख से भिन्न है, जिसमें २१ ताम्रपत्र हैं, और जो इस समय लाइडन के कलाभवन में होने के कारण लाइडन अभिलेख कहाता है। कुलोत्तुंग चोल का यह अभिलेख (जिसमें केवल तीन ताम्रपत्र हैं) भी लाइडन के कलाभवन में है। इसके अनुसार किडार (कटाह) के राजा ने अपने दूत राजविद्याधर सामन्त और अभिमानोत्तुंग सामन्त द्वारा जो अनुरोध किया था, उसे स्वीकार कर कुलोत्तुंग द्वारा शैलेन्द्रचूडामणिवर्म विहार को दान में दिये गये गांव को कर-मुक्त कर दिया गया था।

कुलोत्तुङ्ग चोल के उत्तराधिकारी चोल राजाओं के जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उनमें न कहीं समुद्रपार के किडार आदि की विजयों का उल्लेख है, और न कहीं किसी शैलेन्द्र राजा का ही जिकर है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि कुलोत्तुंग के पश्चात् किसी चोल राजा ने शैलेन्द्र साम्राज्य पर आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया। वस्तुतः, इस समय चोल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई थी, और उसके राजाओं के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे सुदूरवर्ती मलाया सुमात्रा आदि को अपनी अधीनता में रख सकें।

बारहवीं सदी में शैलेन्द्र साम्राज्य की किस ढंग से प्रगति हुई, यह सुनिश्चित रूप से

प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है। संग्रामविजयोत्तुंगवर्मा के बाद शैलेन्द्र वंश के किसी भी राजा का नाम हमें ज्ञात नहीं है। पर चीनी ग्रन्थों में सान फो-त्सी का और अरब विवरणों में जावक का उल्लेख इसके पश्चात् भी आता है, और इनसे श्रीविजय का शैलेन्द्र साम्राज्य ही अभिप्रेत था, यह पहले निरूपित किया जा चुका है। बारहवीं सदी में शैलेन्द्र वंश हमारी आँखों से ओझल हो जाता है, यद्यपि इस राजवंश द्वारा जिस सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की गई थी, उसकी सत्ता के प्रमाण हमारे सम्मुख आते रहते हैं। चीनी ग्रन्थों के अनुसार सान-फो-त्सी के राजा सी-ली-म-हा-ला-श (श्रीमहाराज) ने अपना एक दूत मण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इसी प्रकार ११७८ में सान फो-त्सी से एक अन्य दूत-मण्डल चीन गया था। १२२५ ईस्वी के लगभग चाउ जू-कुआ नाम के एक चीनी राजपदाधिकारी ने सान-फो-त्सी के सम्बन्ध में यह लिखा था, कि यह एक शक्तिशाली राज्य की राजधानी तथा व्यापार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। क्योंकि मलक्का का जलडमरूमध्य इसके प्रभुत्व में था, अतः पूर्वी और पश्चिमी देशों के पारस्परिक व्यापार का नियन्त्रण करने की यह स्थिति में था। चाउ जू-कुआ ने १५ ऐसे राज्यों के नाम दिए हैं, जो सान फो-त्सी की अधीनता स्वीकार करते थे। प्रायशः ये राज्य मलाया प्रायद्वीप में थे, यद्यपि इनमें से कुछ की स्थिति सुमात्रा और जावा में भी थी। चाउ जू-कुआ की सूची में एक नाम सी-लन भी है, जिसे सीलोन या श्रीलंका के साथ मिलाया गया है। लंका के पुराने इतिहास चुल्लवंस से हमें ज्ञात है, कि जावक (सान फो-त्सी) ने राजा चन्द्रभानु के सीलोन पर आक्रमण कर कुछ समय के लिए उसे अधीन कर लिया था। अतः चाउ जू-कुआ ने सान फो-त्सी की अधीनता में विद्यमान जिन १५ राज्यों का उल्लेख किया है, उन्हें इस शक्तिशाली साम्राज्य के अन्तर्गत मानना असंगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि तेरहवीं सदी के प्रारम्भ काल में भी सान फो-त्सी या जावक एक शक्तिशाली एवं समृद्ध राज्य था। मलाया प्रायद्वीप में चैया नामक स्थान पर एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है, जो ११८३ ईस्वी का है। इस अभिलेख में महाराज श्रीमत्त्रैलोक्यराजमौलिभूषणवर्मदेव नाम के एक राजा का उल्लेख है। क्योंकि शैलेन्द्र वंश के राजाओं के नामों में प्रायः 'वर्मदेव' आया करता था, अतः यह कल्पना कर सकनी असंगत नहीं होगी, कि त्रैलोक्यराजमौलिभूषणवर्मदेव का भी शैलेन्द्र वंश के साथ सम्बन्ध था, और सम्भवतः वह चूड़ामणिवर्मदेव का ही अन्यतम वंशज था। चैया के अभिलेख में उल्लिखित इस राजा को शैलेन्द्रवंशी मान लिया जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि चीनी ग्रन्थों में सान फो-त्सी के जिस शक्तिशाली व समृद्ध राज्य का वर्णन है, बारहवीं सदी के अन्त तक भी वहाँ शैलेन्द्र वंश का शासन विद्यमान था।

सान फो-त्सी के रूप में सुवर्णद्वीप (मलायीसिया और इन्डोनीसिया) के क्षेत्र में तेरहवीं सदी तक भी एक शक्तिशाली राज्य की सत्ता थी, जिसके राजा चन्द्रभानु ने १२३६ और १२५६ ई० में श्रीलंका पर आक्रमण किया था। इन आक्रमणों का जो वर्णन चुल्लवंश में मिलता है, उस पर इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। ग्यारहवीं सदी में चोल सम्राट राजेन्द्र ने समुद्र पार के जिस राज्य को आक्रान्त कर विनष्ट किया था, वह तेरहवीं सदी में इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसका राजा श्रीलंका पर

आक्रमण कर सका था। पर सम्भवत: श्रीलंका पर आक्रमण करने में चन्द्रभानु ने अनुचित साहस से काम लिया था। इस आक्रमण के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, जिससे लाभ उठाकर पाण्ड्य देश के राजा जटावर्मन् वीरपाण्ड्य ने उस पर हमला कर दिया था और उसे परास्त कर मौत के घाट उतार दिया (१२६४ ई०) था।

१२६४ के पश्चात सान फो-त्सी (जावक या श्रीविजय) का तेजी से पतन होने लगा। पाण्ड्य आक्रमण के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जावा के राजा कृतनगर ने उससे लाभ उठाया। मलाया प्रायद्वीप पर आक्रमण कर उसने पहले पहंग को जीत लिया और फिर मलयू (जाम्बी) को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। ये दोनों राज्य पहले सान फो-त्सी के अधीन थे। मलाया पर कृतनगर का प्रभुत्व देर तक कायम नहीं रहा, पर मलयू (जाम्बी) के जिस राज्य पर से सान फो-त्सी के प्रभुत्व का अन्त राजा कृतनगर द्वारा किया गया था, वह अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने में समर्थ रहा, और शीघ्र ही वह सान फो-त्सी का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इसी समय (तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग में) सियाम के थाई लोगों ने भी उत्तर की ओर से मलाया प्रायद्वीप पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। मलायू, जावा और सियाम के बीच में पिस कर सान फो-त्सी की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गई, और वह एक स्थानीय राज्य मात्र रह गया। इस स्थिति में यह राज्य १३७७ ईस्वी तक कायम रहा, जबकि जावा ने एक बार फिर उसे आक्रान्त किया और उसे बुरी तरह से नष्ट किया। इस प्रकार श्रीविजय (सान फो-त्सी) के उस शक्तिशाली राज्य का अन्त हुआ, जिसकी स्थापना शैलेन्द्र वंश के राजाओं द्वारा की गई थी।

शैलेन्द्र साम्राज्य के पतन का विवरण देते हुए दो अन्य बातों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। आठवीं सदी तक जावा भी इस साम्राज्य के अन्तर्गत था, पर बाद में वहाँ ऐसे राज्यों की स्थापना हुई, जो न केवल श्रीविजय की अधीनता स्वीकार नहीं करते थे, अपितु उसके विरुद्ध संघर्ष में भी तत्पर रहते थे। अगले अध्याय में हम जावा के इस इतिहास पर प्रकाश डालेंगे।

यह ऊपर लिखा गया है, कि संग्रामविजयोत्तुंगवर्मा के बाद शैलेन्द्र वंश के किसी राजा का सुनिश्चित रूप से पता नहीं मिलता। श्रीलंका पर सान फो-त्सी या जावक के जिस राजा चन्द्रभानु ने आक्रमण किया था, चैया के एक अभिलेख में उसके कुल को कमल से प्रादुर्भूत कहा गया है, और साथ ही ताम्रलिंग का अधिपति भी। तन-म-लिंग उन १५ राज्यों में एक है, जिनका उल्लेख चाउ-जू-कुआ ने सान फो-त्सी के अधीनस्थ राज्यों के रूप में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि चन्द्रभानु इस तन-म-लिंग या ताम्रलिंग का राजा था, और उसने सान फो-त्सी (श्रीविजय) के शैलेन्द्रवंशी राजाओं के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था, और सुवर्णद्वीप के क्षेत्र में वही सर्वप्रधान स्थिति प्राप्त कर गया था।

चौथा अध्याय

जावा के प्राचीन हिन्दू (भारतीय) राज्य

(१) मतराम राज्य

जावा के प्राचीनतम भारतीय उपनिवेशों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में ही इस द्वीप में भारतीयों ने अपने उपनिवेश या राज्य स्थापित करने शुरू कर दिए थे। इन राज्यों में एक तारूमा का राज्य था, जिसके राजा पूर्णवर्मा के अनेक संस्कृत अभिलेख जावा से उपलब्ध हुए हैं। पूर्णवर्मा का समय छठी सदी में था। उसके बाद जिन राजाओं ने जावा के विविध राज्यों पर शासन किया, उनका इतिहास हमें ज्ञात नहीं है। सातवीं सदी में श्रीविजय के शैलेन्द्र राज्य का उत्कर्ष प्रारम्भ हो गया था, और उसके प्रतापी राजाओं ने जावा पर भी आक्रमण शुरू कर दिए थे। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक यह द्वीप अवश्य ही श्रीविजय की अधीनता में आ गया था। कालसन गांव से ७७८ ईस्वी का जो अभिलेख मिला है, उसमें शैलेन्द्रवंशी महाराज पणंकरण द्वारा अपने गुरु के सम्मान में तारा मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि ७७८ ईस्वी तक जावा शैलेन्द्रों के प्रभुत्व में आ गया था। पर सम्भवतः यह पणंकरण श्रीविजय के शैलेन्द्रवंश का राजा नहीं था। शैलेन्द्र राजाओं ने जावा की विजय कर वहाँ एक पृथक् राजवंश स्थापित कर दिया था, जिसका सम्बन्ध श्रीविजय के शैलेन्द्रवंश से था। जावा का शैलेन्द्रवंशी राजा पणंकरण श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों की अधीनता स्वीकार करता था। पणंकरण का उल्लेख केवल कालसन अभिलेख में ही नहीं मिलता, अपितु सोलो के एक ऐसे अभिलेख में भी उसका नाम आया है, जिसमें मध्य जावा के मतराम राज्य के राजाओं की वंशावलि दी गई है। इस विषय पर पिछले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। सम्भवतः, यह मत सर्वथा संगत है, कि आठवीं सदी में जावा श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों के प्रभुत्व में आ चुका था और वहाँ एक ऐसा राजवंश श्रीविजय के अधीनस्थ रूप से शासन करने लग गया था, जिसका शैलेन्द्रवंश से घनिष्ठ सम्बन्ध था। पणंकरण इसी वंश में उत्पन्न हुआ था।

पणंकरण का पूर्ववर्ती राजा संजय था, जिसके सम्बन्ध में चंगल (जंगल) के अभिलेख में विशद रूप से लिखा गया है। यह अभिलेख ६५४ शकाब्द (७३२ ई०) का है, और इसके लिखने के लिए पल्लव लिपि का प्रयोग किया गया है। केडू प्रदेश की वुकिर पहाड़ी की उपत्यका में चंगल नामक स्थान पर एक प्राचीन शिवमन्दिर के भग्नावशेष विद्यमान हैं। सन् १८८४ में वहीं से संस्कृत का यह अभिलेख उपलब्ध हुआ था। इसमें सन्नाह के पुत्र राजा संजय द्वारा एक शिवलिंग के प्रतिष्ठापित करने का वर्णन है, और शिव, ब्रह्मा तथा

विष्णु की स्तुति के अनन्तर यवद्वीप (जावा) की प्रशंसा की गई है, और राजा सन्नाह के विषय में यह लिखा गया है कि उसने शत्रुओं को परास्त कर, मनु के समान न्यायपूर्वक शासन किया, और जनक (पिता) की तरह प्रजा का पालन किया। चंगल के अभिलेख में सन्नाह के उत्तराधिकारी संजय की भी बहुत प्रशंसा की गई है। उसे बुद्धिमान् लोगों द्वारा माननीय (श्रीमान् यो माननीयो बुधिजन निकरैः) और शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों का ज्ञाता (शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी) बताकर फिर उसकी विजयों का इन शब्दों में उल्लेख किया गया है—

राजा शौर्यादिगुण्यो रघुरिव विजितानेक सामन्त चक्रः।
राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दिग्दिग्विख्यात लक्ष्मी।

राजा संजय रघु के समान शौर्य सम्पन्न था और उसी के समान उसने अनेक सामन्त राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया था। संजय द्वारा कौन-से राज्य जीते गए थे, यह इस अभिलेख से सूचित नहीं होता। पर चरित परह्यन्मन् नामक एक ग्रन्थ में उन राज्यों के नाम दिये गए हैं, जिन्हें संजय द्वारा जीता गया था। इनमें ख्मेर (कमिर) और बारस के नाम भी हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार संजय ने जावा के विविध राज्यों को जीतने के पश्चात् वाली तथा मलम् की विजय की, फिर केमिर (ख्मेर या कम्बुज) तथा केलिंग से युद्ध कर उन्हें परास्त किया, और फिर श्रीविजय की भी विजय की। इसमें सन्देह नहीं, कि संजय एक महान् विजेता था, और सुवर्णद्वीप के क्षेत्र में उसकी दिग्विजयों का उल्लेख यह सूचित करता है कि उस द्वारा दूर-दूर तक अपना प्रभुत्व स्थापित किया गया था। इसीलिए स्टुटरहाइम ने यह प्रतिपादित किया है, कि संजय न केवल शैलेन्द्र वंश का था, अपितु इस वंश द्वारा जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की गई थी, उसके श्रीगणेश का श्रेय भी इसी राजा को दिया जाना चाहिए। स्टुटरहाइम के इस मन्तव्य का आधार ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण वह अभिलेख है, जो अब सोलो के कलाभवन में है, और इसी कारण सोलो अभिलेख के नाम से प्रसिद्ध है। यही अभिलेख एक अन्य ताम्रपत्र पर भी उत्कीर्ण है, जो केदू से प्राप्त हुआ था। अतः इसे सोलो अभिलेख के अतिरिक्त केदू अभिलेख भी कहा जाता है। यह अभिलेख सन् ९०७ का है, और इसमें श्रीमहाराज रकई वतुकुर द्यः बलितुंग श्रीधर्मोदय महाशम्भु द्वारा दिये गए एक दान का उल्लेख है। पर इस अभिलेख में महत्त्व की बात यह है, कि इसमें महाराज वतुकुर के पूर्ववर्ती अनेक राजाओं के नाम भी दिये गए हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—रकई मतराम संग रतु संजय, श्रीमहाराज रकई पणंकरण, श्रीमहाराज रकई पनुंगलन, श्रीमहाराज रकई वरक, श्रीमहाराज रकई गरुंग, श्रीमहाराज रकई पिकतन, श्रीमहाराज रकई कयुवंगी, श्रीमहाराज रकई वतुहुमलंग और श्रीमहाराज रकई वतुकुर। स्टुटरहाइम ने इस अभिलेख के संजय को चंगल अभिलेख के संजय के साथ मिलाया है, और इस अभिलेख के पणंकरण को कालसन अभिलेख के पणंकरण से जो कि शैलेन्द्रवंश का था। इसी को दृष्टि में रखकर शैलेन्द्रवंश के उत्कर्ष का श्रेय उन्होंने पणंकरण के पूर्ववर्ती संजय और सन्नाह को प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में विविध विद्वानों ने जो विचार-विमर्श किया है, उस पर संक्षेप के साथ प्रकाश डाल सकना भी इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। जैसाकि हम पहले लिख चुके हैं, जावा के राजा पणंकरण को शैलेन्द्र वंश

का स्वीकार कर लेने पर सन्नाह, संजय तथा सोलो अभिलेख में उल्लिखित अन्य राजाओं को भी इसी वंश का मानना युक्तिसंगत होगा। ये शैलेन्द्रवंशी राजा जावा में पृथक् रूप से शासन कर रहे थे, और सम्भवतः श्रीविजय के शैलेन्द्र राजाओं को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि कतिपय अन्य विद्वानों के मत में सन्नाह द्वारा स्थापित राज्य का शैलेन्द्रों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। वह एक स्वतन्त्र राज्य था, जिसे या जिसके एक प्रदेश को शैलेन्द्र राजा पणंकरण ने जीत कर अपने अधीन कर लिया था। पर सोलो अभिलेख में पणंकरण के बाद जिन राजाओं का उल्लेख है, वे उसके वंशज नहीं थे। सन्नाह द्वारा मध्य जावा में जिस राज्य की स्थापना की गई थी, वह कभी शैलेन्द्र साम्राज्य के अधीनवर्ती होकर रहा, और कभी स्वतन्त्र रूप से। वस्तुतः, यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि इसके सम्बन्ध में कोई भी मत ऐसा नहीं है, जो सबको स्वीकार्य हो।

संजय द्वारा जावा में जिस राज्य का उत्कर्ष किया गया था, वही 'मतराम राज्य' कहाता है। इसकी राजधानी मध्य जावा में प्रम्बनन में या उसके समीप थी। आठवीं सदी के मध्य भाग में जब शैलेन्द्र राजाओं ने मध्य जावा में अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो संजय के उत्तराधिकारी अपनी राजधानी को पूर्वी जावा में ले जाने के लिए विवश हो गए, और वहीं से वे एक सदी के लगभग तक शासन करते रहे। पर नौवीं सदी का अन्त होने से पहले ही उन्होंने अपनी पुरानी राजधानी (जो मध्य जावा में थी) को पुनः अधिगत कर लिया और उनका शासन जावा के पूर्वी तथा मध्य प्रदेशों पर स्थापित हो गया। सोलो व केदू के अभिलेखों में जिस श्रीमहाराज रकई वतुकुर द्यः बलितुंगधर्मोदय महाशम्भु के दान का उल्लेख है और जिसका काल नौवीं सदी के अन्त तथा दसवीं सदी के प्रारम्भ में था, पूर्वी जावा के साथ-साथ मध्य जावा पर भी उसका आधिपत्य था। सम्भवतः, जावा के ये राजा शैलेन्द्र साम्राज्य के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए अपने राज्य पर शासन किया करते थे। इनके जो अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनसे इनके शासन के सम्बन्ध में कतिपय बातें ज्ञात होती हैं। सोलो (केदू) के अभिलेख में श्रीमहाराजा पणंकरण के बाद जिन दो राजाओं के नाम (पनुंगलन और वरक) दिए गए हैं, उनका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। सुरकर्त के पेन्गिग नामक स्थान से एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें रकरयन गरुंग द्वारा जारी किया गया एक आदेश उल्लिखित है। सोलो (केदू) के अभिलेख में राजाओं की जो सूची दी गई है, उसमें पाँचवां नाम श्रीमहाराज रकई गरुंग का है। पेन्गिग का अभिलेख ८२६ ईस्वी का है। अर्गपुर के ८६४ ईस्वी का एक अभिलेख मिला है, जिसमें रकई पिकतन का उल्लेख है। केदू अभिलेख की सूची में पिकतन नाम गरुंग के बाद आता है। क्योंकि अर्गपुर का लेख ८६४ ई० का है और पेन्गिग का ८२६ का, अतः पिकतन का गरुंग के बाद राजा होना सर्वथा स्पष्ट है। केदू अभिलेख के अनुसार पिकतन का उत्तराधिकारी श्रीमहाराज रकई क्युवंगी था। तीन ऐसे ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें इस क्युवंगी का उल्लेख है। इन ताम्रपत्रों को ८७६, ८८० व ८८२ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। ८८२ ईस्वी के अभिलेख से यह भी सूचित होता है, कि इस राजा का एक विरुद सज्जनोत्सवतुंग भी

था। केदू (सोलो) की सूची में आठवें राजा का नाम वतुहुमलंग है, जिसका ८८६ ई० का एक पृथक् अभिलेख भी प्राप्त हुआ है। केदू सूची के अन्तिम राजा रकई वतुकुर के बहुत-से अभिलेख मिले हैं, जो ८९८ ई० से ९१० ई० तक के बीच में उत्कीर्ण कराए गये थे। इन अभिलेखों में वतुकुर के साथ जो अन्य विरुद प्रयुक्त किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—वलितुंग उत्तुंगदेव, वलितुंग श्री ईश्वरकेशवोत्सवतुंग, श्री धर्मोदय महाशम्भु, श्री महाराज केगलु द्यः गरुड़मुख श्री धर्मोदय महासाम, और ईश्वरकेशवसमरोत्तुंग। केदू सूची के इन विविध राजाओं के अभिलेख जिन स्थानों से प्राप्त हुए हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर यह माना जा सकता है कि इनका शासन पूर्वी और मध्य जावा पर विद्यमान था।

श्री महाराज रकई वतुकर (धर्मोदय महाशम्भु) के पश्चात् दक्षोत्तम जावा के मतराम राज्य का स्वामी वना। वतुकुर के शासनकाल में वह महामन्त्री के पद पर नियुक्त था, और राजकुल के साथ उसका घनिष्ठ सम्वन्ध था। ९०१, ९०६ और ९१० ई० के तीन अभिलेखों में उसके साथ श्री वाहुवज्रप्रतिपक्षक्षय, महामन्त्री श्री दक्षोत्तम वज्रवाहुप्रतिपक्षक्षय और महामन्त्री वाहुवज्रप्रतिपक्षक्षय विरुदों का प्रयोग किया गया है। धर्मोदय महाशम्भु के शासन में वह महामन्त्री के पद पर था, और ९१५ ई० में स्वयं राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया था। राजा के रूप में उसके चार अभिलेख उपलब्ध हैं। इनके प्राप्तिस्थानों से भी यह सूचित होता है, कि पूर्वी और मध्य जावा इस राजा के शासन में थे।

दक्षोत्तम का उत्तराधिकारी तुलोडोंग था। ९१९ और ९२१ ई० में उत्कीर्ण कराये गये दो अभिलेखों में इस राजा का उल्लेख है, जिनमें इसके नाम के साथ श्री सज्जनसन्मतानुराग-उत्तुंगदेव विरुद का प्रयोग किया गया है। तुलोडोंग के वाद वावा मतराम राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस राजा के भी अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे उसका पूरा नाम 'रकई पंकज द्यः वावा श्रीविजयलोकनामोत्तुंग' सूचित होता है। वावा ९२८ ई० तक राजा के पद पर रहा। सम्भवतः, मतराम के हिन्दू राज्य का वही अन्तिम शासक था। इस प्रकार राजा वावा के साथ मतराम के उस राज्य का अन्त हुआ, जिसकी स्थापना लगभग दो सदी पूर्व सन्नाह और संजय द्वारा की गई थी। मतराम के इन राजाओं का शासन पूर्वी और मध्य जावा पर विद्यमान था, और कुछ समय के लिए इनकी स्थिति अवश्य ही श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों के अधीनस्थ राजाओं के सदृश रही थी।

पर जावा में अन्य भी अनेक राज्य थे, जिनकी सत्ता चीनी ग्रन्थों तथा इस युग के अभिलेखों द्वारा सूचित होती है। चीनी ग्रन्थों में इस काल के अनेक ऐसे राज्यों के नाम विद्यमान हैं, जो जावा में स्थित थे और जिन्होंने चीन के सम्राट् की सेवा में अपने राजदूत भेजे थे। इनमें हो-लिंग और चो-पो के नाम उल्लेखनीय हैं। अनेक राज्यों की सत्ता होते हुए भी चीनी विवरणों के अनुसार जावा में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हो गई थी, जिसकी अधीनता २८ सामन्त राजाओं द्वारा स्वीकार की जाती थी। नौवीं सदी में यह शक्तिशाली राज्य सम्भवतः मतराम का ही था।

जावा के अन्य राज्यों के सम्बन्ध में एक शिलालेख से महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। यह शिलालेख मलंग के उत्तर में दिनया-नव्रात नामक स्थान से मिला है, और इसका काल ६८२ शकाब्द या ७६० ईस्वी है। इसमें राजा देवसिंह और उसके पुत्र लिम्व गजयान का उल्लेख है। लिम्व गजयान की पुत्री का नाम उत्तेजना था, और उसका विवाह राजा प्रद के पुत्र जननीय के साथ हुआ था। इस राजा ने महर्षि अगस्त्य की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी, और उसी के उपलक्ष में इस अभिलेख को उत्कीर्ण कराया था। यह अभिलेख आठवीं सदी के मध्य भाग का है, जब कि जावा के एक प्रदेश में शैलेन्द्र वंशी श्रीमहाराजा पर्णकरण का शासन था। इससे सूचित होता है, कि शैलेन्द्र व मतराम राज्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक राज्य इस काल में जावा में विद्यमान थे। इनका शैलेन्द्र सम्राटों और मतराम के श्रीमहाराजों के साथ क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, इनकी स्वतन्त्रता एवं पृथक् सत्ता इस बात पर निर्भर करती थी, कि शैलेन्द्र सम्राट् या मतराम राजा इन्हें किस अंश तक अपना वशवर्ती बना कर रख सकने की स्थिति में होते थे।

(२) पूर्वी जावा का उत्कर्ष—सिन्दोक और उसके उत्तराधिकारी

मतराम राजाओं का शासन जावा के मध्य तथा पूर्वी—दोनों प्रदेशों पर था, और उनके शासन का केन्द्र मध्य जावा में था। पर वावा की मृत्यु के पश्चात् मध्य जावा की तुलना में पूर्वी जावा का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और वही उसका राजनीतिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। वावा के बाद के न कोई राजकीय अभिलेख मध्य जावा से प्राप्त हुए हैं, और न वहाँ किन्हीं मन्दिरों आदि का ही निर्माण कराया गया। वहाँ की समृद्ध नगरियाँ अब उजड़ने लग गयीं, और उसके धन-धान्यपूर्ण खेत अब जंगल बन गए। मध्य एशिया में जो यह आकस्मिक परिवर्तन हुआ, उसके कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक मत प्रतिपादित किये हैं। एक मत यह है, कि भूचाल, ज्वालामुखी आदि के समान किसी प्राकृतिक विपत्ति के कारण मध्य जावा के निवासियों को वहाँ से चले जाना पड़ा। दूसरा मत यह है, कि शैलेन्द्र राजाओं ने अब पुनः जावा पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे, जिनका सामना कर सकना वहाँ की राजशक्ति के लिए सम्भव नहीं था। शैलेन्द्र आक्रमणों के कारण ही इस प्रदेश का विनाश हुआ। कुछ विद्वानों का कथन है, कि पूर्वी जावा के स्थानीय शासक ने मतराम के केन्द्रीय शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, और उसी द्वारा मध्य जावा का विनाश किया गया। पर ये सब मत किसी ठोस आधार पर आश्रित नहीं हैं। कारण चाहे कोई भी क्यों न हो, यह तथ्य है कि वावा के पश्चात् मध्य जावा उजड़ने लग गया था, और पूर्वी जावा इस द्वीप का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था।

जिस राजा के शासन में पूर्वी जावा के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, उसका नाम सिन्दोक था। जावा के इतिहास में इस राजा का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है, और बाद के बहुत-से राजा उसे अपना पूर्वज मानते हैं। वह एक अत्यन्त प्रतापी व्यक्ति था, और मतराम के अन्तिम दो राजाओं (तुलोडोंग और वावा) के शासनकाल में वह

उच्च राजकीय पदों पर रहा था। मतराम के राजवंश के साथ उसका क्या सम्बन्ध था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ उसे दक्षोत्तम का नाती मानते हैं, और कुछ का मत यह है कि उसने वावा की पुत्री के साथ विवाह कर राज्याधिकार प्राप्त किया था। वावा के पश्चात् जब वह राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो उसने 'श्री ईशान विक्रमधर्मोत्तुंग देव' की उपाधि धारण की। कतिपय अभिलेखों में उसके साथ विक्रमोत्तुंगदेव, विक्रमधर्मोत्साह और विजयधर्मोत्तुंग विरुदों का भी प्रयोग किया गया है। सिन्दोक ने ९२९ ईस्वी में राजगद्दी प्राप्त की थी, और बीस साल के लगभग वह राजा के पद पर रहा था। उसके समय के बीस अभिलेख अब तक प्राप्त हो चुके हैं, पर उनसे उसके शासन की राजनीतिक घटनाओं पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। पर उनसे यह अवश्य सूचित हो जाता है, कि सिन्दोक के शासन में जावा के कौन-कौन-से प्रदेश थे। ब्रन्तस नदी की घाटी पर ही उसका शासन विद्यमान था, जिसमें सुरबया का दक्षिणी भाग, केदिरी का उत्तरी भाग और मलंग के प्रदेश अन्तर्गत थे। राजा सिन्दोक के जो अभिलेख अब तक प्राप्त हुए हैं, वे प्रायः दानपत्रों के रूप में हैं। उनमें शैव मन्दिरों को दिये गए दानों का उल्लेख है, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि सिन्दोक के काल में जावा में शैव धर्म की प्रधानता थी, और उसका शैव धर्म के प्रति विशेष अनुराग था। इस काल के किसी भी अभिलेख में बौद्ध धर्म का उल्लेख नहीं मिलता। पर संग ह्यंग कमहायानिकन् नामक एक बौद्ध ग्रन्थ की इस काल में जावा में रचना हुई थी। इस ग्रन्थ का लेखक श्री सम्भरसूर्यावरण नामक विद्वान् था, जिसका सिन्दोक के साथ सम्पर्क भी था। यह ग्रन्थ बौद्ध धर्म के तन्त्रमार्ग के साथ सम्बन्ध रखता है, जिससे जावा में शैव धर्म के साथ-साथ तान्त्रिक बौद्ध धर्म की सत्ता की भी सूचना मिलती है। सिन्दोक की कन्या का नाम श्री ईशानोत्तुंगविजया था। एक अभिलेख में उसे 'सुगतपक्षसहा' कहा गया है, जिससे उसके बौद्ध धर्म की पक्षपातिनी होने का संकेत मिलता है। यद्यपि इस काल में जावा में शैव धर्म की प्रधानता थी, पर बौद्ध धर्म का भी वहां प्रचार था।

सिन्दोक के उत्तराधिकारियों का परिचय एक शिलालेख द्वारा मिलता है, जो राजा एलंङ्ग की प्रशस्ति के रूप में है। यह लेख पहले सुरबया (जावा में) में था, पर अब कलकत्ता के संग्रहालय में है। इसके अनुसार सिन्दोक की पुत्री श्री ईशानोत्तुंगविजया का विवाह राजा लोकपाल के साथ हुआ था। लोकपाल नामक किसी राजा के अनेक लेख जावा में उपलब्ध हुए हैं, पर इस लोकपाल का सिन्दोक के जमाता लोकपाल के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है। श्री ईशानोत्तुंगविजया और लोकपाल के पुत्र का नाम श्रीमकुटवंशवर्धन था। यद्यपि वह लोकपाल का पुत्र था, पर एलंङ्ग की प्रशस्ति में उसे ईशानवंश का (श्रीशानवंशनयन) कहा गया है। क्योंकि जावा का राजसिंहासन इसे अपनी माता के पक्ष से प्राप्त हुआ था, अतः यदि इसे सिन्दोक (श्रीशान) के वंश का कहा गया हो, तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसा प्रतीत होता है, कि श्रीमकुटवंशवर्धन बहुत प्रतापी था, और उसने अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उसके सम्बन्ध में एलंङ्ग-प्रशस्ति की ये

पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—

शौरिश्चाप्रतिम प्रभाभिरभयो भास्वान् इवाभ्युद्यतः ।
शत्रूणामिभकुम्भ-दलने पुत्रः प्रभुर्भूभुजाम् ।।

वह उदीयमान सूर्य के समान अप्रतिम प्रभावाला, शूर और निडर था, और शत्रु सेना के हाथियों के मस्तकों को उसी तरह से नष्ट कर देता था, जैसे कि घड़ों को फोड़ा जाता है। इस राजा की पुत्री गुणप्रियधर्मपत्नी नाम की थी, जिसका विवाह उदयन के साथ हुआ था। एर्लङ्ग प्रशस्ति में उदयन को राज्यकुल में (राजान्वयात्) उत्पन्न तो लिखा गया है, पर राजा के रूप में उसका उल्लेख नहीं किया गया। बाली द्वीप से कतिपय ऐसे अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें गुणप्रियधर्मपत्नी और उसके पति धर्मोदयन-वर्मदेव का उल्लेख है। धर्मोदयनवर्मदेव स्पष्टतया एर्लङ्ग-प्रशस्ति के उदयन का पूरा नाम है। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्वी जावा के राजा श्रीमकुटवंशवर्धन बाली द्वीप (जो जावा के बहुत समीप है) पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, और उसके शासन का भार उसने गुणप्रियधर्मपत्नी को दिया हुआ था। इसीलिए बाली के अभिलेखों में इस राजकुमारी का नाम पहले देकर बाद में उसके पति धर्मोदयनवर्मदेव का नाम दिया गया है। राजकुमारी गुणप्रियधर्मपत्नी का जावा के बाहर अन्य द्वीपों पर भी प्रभाव व शासन विद्यमान था, एर्लङ्ग-प्रशस्ति के इस कथन से भी इसका संकेत मिलता है—"द्वीपान्तरेपि सुभगेन बभूव पित्रा नाम्नाकृता खलु गुणप्रियधर्मपत्नी"। बाली की शासिका गुणप्रियधर्मपत्नी और उसके पति धर्मोदयनवर्मदेव के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम एर्लङ्गदेव था। उसका विवाह 'पूर्वयवाधिप' श्रीधर्मवंश की पुत्री के साथ हुआ था। 'पूर्वयवाधिप' के दो अभिप्राय हो सकते हैं, पूर्वी यवद्वीप (जावा) का राजा और या यवद्वीप का भूतपूर्व राजा। इस पूर्वयवाधिप श्रीधर्मवंश का श्रीमकुटवंशवर्धन के साथ क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, धर्मवंश भी जावा के किसी पुराने राजकुल का था, और उसका विवाह भी श्रीमकुटवंशवर्धन की किसी अन्य पुत्री के साथ हुआ था। यदि यह मत स्वीकार किया जाए, तो श्रीधर्मवंश भी श्रीमकुटवंशवर्धन का जामाता था, और उसकी मृत्यु के पश्चात् पूर्वी जावा का राजसिंहासन उसी ने प्राप्त कर लिया था। श्रीमकुटवंशवर्धन ने अपनी एक पुत्री तथा जामाता को पूर्वी जावा का राज्य दिया था, और दूसरी पुत्री (गुणप्रिय-धर्मपत्नी) तथा दूसरे जामाता (धर्मोदयन-वर्मदेव) को बाली का शासक नियुक्त किया था। बाद में जब श्रीधर्मवंश की कन्या का एर्लङ्गदेव के साथ विवाह हो गया, तो 'पूर्वयव' तथा बाली के राजकुलों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया।

पूर्वी जावा में राजा श्रीधर्मवंश (जिसका पूरा नाम श्रीधर्मवंश तेगुःअनन्त विक्रमो-त्तुंगदेव था) के शासन के सम्बन्ध में कतिपय सूचनाएं चीन के इतिहास-विषयक ग्रन्थों में विद्यमान हैं, और कुछ एर्लङ्ग की प्रशस्ति में। चीन के सुंगवंश के शासन काल में जावा के राजा की ओर से एक दूतमण्डल चीन गया था। इस दूतमण्डल द्वारा चीन के सम्राट् को यह सूचित किया गया था, कि जावा की सान फो-त्सी के साथ शत्रुता है, और उन दोनों में सदा संघर्ष होता रहता है। ९९० ईस्वी में जावा की सेनाओं ने सान फो-त्सी पर

आक्रमण भी किया था, और उन्हीं से अपने देश की रक्षा करने के लिए वहां के राजा द्वारा एक दूतमण्डल इस प्रयोजन से चीन भेजा गया था ताकि जावा के विरुद्ध चीन की सहायता प्राप्त की जा सके। ये घटनाएं राजा धर्मवंश के शासनकाल में ही हुई थीं, क्योंकि दसवीं सदी के अन्तिम भाग में वही पूर्वी जावा के राजसिंहासन पर आरूढ़ था। पर सान फो-त्सी की शक्ति को परास्त कर सकना जावा के लिए सम्भव नहीं हुआ। उसकी ओर से जावा पर आक्रमण किया गया, जिसका सामना धर्मवंश नहीं कर सका। इस समय जावा को जिस भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा, एर्लङ्ग की प्रशस्ति में उसका स्पष्ट रूप से संकेत है। वहां लिखा है, कि एक ऐसी भयंकर प्रलय आई। जिसमें कि हर्ष और आनन्द के समुद्र में मग्न समृद्ध राजधानी भस्मावशेष रह गई, और राजा का भी अवसान हो गया (१००७ ई०)। यह भयंकर प्रलय दैवी थी या मनुष्यकृत, यह एर्लङ्ग की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से सूचित नहीं किया गया है। पर बाद की घटनाओं का जिस ढंग से वर्णन इस प्रशस्ति में है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह प्रलय मनुष्यकृत थी और विदेशी शत्रु के आक्रमण के रूप में थी। इस दशा में यह अनुमान करना असंगत नहीं है, कि जावा के पुराने शत्रु सान-फो-त्सी (श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य) ने ही राजा धर्मवंश के समय में जावा पर आक्रमण किया था, और उसकी राजधानी को बुरी तरह से नष्ट किया था।

राजा एर्लङ्ग देव—राजा धर्मवंश की मृत्यु के पश्चात् उसके दामाद एर्लङ्गदेव ने किस प्रकार जावा की शक्ति का पुनरुद्धार किया, एर्लङ्ग प्रशस्ति में इसका विशद रूप से वर्णन है। शत्रु के आक्रमण के समय युवक एर्लङ्गदेव ने अपनी जान बचाने के लिए जंगल के एक छोटे-से मठ में शरण ली, और वहां वह साधुओं के रूखे-सूखे भोजन पर गुजारा करता रहा। तीन वर्ष बीत जाने पर १०१० ईस्वी में जनता के प्रमुख व्यक्तियों तथा ब्राह्मणों ने उस से राज्य का भार संभालने की प्रार्थना की। पर उसका कार्य सुगम नहीं था। शत्रु के आक्रमण के कारण जो अव्यवस्था (प्रलय दशा) उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर बहुत-से सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गए थे, और जावा में ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं रही थी, जो एर्लङ्ग के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे। एर्लङ्ग-प्रशस्ति में इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है, कि बहुत-से विपक्षी (विरोधी) राजाओं ने पृथिवी का शासन प्रारम्भ कर दिया था (भूयोसा यवभूभुजो बुभुजिरे पृथ्वीं विपक्षार्थिभिः)। पर युवा एर्लङ्गदेव ने इन सबको परास्त कर अपना वशवर्ती बनाया और जब वह राजसिंहासन पर बैठा, तो उसके पैर इन अधीनस्थ राजाओं के सिरों पर रखे गये (भूभृन्मस्तक सक्तपाद युगलस्सिंहासने संस्थितो)। शत्रुओं तथा विद्रोहियों को परास्त करने में एर्लङ्गदेव को ६ वर्ष लग गये, जिसके कारण उसका राज्याभिषेक १०१६ ईस्वी में हुआ, और राज्याभिषिक्त होकर उसने 'रके हलु श्री लोकेश्वर धर्मवंश एर्लङ्ग अनन्तविक्रमोत्तुंगदेव' की उपाधि धारण की।

यही समय था, जब कि चोल सम्राट् राजेन्द्र ने श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। एर्लङ्गदेव ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और शैलेन्द्रों की ओर से निश्चिन्त होकर जावा तथा समीपवर्ती द्वीपों में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। कुछ राजा पहले ही उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे। जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक

उसका वशवर्ती होकर रहना स्वीकार नहीं किया था, अब उनके विरुद्ध शस्त्रशक्ति का प्रयोग किया गया। १०२९ ईस्वी में भीष्मप्रभाव नामक राजा के विरुद्ध सेना भेजी गई, और वुरतन के रणक्षेत्र में उसे परास्त कर दिया गया। इसके बाद अधमापनुद नाम के राजा के विरुद्ध लड़ाई शुरू हुई। एर्लङ्ग-प्रशस्ति में इसे साक्षात् दशानन (रावण) के समान कहा गया है। इस राजा को परास्त कर उसके नगरों को भस्म कर दिया गया। १०३२ ईस्वी में एक अन्य राज्य पर आक्रमण किया गया, जिसकी रानी राक्षसी के समान बलवती थी (अभवदपि भुवि स्त्री राक्षसी-वोग्रवीर्या)। इसके बाद राजा वुरवरी के साथ युद्ध हुआ। इस राजा ने एर्लङ्ग के हाथ अपना राज्य तथा प्राण दोनों खोये। १०३५ ईस्वी में वेंकेर के राजा विजय पर आक्रमण किया गया। विजय को उसकी अपनी सेना ने कैद कर लिया, और उसकी हत्या भी कर दी। राजा विजय को परास्त करने के लिए एर्लङ्ग ने आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य द्वारा प्रतिपादित कूटनीति के उपायों का अवलम्बन किया था (निजवल निगृहीतो वैष्णुगुप्तैरुपायैः, सपदि विजय नामा पार्थिवो द्यामगच्छत्)। अब प्रायः सम्पूर्ण जावा एर्लङ्ग का वशवर्ती हा गया था, और वहाँ उसका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं रहा था। वह भगवान् विष्णु का उपासक था। इसीलिए गरुड़मुख को उसने अपना राजकीय चिह्न नियत किया, और अपनी राजकीय मुद्रा को गरुड़मुख से अंकित किया। क्योंकि जावा में उसका एकच्छत्र शासन स्थापित हो गया था, अतः शैलेन्द्र सम्राटों से भी उसकी मैत्री हो गई, और अब उसे किसी युद्ध में फँसने की आवश्यकता नहीं रही। उसके राज्य में अब सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था थी, जिसके कारण आर्थिक क्षेत्र में जावा ने अच्छी उन्नति की। एर्लङ्ग के अभिलेखों में उन देशों के नाम दिए गए हैं, जिनके व्यापारी व अन्य लोग जावा के बन्दरगाहों में भरे रहते थे। ये देश क्लिङ्ग (कलिङ्ग), सिंहल (लंका), द्रविड़ (दक्षिणी भारत के द्रविड़ राज्य), कर्णाटक, चम्पा (वियत नाम), ख्मेर (कम्बुज या कम्बोडिया), आर्य्य (आर्यावर्त) पण्डिकिर (पाण्डय और केरल) और रेमन (सम्भवतः, बरमा में) थे। ये देश जावा के पूर्व तथा पश्चिम में थे, जिनसे सूचित होता है कि एर्लङ्ग का राज्य पूर्वी और पश्चिमी देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था।

अपने राज्य की आर्थिक समृद्धि के लिए एर्लङ्ग द्वारा जा प्रयत्न किये गए, उनके भी कुछ संकेत उसके अभिलेखों में विद्यमान हैं। ब्रन्तिस नदी के तट पर उसने एक बड़ा बाँध बनवाया था, ताकि नदी का जल कूल को तोड़कर न निकल सके। उन्नीसवीं सदी में जब इस नदी से सिंचाई के लिए एक नहर निकाली गई, तो एर्लङ्ग द्वारा बनवाये गए बांध का बहुत उपयोग हुआ। इस बाँध के कारण ब्रन्तिस नदी के मुहाने पर स्थित बन्दरगाह भी बहुत सुरक्षित हो गए, और व्यापारी जहाज वहाँ सुरक्षित रूप से आने-जाने लगे। उस समय वहाँ हुजुङ्-गलू नाम के एक समृद्ध बन्दरगाह की सत्ता थी।

एर्लङ्ग के अभिलेखों में एक स्त्री का नाम आया है, जो महामन्त्री सदृश उच्च पद पर नियुक्त थी। उसे 'रक्र्यन् महामन्त्री इहिनो श्रीसंग्रामविजयधर्मप्रसादोत्तुंगदेवी' नाम से लिखा गया है। वह रानी नहीं थी, क्योंकि उसके साथ 'श्रीपरमेश्वरी' उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया है। अनेक विद्वानों के मत में वह एर्लङ्ग की पुत्री थी, जो १०३७ ई० तक

उच्च राजकीय पद पर रही थी। शत्रुओं द्वारा राजा धर्म वंश की राजधानी के तहस-नहस कर दिए जाने पर एर्लङ्ग ने जंगल के जिस छोटे-से मठ में जाकर शरण ली थी, राजा वन जाने पर उसका ध्यान उसकी ओर भी गया, और वहाँ उसने एक 'पुण्याश्रम' का निर्माण कराया। जावा की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार किली शुचि नामक एक साधुनी ने वहाँ रहकर तपस्या की थी, और इस स्त्री का राजकुल के साथ सम्बन्ध था। सम्भवतः, यह एर्लङ्ग की पुत्री थी, जो १०३७ तक उच्च राजकीय पद पर रही थी। जावा की एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार एर्लङ्ग ने भी वृद्धावस्था में मुनिव्रत ग्रहण कर लिया था। मुनिव्रत ग्रहण करने के पश्चात् वह ऋषि जन्टयु (जटायु ?) कहाने लगा। सात वर्ष ऋषि के रूप में जीवन व्यतीत करने के अन्तर सन् १०४२ में इस राजा का देहावसान हुआ।

इसमें सन्देह नहीं, कि जावा के इतिहास में एर्लङ्गदेव का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वह वीर, राजनीति-विशारद तथा प्रजा-पालक था। शत्रुओं को परास्त कर तथा जावा के विविध राजाओं को अपना वशवर्ती बना कर उसने एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना की, और उसकी उन्नति के लिए सब सम्भव प्रयत्न किए। 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्' के प्राचीन आदर्श को सम्मुख रखकर जीवन के अन्तिम समय में उसने मुनिव्रत भी ग्रहण कर लिया। धर्मप्रेम के साथ-साथ एर्लङ्ग को साहित्य से भी अनुराग था। जावा के साहित्य के लिए उसका शासन काल सुवर्ण-युग था, जिसमें अर्जुन विवाह, भीम काव्य, सुमनसान्तक, स्मरवहन, अर्जुन विजय, कृष्णायन आदि कितने ही काव्यों की रचना हुई। अब तक जावा में संस्कृत भाषा की प्रधानता थी, और साहित्य रचना के लिए भी प्रधानतया संस्कृत का ही प्रयोग किया जाता था। पर ग्यारहवीं सदी में जावा को अपनी भाषा में भी साहित्य का सृजन प्राप्त हुआ, और उसमें भी अनेक उत्कृष्ट काव्यों की रचना हुई। जावी भाषा के साहित्य के लिए एर्लङ्ग का काल वस्तुतः सुवर्णीय युग था, और अनेक कवियों ने उसके दरबार में आश्रय प्राप्त किया हुआ था।

(३) कडिरी राज्य (१०४२-१२२२)

राजा एर्लङ्ग देव ने अपने जीवन काल में ही अपने राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया था, ताकि राजसिंहासन के लिए उसके पुत्रों में कोई झगड़ा न खड़ा होने पाए। राज्य के विभाजन का यह कार्य उसने भराड़ नामक पण्डित के सुपुर्द किया था, और उसने इसके लिए एक तान्त्रिक पद्धति (कुम्भवज्रोदक) का आश्रय लिया था। एर्लङ्ग देव को राज्य के विभाजन की आवश्यकता क्यों हुई, इस विषय में यह मत प्रतिपादित किया गया है, कि राज्य की वास्तविक उत्तराधिकारी उसकी वह पुत्री थी, जो १०३७ ई० तक 'महामन्त्री' के पद पर रही थी। एर्लङ्ग ने राजा का पद अपनी पत्नी के कारण प्राप्त किया था, जो जावा के राजा श्रीधर्मवंश की पुत्री थी। वस्तुतः, वही धर्मवंश के राज्य की स्वामिनी थी, और उसका पति होने के कारण ही एर्लङ्ग को राजा का पद प्राप्त हुआ था। अतः राजसिंहासन की वास्तविक अधिकारी उसकी ज्येष्ठ सन्तान (श्रीसंग्रामविजयधर्मप्रसादोत्तुंगदेवी) ही थी। पर उस ने साधु जीवन ग्रहण कर लिया था। इस दशा में यह

स्वाभाविक था, कि राजसिंहासन के लिए एर्लङ्ग के पुत्रों में संघर्ष हो, और उसे बचाने के लिए ही उसने पण्डित भराड़ द्वारा राज्य के दो विभाग करवा दिए थे। इस प्रकार जावा दो राज्यों में विभक्त हो गया, जिनके नाम पंजलू और जंग्गल थे। जंग्गल राज्य का वृत्तान्त प्रायः अज्ञात है। उसके केवल दो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिसमें से एक १०६० ई० का है। इसमें जंग्गल राज्य के राजा 'रके हलु पु जुरी श्रीसमरोत्साह कर्ण्णकेशन धर्मवंशकीर्तिसिंह जयान्ततुंगदेव' का उल्लेख है। इस राजा ने भी एर्लङ्ग की गरुड़मुख मुद्रा को अपनाया था, और इसके विरुदों में धर्मवंश का अन्तर्गत होना इस बात का संकेत करता है, कि यह धर्मवंश और एर्लङ्ग का वंशज था। इस जंग्गल राज्य की राजधानी कहुरिपन थी, और इसमें एर्लङ्ग के राज्य के पूर्वी प्रदेश अन्तर्गत थे। एर्लङ्ग की राजधानी भी कहुरिपन ही थी। जंग्गल राज्य के अधिक अभिलेख प्राप्त न होने का कारण शायद यह है, कि यह राज्य देर तक अपनी पृथक् सत्ता को कायम नहीं रख सका था, और बाद में पंजलू के राज्य में ही सम्मिलित हो गया था। यह भी सम्भव है, कि उसके कतिपय प्रदेशों में किसी अन्य राजकुल ने अपना शासन स्थापित कर लिया हो।

एर्लङ्ग के राज्य के पश्चिमी प्रदेश पंजलू के राज्य के अन्तर्गत थे। इस की राजधानी कडिरी थी, जिसे दाहा भी कहते थे। आजकल भी इन नगरी को केदरी कहते हैं। इस राज्य के इतिहास की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। कडिरी का पहला राजा श्रीजयवर्ष दिग्जय था, जिसके नाम के साथ शास्त्रप्रभु और जयप्रभु उपाधियाँ प्रयुक्त की गई हैं। जावी भाषा के प्रसिद्ध काव्य 'कृष्णायन' का रचयिता महाकवि त्रिगुण राजा वर्षजय की राजसभा का अन्यतम रत्न था। अनेक विद्वानों की सम्मति में कडिरी का राजा जयवर्ष ही वह वर्षजय था, जिसके आश्रय में रहते हुए त्रिगुण ने कृष्णायन की रचना की थी। इसी कृष्णायन के आधार पर पनतरन के मन्दिर में कृष्ण के चरित्र को रूपावलियों में अंकित किया गया था। कवि मोनगुण ने भी अपने काव्य सुमन्तसान्तक के अन्तिम पद में वर्षजय का उल्लेख किया है। यद्यपि वहाँ उसे राजा नहीं कहा गया है, पर सम्भवतः उससे भी कडिरी का राजा जयवर्ष ही अभिप्रेत है। राजा जयवर्ष के शासनकाल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर सकना कठिन है, पर बारहवीं सदी के प्रारम्भ तक भी वही कडिरी के राजसिंहासन पर विराजमान था, क्योंकि ११०४ ई० में उत्कीर्ण कराया गया उस का एक शिलालेख सिरहकेतिग नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है।

श्री जयवर्ष दिग्जय के बाद कामेश्वर प्रथम कडिरी के राज्य का स्वामी बना। उसने ११३५ ई० तक कडिरी का शासन किया। उपाधियों के साथ उसका पूरा नाम था—श्री महाराज रके सिरिकन श्रीकामेश्वर सकलभुवनतुष्टिकरण सर्वानिवार्यवीर्य्यपराक्रम-दिग्विजयोतुङ्गदेव। राजा कामेश्वर के बहुत-से अभिलेख उपलब्ध हैं पर वे दानपत्रों के रूप में हैं और उन द्वारा किन्हीं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का परिचय प्राप्त नहीं होता। कामेश्वर की राजकीय मुद्राओं पर चण्डकपाल अंकित है। कवि धर्मय के काव्य स्मरदहन में राजा कामेश्वर का उल्लेख है, और उसकी राजधानी दहन (कडिरी) को जगत् की अद्भुत नगरी कहा गया है। साथ ही उसके वंश का सम्बन्ध श्री ईशानधर्म (सिन्दोक ईशान) के साथ जोड़ा गया है। कामेश्वर का विवाह जंग्गल देश के निवासी

वज्रदेव की पुत्री श्रीकिरण के साथ हुआ था। स्मरदहन काव्य में श्रीकिरण को जंगल की सर्वश्रेष्ठ महिला बताया गया है। क्योंकि श्रीकरण के पिता वज्रदेव के साथ राजा विशेषण का प्रयोग नहीं किया गया है, अतः यह समझा जाता है कि इस काल में जंगल की पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता नहीं रह गई थी। कडिरी के राजा कामेश्वर और उसकी रानी श्रीकिरण को लेकर जावी भाषा के पञ्जी नाम के कथानक लिखे गए हैं।

कामेश्वर के बाद उसका पुत्र जयभय कडिरी राज्य का स्वामी बना। इसी राजा के शासन काल में कवि सेडह ने 'भारत युद्ध' नामक महाकाव्य की रचना की थी। इस काव्य में जयभय की बहुत प्रशंसा की गई है। उसे विष्णु का अवतार बता कर यह कहा गया है, कि वह सम्पूर्ण जावा का स्वामी था और कोई भी उसके विरुद्ध सिर उठाने का साहस नहीं कर सकता था। 'हेमभूपति' तक उसके सम्मुख सिर झुकाता था। हेमभूपति से सुवर्णभूमि के राजा का ग्रहण किया जा सकता है, जिससे कि सम्भवतः सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप अभिप्रेत हैं। राजा जयभय ने इन प्रदेशों के साथ युद्ध करके उनके राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया हो, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भवतः, कवि सेडह ने अपने संरक्षक की प्रशस्ति करते हुए ही यह भी लिख दिया है, कि सुवर्णभूमि का राजा भी उसके सम्मुख सिर झुकाता था। इसे ऐतिहासिक तथ्य मान सकना कठिन है। जयभय को केवल कवि सेडह ने ही विष्णु का अवतार नहीं लिखा, उसके दो अभिलेखों में भी उसका उल्लेख है। वहाँ विरुदों के साथ उसका नाम इस प्रकार आया है—'श्रीमहाराज श्रीधर्मेश्वर मधुसूदनावतारानिन्दित सुहृत्सिंहपराक्रम दिग्वजयोत्तुंगदेव'। कवि सेडह अपने जीवनकाल में भारत युद्ध काव्य को समाप्त नहीं कर सका था। उसे पनुलुह नामक कवि द्वारा पूरा किया गया। इस कवि ने दो अन्य काव्य भी लिखे, जिनके नाम हरिवंश और घटोत्कचाश्रय हैं। हरिवंश में राजा जयभय को श्रीधर्मेश्वर दिग्जय नाम से लिखा गया है, जो उसके विरुदों के अनुरूप है।

श्रीमहाराज जयभय के उत्तराधिकारियों के अनेक नाम विविध अभिलेखों में विद्यमान हैं, पर उनके पूर्वापर क्रम को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर सकना कठिन है। साथ ही, इन राजाओं के सम्बन्ध में कोई ऐसी बातें भी इन अभिलेखों से ज्ञात नहीं होतीं, ऐतिहासिक दृष्टि से जिनका महत्त्व हो। अतः इनके नामों को यहां उल्लिखित करना उपयोगी नहीं है। कडिरी का अन्तिम राजा कृतजय था। १२१६ ईस्वी का उसका एक अभिलेख मिला है, जिससे सूचित होता है कि तेरहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में इस राजा का शासन अवश्य विद्यमान था। अभिलेखों के अतिरिक्त नागरकृतागम और परतोन सदृश ग्रन्थों से भी इस राजा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। उनके अनुसार इस राजा ने ब्राह्मणों तथा धर्माचार्यों को अपने सम्मुख सिर झुकाने का आदेश दिया था। पर वे इसके लिए तैयार नहीं हुए, और राजा के सम्मुख सिर झुकाने की अपेक्षा उन्होंने यह उचित समझा कि वे राज्य को छोड़कर अन्यत्र चले जाएं। कडिरी का परित्याग कर वे तुमपेल चले गए, और वहाँ जाकर उन्होंने अंग्रोक की शरण ली, जो तुमपेल का शासक था। इसी अंग्रोक द्वारा कृतजय का विनाश कर एक नए राजवंश की

स्थापना की गई जो सिंहसारि वंश के नाम से प्रसिद्ध है।

चीनी लेखक चाउ जू-कुआ के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि कडिरी राज्य (जिसे चीनी ग्रन्थों में शो-पो या यव लिखा गया है) अत्यन्त शक्तिशाली था और सिन-तो (सुंडा) के अतिरिक्त जावा के अन्य सव प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। चाउ जू-कुआ ने ऐसे १६ राज्यों का उल्लेख किया है, जो कडिरी के राजाओं की अधीनता स्वीकार करते थे। इनमें से पाँच की स्थिति जावा में थी, और शेष ग्यारह की समीपवर्ती द्वीपों में। जुंग य-लू (जंगल) की भी गणना उन पाँच राज्यों में की गई है, जिनकी स्थिति जावा में थी और जो कडिरी के अधीन थे। जो समीपवर्ती द्वीप कडिरी के अधीन थे, उनमें वाली, तिमोर तथा दक्षिण-पूर्वी वोर्नियो के नाम उल्लेखनीय हैं।

(४) सिंहसारि राजवंश (१२२२-१२९२)

कडिरी राज्य के अन्तिम राजा कृतजय के दुर्व्यवहार के कारण ब्राह्मणों तथा धर्माचार्यों ने तुमपेल के जिस शासक अंग्रोक का आश्रय लिया था, उसका जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था। अपने प्रारम्भिक जीवन में वह लूटमार द्वारा गुजारा किया करता था, पर वाद में उसने तुमपेल के शासक की सेवा में कार्य करना स्वीकार कर लिया। तुमपेल का प्रदेश पूर्वी जावा में था, और कडिरी राज्य के अन्तर्गत था। अंग्रोक ने अपने स्वामी की हत्या कर न केवल तुमपेल का शासन ही अपने हाथों में ले लिया, अपितु वहाँ के भूतपूर्व शासक की विधवा डेडेस के साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। पर अभी अंग्रोक कडिरी की अधीनता स्वीकार करता था। जव राजा कृतजय के दुर्व्यवहार से विवश हुए ब्राह्मणों ने उसकी शरण ली, तो उसने कडिरी के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर कृतजय से युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में कडिरी की पराजय हुई (१२२२ ई०) और वहाँ के राजा कृतजय ने एक मठ में जाकर शरण ली। इस प्रकार कडिरी के राज्य का अन्त हुआ।

अव कडिरी का राज्य अंग्रोक के हाथों में आ गया था। राजस तथा अमूर्वभूमि नाम से वह राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और वह उसी प्रकार एकच्छत्र रूप से जावा का शासन करने लगा, जैसे कि कडिरी के प्रतापी राजा किया करते थे। उसकी राजधानी सिंहसारि नगरी थी, जिसके कारण उसका राज्य भी सिंहसारि राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पर अंग्रोक राजस देर तक सिंहसारि राज्य का शासन नहीं कर सका। रानी डेडेस का अपने पहले पति से एक पुत्र था, जिसका नाम अमूपपति था। उसने १२२७ ईस्वी के लगभग अंग्रोक की हत्या करा दी, और स्वयं सिंहसारि की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। २१ साल तक शासन करने के पश्चात् १२४८ ईस्वी में उसकी भी हत्या कर दी गई, और उसके सौतेले भाई पंजी तोहजय ने राजसिंहासन संभाल लिया। अमूपपति की हत्या तोहजय द्वारा ही कराई गई थी। पर तोहजय कुछ मास तक ही राज्य कर पाया, वाद में उसकी भी वही गति हुई जो उस द्वारा अमूपपति की गई थी। १२४८ में तोहजय के स्थान पर श्री जयविष्णुवर्धन सिंहसारि के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राजा वनते समय उसने 'सकल कलनकुलमधुमार्थन कमलेक्षण और 'स्वपितों

महास्तवनाभिन्नाश्नन्तलोकपालक' की उपाधियाँ ग्रहण की थीं, जिनका उल्लेख उसके अभिलेखों में हुआ है। उसके समय की एक ही घटना ज्ञात है। महिवित के सामन्त शासक लिंगपति ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, जिसे दबाने में राजा श्रीजयविष्णुवर्धन ने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। इस राजा की मृत्यु १२६८ ईस्वी में हुई। सिंहसारि का यही एक ऐसा राजा था जिसका देहावसान हत्या का षड्यन्त्र का परिणाम न होकर स्वाभाविक रूप से हुआ था। अपने जीवनकाल में ही श्री जयविष्णुवर्धन ने अपने पुत्र कृतनगर को अपना सहकारी राजा बना दिया था (१२५४), और उसने शासनकार्य में सक्रिय रूप से हाथ बटाना प्रारम्भ कर दिया था।

कृतनगर—पिता की मृत्यु के पश्चात् १२६८ ईस्वी में कृतनगर सिंहसारि के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अंग्रोक राजस ने जिस वंश की स्थापना की थी, कृतनगर उसका सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी राजा था। जावा (जंग्गल और पंजलू) का राज्य तो उसे अपने पिता से ही प्राप्त हो गया था। पर वह इतने से ही संतुष्ट नहीं रहा। समीप के अन्य द्वीपों पर आक्रमण कर उसने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया, और वह एक सुविस्तृत साम्राज्य के निर्माण में समर्थ हुआ। १२८४ ईस्वी में उसने बाली द्वीप पर आक्रमण किया। उसे जीत लिया गया, और उसके राजा को कृतनगर के सम्मुख उपस्थित किया गया। बाली की विजय के पश्चात् पहङ् (मलाया प्रायद्वीप), मलयु (मध्य सुमात्रा में जाम्बी), गुरुन्न (पूर्वी बोर्नियो में गोरोङ्), बकुलपुर (दक्षिण-पश्चिमी बोर्नियो), सुण्डा (पश्चिमी जावा) और मधुरा (मदुरा द्वीप) को जीतने के लिए सेनाएं भेजी गईं, और इन सबको अपने अधीन कर सिंहसारि साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। कृतनगर की इन विजय-यात्राओं का विवरण नागरकृतागम और परतोन ग्रन्थों में विद्यमान है, यद्यपि उनके वृत्तान्तों में कतिपय भेद भी हैं। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि कृतनगर एक दिग्विजयी सम्राट् था, और उसने अपने राज्य का दूर-दूर तक विस्तार किया था। साहित्यिक आधार पर कृतनगर की विजयों का जो परिचय मिलता है, उसकी पुष्टि कतिपय अभिलेखों द्वारा भी होती है। सुमात्रा के बतनघरी जिले के पदङ् रोको नामक स्थान पर एक अभिलेख मिला है, जो १२८६ ईस्वी का है। इससे सुमात्रा के इस प्रदेश का कृतनगर के अधीनस्थ होना प्रमाणित होता हैं। कृतनगर ने अमोघपाश की एक सुन्दर मूर्ति को चार अधिकारियों तथा तीस परिचारकों के साथ जावा से सुमात्रा भेजा था, और धर्माश्रम में उसे प्रतिष्ठापित कराया था। जिस अभिलेख में इसका वर्णन है, वह १२८६ ईस्वी का है और एक भिक्षुवेशी मूर्ति के आधार-आसन पर उत्कीर्ण है। इस अभिलेख में 'चतुर्द्वीपेश्वर', 'मुनि', 'धर्मशास्त्रवित्' और 'जीर्णोद्धारक्रियाद्युक्त' सदृश विशेषण इस राजा के लिए प्रयुक्त किए गए हैं, और उसका एक नाम 'श्रीज्ञानशिववज्र' भी लिखा गया है। अमोघपाश की मूर्ति की प्रतिष्ठा का कार्य नादज्ञ नामक व्यक्ति द्वारा कराया गया था, जो कृतनगर के धर्माध्यक्ष पद पर नियुक्त था। एक अभिलेख में उसके ये विरुद दिए गए हैं—**श्रीसकलजगन्नाथेश्वरसिंहमूर्त्यनिन्दिलपराक्रम अशेषराजन्यचूडामणि... पितचरणारविन्द सन्तपितसुजनहृदयाम्बुजाविरोधनस्वभाव"** ।

राजा कृतनगर केवल महान् विजेता ही नहीं था। नागरकृतागम के अनुसार वह षडङ्ग राजनीति में प्रवीण था, और सब शास्त्रों में पारंगत था। उसका आचार-विचार भी शुद्ध था। १२८९ ईस्वी के उसके अभिलेख में उसके व्यक्तित्व के विषय में जो विवरण दिया गया है, वह उल्लेखनीय है—

अशेष तत्त्वसम्पूर्णो धर्मशास्त्रविदां वरः
प्रज्ञारश्मिविशुद्धाङ्गः सम्बोधि ज्ञान पारगः ॥

वह धर्मशास्त्र के वेत्ताओं में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण तत्त्वों का ज्ञाता, ज्ञान के प्रकाश से अवलोकित तथा सम्बोधिज्ञान में पारंगत था। पर परतोन में राजा कृतनगर का जो चित्र खींचा गया है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ उसे एक मूर्ख तथा विलासी राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अपना सब समय पञ्च मकारों के सेवन में व्यतीत किया करता था। वास्तविकता क्या थी, यह निर्धारित कर सकना कठिन नहीं है। राजा कृतनगर की तन्त्रयान (वज्रयान) में अगाध आस्था थी, और वह इस सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित साधना का अनुष्ठान कर सिद्ध पद को प्राप्त करना चाहता था। वज्रयानी बौद्धों के नामों के अन्त में 'वज्र' शब्द प्रयुक्त किया जाता था, और उसी परंपरा का अनुसरण कर कृतनगर ने भी अपना एक नाम 'श्रीज्ञानशिववज्र' रख लिया था। वज्रयान की साधना में पंच मकार के सेवन का विशिष्ट स्थान था, और कृतनगर भी इनके सेवन में तत्पर रहता था। इसी को दृष्टि में रखकर परतोन में यदि उसे मूर्ख तथा विलासी कहा गया हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

राजा कृतनगर ने दूर-दूर तक जो विजय-यात्राएं की थीं, वे ही उसके पतन का कारण सिद्ध हुईं। इन विजयों के लिए सिंहसारि राज्य की प्रायः सब सेनाएं अन्यत्र भेज दी गई थीं। कडिरी के शासक जयकत्वंग ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और सिंहसारि के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। कृतनगर ने विद्रोही जयकत्वंग के विरुद्ध जो सेनाएं भेजीं, प्रारम्भ में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पर अन्त में जयकत्वंग की विजय हुई। सिंहसारि पर उसने कब्जा कर लिया, और कृतनगर को मौत के घाट उतार दिया। जयकत्वंग के सिंहसारि पर आक्रमण के समय कृतनगर तन्त्र-साधना के लिये पंच मकार के सेवन में तत्पर था। इस प्रकार सिंहसारि को परास्त कर जयकत्वंग द्वारा एक बार फिर कडिरी के उत्कर्ष का श्रीगणेश हुआ। पर शीघ्र ही जयकत्वंग को एक नई विपत्ति का सामना करना पड़ा, जिसके कारण वह अपने राज्य से हाथ धो बैठा।

राजा कृतनगर ने जयकत्वंग के विरुद्ध जो सेना भेजी थी, उसका सेनापति विजय था जो कृतनगर का दामाद था। सिंहसारि के जयकत्वंग के हाथ में आ जाने पर विजय जावा को छोड़कर मदुरा द्वीप चला गया, और वहाँ के शासक वीरराज (जो कृतनगर द्वारा वहाँ शासक के रूप में नियुक्त किया गया था) के साथ मिलकर एक योजना बनाई, जिसका उद्देश्य जयकत्वंग की शक्ति का अन्त करना था। इस योजना के अनुसार विजय ने जयकत्वंग के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया, और अपने प्रति उसका विश्वास उत्पन्न कर परती पड़ी भूमि का एक प्रदेश उससे जागीर के रूप में माँग लिया। वहाँ एक नई बस्ती बसायी जाने लगी। जिसका नाम मजपहित रखा गया। वहाँ बेल का एक वृक्ष था,

जिसका फल तीखा था। उसी से संस्कृत में इस वस्ती का नाम 'विल्वतिक्त' पड़ा और जावी भाषा में मजपहित।

वीरराज के साथ मिलकर जो योजना विजय ने बनायी थी, उसे क्रियान्वित करने का समय आने से पूर्व ही चीन के मंगोल सम्राट् कुवले खाँ ने जावा पर आक्रमण कर दिया। १२८१ ई० में जव कृत.नगर जावा का राजा था, कुवले खाँ ने अपना एक दूत-मण्डल इस प्रयोजन से सिंहसारि भेजा था, ताकि कृतनगर को चीन के राजदरबार में आमन्त्रित करे। तेरहवीं सदी में मंगोलों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, चीन से लगा कर रूस तक के सव देश जिसके अन्तर्गत थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के भी प्रायः सभी राज्यों ने मंगोल सम्राट् के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था। कृतनगर को भी चीन इसीलिए बुलाया गया था, ताकि वह स्वयं कुवले खाँ के दरबार में उपस्थित होकर उसके प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करे। पर कृतनगर इसके लिए तैयार नहीं हुआ, और कुवले खाँ के दूतों को टालता रहा। १२८९ ई० में जव चीनी दूत फिर सिंहसारि पहुंचा, तो कृतनगर ने उसे अपमानित कर वापस लौटा दिया। इस पर कुवले खाँ ने जावा के विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग करने का निश्चय किया, और १२९२ ई० में उसने फूकियन (चीन का अन्यतम प्रान्त) के शासक को यह आज्ञा दी, कि वीस हजार सैनिकों से जावा पर आक्रमण कर दिया जाए। जव तक यह चीनी सेना जावा पहुंची, कृतनगर का पतन हो चुका था। (१२९२ ई०), और जयकत्वंग ने कडिरी को राजधानी बनाकर जावा के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया था। १२९३ ई० के प्रारम्भ में कुवले खाँ की सेना पूर्वी जावा के तूवान वन्दरगाह पर पहुंच गई। जयकत्वंग ने उसका सामना करने की तैयारी की, पर विजय (जो मजपहित की अपनी जागीर में एक सामन्त राजा के रूप में शासन कर रहा था) ने चीनी सेन से सुलह कर लेने में ही अपना हित समझा। चौदह कर्मचारियों के साथ अपने दीवान चीनी सेनापति के पास भेजकर उस मंगोल सम्राट् का वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कर लिया। जयकत्वंग ने चीनी सेना के मार्ग को रोकने की वहुत वड़ी तैयारी की। एक लाख के लगभग सैनिक एकत्र किये गए। कडिरी राज्य की राजधानी के समीप घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें हजारों सैनिक हताहत हुए। जयकत्वंग कुवले खाँ की सेना के सम्मुख नहीं टिक सका। वह परास्त हो गया, और अपने पुत्र कलत्र के साथ उसने मंगोल सेनापति के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। चीनी सेनापति ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया। जिस प्रयोजन से कुवले खाँ ने अपनी सेना जावा भेजी थी, वह पूरा हो चुका था। मंगोल सम्राट् के आदेश को स्वीकार न कर कृतनगर ने जो उद्दण्डता प्रदर्शित की थी, उसका बदला उसके वाद के राजा जयकत्वंग से ले लिया गया था। इस दशा में चीनी सेनापति ने अपने देश वापस लौट जाने का निश्चय किया, और जावा को अपने भाग्य पर छोड़कर चीन की सेना वहाँ से प्रस्थान कर गई। कुवले खाँ की सेना आयी तो थी कृतनगर में दण्ड देने के लिए, पर उसने उसके शत्रु जयकत्वंग की शक्ति का अन्त कर कृतनगर के वंशजों के लिए मार्ग निष्कण्टक कर दिया। चीनी आक्रमण का परिणाम यह हुआ, कि मजपहित के सामन्त राजा विजय को अपने उत्कर्ष का अवसर प्राप्त हो गया।

(५) मजपहित (बिल्वतिक्त) के साम्राज्य का उत्कर्ष-काल (१२९२-१३८९)

कृतराजस—जयकत्वंग की पराजय तथा वध के पश्चात् विजय का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया था। वह कृतनगर का दामाद था, और अपने को जावा के राज्य का अधिकारी मानता था। अब वह कृतराजस जयवर्धन के नाम से जावा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, पर उसने कडिरी और सिंहसारि के बजाय मजपहित को अपनी राजधानी बनाया। इसी कारण उस द्वारा जिस नए राज्य एवं राजवंश की स्थापना हुई, वह मजपहित के नाम से प्रसिद्ध है, यद्यपि वस्तुतः विजय द्वारा सिंहसारि के उसी राज्य को जारी रखा गया जिसका प्रवर्तन अंग्रोक राजस द्वारा किया गया था। कृतनगर के कोई पुत्र नहीं था। उसकी केवल चार लड़कियां थीं, और उन चारों का विवाह विजय के साथ हुआ था। इस प्रकार विजय ही कृतनगर का उत्तराधिकारी था। उसकी चार रानियों में से केवल एक की सन्तान हुई। इस रानी का नाम 'गायत्री राजपत्नी' था, और इसने दो पुत्रियों को जन्म दिया था। कृतराजस ने एक अन्य स्त्री से भी विवाह किया था, जो मलयू की राजकुमारी थी। इसका नाम इन्द्रेश्वरी था। इसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम जयनगर था। कृतराजस ने अपने जीवनकाल में ही उसे 'कडिरी का राजकुमार' बना दिया था। कडिरी चिरकाल तक जावा की राजधानी रही थी, और वहां उसका विशेष महत्त्व था। ग्रेट ब्रिटेन में जिस प्रकार राजसिंहासन ने उत्तराधिकारी को प्रिंस आफ वेल्स बना दिया जाता है, सम्भवतः वैसे ही जावा में जयनगर को कडिरी का प्रिंस बना दिया गया था।

राजा विजय कृतराजस जयवर्धन के शासनकाल की कोई महत्त्वपूर्ण घटना ज्ञात नहीं है। उसने चिर संघर्ष के पश्चात् राजसिंहासन प्राप्त किया था, और उसका शेष जीवन भी संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। मदुरा द्वीप के जिस शासक वीरराज के साथ मिलकर उसने जयकत्वंग के विरुद्ध योजना बनायी थी, उसे शासन में उच्च पद प्रदान किया गया और कृतराजस ने उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को निभाया। इस प्रकार मजपहित के राज्य की स्थापना कर १३०९ ईस्वी में कृतराजस ने अपनी इहलीला समाप्त की।

जयनगर—कृतराजस के बाद उसका पुत्र जयनगर मजपहित के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उस समय उसकी आयु बहुत कम थी, और राज्यकार्य का उसे कोई भी अनुभव नहीं था। इसलिए उसे अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। कृतराजस ने घोर संघर्ष के बाद राजसिंहासन प्राप्त किया था, और इस संघर्ष के समय जिन लोगों ने उसका साथ दिया था, वे उससे बहुत-सी ऐसी आशाएं रखते थे जिन्हें पूरा कर सकना सुगम नहीं था। जब तक कृतराजस जीवित रहा, उसके प्रतापी व्यक्तित्व के कारण उनका असंतोष दबा रहा। पर उसकी मृत्यु के पश्चात् उनका असंतोष विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। पहला विद्रोह १३०९ ईस्वी में हुआ। इसका नेता रंग लवे नामक एक राजकर्मचारी था, जो प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त होने की आकांक्षा रखता था। उसके विद्रोह ने अच्छा गम्भीर रूप धारण कर लिया, पर अन्त में जयनगर उसका शमन करने में समर्थ हो गया।

वाद में अन्य भी अनेक राजपदाधिकारियों ने विद्रोह किये, जिनमें नम्बि का विद्रोह उल्लेखनीय है। नम्बि राजा कृतराजस के प्रधान सहयोगी वीरराज का पुत्र था। लम्वह नामक स्थान को केन्द्र बनाकर उसने एक सेना संगठित की और जयनगर के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। पर वह भी जयनगर के सम्मुख नहीं टिक सका और राजकीय सेना द्वारा उसे वुरी तरह से परास्त कर दिया गया (१३१६)। पर जयनगर के भाग्य में शान्तिपूर्वक राज्य करना नहीं लिखा था। उसके सात प्रधान राजपदाधिकारियों (जिन्हें धर्मपुत्र कहा जाता था) मे एक कुटि था। अव उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, और उसके विद्रोह ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया, कि राजा जयनगर को मजपहित छोड़कर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी। इस अवसर पर केवल गज:मद नामक विश्वस्त मन्त्री और १५ अंगरक्षक ही उसके साथ थे। गज:मद अत्यन्त चतुर पुरुष था। संकट के इस अवसर पर उसने कूटनीति से काम लिया, और कुटि का घात करा के जयनगर को फिर राजगद्दी प्राप्त कराई। अपनी योग्यता और राजभक्ति के कारण गज:मद ने बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही वह प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हो गया (१३२१)। पर कुटि के घात के वाद भी जयनगर शान्तिपूर्वक जीवन नहीं विता सका। उसके विरुद्ध विद्रोह होते रहे, और अनेक उच्च राजपदाधिकारी उसके विरुद्ध षड्यन्त्रों में तत्पर रहे। मजपहित के राजवैद्य तंच द्वारा १३२८ में उसकी हत्या कर दी गई। वाली द्वीप की एक अनुश्रुति के अनुसार जयनगर ने अपने प्रधानमन्त्री गज:मद की पत्नी के साथ वलात्कार करने का प्रयत्न किया था, जिसके कारण वह उसके विरुद्ध हो गया था, और उसी ने राजवैद्य तंच को अपने साथ मिलाकर जयनगर की हत्या करा दी थी (१३२८)। जयनगर का अपना जीवन चाहे कैसा ही अशान्तिपूर्ण रहा हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में जावा का मजपहित राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था। १३२३ में उत्कीर्ण एक अभिलेख से सूचित होता है, कि न केवल सम्पूर्ण जावा पर जयनगर का शासन था, अपितु मदुरा द्वीप तथा तंजुंगपुर (वोर्नियो) भी उसके अधीन थे। ओडोरिक वान पोर्डनन नामक एक यात्री ने १३२१ में दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि सात अन्य राजा जावा के राजा की अधीनता स्वीकार करते थे। वहाँ की भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी, और वहाँ मसाले प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होते थे। जावा का राजप्रासाद सुवर्ण, रजत और मणिमाणिक्य से विभूषित था। इस काल में चीन के साथ भी जावा का सम्वन्ध था, और १३२२, १३२३, १३२५ और १३२७ में जावा द्वारा अपने दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजे गए। जो दूतमण्डल १३२७ में चीन गया था, चीनी सम्राट् ने उस द्वारा वहुत-से उपहार जावा के राजा च-य-न-को-नई के लिए भेजे थे। च-य-न-को-नई जयनगर का ही चीनी रूपान्तर है। १३२३ ईस्वी के एक अभिलेख में जयनगर के लिए 'श्रीसुन्दर पाण्डयदेवाधीश्वर नाम राजाभिषेक विक्रमोत्तुंगदेव' विरुद का प्रयोग किया गया है। इस राजा की राजमुद्राओं पर मीनद्वय (दो मछलियाँ) अंकित हैं। भारत के पाण्डय राजा भी मीन को राजकीय चिह्न के रूप में प्रयुक्त किया करते थे। जयनगर का मीनद्वय को राजमुद्रा में अंकित कराना और अपने विरुद में 'पाण्डयदेवाधीश्वर' प्रयुक्त करना यह संकेत करता है, कि इस काल में जावा और पाण्डय देश में

घनिष्ठ सम्पर्क था।

राजपत्नी गायत्री—राजा जयनगर के कोई सन्तान नहीं थी। इस दशा में राजपत्नी गायत्री को मजपहित राज्य की स्वामिनी घोषित किया गया। गायत्री सिंहसारि राज्य के अन्तिम राजा कृतनगर की पुत्री तथा मजपहित राज्य के संस्थापक कृतराजस की अन्यतम पत्नी थी। जयनगर की वह विमाता थी। राज्य पर उसी का अधिकार स्वीकार किया गया, पर क्योंकि उसने बौद्ध भिक्षुणी का व्रत ग्रहण कर लिया था, अतः उसकी ज्येष्ठ कन्या (जयनगर की सौतेली बहन) 'त्रिभुवनोत्तुङ्गदेवी जयविष्णुवर्धिनी' जिसका व्यक्तिगत नाम गीतार्जा या गीतार्या था, ने अपनी माता के स्थानापन्न रूप से शासनसूत्र का संचालन करना प्रारम्भ किया। जयनगर की मृत्यु से कुछ समय पूर्व गीतार्या का चक्रधर या चक्रेश्वर नामक क्षत्रिय कुमार से विवाह हुआ था, और राजकुल के साथ सम्बन्ध हो जाने पर इस कुमार को 'कृतवर्धन' उपाधि प्रदान कर दी गई थी। मजपहित के विरुद्ध विद्रोहों की जो प्रक्रिया जयनगर के समय जारी थी, अब भी उसका अन्त नहीं हो गया था। १३३१ में सदेङ् और केता में विद्रोह हुए, जिन्हें गजःमद द्वारा शान्त कर दिया गया। जयनगर के समय में भी गजःमद का शासन में प्रधान स्थान था। राजपत्नी गायत्री के शासन-काल में उसका महत्व और भी अधिक बढ़ गया, और वह वास्तविक रूप से राज्य का कर्ताधर्ता बन गया। समीप के द्वीपों पर आक्रमण कर उसने जावा के मजपहित राज्य का बहुत उत्कर्ष किया। बाली पर पहले भी जावा का आधिपत्य विद्यमान था, पर १३४३ में एक सेना फिर उस पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई और इस द्वीप पर मजपहित का सुदृढ़ प्रभुत्व स्थापित किया गया। पररतोन में अनेक ऐसे राज्यों व प्रदेशों के नाम दिए गए हैं, जिन्हें गजःमद द्वारा विजय किया गया था। इनमें पहङ् (मलाया में) तंजुंगपुर (बोर्नियो में), सुंडा (पश्चिमी जावा में) और पलेमबङ् (सुमात्रा में) भी हैं। इनमें से कुछ पहले भी जावा के अधीन थे। सम्भवतः, गजःमद ने पुनः आक्रमण कर उन पर जावा के आधिपत्य को अधिक सुदृढ़ रूप से स्थापित किया था। चीन के साथ इस समय में भी जावा के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। १३३२ ई० में एक दूतमण्डल जावा से चीन गया था, जिसके सदस्यों की संख्या ८३ थी। राजपत्नी गायत्री की मृत्यु १३५० ई० में हुई।

राजसनगर—राजपत्नी गायत्री की ज्येष्ठ कन्या त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्धिनी गीतार्या का विवाह चक्रधर नामक क्षत्रिय से हुआ था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उसके पुत्र का नाम हयङ् वुरुक था। अपनी नानी की मृत्यु के बाद सोलह वर्ष की आयु में वह राजसनगर के नाम से मजपहित के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। जावा के इतिहास में इस राजा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके शासनकाल में मजपहित का बहुत उत्कर्ष हुआ, और जावा का साम्राज्य अपने विस्तार की चरमसीमा पर पहुंच गया। राजसनगर एक अत्यन्त साहसी, उद्दण्ड और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। १३५७ में उसका सुण्डा की राजकुमारी के साथ विवाह होना तय हुआ। सुण्डा एक पृथक् राज्य था, जिसके 'महाराज' मजपहित के सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। राजसनगर की इच्छा थी, कि विवाह के अवसर पर भी सुण्डा का महाराज उसके प्रति ऐसा बरताव करे,

जैसा कि सामन्त राजा अपने अधिपति के साथ किया करते हैं। पर सुण्डा का राजकुल इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इस पर मजपहित की सेनाओं ने सुण्डा पर आक्रमण कर दिया, जहां उनका डटकर मुकाबला किया गया। सुण्डा के लोगों ने अपमानपूर्वक जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु पसंद की, और वहाँ का राजकुल राजसनगर के कोप का शिकार हो गया। सुण्डा की राजकुमारी भी इस युद्ध में मारी गई। सुण्डा के प्रति व्यवहार करते हुए राजसनगर ने जिस उद्दण्ड प्रकृति का परिचय दिया था, उसी का उपयोग कर उसने पड़ोस के अन्य राज्यों पर आक्रमण प्रारम्भ किए और उन्हें जीतकर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया।

सुण्डा के राजकुल को परास्त करने के तत्काल पश्चात् दोम्बो द्वीप पर आक्रमण किया गया और उसे जीत लिया गया। उसके बाद उसने जो दिग्विजय प्रारम्भ की, उसके कारण प्रायः वे सब द्वीप व प्रदेश उसकी अधीनता में आ गए, जो वर्तमान समय में मलायीसिया और इन्डोनीसिया के राज्यों के अन्तर्गत हैं। इसी राजा के शासनकाल में सन् १३६५ में नागरकृतागम नामक ग्रन्थ की रचना की गई थी, जिसमें उन सब प्रदेशों व राज्यों का उल्लेख है जो राजसनगर की अधीनता में थे। नागरकृतागम की सूची के अनुसार ये प्रदेश निम्नलिखित थे—

(१) सुमात्रा में—जाम्बो, पलमबङ्, करितङ् (इन्द्रगिरि से दक्षिण), तेब (जाम्बी के समीप), धर्माश्रय, कन्दिस, कावस, मनङ्कबवाँ, रकान, सियक, काम्पर, पने, काम्पे, हारू, तमिहिङ्, मन्डहिलिङ्, पर्लाक, बरत, लवस, समुद्र, लमूरी, बतन, लाम्पुङ् और बरुस।

(२) बोर्नियो में—कपुहस, कतिङ्गान, साम्पित, कूटवलिंग सम्बस, लवई कडङ् डडंगन, लन्दक, समडङ्, तिरम, सेडु, बुरुनङ् (बुनेई), कल्क, सलुडुङ्, सुलु, पसिरे, बरितु, सवकू, तबलुङ्, तुन्जुङ्, मलनो, तन्जुंग पुरी और कूट वरिङ्गिन।

(३) मलाया प्रायद्वीप में—हुजुङ्मेदिनी (जहोर), लंकाशुक, सई, कलेन्तन, तिङ्गनो नशोर, पका, मुब्र, दुङ्गुन, तुमसिक (सिंगापुर), संगयङ्हुजुङ्, केलङ्, केड्डा, कंजय, जरे और निरान।

(४) जावा के पूर्व में स्थित द्वीप—बाली, गुरुन, सुम्बवा (द्वीप में तलिवङ् दोम्पो, सपी और भीम), सङ्याङ् अपी, सेराङ्, हुतन, कडली, लोम्बोक-मीरा, साक्षक, बान्तयान, लुवुक, उडमकत्रय, मकसर, बुतुन, बङ्गवी, कुनिर, गलियाओ, सलय, सुम्बा, सोलोत, मुअर, वन्डन, अम्बवन, मलोको, ब्वानिन, सेरन और तिमुर।

सुमात्रा, बोर्नियो और मलाया प्रायद्वीप के जिन प्रदेशों के नाम इस सूची में दिये गए हैं, वे सब पहले छोटे-छोटे राज्यों के रूप में रह चुके थे। राजसनगर ने उन सबको जीत कर अपने अधीन कर लिया था, या उनके राजाओं को अपना वशवर्ती बना लिया था। जावा से पूर्व में स्थित जिन द्वीपों के नाम इस सूची में हैं, उन सब पर भी वह अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हो गया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में फिलिप्पीन ही एक ऐसा द्वीप-समूह रह गया था, जो राजसनगर के समय में मजपहित साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था। नागरकृतागम का रचयिता राजसनगर का आश्रित कवि था, अतः

यह असम्भव नहीं है कि उसने कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया हो। पर उसके विवरण में संदेह करने की अधिक गुंजाइश नहीं है, क्योंकि कतिपय ऐसे अभिलेख भी उपलब्ध हुए हैं, जिनसे वाली, बोर्नियो आदि अनेक प्रदेशों व द्वीपों पर राजसनगर के प्रभुत्व की बात पुष्ट होती है। बतुर (बाली) से १३४८ ई० का एक अभिलेख मिला है, जिसे राजसनगर के मामा श्रीविजय राजस द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। इसी प्रकार १३९८ के एक अन्य अभिलेख में भी विजय राज्य का श्रीपरमेश्वर नाम से उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं, कि वाली द्वीप मजपहित साम्राज्य के अन्तर्गत था, और राजसनगर की ओर से श्रीविजय राजस वहाँ शासन के लिए नियुक्त था। सिंगापुर और सुमात्रा द्वीपों में भी ऐसे अभिलेख मिले हैं, जिनमें इन प्रदेशों पर जावा के आधिपत्य के संकेत विद्यमान हैं। इस काल के चीनी ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से पु-नी (बोर्नियो का पश्चिम तटवर्ती प्रदेश) पर जावा के प्रभुत्व का वर्णन है। साथ ही, उनमें यह भी लिखा गया है, कि सान फो-त्सी पर भी जावा का आधिपत्य विद्यमान था। जब सान फो-त्सी के राजा की मृत्यु हो गई,,तो उसके पुत्र का यह साहस नहीं हुआ कि वह स्वयं अपने अधिकार से उसके राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सके। चीन के सम्राट् ने राज्य प्राप्त करने के लिए उसकी सहायता करनी चाही, पर जावा द्वारा उन व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया जो सान फो-त्सी के राजकुमार की सहायता के लिए चीन से आए थे।

यह स्वीकार करना होगा, कि राजसनगर एक अत्यन्त प्रतापी सम्राट् था, और उसका साम्राज्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में दूर-दूर तक विस्तृत था। पड़ोस के जिन राज्यों के साथ उसका मैत्री-सम्बन्ध था, उनके नाम भी नागरकृतागम में दिये गए हैं। ये राज्य निम्नलिखित थे—सियाम, धर्मनगरी (लिगोर), मर्तबान, राजपुर, सिंहनगरी, चम्पा, काम्बोज और यवन (उत्तरी अनाम)। इनके अतिरिक्त नागरकृतागम में उन राज्यों के भी नाम दिये गए हैं, जिनके व्यापारी, ब्राह्मण और श्रमण जावा आते-जाते रहते थे। वहाँ लिखा है, कि 'जम्बूद्वीप, काम्बोज, चीन, यवन, चम्पा, कर्णाटक, गौड़ और सियाम के व्यापारी निरन्तर जावा आते रहते हैं। वे पण्य को साथ लेकर जहाजों द्वारा वहाँ आते हैं। ब्राह्मण और श्रमण भी इन देशों से वहाँ आया करते हैं, और वहाँ उनका समुचित सम्मान किया जाता है।" भारत के साथ मजपहित साम्राज्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था। जम्बूद्वीप से भारत ही अभिप्रेत है, और कर्णाटक तथा गौड़ (बंगाल) का पृथक् रूप से उल्लेख यह सूचित करता है, कि इन प्रदेशों के व्यापारी विशेष रूप से जावा आया-जाया करते थे। नागरकृतागम के एक श्लोक में यह भी कहा गया है, कि जावा और जम्बूद्वीप संसार के दो सबसे सुन्दर देश हैं। इन दोनों देशों में घनिष्ठ सम्बन्ध की सत्ता इस बात से भी प्रमाणित होती है, कि काञ्ची (कांजीवरम) के भिक्षु बुद्धादित्य तथा ब्राह्मण मुतली सहृदय ने जावा के राजा की प्रशंसा में कविताएँ लिखी थीं।

राजसनगर के शासनकाल में मजपहित राज्य का जो असाधारण उत्कर्ष हुआ, उसका प्रधान श्रेय गज:मद को दिया जाना चाहिए। यह उसी की योग्यता का परिणाम था, कि जावा एक सुव्यवस्थित और सुशासित राज्य बन गया, और वह एक विशाल साम्राज्य के निर्माण में समर्थ हुआ। १३६४ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई, तो उसके स्थान

पर किसी अन्य व्यक्ति को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त नहीं किया गया। शासन कार्य के संचालन के लिए अब एक परिषद् नियुक्त की गई, जिसके सदस्य राजा, उसके माता-पिता, चाचा-चाची, दो बहनें और उनके पति थे। इन्हें 'भटारसप्तप्रभु' कहा जाता था। पर यह व्यवस्था देर तक नहीं चल सकी। १३७१ ई० में गजः एंगोम् को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया और वह मृत्यु (१३६८) तक इस पद पर रहा।

१३८९ में राजसनगर की मृत्यु हुई, और उसके पश्चात् मजपहित साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया।

(६) मजपहित साम्राज्य का पतन

विक्रमवर्धन—राजसनगर की मृत्यु के पश्चात् मजपहित साम्राज्य के पतन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, उसका कारण वह गृहकलह था, जिसके लिए राजसनगर स्वयं उत्तरदायी था। राजसनगर की पटरानी का नाम परमेश्वरी था, जिसकी एकमात्र सन्तान कुसुमवर्धनी नामक एक कन्या थी। इस पटरानी परमेश्वरी की छोटी बहन ईश्वरी थी, जिसकी दो सन्तानें थीं, एक लड़की नागरवर्धनी और एक लड़का विक्रमवर्धन। इस विक्रमवर्धन का विवाह राजसनगर की पुत्री कुसुमवर्धनी के साथ हुआ था, जिसके कारण राजसिंहासन का यही उत्तराधिकारी था। पर राजसनगर की एक अन्य रानी से उसे एक पुत्र की भी प्राप्ति हो गई थी, जिसे वह बहुत प्यार करता था। उसका विवाह उसने नागरवर्धनी के साथ करा दिया था, और उसे पूर्वी जावा का शासक नियुक्त कर दिया था। राजा का पुत्र होने के कारण वह वहाँ स्वतन्त्र रूप से आचरण करने लगा था, और अपने पिता के जीवनकाल में ही उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था। राजसनगर का यह पुत्र वीरभूमि के कुमार के नाम से प्रसिद्ध है। १३८९ में राजसनगर की मृत्यु हो जाने पर जब विक्रमवर्धन मजपहित के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो वीरभूमि उसका प्रतिद्वन्द्वी बन गया, और उन दोनों में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का अन्त १४०६ ई० में हुआ, जब वीरभूमि की हार हो गई, और उसके सिर को काटकर मजपहित के राजदबार में उपस्थित कर दिया गया।

यद्यपि वीरभूमि की मृत्यु के पश्चात् जावा के राज्य में राजनीतिक एकता स्थापित हो गई थी, पर सुदीर्घ गृह-युद्ध के कारण मजपहित में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य प्रदेशों व द्वीपों पर अपना आधिपत्य रख सके। चीनी ग्रन्थों से सूचित होता है, कि पन्द्रहवीं सदी के पूर्वार्ध में बोर्नियो, सुमात्रा आदि से मजपहित के प्रभुत्व का अन्त हो गया था और इन द्वीपों के राज्यों ने चीन को अपना अधिपति एवं संरक्षक मानना प्रारम्भ कर दिया था। जब कि १३७० में यह दशा थी, कि जावा के भय के कारण पू-नी (पश्चिमी बोर्नियो) के राजा को अपना दूतमण्डल तक चीन भेजने का साहस नहीं हुआ था, १४०५ में वहाँ का राजा सपरिवार चीन गया था और वहाँ के सम्राट् के प्रति उसने सम्मान निवेदन किया था। इसी प्रकार सान फो-त्सी (श्रीविजय) सदृश अन्य राज्य भी अब मजपहित की उपेक्षा कर चीन के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने और उसे अपना संरक्षक मानने को तत्पर हो गए थे, जावा ने न केवल इसे सहन ही

किया, अपितु स्वयं भी वह चीन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने लगा। १४१५, १४१८ और १४३२ में जावा से अनेक दूतमण्डल भेंट-उपहार के साथ चीन भेजे गए। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ-काल में मलाया प्रायद्वीप में इस्लाम का जोर बहुत बढ़ गया था, और वहाँ से कतिपय स्थानीय राज्यों के शासक मुसलमान बन गए थे। मजपहित की शक्ति के क्षीण होने पर इन मुसलिम शासकों (जो सुलतान कहाते थे) ने भी सिर उठाना शुरू किया, और जावा के लिए वे एक नई विपत्ति बन गए। मलाया क्षेत्र के मुसलिम सुलतानों में मलक्का का सुलतान सबसे शक्तिशाली था, और चीन का संरक्षण प्राप्त कर वह अपने राज्य के विस्तार में तत्पर था। मलक्का से अपने राज्य की रक्षा करने के लिए ही जावा के राजा विक्रमवर्धन ने यह आवश्यक समझा था, कि वह भी चीनी सम्राट् की सेवा में भेंट-उपहार भेजकर उसकी सद्भावना तथा संरक्षण प्राप्त कर ले।

विक्रमवर्धन के उत्तराधिकारी—१४२९ ई० में राजा विक्रमवर्धन की मृत्यु हुई। उसकी तीन सन्तानें थीं, एक पुत्री और दो पुत्र। पटरानी की सन्तान पुत्री थी, जिसका नाम सुहिता था। अब वह मजपहित के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुई, और १४४६ तक उसने जावा का शासन किया। सुहिता के कोई सन्तान नहीं थी, अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई भ्रेतुमपल श्रीकृतविजय की उपाधि के साथ मजपहित का राजा बना। उसका शासन-काल केवल चार वर्ष (१४४७-५१) का था। श्रीकृतविजय के बाद जो राजा मजपहित के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, वे राजसवर्धन (१४५१-५६), भ्राह्यङ्-पूर्वविशेष (१४५६-६६) और सिंहविक्रमवर्धन (१४६६-७८) थे। इनके शासनकाल की कोई विशेष घटनाएँ ज्ञात नहीं हैं। पर इनका बहुत कम-कम समय तक शासन करना यह सूचित करता है, कि इनके समय में जावा में शान्ति और सुव्यवस्था का अभाव था। सिंहविक्रमवर्धन मजपहित के उस राजवंश का अन्तिम राजा था, जिसकी स्थापना कृतराजस द्वारा की गई थी। इस राजवंश के शासन का अन्त दाहा (कडिरी) के राजा भट्टारप्रभु गिरीन्द्रवर्धन रणविजय द्वारा किया गया। दाहा या कडिरी के राज्य तथा राजवंश का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसी की शक्ति का अन्त कर सिंहसारि राज्य की स्थापना हुई थी, जो जावा में मजपहित का पूर्ववर्ती राज्य था। कडिरी के इस वंश के व्यक्ति स्थानीय शासकों या सामन्त राजाओं की स्थिति के बाद में भी विद्यमान रहे, और ऐसे ही एक सामन्त राजा गिरीन्द्रवर्धन रणविजय ने मजपहित के राजवंश का अन्त कर अपने को जावा का राजा बना लिया। एक अभिलेख में उसे बिल्वतिक्त (मजपहित), दाहा, जांगल और कडिरी का राजा कहा गया है, और इस बात का उल्लेख है कि चतुर्वेदपारंगत ब्रह्मराज गंगाधर ने उसके पिता का द्वादशवार्षिक श्राद्ध कराया था। उसके अभिलेखों से यह भी सूचित होता है, कि उस द्वारा राम और ऋषि भारद्वाज की मूर्तियों की स्थापना, और राम, विष्णु, यम तथा दुर्गा की पूजा की व्यवस्था कराई गई थी। गिरीन्द्रवर्धन रणविजय के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक भी जावा में हिन्दू राजाओं का शासन था और वहां की जनता भी प्रधानतया हिन्दू धर्म की ही थी। पर इस काल में

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों में इस्लाम का प्रसार बड़ी तेजी के साथ हो रहा था, और जावा के विविध सामन्त राजकुलों के अनेक व्यक्तियों ने भी इस धर्म को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। यह स्वाभाविक था, कि नये मुसलमान बने राजकुलों के व्यक्ति मजपहित व दाहा आदि के हिन्दू राजकुलों के प्रति विरोधभाव रखें और उनसे संघर्ष कर अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करें। सोलहवीं सदी के शुरू में जावा की राजनीतिक दशा पर पोर्तुगीज रे द-ब्रितो के इस कथन (१५१४) से अच्छा प्रकाश पड़ता है—"जावा एक बड़ा द्वीप है। वहां दो काफिर राजा हैं, एक जावा का और दूसरा सुण्डा का। समुद्रतट मुसलमानों के अधीन है, जो बड़े बलशाली हैं। बड़े अमीर और व्यापारी अपने को इन स्थानों का सुलतान कहते हैं। वे बहुत धनी हैं, और उनके पास बहुत-से जहाज हैं।" समुद्रतट के इन मुसलमानों द्वारा जावा में इस्लाम का जो प्रसार हो रहा था और जिसके कारण वहां के राजकुलों के व्यक्ति भी मुसलमान बनने लग गए थे, उसी का यह परिणाम हुआ कि सोलहवीं सदी के मध्य तक जावा मुख्यतया मुसलमानों के हाथों में चला गया, यद्यपि बाद में भी कुछ हिन्दू राज्य वहां शेष रह गए थे। इनमें एक बलम्बङ्गन का राज्य था, जहां १६०० ई० में भी हिन्दू राजा का शासन था। पर ऐसे एक दो अपवादों को छोड़कर जावा में सर्वत्र मुसलमान सुलतान राज्य करने लगे थे, और उनके शासन में वहां से न केवल हिन्दू संस्कृति का अन्त हुआ, अपितु वहां के बहुत-से पुराने मन्दिरों को भी नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार जावा से भारतीयों या हिन्दुओं के उस सांस्कृतिक साम्राज्य का अन्त हुआ, जो १५०० वर्ष के लगभग तक वहां कायम रहा था।

(७) इन्डोनीसिया के अन्य हिन्दू राज्य

सुमात्रा के शैलेन्द्र राजा और जावा के मजपहित राजा मलायीसिया तथा इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों तथा द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। पर इस क्षेत्र में अन्य भी अनेक हिन्दू राज्य विद्यमान थे, जिन्हें यद्यपि शैलेन्द्र तथा मजपहित सम्राट् अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुए थे, पर जो अवसर पाते ही फिर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगते थे। ऐसा एक राज्य सुण्डा का था, जिसकी स्थिति पश्चिमी जावा में थी। इस राज्य के अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे वहां के हिन्दू राजाओं का वृत्तान्त ज्ञात होता है। ऐसा ही एक राज्य मलयू (जाम्बी) था, जो सुमात्रा के पूर्वी तट पर स्थित था। शैलेन्द्र राजाओं की शक्ति के क्षीण होने पर इस राज्य ने अच्छी उन्नति कर ली थी, यद्यपि बाद में वह मजपहित सम्राटों के आधिपत्य में आ गया था। शैलेन्द्र साम्राज्य के पतन के समय सुमात्रा में अन्य भी अनेक हिन्दू राज्य स्थापित हो गए थे, जिन्होंने बाद में मजपहित सम्राटों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। चौदहवीं सदी में सुमात्रा में भी इस्लाम का प्रवेश शुरू हुआ, और धीरे-धीरे न केवल वहां की राजसत्ता ही मुसलमानों के हाथों में चली गई, अपितु वहां के निवासियों ने भी इस्लाम को अपना लिया।

जावा के समीप पूर्व की ओर स्थित बाली द्वीप में भी एक समृद्ध हिन्दू राज्य की

सत्ता थी। बाली में सबसे पुराना ताम्रपत्र ८९६ ई० का मिला है, और ९१५ ई० के वहाँ से प्राप्त हुए अभिलेख से सूचित होता है, कि उस समय वहाँ उग्रसेन नाम के राजा का शासन था। उग्रसेन (९१५-३३) के बाद वहाँ क्रमशः राजा तबनेन्द्रवर्मदेव और चन्द्राभयसिंहवर्मदेव ने शासन किया। ९७५ में वहाँ का शासन राजा जनसाधुवर्मदेव के हाथों में था, और ९८३ में रानी श्रीविजय देवी के। बाली के इस हिन्दू राज्य को पहले जावा के राजा धर्मवंश ने जीता, और फिर राजा कृतनगर ने। कृतनगर के बाद आधी सदी के लगभग तक बाली स्वतन्त्र रहा, पर बाद में मजपहित राजाओं ने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। जब जावा का मजपहित राजा मुसलमानों के सम्मुख नहीं टिक सका, और अपने धर्म पर दृढ़ रहने का कोई अन्य उपाय वहाँ के हिन्दुओं को नहीं सूझा, तो वे जावा को छोड़कर बाली चले गए। इस प्रकार बाली हिन्दू शरणार्थियों का कैम्प बन गया, और जावा की प्राचीन हिन्दू संस्कृति बाली में केन्द्रीभूत हो गई। बाली मुसलमानों के हाथ में नहीं आ सका, वहाँ के निवासी अब भी हिन्दू हैं और वहाँ सुवर्णद्वीप (मलायीसिया और इन्डोनीसिया) की प्राचीन भारतीय व हिन्दू संस्कृति की धारा इस समय तक भी प्रवाहित हो रही है। बाली के बहुत-से लोग अपने को वोङ्-मजपहित (मजपहित जन) कह कर गर्व अनुभव करते हैं। मजपहित के एक राजकुमार ने बाली के उस हिन्दू राजवंश का सूत्रपात किया था, जो उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक वहाँ शासन करता रहा। १८३९ में वहाँ के राजा ने डच आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था, और हालैण्ड के वशवर्ती रूप में बाली के हिन्दू राज्य की स्थिति १९११ ई० तक कायम रही, जब कि उसकी पृथक् सत्ता का अन्त कर उसे डच साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य सब हिन्दू राज्यों का अन्त भी इस्लाम के प्रसार के कारण हुआ। उन सबका वृत्तान्त इस ग्रन्थ में लिख सकना कठिन है।

पाँचवां अध्याय

इन्डोनीसिया के क्षेत्र में भारतीय सभ्यता और संस्कृति

(१) साहित्य

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों तथा प्रदेशों में जो अनेक भारतीय राज्य प्राचीन समय में विद्यमान थे, उनका संक्षिप्त परिचय पिछले अध्यायों में दिया गया है। इन भारतीय राज्यों के धर्म, सामाजिक जीवन, शासन पद्धति, कला, आर्थिक दशा आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के प्रधान साधन निम्नलिखित हैं—(१) जावा का प्राचीन साहित्य, (२) विविध अभिलेख, जो प्रस्तरखण्डों एवं ताम्रपत्रों आदि पर उत्कीर्ण हैं, (३) पुराने मन्दिर, चैत्य, स्तूप आदि और उनके भग्नावशेष, और (४) विदेशी विवरण व ग्रन्थ, जिनमें सबसे महत्त्व के चीन के इतिहास-विषयक ग्रन्थ तथा अरब यात्रियों एवं व्यापारियों के यात्रा विवरण हैं। अभिलेखों और चीनी एवं अरब ग्रन्थों का उल्लेख हम यथास्थान करते रहे हैं, और प्रसंगवश इस अध्याय में भी उन्हें उल्लिखित करेंगे। पर जावा के प्राचीन साहित्य पर पृथक् रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है, क्योंकि दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के विशिष्ट रूप को जानने का वही मुख्य साधन है। जावा के समान सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो आदि के भारतीय राज्यों में भी अवश्य ही साहित्य का विकास हुआ होगा, पर वह अब उपलब्ध नहीं है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों में भारतीयों ने जब अपने उपनिवेश स्थापित किए, तो वे भारत के साहित्य को भी अपने साथ ले गए और वहां उसका पठन-पाठन होता रहा। इन प्रदेशों में संस्कृत का कितना अधिक प्रचार था, यह वहाँ उपलब्ध हुए संस्कृत अभिलेखों में स्पष्ट है।

पर इन द्वीपों व प्रदेशों की अपनी स्थानीय भाषाएँ भी थीं। यह सम्भव नहीं था, कि इनके सब निवासी, जिनमें भारतीय उपनिवेशकों के अतिरिक्त वहाँ के पुराने निवासी भी थे, केवल संस्कृत का ही प्रयोग करने लगते। अतः यह स्वाभाविक था, कि समयान्तर में स्थानीय भाषाओं में भी साहित्य का सृजन होने लगे, और लोग संस्कृत साहित्य के साथ-साथ उसके अध्ययन-अध्यापन में भी प्रवृत्त हों। जावा की भाषा में सबसे पहले 'अमरमाला' नामक पुस्तक की रचना हुई थी। यह एक कोशग्रन्थ है, जिसे संस्कृत के अमरकोश की शैली में लिखा गया है। अमरमाला की जब रचना हुई, तभी जावी भाषा में रामायण भी लिखी गई। जावी की यह रामायण बालमीकि कृत संस्कृत रामायण का अनुवाद नहीं है, और कितनी ही बातों में उससे भिन्न भी है। इसकी कथा के अनुसार अग्निपरीक्षा के बाद राम ने सीता को ग्रहण कर लिया था, और सीता

के अन्तिम वर्ष वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में व्यतीत नहीं हुए थे। जावी भाषा में साहित्य का विशेष रूप से निर्माण उस युग में हुआ, जब कि धर्मवंश और एलंग के नेतृत्व में पूर्वी जावा ने महत्त्व प्राप्त कर लिया था। धर्मवंश के शासन काल (दसवीं सदी का अन्त तथा ग्यारहवीं सदी का प्रारम्भ) में महाभारत का जावी भाषा में अनुवाद किया गया। आदि पर्व, विराट् पर्व और भीष्म पर्व का अनुवाद धर्मवंश की संरक्षकता में हुआ था, और अन्य पर्वों को बाद में अनूदित किया गया था। महाभारत की कथा को लेकर जावी भाषा में अनेक स्वतन्त्र साहित्यिक रचनाएँ भी की गईं। इनमें अर्जुन विवाह नामक काव्य एलंग (१०१६-१०४२ ईस्वी) की संरक्षकता में म्पू कण्व नामक कवि द्वारा लिखा गया था। एलंग के युद्धों से प्रभावित होकर ही शायद कवि कण्व ने अर्जुन-विवाह की रचना की थी, क्योंकि इस काव्य में निवात कवच के विरुद्ध लड़ाई में अर्जुन द्वारा देवताओं की सहायता का वर्णन है। एलंग के समय में ही कृष्णायन और सुमनसान्तक काव्यों की रचना हुई थी। कृष्णायन का रचयिता कवि त्रिगुण था, और इस काव्य में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण और जरासन्ध से युद्ध का वर्णन है। सुमनसान्तक काव्य का आधार रघुवंश के राजा दशरथ की माता और राजा अज की रानी इन्दुमती की वह कथा है, जिसमें एक सुमन (फूल) द्वारा उसकी मृत्यु का वर्णन है।

कडिरी के राजा जयभय (११३५-११५०) के समय में जावी साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। इस काल का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ भारत-युद्ध है, जिसमें महाभारत के युद्ध का सजीव रूप से वर्णन है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसकी रचना महाभारत के उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्वों के आधार पर की गई थी। भाषा और शैली की दृष्टि से इसे अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। राजा जयभय के आदेश से कवि म्पू सदः ने इसकी रचना प्रारम्भ की थी, पर किसी बात पर राजा का कोपभाजन हो जाने के कारण वह इसे पूरा नहीं कर सका। बाद में कवि म्पू पनुलुः ने इसे पूरा किया। म्पू पुनुलुः द्वारा हरिवंश नाम से एक अन्य काव्य की भी रचना की गई थी, जिसमें कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण तथा पाण्डवों और जरासन्ध के युद्ध का वर्णन है। कडिरी के अन्य राजाओं में कामेश्वर के शासनकाल में स्मरदहन नामक काव्य का निर्माण हुआ, जिसमें शिव द्वारा स्मर (कामदेव) के दहन का वर्णन है। इस काव्य का रचयिता धर्म नामक कवि था। स्मरदहन काव्य राजा कामेश्वर के समय में लिखा गया था, यह तो सुनिश्चित है। पर कामेश्वर प्रथम जयभय का पूर्ववर्ती राजा था, और कामेश्वर द्वितीय जयभय के दो पीढ़ी बाद बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ था। इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है, कि स्मरदहन की रचना कामेश्वर प्रथम के काल में हुई थी या कामेश्वर द्वितीय के समय में। कामेश्वर के काल में ही भौमकाव्य नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना हुई थी, जिसमें कि पृथिवी के पुत्र भौम या नरक द्वारा इन्द्र के परास्त किए जाने और अन्त में इन्द्र के हाथों से उस (भौम) की मृत्यु का वर्णन है।

जावा के इतिहास में चौदहवीं सदी का बहुत महत्त्व है। इस काल में मजपहित के राज्य का उत्कर्ष हुआ और उसके राजा एक विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए। राजसनगर मजपहित का एक शक्तिशाली सम्राट् था (१३५०-८९)।

उसी के समय में १३६५ ईस्वी में नागरकृतागम नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना हुई, जिसके लेखक का नाम प्रपंच था। जावी साहित्य में इस ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है। इससे पूर्व जो अनेक काव्य एवं ग्रन्थ जावी भाषा में लिखे गये थे, उनके कथानक रामायण, महाभारत और पुराण आदि भारतीय ग्रन्थों से लिये गए थे। पर प्रपंच ने नागरकृतागम की रचना करते हुए मजपहित के प्रसिद्ध राजा राजसनगर के जीवन-वृत्त को आधार बनाया था। इसीलिए जावा के राजाओं, राजदरबार, राजधानी तथा साम्राज्य के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ से उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। प्रपंच ने अपने समकालीन लेखकों में म्पू तन्तुलर का भी उल्लेख किया है, जिसने अर्जुनसहस्रबाहु और सुतसोम नामक काव्यों की रचना की थी। जावी भाषा के कतिपय काव्य ऐसे भी हैं, जिनका रचनाकाल निर्धारित नहीं किया जा सका है। ऐसे काव्यों में इन्द्रविजय, पार्थयज्ञ, हरिविजय, कालयवनान्तक, रामविजय, रत्नविजय, पार्थविजय और विघ्नोत्सव उल्लेखनीय हैं। इन सब के कथानक प्राचीन भारतीय साहित्य से ही लिये गए हैं, जो दक्षिण पूर्वी एशिया की सांस्कृतिक परम्परा के मूलस्रोत थे। महाभारत और रामायण को आधार बनाकर जावा में बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए थे। दसवीं सदी के अन्त में राजा धर्मवंश के शासन काल में महाभारत के कुछ पर्वों का जावी भाषा में अनुवाद हुआ था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। बाद में जहाँ शेष पर्वों का अनुवाद हुआ, वहाँ महाभारत की कथा पर आधारित नए ग्रन्थों की भी रचना शुरू हुई। यह प्रक्रिया चिरकाल तक जारी रही, और बाद के समय में इस प्रकार के जो ग्रन्थ लिखे गये, उनमें कौरवाश्रम विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इसकी कथा में महाभारत की कथा से अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। सारसमुच्चय नाम का इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ भी जावी भाषा में लिखा गया। यद्यपि इसमें प्रधानतया महाभारत के अनुशासन-पर्व से नीतिविषयक श्लोकों का संकलन (उनके जावी अनुवाद के साथ) किया गया है, पर साथ ही रामायण और पंचतन्त्र से भी बहुत-सी उक्तियाँ ली गई हैं। नवरुचि नामक ग्रन्थ में भीम के वीर कृत्यों का वर्णन मिलता है, जो कि महाभारत पर आधारित है।

भारत के समान जावा में भी पौराणिक साहित्य विद्यमान है। जावी भाषा के पुराण ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड पुराण सर्वप्रधान है। यह भारत के ब्रह्माण्ड पुराण से अधिक भिन्न नहीं है। एक अन्य पुराण-ग्रन्थ अगस्त्यपर्व है, जिसमें पुराणों की शैली में सृष्टि की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। नीतिशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ भी जावी भाषा में मिलते हैं। ऐसा एक ग्रन्थ नीतिसार या नीतिशास्त्र है, जिसे मजपहित राज्य के अन्तिम वर्षों में लिखा गया था। जिस प्रकार के नीतिविषयक श्लोक या कथन संस्कृत के चाणक्यशतक, पंचतन्त्र आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं, वैसे ही जावी के इस नीतिसार में भी विद्यमान हैं, और सम्भवतः वे भारतीय ग्रन्थों से ही लिये गए हैं। कामन्दकनीतिसार नामक राजनीति का संस्कृत ग्रन्थ बाली से उपलब्ध हुआ है, यह आचार्य कामन्दक का एक नीतिग्रन्थ जावी भाषा में भी है, जिसमें रामायण और महाभारत के उदाहरणों द्वारा राजा के कर्तव्यों तथा राजकीय नीति का प्रतिपादन

किया गया है। एक अन्य नीतिग्रन्थ 'इन्द्रलोक' है, जिसमें भगवान् इन्द्रलोक के राजनीति विषयक वे मतव्य संकलित हैं, जिनका प्रतिपादन उसने अपने शिष्य कुमारयज्ञ के लिए किया था। इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ नीतित्रय है, जिसमें शत्रु के प्रति नीति का निरूपण है।

जावी भाषा के साहित्य में इतिहासविषयक अनेक ग्रन्थ भी विद्यमान हैं। नागरकृतागम का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसी वर्ग का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'परस्तोन' है, जिसकी रचना सतरहवीं सदी के प्रारम्भ काल में हुई थी। इसमें राजा अंग्रोक-राजस (तेरहवीं सदी का प्रथम चरण) से जावा का इतिहास शुरू किया गया है, और उसके बाद का प्रायः तीन सदियों का इतिहास इसमें विद्यमान है। सिंहसारि और मजपहित राज्यों के काल का पूरा विवरण इसमें आ जाता है। 'उसनजव' नाम के एक अन्य ग्रन्थ में बाली के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुति संकलित है। ऐतिहासिक इतिवृत्त के ग्रन्थों का एक अन्य वर्ग भी जावी भाषा में है, जिसे 'पमञ्चंग' कहते हैं। इस वर्ग के ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में हैं, और उनमें अनेकवधि स्थानीय कथाएँ, किम्वदन्तियाँ तथा अनुश्रुतियाँ संकलित हैं। इतिहास विषयक ग्रन्थों का एक वर्ग 'पंजी' कहाता है, जो पद्य में हैं और जिनमें पुरानी साहसिक कथाएँ वर्णित हैं। पंचतन्त्र और हितोपदेश में जैसी कहानियाँ हैं, वैसी ही जावी भाषा में भी पायी जाती हैं, जिन्हें 'तन्त्री' कहते हैं। यद्यपि प्रधानतया ये पंचतन्त्र तथा हितोपदेश पर आधारित हैं, पर कतिपय कहानियाँ सर्वथा नई भी हैं। इसी ढंग का कथासाहित्य बाली, सियाम और लाओस की स्थानीय भाषाओं में भी पाया जाता है। पंचतन्त्र में कहानियों को विष्णुशर्मा के मुख से कहाया गया है, जिसे राजकुल के अपने शिष्य को कथाओं द्वारा नीति की शिक्षा देता हुआ प्रदर्शित किया गया है। पर तन्त्री कथाएँ एक ऐसी रानी के मुख से कहलवायी गई हैं, जिनका पति प्रतिदिन एक नई स्त्री से विवाह किया करता था। तन्त्री कहानियों को कहने वाली रानी ऐसी रानियों में अन्तिम थी, क्योंकि उसकी कथाओं की परम्परा का अन्त ही नहीं होता था। जावा में धार्मिक साहित्य की भी कोई कमी नहीं है। भारत से गये उपनिवेशक वैदिक और पौराणिक साहित्य को भी अपने साथ वहाँ ले गये थे। उसका पठन-पाठन वहाँ जारी रहा, और उसके आधार पर जावी भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। साथ ही, अनेक ग्रन्थों का मूल संस्कृत से अनुवाद भी किया गया। उपनिषदों और दर्शनों की परम्परा के अनुसार भी वहाँ जावी ग्रन्थों की रचना हुई। इन सबका यहाँ परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। भारत के समान जावा का प्राचीन साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध था। यद्यपि अब जावा से हिन्दू और बौद्ध धर्मों का अन्त हो चुका है, पर इन धर्मों के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अब भी जावी साहित्य में विद्यमान हैं। भारतीय संस्कृति की जो परम्परा जावा तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में विकसित हुई थी, इस्लाम भी उसे पूर्णतया नष्ट नहीं कर सका है। उसकी छाप अब भी वहाँ की संस्कृति, भाषा व कला पर देखी जा सकती है।

(२) धार्मिक दशा

यदि धर्म की दृष्टि से देखा जाए, तो जावा, सुमात्रा, बाली, मलाया आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के प्रदेशों की प्राचीन समय में ठीक वही दशा थी, जो भारत की थी। भारत के जिन उपनिवेशकों ने इन प्रदेशों में जाकर अपने राज्य स्थापित किये, वे अपने धर्म को भी साथ ले गये, और वहाँ के पुराने निवासियों को भी उन्होंने अपने धर्म का अनुयायी बना लिया। अत्यन्त प्राचीन समय में भारत के धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्ड को प्रधान स्थान प्राप्त था, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों में भी यज्ञ-प्रधान धर्म का प्रचार था। बोर्नियो से राजा मूलवर्मा के यूपों (यज्ञस्तम्भों) पर उत्कीर्ण जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें बहुसुवर्णक सदृश यज्ञों के अनुष्ठान तथा ब्राह्मणों को दी गई दानदक्षिणा का वर्णन है।

पौराणिक धर्म—जैसे भारत में यज्ञप्रधान वैदिक धर्म का स्थान उस पौराणिक धर्म ने ले लिया था, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं की पूजा की जाती थी और उनकी मूर्तियों को मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था, वैसे ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों में भी हुआ। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक इन राज्यों में पौराणिक हिन्दू धर्म भली भांति प्रचारित हो चुका था, और पुराने याज्ञिक कर्मकाण्ड का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया था। विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बना कर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करना और उनकी पूजा करना अब वहाँ के धर्म का प्रधान अंग बन गया था। देवी देवताओं में प्रधान स्थान महेश का था। उसके दो रूप थे, शिव और महाकाल। शिव उसका कल्याणकारी रूप था, और महाकाल रौद्र रूप। शिव या महादेव की शक्ति देवी, पार्वती, उमा या महादेवी थी, और महाकाल या भैरव की महाकाली या भैरवी। देवी का एक रूप दुर्गा का भी था, जिस रूप में उसने महिषासुर का मर्दन किया था। शिव के पुत्र गणेश और कार्तिकेय थे। इन सबकी मूर्तियाँ जावा में अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जिससे वहाँ शैव धर्म का प्रचलन प्रमाणित होता है। लिंग (शिवलिंग) के रूप में भी वहाँ भगवान् शिव की पूजा की जाती थी। बहुत से शिवलिंग भी वहाँ मिले हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के मूल निवासियों में लिंग की पूजा प्रचलित थी, और भारतीय उपनिवेशकों ने इसे उन्हीं से ग्रहण किया था। पर सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी लिंग-पूजा का संकेत मिलता है, और पौराणिक धर्म में इसका प्रवेश उस समय से पहले ही हो गया था, जबकि भारतीय उपनिवेशकों ने जावा आदि में अपने राज्य स्थापित किये थे। अतः शैव धर्म के प्रवेश के साथ-साथ ही वहाँ लिंगपूजा का भी सूत्रपात हो गया होगा। जावा में भी गणेश की मूर्ति को गजमुखी बनाया जाता था, और उनकी पूजा विघ्न-विनाशक देवता के रूप में की जाती थी। महिषासुरमर्दिनी देवी की जो मूर्तियाँ जावा में मिली हैं, उनमें उनके ६, ८, १० या १२ हाथ बनाये गये हैं। महाकाली की मूर्ति को शव के ऊपर बैठे हुए बनाया गया है। उसके एक हाथ में त्रिशूल होता है, और दूसरे में खप्पर। जावा में कतिपय ऐसी शिव-मूर्तियाँ भी मिली हैं, जो अर्धनारीश्वर के रूप में हैं। इनमें

दाँया भाग शिव का है, और बाँया पार्वती या उमा का।

शिव के अतिरिक्त विष्णु और ब्रह्मा की पूजा भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में प्रचलित थी, यद्यपि इन देवताओं ने वह स्थान प्राप्त नहीं किया था, जो कि शिव का था। विष्णु की मूर्तियां चतुर्भुज रूप से बनायी गई हैं, और उनके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कराये गये हैं। विष्णु की ऐसी मूर्तियां भी वहाँ मिली हैं, जिनमें उन्हें शेषनाग पर लेटे हुए दिखाया गया है। विष्णु की शक्ति श्री या लक्ष्मी थी। लक्ष्मी की भी चार भुजाएँ बनायी गई हैं, और उनमें उन्हें चमर, माला आदि लिये हुए प्रदर्शित किया गया है। विष्णु के वाहन गरुड़ और कार्तिकेय (स्कन्द) के वाहन मयूर की मूर्तियाँ भी जावा में मिली हैं। इन द्वीपों के निवासी भारत की उन पौराणिक मान्यताओं में भी आस्था रखते थे, जिनमें कृष्ण, राम, मत्स्य, वराह और नरसिंह को अवतारों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनकी मूर्तियाँ भी वहाँ से उपलब्ध हुई हैं। एक मूर्ति में जावा के प्रतापी राजा एलँग को वराहावतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारत के इतिहास में म्लेच्छों से उद्विज्यमान पृथिवी का गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त ने उसी प्रकार से उद्धार किया था, जैसे कि प्रलयगत पृथिवी का वराहावतार ग्रहण कर भगवान् ने किया था।' जो कार्य भारत में चन्द्रगुप्त ने किया, वही जावा में एलँग द्वारा किया गया था। इसीलिये उसे भी वराहावतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रह्मा की बहुत कम मूर्तियाँ मिली हैं। प्राचीन काल में भारत में भी प्रधानतया शिव और विष्णु की ही पूजा की जाती थी। वही दशा जावा आदि में भी थी। वहाँ ब्रह्मा की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें उन्हें 'चतुरानन' रूप से प्रस्तुत किया गया है, और उन्हें हंस पर आरूढ़ तथा माला, चमर, कमल और कमण्डल लिये हुए दिखाया गया है। ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती मानी जाती थी। उनका वाहन हंस था। हंस पर आरूढ़ देवी सरस्वती की भी कुछ मूर्तियाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों से प्राप्त हुई हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति की भी वहाँ पूजा की जाती थी। इनमें बीच में शिव का मुख बनाया गया है, और उसके दोनों ओर ब्रह्मा तथा विष्णु का। पौराणिक हिन्दू धर्म के यम, वरुण, अग्नि, इन्द्र, कुबेर और सूर्य आदि अन्य देवताओं की पूजा भी दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रचलित थी, और इनकी मूर्तियां भी वहाँ मिली हैं। सात अश्वों द्वारा खींचे जाते हुए रथ पर आरूढ़ सूर्य तथा पुष्पबाण लिये हुए कामदेव की अनेक कलात्मक मूर्तियाँ भी जावा आदि में बनायी गई थीं। वहाँ एक अन्य प्रकार की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिन्हें भटार गुरु की मूर्तियाँ कहा जाता है। ये खड़े रूप में हैं, इनका पेट बहुत बढ़ा हुआ है, दाढ़ी तथा मूंछें नोकीली हैं, और हाथों में त्रिशूल, कुम्भ, चमर तथा माला है। कुछ विद्वानों के मत में ये महायोगी शिव की मूर्तियाँ हैं, और कुछ इन्हें कुम्भोद्भव अगस्त्य की मूर्तियाँ मानते हैं। जावा के अनेक अभिलेखों से भी वहाँ अगस्त्य की पूजा का संकेत मिलता है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार अगस्त्य ने समुद्र को सुखा कर मनुष्यों के लिये आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। इस दशा में समुद्रपार के प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करने वाले भारतीय यदि अगस्त्य की पूजा करते हों, तो यह स्वाभाविक ही था। इस क्षेत्र की

मूर्तियाँ प्रधानतया पत्थर की हैं, पर ऐसी मूर्तियाँ भी अच्छी बड़ी संख्या में हैं, जिनके निर्माण के लिये पीतल, कांस्य सदृश धातुओं का प्रयोग किया गया है। भारत के पौराणिक हिन्दूधर्म में शायद ही कोई ऐसा देवी-देवता हो, जिसकी मूर्ति दक्षिण-पूर्वी एशिया के जावा आदि द्वीपों में न पाई गई हो। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन समय में इन द्वीपों में पौराणिक धर्म का पूर्ण रूप से प्रचार रह चुका है। वहाँ ऐसा साहित्य भी विकसित हुआ, जो भारत के धार्मिक साहित्य पर आधारित था। जावा के इस पुराने साहित्य में विविध देवी-देवताओं की वैसी ही कथाएँ पायी जाती हैं, जैसी कि भारत की पुराणों में हैं।

बौद्ध धर्म—पांचवीं सदी के प्रारम्भ में चीनी यात्री फाइयान भारत से वापस जाते हुए जब जावा गया था, तो वहाँ पौराणिक धर्म का प्रचार था। गुणवर्मा द्वारा वहाँ किस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रचार का सूत्रपात किया गया, यह पहले लिखा जा चुका है। यद्यपि गुणवर्मा के प्रभाव से जावा की राजमाता तथा राजा ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, पर अभी वह जावा का प्रधान धर्म नहीं बना था। पौराणिक हिन्दू धर्म वहाँ फलता फूलता रहा, यद्यपि उसके साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी वहाँ प्रचार होता रहा। शुरू में जावा तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों में बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय के सर्वास्तिवादी निकाय का प्रचार हुआ था। पर आठवीं सदी में वहाँ महायान सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ, और उसने शीघ्र ही वहाँ से हीनयान का अन्त कर दिया। अब इन द्वीपों में पौराणिक हिन्दू धर्म और महायानी बौद्ध धर्म साथ-साथ कायम रहे, और उनमें विरोध या विद्वेष के कोई संकेत वहाँ नहीं मिलते। शैलेन्द्र राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। लिगोर (मलाया) के एक अभिलेख के अनुसार श्रीविजय के राजा के आदेश से राजस्थविर (राजगुरु) जयन्त के तीन बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था। शैलेन्द्र राजा श्रीवालपुत्रदेव ने नालन्दा (भारत) में भी एक विहार बनवाया था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। आठवीं सदी में जावा पर भी शैलेन्द्र राजाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। क्योंकि ये राजा बौद्ध थे, अतः इनके शासन काल में जावा में भी इस धर्म का उत्कर्ष हुआ, और प्रतापी शैलेन्द्र सम्राटों के संरक्षण में इस धर्म ने वहाँ प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। आठवीं और नौवी सदियों में जावा में अनेक विशाल बौद्ध मन्दिरों व चैत्यों का निर्माण हुआ, जिनमें बरोबदूर का चैत्य सबसे अधिक महत्त्व का है। उसके अतिरिक्त चण्डी कालसन, चण्डी सरी और चण्डी सेवू आदि के मन्दिर भी इसी काल में बने। इसी अध्याय के अगले प्रकरण में इनका परिचय दिया जायेगा। शैलेन्द्र राजाओं की राजधानी श्रीविजय (सुमात्रा में) थी। यह नगरी बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी, और चीन के बौद्ध भारत आते हुए और भारत के बौद्ध चीन जाते हुए प्रायः वहाँ ठहरा करते थे। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में यि-त्सिंग ने वहाँ अनेक वर्ष बिताये थे, और वहाँ रहकर संस्कृत भाषा व बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसी समय के लगभग कांची के निवासी और नालन्दा के आचार्य धर्मपाल ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र की यात्रा की थी। ग्यारहवीं सदी में मगध का प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान अतीश भी वहाँ गया था। श्रीविजय

और जावा आदि बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के लिये बहुत महत्त्व प्राप्त कर गये थे। यह इस बात से सूचित होता है, कि वहां से अनेक प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, यद्यपि अब वहां बौद्ध धर्म का पूर्ण रूप से लोप हो चुका है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का ही मुख्य रूप से प्रचार हुआ था। इस सम्प्रदाय में बहुत-से देवी देवताओं की पूजा की जाती थी, और इस प्रयोजन से उनकी मूर्तियां भी प्रतिष्ठापित की जाती थीं। ये देवी देवता प्रायः उसी प्रकार के थे, जैसे कि पौराणिक हिन्दू धर्म में थे। महायान में आदि-बुद्ध के अतिरिक्त पांच ध्यानी बुद्धों की पूजा की जाती थी, जिनके नाम वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघसिद्धि थे। बुद्ध पद को प्राप्त करने के लिये यत्न तथा साधना में तत्पर व्यक्तियों को इस सम्प्रदाय में बोधिसत्त्व कहा जाता था। अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री, वज्रपाणि, मैत्रेय, आकाशगर्भ आदि मुख्य बोधिसत्त्व थे, जिनकी देवताओं के समान पूजा की जाती थी। बोधिसत्त्व-रूपी देवताओं के समान अनेक देवियों ने भी महायान मत में स्थान प्राप्त कर लिया था, जिनमें तारा, प्रज्ञापारमिता और श्रीमहादेवी प्रधान थीं। जावा, सुमात्रा आदि में इसी महायान सम्प्रदाय का प्रचार हुआ था, अतः वहां इन देवी-देवताओं की भी अनेक मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। विशेषतया, मैत्रेय तथा मञ्जुश्री बोधिसत्त्व और तारा देवी की मूर्तियां वहां अधिक संख्या में मिली हैं। आठवीं सदी से भारत के महायान में एक अन्य सम्प्रदाय का विकास शुरू हो गया था, जिसे वज्रयान कहते हैं। इसमें गुह्य सिद्धियों पर विश्वास किया जाता था, और पूजा के लिये तान्त्रिक साधनों का उपयोग होता था। भारत के साथ-साथ जावा आदि के महायान में भी वज्रयानी सिद्धान्तों का प्रवेश हुआ, और समयान्तर में वहां बौद्ध धर्म का प्रधान रूप वही रह गया, जिसका प्रतिपादन वज्रयान द्वारा किया जाता था। इस सम्प्रदाय में तान्त्रिक साधना के लिये पञ्चमकारों (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन) का प्रयोग आवश्यक था, और साथ ही मन्त्रशक्ति का प्रयोग कर अनेकविध तान्त्रिक अनुष्ठान भी किए जाते थे। सिंहसारि का राजा कृतनगर किस प्रकार पञ्चमकारों के सेवन तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों में तत्पर रहता था, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है।

पौराणिक और बौद्ध धर्मों में समन्वय दक्षिण-पूर्वी एशिया के पुराने धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी, कि धीरे-धीरे वहां बौद्ध तथा पौराणिक हिन्दू धर्मों में समन्वय हो गया था, और उनके देवी-देवताओं में अभेद माना जाने लगा था। जिस प्रकार पौराणिक धर्म में विष्णु और शिव में अभेद मानकर हरिहर की संयुक्त मूर्ति बनने लगी थी, वैसे ही जावा में बुद्ध और शिव में अभेद मानकर उनकी भी संयुक्त मूर्तियां बनायी गई थीं। जावा आदि में राजा को दैवी माना जाता था, और वहां यह प्रथा थी कि राजा की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्मृति में शिव या बुद्ध सदृश देवताओं की जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की जाएँ, उन पर राजा की मुखाकृति की छाप हो। सिंहसारि के राजा विष्णुवर्धन की १२६८ ईस्वी में जब मृत्यु हुई, तो वलेरी में शिव के रूप में उसकी मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई, और जजघू में बुद्ध के रूप में। राजा कृतनगर की

मृत्यु (१२९२) होने पर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया शिव-बुद्ध देवालय में हुई थी, जहाँ संयुक्त शिव-बुद्ध के रूप में उसकी एक सुन्दर मूर्ति भी स्थापित की गई थी। उसकी एक मूर्ति भैरव के रूप में भी बनायी गई थी, जो आजकल लीडन (हालैण्ड) में है। सुरबया में ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की एक मूर्ति है, जिसे कृतनगर की मुखाकृति के अनुरूप बताया गया है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण जावा के इतिहास से दिए जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध तथा पौराणिक हिन्दू धर्मों में समन्वय स्थापित हो गया था, और उनमें विरोध का कोई कारण नहीं रहा था। इन दोनों धर्मों में समन्वय हो जाने के परिणामस्वरूप वहाँ के धर्म ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया था, जिसे शिव-बुद्ध सम्प्रदाय या शिवमार्ग और बुद्धमार्ग दोनों कहा जाता था। इसीलिये पररतोन में राजा कृतनगर को शिव-बुद्ध कहा गया है, और नागरकृतागम में उसके देहावसान को इस रूप में प्रगट किया गया है, कि उसने 'शिवबुद्धलोक' की प्राप्ति कर ली थी।

पौराणिक और बौद्ध धर्मों में अभेद एवं समन्वय हो जाने पर भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन द्वीपों में पूजा तथा कर्मकाण्ड आदि की प्रायः वही विधि प्रचलित रही, जो भारत के सनातनी हिन्दुओं में थी। मलाया, सुमात्रा, जावा आदि से अब भारतीय धर्मों का लोप हो चुका है, और वहाँ के लोगों ने इस्लाम को अपना लिया है। पर जावा के पूर्व में बाली नाम का एक छोटा-सा द्वीप है, जिसमें धर्म की वही परम्परा इस समय भी विद्यमान है, जो इस्लाम के प्रचार से पहले जावा आदि सर्वत्र थी। पिछले अध्याय में हम यह लिख चुके हैं, कि इस्लाम से अपने धर्म की रक्षा करने के लिए जावा के बहुत-से लोग बाली जाकर बस गए थे। इस दशा में बाली में धर्म का जो रूप वर्तमान समय में है, उससे यह भलीभाँति जाना जा सकता है, कि इस्लाम के प्रचार से पूर्व जावा आदि में भी धर्म का क्या रूप था। बाली के धर्म में सूर्य के रूप में शिव की पूजा का प्रमुख स्थान है। इसे सूर्य-सेवन कहते हैं, और यह पूजा पदण्ड (पंडित) द्वारा करायी जाती है। गृह्यसूत्रों में जिन विविध संस्कारों (जातकर्म, मुण्डन, नामकरण, विवाह आदि) का विधान किया गया है, बाली में उनका निष्ठापूर्वक अनुष्ठान किया जाता है, और वहाँ अनेक सामूहिक धार्मिक उत्सव भी मनाये जाते हैं, लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा के लिये विशिष्ट समयों पर तथा पूर्णिमा के दिन आयोजन किया जाता है। पितरों के श्राद्ध का बाली के धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूजा और श्राद्ध आदि वेदशास्त्रों के मन्त्रों द्वारा किये जाते हैं, और महाकाल, दुर्गा आदि की पूजा के लिये पशुबलि भी वहाँ दी जाती है। पूजा की सामग्री में घृत, मधु, कुशा तथा तिलों को प्रयुक्त किया जाता है, और पूजा कराने वाले पदण्ड को दक्षिणा देने की भी वहाँ प्रथा है। पदण्ड प्रायः ब्राह्मण वर्ण का होता है, और संस्कृत तथा कवि (जावा तथा बाली की पुरानी स्थानीय भाषा) भाषाओं और धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान गुरु से प्राप्त करके ही वह इस पद का अधिकारी बनता है। बाली में गंगा, यमुना, सरयू, सिन्धु, कावेरी और नर्मदा नाम की नदियाँ विद्यमान हैं, पर भारत की इन नाम की नदियों के समान वहाँ की इन नदियों के जल को पवित्र नहीं माना जाता। पर क्योंकि भारत की परम्परा के अनुसार धार्मिक

पूजापाठ के लिये पवित्र नदियों के जल का उपयोग आवश्यक है, अतः बाली की गंगा आदि नदियों के जल को मन्त्रपूत कर धार्मिक कृत्यों में उसका उपयोग किया जाता है। बाली में अब तक भी संस्कृत भाषा तथा वेद, सूत्रग्रन्थ, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का पठन-पाठन जारी है। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो आदि अन्यत्र धर्म की क्या दशा थी, इसका अनुमान बाली के धर्म से किया जा सकता है।

(३) पुरातन अवशेष तथा कला

मलायीसिया और इन्डोनीसिया के क्षेत्र में जावा ही एक ऐसा द्वीप है, जहाँ प्राचीन मन्दिर और चैत्य इस समय भी विद्यमान हैं। शैलेन्द्र साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय सुमात्रा में थी, और मलाया प्रायद्वीप में भी अनेक समृद्ध भारतीय राज्य प्राचीन समय में विद्यमान थे। इनमें भी बहुत-से विशाल मन्दिरों और चैत्यों का निर्माण किया गया होगा, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है। पर वहाँ के पुराने पौराणिक व बौद्ध धर्मस्थान अब नष्ट हो चुके हैं, और उनके खण्डहर ही कहीं-कहीं दिखायी देते हैं। पर जावा के प्राचीन मन्दिर व चैत्य पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में हैं, यद्यपि वहाँ के निवासी भी अब इस्लाम को अपना चुके हैं। सबसे पूर्व हम इनका परिचय देंगे।

दिएंग के मन्दिर—मध्य जावा में समुद्रतल से ६५०० फीट ऊँचा दिएंग का पथार है, जो चारों ओर पहाड़ों से घिरा हुआ है। यह समतल पथार ८००० फीट लम्बा और २५०० फीट चौड़ा है। इस स्थान पर जावा के सबसे पुराने मन्दिर विद्यमान हैं, जिनका निर्माण सातवीं या आठवीं सदी में हुआ था। दिएंग के ये मन्दिर पाण्डवों के मन्दिर के नाम से विख्यात हैं, और इनकी कुल संख्या आठ है। इनमें या इनके समीप जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु आदि पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। कतिपय मूर्तियों में उनके वाहन भी बनाये गए हैं। दिएंग के इन मन्दिरों का वर्णन करते हुए एक यूरोपियन लेखक ने लिखा था, कि इस विलक्षण तथा शान्त मैदान में भीम का मन्दिर बायीं ओर खड़ा है और अर्जुन का मन्दिर दायीं ओर। पहाड़ों और आकाश की पृष्ठभूमि में उनके गहरे मटमैले रंग का पृथिवी के हरे और आकाश के नीले रंग के साथ अद्भुत मेल है। स्वच्छ आकाश के कारण कभी तो वे इतने समीप मालूम होते हैं मानों उन्हें छुआ जा सके, पर अगले क्षण वे बहुत दूर हो जाते हैं, इतनी दूर कि वहाँ पहुंचा ही नहीं जा सकता।...मैदान के चारों ओर, पहाड़ की ढलान तथा चोटी तक घर पुराने ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। यहाँ कुछ पाषाण-स्तम्भ गड़े हुए हैं, लोकप्रचलित कथानक के अनुसार वहाँ अर्जुन अपने हाथियों को बाँधा करता था। उसकी गौवें रात को यहाँ पर एक गुहा में विश्राम किया करती थीं। यहाँ कहीं राख की तह पड़ी हुई मिलती है जिससे आग लगाना सूचित होता है। इस राख में कभी-कभी सोने की अँगूठियाँ, कंकण और अन्य आभूषण मिल जाते हैं। पुराने समय की पुष्करिणियाँ, दीवारें, सीढ़ियाँ और मकानों की नींवें इन मन्दिरों के चारों ओर विद्यमान हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है, कि किसी प्राचीन समय में दिएंग पौराणिक धर्म का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा

होगा। यह स्थान जावा के किसी भी राज्य की कभी राजधानी नहीं रहा। यह एक तीर्थस्थान था, जहाँ बहुत-से मन्दिर विद्यमान थे।

दिएंग के मन्दिर गुप्तकाल की शैली के हैं। वे परिमाण में विशाल न होकर छोटे आकार के और घन आकृति के हैं। गर्भगृह में केवल एक-एक प्रवेशद्वार है, और मन्दिर के ऊपर की छत चौरस है, जो ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। मन्दिरों के अलंकरण अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक हैं।

चण्डी कालसन—शैलेन्द्र राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जब उन्होंने जावा को भी अपने अधीन कर लिया, तो वहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रचार होने लगा और शैलेन्द्र राजाओं द्वारा वहाँ बहुत-से चैत्यों तथा स्तूपों का निर्माण कराया गया। ऐसा सबसे पुराना चैत्य या मन्दिर चण्डी कालसन का है, जिसके ७७८ ईस्वी के अभिलेख से यह सूचित होता है कि उसे एक शैलेन्द्र राजा ने देवी तारा के लिए बनवाया था। अभिलेख में कालस गांव के बौद्ध संघ को दान में दिये जाने का उल्लेख है। इसीलिये तारा के लिये निर्मित चैत्य या मन्दिर का नाम चण्डी कालसन पड़ा। जावा में मन्दिरों के लिये चण्डी शब्द प्रयुक्त किया जाता था। चिरकाल तक उपेक्षित रहने और विधर्मियों के प्रकोप के कारण इस मन्दिर का बहुत-सा भाग अब नष्ट हो गया है। पर जो शेष बचा है, वह आठवीं सदी की वास्तुकला तथा धार्मिक दशा का परिज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है। मन्दिर एक चौकोर चबूतरे पर खड़ा है, जो बारह फीट तक बाहर की ओर निकला हुआ है। मन्दिर का मुख्य भाग भी चौकोर है। उसके प्रधान द्वार के ऊपर विशाल कीर्तिमुख बना है, जिस के मुख से पाँच कमल लटक रहे हैं। द्वार पर बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ अंकित हैं। द्वार के दोनों ओर दीवारों के ऊपरी भाग पर सुन्दर रूपावलियाँ हैं। जहाँ से छत प्रारम्भ होती है, वहाँ बुद्ध की मूर्तियाँ पंक्ति में बनी हुई हैं। इनमें चार ध्यानी बुद्धों (अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ और अमोघ सिद्धि) की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के भीतरी भाग की पीछे की दीवार में आसनपीठ बने हैं, जिनमें कभी मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित रही होंगी, पर अब उनका पता नहीं है। पिछली दीवार के साथ मूर्ति के लिए जिस सिंहासन का निर्माण कराया गया था, वह अब भी विद्यमान है। पर उस पर तारा देवी की जो मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी, वह अब नहीं है।

चण्डी सरी—चण्डी कालसन से आधा मील उत्तर में चण्डी सरी का मन्दिर है, जो अब अत्यन्त ध्वस्त दशा में है। इसके प्रस्तर खण्डों तथा मलबे को लोग सदियों से नये मकान बनाने के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं। मूल दशा में यह एक दोमञ्जिली इमारत थी, जिसकी लम्बाई ५७ फीट और चौड़ाई ३२ फीट थी। नीचे की मञ्जिल में मन्दिर था, और ऊपर की मञ्जिल को निवास के लिये विहार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। दोनों मञ्जिलों पर तीन-तीन सिंहासन थे, जिन पर बौद्ध मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई थीं। मन्दिर को सब ओर से विविध कलात्मक मूर्तियों द्वारा विभूषित किया गया था। जो मूर्तियाँ अब शेष बच रही हैं, वे अत्यन्त सुन्दर हैं।

चण्डी सेवू—चण्डी सरी के पूर्व में चण्डी सेवू के मन्दिर हैं। यहाँ ७८२ ईस्वी

का एक अभिलेख मिला है, जिससे इस मन्दिर का शैलेन्द्रों के प्रारम्भिक काल में निर्मित होना सूचित होता है। यहाँ कोई एक मन्दिर न होकर बहुत-से मन्दिर हैं, जो एक लम्बे-चौड़े दायरे में बने हैं। ६०० फीट लम्बे और ५४० फीट चौड़े एक सुविस्तृत आँगन के चारों ओर दो पंक्तियों में मन्दिर बनाये गए हैं, जिनकी संख्या १६८ है। आँगन के मध्य में मुख्य मन्दिर हैं, जो दो अन्य पंक्तियों में बने ७२ मन्दिरों से घिरा हुआ है। इस प्रकार यहाँ कुल मिलाकर २४० मन्दिर थे, जिनसे बीच का मुख्य मन्दिर घिरा हुआ था। इनके अतिरिक्त दस अन्य मन्दिरों के भी चिह्न यहाँ विद्यमान हैं, जो मन्दिरों की भीतरी और बाहरी पंक्तियों के बीच में हैं। यदि इन्हें भी सम्मिलित कर लिया जाए, तो चण्डी सेवू में मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त २५० अन्य मन्दिर थे। मुख्य मन्दिर चालीस वर्ग गज के एक ऊँचे चबूतरे पर खड़ा है, इसके चारों ओर चार द्वार हैं। मन्दिर की दीवारों को अलंकृत करने के लिए पत्र-पुष्पों, पशु-पक्षियों तथा अन्य आकृतियों का प्रयोग किया गया है। बीच का मन्दिर बहुत ऊंचा है, और उसके दोनों ओर के मन्दिरों की ऊँचाई निरन्तर कम होती गई है। इस कारण इस मन्दिर समूह ने एक अत्यन्त भव्य तथा आकर्षक रूप प्राप्त कर लिया है। ये सब मन्दिर किसी एक ही व्यक्ति द्वारा बनवाये हुए नहीं हैं। एक मन्दिर पर लिखा है—"महाप्रत्तय सन रङ् गुङ् तिङ्" जिसका अर्थ है रङ् गुङ् तिङ् का दान। इसी प्रकार के लेख अन्य मन्दिरों पर भी पाये गए हैं, जिनसे उनका विभिन्न व्यक्तियों द्वारा बनाया जाना सूचित होता है। एक सदी से कुछ पहले एक दर्शक ने चण्डी सेवू के विषय में लिखा था, कि इसकी कला बहुत ही सुरुचिपूर्ण कोमल एवं परिमार्जित है। उस समय जो मन्दिर-मूर्तियाँ व अलंकरण वहां विद्यमान थे, वे अब प्रायः ध्वस्त व लुप्त हो चुके हैं। पर जो अब भी शेष बचे हैं, वे चण्डी सेवू के महत्त्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

चण्डी कालसन, चण्डी सरी और चण्डी सेवू के ये मन्दिर मध्य जावा की प्रम्बनन घाटी में हैं।

चण्डी मेन्दुत और चण्डी पवान—प्रम्बनन की घाटी के दक्षिण पूर्व और दिएंग पथार के उत्तर-पश्चिम में केदू का मैदान है; जहाँ बहुत-से पुराने मन्दिरों के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। ये भी आठवीं सदी के लगभग के हैं, और ये बौद्ध और पौराणिक दोनों धर्मों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि बहुत-से मन्दिर ध्वस्त दशा में हैं, पर वहाँ चंडी मेन्दुत तथा चंडी पवान के मन्दिर इस समय भी पर्याप्त रूप से अच्छी दशा में हैं। चंडी मेन्दुत का मन्दिर ९० फीट लम्बे, ७८ फीट चौड़े और ६६ फीट ऊंचे चबूतरे पर बना है। वह चौकोर है, और १५ वर्गगज उसका क्षेत्र है। मन्दिर की दीवारों पर सुन्दर मूर्ति-पंक्तियां हैं, जिनमें मध्य की मूर्तिपंक्ति के उत्तर-पूर्व में पद्मासना अष्टभुजा देवी की मूर्ति है। इस देवी के दोनों ओर प्रभामण्डित दो मनुष्य मूर्तियां हैं, जिनके एक हाथ में कमल और दूसरे में चक्र है। देवी के दायें वाले हाथों में शंख, वज्र, बिल्व तथा माला है, और बायें वाले हाथ में परशु, अंकुश, पुस्तक और कोई गोल वस्तु है। इस मूर्तिपंक्ति के सामने की ओर पद्मसर से तीन पद्मासन उठते हुए दिखाये गए है, जिनमें बीच वाला अन्य दो से ऊंचा है। इस ऊँचे पद्मासन पर एक देवी आसीन हैं, जिसके दो

हाथ ध्यानमुद्रा में गोद में पड़े हैं और शेष दो में से एक में माला और दूसरे में पुस्तक है। पार्श्ववर्ती दो पद्मासनों पर दो अन्य मूर्तियां हैं। मेन्दुत के इस मन्दिर में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की भी बहुत-सी मूर्तियां हैं। इनमें एक पत्थर से बनी दस फीट ऊँची बुद्ध-मूर्ति है, जिसके पादपीठ में एक चक्र के दोनों ओर दो मृग बने हैं। इस मूर्ति में बुद्ध को धर्म-चक्रप्रवर्तन करते हुए दिखाया गया है। बुद्ध की मूर्तियां साधारण चीवर में बिना किसी सजावट के हैं, पर अवलोकितेश्वर और मञ्जुश्री की मूर्तियों को वस्त्राभूषणों से अलंकृत रूप से बनाया गया है। चंडी मेन्दुत की ये तीन मूर्तियां दक्षिण-पूर्वी एशिया की मूर्तिकला की सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। भारत में भी बुद्ध की इतनी सुन्दर मूर्तियां गुप्त युग में ही बनी थीं। मेन्दुत मन्दिर के चारों ओर एक विशाल आंगन है, जो ३६० फीट लम्बा और १६५ फीट चौड़ा है। किसी समय इस में भी उसी प्रकार से अनेक मन्दिर रहे होंगे, जैसे कि चंडी सेवू में हैं।

चंडी मेन्दुत से १२५७ गज दूर चंडी पवान का मन्दिर है। यह एक छोटी, पर अत्यन्त सुन्दर इमारत है। यह भी पहले अनेक रूपावलियों तथा मूर्तिपंक्तियों से विभूषित था। पर अब इसका बहुत-सा भाग ध्वस्त हो चुका है। इसके समीप अन्य भी अनेक मन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं।

बरोबदूर—मेन्दुत और पावन के मन्दिरों को मिलाने वाली रेखा को यदि सीधे १६१३ गज और आगे बढ़ाया जाए, तो बरोबदूर का महाचैत्य आ जाता है। यह एक पहाड़ी की चोटी पर बना है, और इससे केदू के हरे-भरे मैदान तथा उसके चारों ओर के पहाड़ों का अत्यन्त सुन्दर दृश्य दिखायी देता है। संसार के किसी भी भाग में कला को अपनी अभिव्यक्ति के लिये इतना सुन्दर प्राकृतिक स्थान नहीं मिला। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से यह स्थान जितना मनोरम है, वास्तुकला ने उससे भी बढ़कर अपना चमत्कार यहाँ प्रदर्शित किया है। यह महाचैत्य नौ चबूतरों या चक्करों से मिल कर बना है, जिनमें से प्रत्येक ऊपर का चक्कर अपने से नीचे वाले चक्कर की तुलना में थोड़ा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे उपरले चक्कर के ऊपर घण्टाकार चैत्य है। नौ चक्करों या चबूतरों में सबसे निचले छह सीधी रेखा के कोणों वाले हैं, वे गोलाकार न होकर समकोण चतुर्भुजों के रूप में हैं। ऊपर के तीन चक्कर गोलाकार हैं। सब से निचले चक्कर की लम्बाई ४०० फीट है, और सबसे ऊपर वाले की ९० फीट। नीचे के पाँच चक्कर भीतर की ओर एक बाढ़ या दीवार से इस तरह घिरे हुए हैं, कि एक चक्कर और उससे ऊपर वाले चक्कर के बीच में एक गलियारा बन गया है। सब से ऊपर के तीन चक्कर स्तूपों से घिरे हुए हैं, और इन स्तूपों में छिद्रवाली छत के नीचे बुद्ध की एक-एक मूर्ति बनी हुई है।

महाचैत्य के विविध चक्करों या चबूतरों की दीवारों पर रूपावलियाँ अंकित हैं, और उनके बीच-बीच में गवाक्ष बने हैं, जिनमें से प्रत्येक में ध्यानी बुद्धों की एक-एक मूर्ति प्रतिष्ठापित है। सारे महाचैत्य में ऐसी ४३२ मूर्तियां हैं। ध्यानी बुद्धों की मूर्तियों को गवाक्षों में स्थापित करते हुए यह ध्यान में रखा गया है, कि अक्षोभ्य की मूर्तियां पूर्व की ओर के गवाक्षों में हों, रत्नसम्भव की दक्षिण की ओर के गवाक्षों में, अमिताभ

की पश्चिम की ओर के गवाक्षों में और अमोघसिद्धि की उत्तर वाले गवाक्षों में। पाँचवे चक्कर के गवाक्षों में सभी मूर्तियाँ वैरोचन की हैं। चक्करों की दीवारों पर जो रूपावलियाँ हैं, वे सब भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं, पर मूर्तिकला की दृष्टि से सब उत्कृष्ट हैं। नीचे के पाँच चक्करों में भीतर की ओर बनायी गई बाढ़ के कारण जो गलियारे बन गए हैं, वे प्रायः साढ़े छः फीट चौड़े और आठ फीट से साढ़े बारह फीट तक ऊँचे हैं। इनमें बनी रूपावलियों में बुद्ध की जीवनी को प्रस्तरों पर उत्कीर्ण किया गया है। इस प्रकार जो चित्र इस महाचैत्य में अंकित हैं, उन्हें यदि एक साथ लगा दिया जाए, तो उनकी लम्बाई साढ़े तीन मील तक हो जाएगी। इन चित्रों में नाग, किन्नर, यक्ष, राक्षस, काल मकर, कल्पवृक्ष, पारिजात, हंस तथा कितने ही अन्य पशुपक्षी अंकित हैं, जिन्हें बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसी कथानक के प्रसंग में प्रदर्शित कर दिया गया है। गलियारों के दोनों पार्श्वों में ऊपर के चक्कर में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनायी गई हैं, जिनके ऊपर मेहराव बने हैं। मेहरावों के बीच में कीर्तिमुख हैं, जिनसे फूल लटक रहे हैं। द्वारों के ऊपर मूर्ति-गवाक्षों की तरह मूर्तिशिखर बने हैं। द्वार अत्यन्त कलात्मक ढंग से अलंकृत हैं, और उन्हें इस प्रकार से बनाया है कि उनमें से किसी एक से भी सभी द्वारों तथा सीढ़ियों का सुन्दर दृश्य सम्मुख आ जाता है। वर्षा के पानी के निकलने के लिए प्रत्येक चक्कर में बीस-बीस प्रणालिकाएँ बनी हुई हैं। ऊपर के तीन गोलाकार चक्करों को रूपावलियों से विभूषित नहीं किया है। इन तीन चक्करों के व्यास क्रमशः १७१, १२६ और ९० फीट हैं, और इनके साथ-साथ जो स्तूप बनाये गए हैं, उनकी संख्या क्रमशः ३२, २४ और १६ है। इन स्तूपों की बनावट प्रायः एक-सदृश है।

बरोबदूर के महाचैत्य के गलियारों में सब मिलाकर १५०० चित्रफलक या रूपावलियाँ हैं। इन सब का सम्बन्ध बुद्ध के जीवनवृत्त या उनके पूर्व जन्मों के कथानकों से है। इनमें कहीं सर्वसाधारण के दैनिक जीवन के चित्र हैं, जैसे विविध प्राणियों के वध व बन्धन के दृश्य। कहीं नरक की भीषणता और स्वर्ग का आनन्द चित्रित किया गया है। कुछ चित्रों के नीचे छोटे-छोटे लेख भी हैं। सब से निचले गलियारे की ऊपरी पंक्ति में बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर के अनुसार बुद्ध का जीवन अंकित है, और निचली पंक्ति में जातकों की कथाएँ। अन्य पंक्तियों के चित्रों का निर्माण भी किन्हीं बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ही किया गया है। बरोबदूर के इस महाचैत्य के काल के सम्बन्ध में विद्वानों को यह मत अभिप्रेत है, कि इसका निर्माण ७५० से ८५० ई० के बीच में हुआ था। इस समय में जावा पर प्रतापी शैलेन्द्र सम्राटों का शासन था, और उन्हींके संरक्षण में इस महाचैत्य का निर्माण हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन अवशेषों में यही सब से महत्त्वपूर्ण एवं विशाल है, और इसे संसार के आश्चर्यों में गिना जाता है।

चण्डी लर जोंग्रङ्ग—प्रम्बनन की जिस घाटी में चण्डी कालसन, चण्डी सरी और चण्डी सेवू के बौद्ध मन्दिर हैं, उसी में चण्डी लर-जोंग्रंग के मन्दिर भी हैं जो पौराणिक देवी-देवताओं के हैं। यहाँ आठ मुख्य मन्दिर हैं। तीन-तीन मन्दिर दो पंक्तियों में बने

हैं, और इन पंक्तियों के बीच में दो मन्दिर विद्यमान हैं। इन मुख्य मन्दिरों के चारों ओर एक दीवार बनी है। इसे छोटे-छोटे मन्दिरों की तीन पंक्तियों ने घेरा हुआ है। इस प्रकार लर-जोंग्रंग में जो बहुत-से मन्दिर बने हुए हैं, उनकी कुल संख्या १५६ है। आठ मुख्य मन्दिरों में जो तीन पश्चिम की ओर की पंक्ति में बने हैं, उनमें बीच का मन्दिर सब से बड़ा और सब से प्रसिद्ध है। इसमें शिव की मूर्ति प्रतिष्ठापित है, इसका आधार भाग ६० फीट लम्बा और १० फीट ऊँचा है। इसके ऊपर एक चबूतरा बना है, जिसके ऊपर मन्दिर स्थित है। मन्दिर के चारों ओर सात फीट चौड़ा प्रदक्षिणपथ है। मन्दिर, चबूतरा और उसका जंगला बहुत-सी रूपावलियों द्वारा अलकृत है, जिनमें रामायण की कथा को अंकित किया गया है। शिव मन्दिर की रूपावलियों में लंका पर अभियान तक के दृश्य पाये जाते हैं, और आगे की कथा ब्रह्मा के मन्दिर की रूपावलियों में अंकित की गई है। मध्यवर्ती शिव मन्दिर के दोनों ओर ब्रह्मा और विष्णु के मन्दिर हैं। विष्णु के मन्दिर में कृष्णलीला-सम्बन्धी चित्र भी उत्कीर्ण हैं, लर-जोंग्रग के ये मन्दिर कला, सौन्दर्य तथा विशालता की दृष्टि से बरोबदूर के प्रायः समकक्ष हैं। रामायण आदि के जो चित्र इनमें अंकित हैं, कला और सजीवता में वे बरोबदूर के चित्रों से हीन न होकर उत्कृष्ट ही हैं। चण्डी लर-जोंग्रंग के इन मन्दिरो का निर्माण-काल नौवीं सदी में माना जाता है।

प्रम्बनन के क्षेत्र में ही चण्डी बनोन का मन्दिर भी है, जिसमें शिव, अगस्त्य और विष्णु की मूर्तियां विद्यमान हैं। सौन्दर्य और कला में ये मूर्तियां अनुपम हैं।

पूर्वी जावा के मन्दिर—जिन मन्दिरों का उल्लेख हमने ऊपर किया है, वे मध्य जावा के हैं। दसवीं सदी के द्वितीय चरण में पूर्वी जावा का उत्कर्ष प्रारम्भ हो गया था, और इस समय से वहां की राजशक्ति वहीं केन्द्रित होने लग गई थी। इसलिए दसवीं सदी से पूर्वी जावा में भी अनेक मन्दिरों व चैत्यों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिनमें से कुछ वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं। ये प्रायः तेरहवी सदी और उसके बाद के है, और इनमे से अनेक दिवंगत राजाओं की समाधि के रूप में बनाये गए थे। इन मन्दिरों में चण्डी किदल, चण्डी जगो, चण्डी जवी और चण्डी सिंहसारि उल्लेखनीय है। इनमे चण्डी जगो का विशेष महत्व है। उसका निर्माण सिंहसारि के राजा विष्णुवर्धन की समाधि के रूप में किया गया था। विष्णुवर्धन की मृत्यु १२६८ ई० में हुई थी, अतः इस मन्दिर को तेरहवीं सदी के मध्य भाग का माना जा सकता है। इस मन्दिर में जो मूर्ति है, वह बुद्ध की है पर उसकी मुखाकृति विष्णुवर्धन के मुख की अनुकृति में बनायी गई है। यह मन्दिर तीन चबूतरों पर बना है, और उसमें ऊपर के चबूतरे नीचे वाले चबूतरे से छोटे होते गए हैं। चण्डी किदल का निर्माण राजा अनूष्पति की समाधि के रूप में किया गया था। इस राजा की मृत्यु १२४८ ई० में हुई थी। इस युग में जावा में बौद्ध और पौराणिक धर्मों में समन्वय की प्रवृत्ति विकसित हो गई थी, और बुद्ध तथा शिव मे अभेद प्रतिपादित किया जाने लगा था। इसीलिए पूर्वी जावा के इन मन्दिरो में भी बौद्ध और पौराणिक धर्मों में समन्वय के प्रमाण पाये जाते हैं। चण्डी जगो के बौद्ध मन्दिर में कृष्ण का चरित्र भी अंकित है, और चण्डी जावा के मन्दिर में शिव की मूर्ति

के ऊपर बुद्ध की भी मूर्ति है।

पूर्वी जावा के मन्दिरों में सब से प्रसिद्ध पनतरन में विद्यमान वे मन्दिर हैं, जिनका सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ है। जिस क्षेत्र में ये मन्दिर स्थित हैं, उसकी लम्बाई ५८८ फीट और चौड़ाई १९५ फीट है। इस क्षेत्र के चारों ओर एक दीवार बनी हुई थी, जिसका मुख्य प्रवेशद्वार पश्चिम दिशा में था। मुख्य मन्दिर का अब केवल चबूतरा ही बचा है, मन्दिर नष्ट हो चुका है। पर चबूतरे के सामने एक छोटा मन्दिर अब भी विद्यमान है, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। मुख्य मन्दिर का जो निचला भाग शेष है, उस पर अनेक रूपावलियां उत्कीर्ण हैं, जिनमें रामायण और कृष्णायन से सम्बद्ध चित्र अंकित हैं। पनतरन के मन्दिर न किसी एक समय में बने थे, और न उन्हें किसी पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार ही बनाया गया था। तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदियों तक उनका निर्माण होता रहा था।

कला की दृष्टि से पूर्वी जावा के मन्दिर मध्य जावा के मन्दिरों की तुलना में हीन हैं। बरोबदूर में एक बड़े मध्यवर्ती मन्दिर के दोनों ओर जो बहुत-से मन्दिर बनाये गये थे, वे आकार में निरन्तर छोटे-छोटे होते गये हैं। इस कारण मन्दिरों की इस शृंखला में एक अनुपम सौन्दर्य आ गया है। यही बात चण्डी सेवू और चण्डी लर जोंग्रंग के मन्दिरों के विषय में भी कही जा सकती है। पर इस प्रकार का सौन्दर्य पूर्वी जावा के मन्दिरों में नहीं पाया जाता। पूर्वी जावा के मन्दिरों में जो रूपावलियां व चित्रफलक उत्कीर्ण हैं, उनकी आकृतियां प्रायः बेडौल और भद्दी हैं। उनमें सजीवता का भी अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है, कि मध्य जावा के मन्दिरों और मूर्तियों का शिल्प प्रधानतया भारत की शिल्पकला के अनुरूप था। पर पूर्वी जावा में स्थानीय तत्व प्रबल होने लगे, जिनके कारण वहां के शिल्प पर भारतीय प्रभाव में कमी आती गई। पर पूर्वी जावा में भी देवमूर्तियां भारतीय कला के अनुरूप ही बनती रहीं। यही कारण है, कि वहां से प्राप्त अनेक देव मूर्तियां कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, और उनमें अनुपम सौन्दर्य भी है। इनमें एक मूर्ति प्रज्ञापारमिता की है, जिसके मुखमण्डल पर अलौकिक सात्त्विक तेज है। पूर्वी जावा की परम्परा के अनुसार इसकी मुखाकृति शायद रानी डेडेस के मुख की अनुकृति में बनायी गई थी। डेडेस ने सिंहसारि राज्य के संस्थापक अंग्रोक राजस से विवाह किया था और पूर्वी जावा के इस राज्य में उसका स्थान बड़े महत्व का था। राजा एलंग की मुखाकृति के अनुसार निर्मित विष्णु की मूर्ति और राजा कृतराजस की मुखाकृति के अनुसार बनायी गई हरिहर की मूर्ति पूर्वी जावा की मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। विविध पौराणिक देवी-देवताओं और बुद्ध, ध्यानी बुद्धों तथा बोधिसत्वों की जो बहुत-सी मूर्तियां जावा से उपलब्ध हुई हैं, उनका यहां परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा, कि ये प्रायः भारतीय मूर्तिकला के अनुसार निर्मित्त हैं, और कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं।

(४) शासन-पद्धति

जावा की शासन-संस्थाओं और राजनीतिकविषयक मान्यताओं पर भी भारत की पूरी-पूरी छाप थी। वहां तीन ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। जिनसे जावा की प्राचीन शासन-संस्थाओं के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है—(१) कामन्दक—इस ग्रन्थ में भगवान् कामन्दक द्वारा अपने शिष्य को राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में प्रवचन किया गया है। रामायण और महाभारत के पात्रों को लेकर राजनीतिविषयक मन्तव्य निरूपित किए गये हैं, और युधिष्ठिर को एक आदर्श राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजशास्त्र-विषयक भारतीय ग्रन्थों में भी आचार्य कामन्दक का नाम आता है, पर उसका नीतिग्रन्थ यहां उपलब्ध नहीं था। वह बाली द्वीप से प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है, और कौटलीय अर्थशास्त्र के समान ही महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय राज्यों में कामन्दक के नीतिशास्त्र का बहुत प्रचार था, और राज्य के शासन के लिए उसी का अनुसरण किया जाता था। (२) इन्द्रलोक—यह भी राजशास्त्रविषयक ग्रन्थ है, और इसमें भगवान् इन्द्रलोक ने अपने शिष्य कुमारयज्ञ को राजनीति का उपदेश दिया है। (३) नीतिप्रभ—इसमें शत्रुओं के प्रति राजा के उन कर्त्तव्यों का विवरण है, जिनका प्रतिपादन विष्णु द्वारा व्यास के लिए किया गया था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन समय में जावा तथा समीपवर्ती अन्य द्वीपों में भारत के अन्य राजशास्त्रप्रणेता आचार्यों के ग्रन्थों का भी अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था, और वहां के राजा उनमें प्रतिपादित उपायों का अनुसरण भी किया करते थे। राजा एलँग के प्रसिद्ध अभिलेख में वैष्णुगुप्त उपायों के प्रयोग का उल्लेख है। (निजबलनिगृहीतो वैष्णुगुप्तैरुपायैः, सपदि विजयनामा पार्थिवो द्यामगच्छत्।) आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य द्वारा प्रतिपादित उपायों को जावा में भी प्रयुक्त किया जाता था। भारत के समान जावा में भी राम को आदर्श राजा के रूप में स्वीकार किया जाता था, और सम्पूर्ण प्रजा में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही उसे राजा के पद का अधिकारी माना जाता था (श्रेष्ठः प्रजासु सकलासु कलाभिरामः, रामो यथा दशरथात्स्वगुणैर्गरीयान्'।)।

भारत में पालवंश के राजा श्रीगोपाल के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है, कि जब मात्स्यन्याय के कारण प्रजा पीड़ित हो गई थी, तो उस द्वारा श्रीगोपाल को राजपद प्रदान किया गया था, ताकि अव्यवस्था दूर होकर शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित हो। इसी प्रकार की अनुश्रुति जावा में एलँग के सम्बन्ध में भी थी। उसके अभिलेख में लिखा है— आगत्य प्रणतैर्जनैर्द्विजवरैस्साश्वासमभ्यर्थितः।
श्री लोकेश्वरमीरलङ्गनृपतिः पाहीत्युदन्तां क्षितौ॥

एलँग भी जनता की रक्षा के लिए ही राजा बना था और वह भी जब द्विज वरों ने प्रणत होकर इसके लिए उससे प्रार्थना की थी।

प्राचीन भारत में केवल राजतन्त्र राज्यों की ही सत्ता नहीं थी। यहां ऐसे भी

राज्य थे, जिनमें गणतन्त्र पद्धति के अनुसार शासन होता था। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी भारतीय राज्य राजतन्त्र थे, और उनके शासन में राजा का प्रमुख स्थान था। उस पर नियन्त्रण रखने के लिए किन्हीं ऐसी सभाओं की सत्ता नहीं थी, जिनमें जनता प्रतिनिधि सम्मिलित होते हों। मनु द्वारा राजा को दैवी प्रतिपादित किया गया है। राजा को दैवी मानने की यह परम्परा जावा में भी गई, और वहां इसने एक नया रूप प्राप्त किया। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके सम्मान में विष्णु बुद्ध आदि की जो मूर्तियां प्रतिष्ठापित की जाती थीं, उनकी मुखाकृति को राजा के मुख के अनुसार बनाया जाने लगा, और इस प्रकार दिवंगत राजा की देव रूप में पूजा की जाने लगी। एलंग की मुखाकृति को लेकर विष्णु की मूर्ति बनायी गई थी, और रानी डेडेस की मुखाकृति के अनुसार देवी प्रज्ञापारमिता की। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण पिछले प्रकरण में दिये जा चुके हैं। जावा में राजाओं के लिए प्रायः 'भटारप्रभु' विरुद का प्रयोग किया जाता था, जो उसके प्रति दैवी भावना का संकेत करता है।

पर भारत के समान जावा के राजा भी पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे, क्योंकि उनके लिए शास्त्रमर्यादा का पालन करना आवश्यक समझा जाता था, और राजकीय नीति के निर्धारण के लिए तर्क-वितर्क में तत्पर मन्त्री लोग उन्हें सदा परामर्श देते रहते थे (मन्त्रालोचनतत्परैरह रहस्सम्भाषितो मन्त्रिभिः)। राजा को 'धर्म' के अनुसार ही शासन करना है, यह विचार जावा में भी सुदृढ़ रूप से विद्यमान था। एलंग के अभिलेख में 'धर्म द्वारा भुवन की रक्षा' का स्पष्ट रूप से उल्लेख है (यस्मिन् जीवति राज्ञि रक्षति भुवनं धर्मेण सिद्ध्यन्ति ते)। सम्भवतः, भारत के समान जावा में भी पौरसभाओं की सत्ता थी। एलंग के अभिलेख में इसका भी संकेत विद्यमान है। वहां लिखा है—'साधूनाम्पथि पातु पौरसमितिर्वर्म्या गतिर्मन्त्रिणाम्।' पौर समिति पुरों की उसी प्रकार की संस्था होनी चाहिये, जैसी कि भारत में पौर सभाएँ थीं।

जावा में राज्य का शासन प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि प्राचीन काल में भारतीय राज्यों का था। शासन के लिए राज्य को अनेक प्रदेशों या प्रान्तों में विभक्त किया जाता था, और उनके शासकों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी, जिसमें ग्रामसभा की भी सत्ता हुआ करती थी। राजा के अधीन जो विविध राजपदाधिकारी शासनकार्य के लिए नियुक्त किए जाते थे, अभिलेखों में बहुधा उनका उल्लेख हुआ है। इसमें सबसे मुख्य मन्त्री, सेनापति और सेनापति सर्वजल (जल सेनापति) थे। मन्त्री भी तीन प्रकार के थे, मन्त्रीहिनो, मन्त्री-सिरिकन और मन्त्री-हलु। इनके कार्यों में क्या भेद था, यह स्पष्ट नहीं है। मन्त्रियों के नीचे की स्थिति के राजपदाधिकारी 'रक्रयन्' होते थे, जिनका राज्य के शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'धर्माधिकरण' संज्ञक राजपदाधिकारियों का उल्लेख भी जावा के अभिलेखों में आया है। कौटलीय अर्थशास्त्र के 'धर्मस्थ' के समान धर्माधिकरण का सम्बन्ध भी न्यायकार्य के साथ था। धर्माध्यक्ष संज्ञक जिन राजकर्मचारियों का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है, उनका कार्य मन्दिरों, चैत्यों व अन्य धर्मस्थानों का प्रबन्ध करना था। पौराणिक और बौद्ध धर्मस्थानों के प्रबन्ध के लिए पृथक्-पृथक् धर्माध्यक्षों

की नियुक्ति की जाती थी।

(५) सामाजिक जीवन

भारत के सामाजिक जीवन में वर्णाश्रम धर्म का प्रमुख स्थान है। हिन्दू समाज का संगठन चातुर्वर्ण्य पर आधारित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में समाज का विभाजन कर यह व्यवस्था की गई है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने वर्ण के धर्म का पालन करे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध भारतीय राज्यों का सामाजिक जीवन भी चातुर्वर्ण्य पर आधारित था। जावा के पुराने साहित्य में स्थान-स्थान पर ब्राह्मण आदि चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार भारत में ब्राह्मणों का कार्य यज्ञादि धार्मिक कृत्य कराना था, वैसे ही जावा में भी था। वहाँ के कितने ही अभिलेखों में ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ कराने और उन्हें दान-दक्षिणा दिये जाने का वर्णन मिलता है।

बाली द्वीप में अब तक भी हिन्दू धर्म की सत्ता है, और वहाँ के हिन्दू समाज का संगठन प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहले जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि सर्वत्र था। बाली के वर्तमान समाज-संगठन से दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देशों के पुराने समाज का भलीभांति अनुमान किया जा सकता है। वहाँ के समाज में अब भी चार वर्ण हैं, जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेस्य (वैश्य) और शूद्र कहा जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को वहाँ 'द्विजाति' कहते हैं, और शूद्र को 'एकजाति'। अनुलोम विवाह वहाँ अनुमत है, जिसके अनुसार उच्च वर्ण का पुरुष अपने से हीन वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है। पर प्रतिलोम विवाह को बहुत बुरा माना जाता है, जिसके कारण कोई पुरुष अपने से उच्चतर वर्ण की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। संकर विवाहों की सन्तान का वही वर्ण होता है, जो पिता का हो। ब्राह्मणों के वहाँ दो वर्ग हैं, शैव ब्राह्मण और बौद्ध ब्राह्मण। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पौराणिक और बौद्ध धर्मों में जो समन्वय हो गया था, उसके कारण बौद्ध धर्म भी पौराणिक देवी-देवताओं के उपासकों के धर्म में विलीन हो गया, और बौद्ध स्थविरों व पुरोहितों को भी ब्राह्मण माना जाने लगा। बाली में क्षत्रियों को 'देव' भी कहा जाता है, और वैश्यों को 'आर्य' भी। वहाँ शूद्रों को अछूत नहीं समझा जाता। वे प्रायः खेती तथा विविध शिल्पों द्वारा अपना निर्वाह करते हैं।

बाली में आधुनिक समय तक भी सती की प्रथा रही है, यद्यपि केवल राजघरानों तथा कतिपय अन्य सम्भ्रान्त कुलों में ही इस प्रथा का अनुसरण किया जाता था। दास प्रथा भी वहाँ विद्यमान थी। यद्यपि कुछ दास जन्म के कारण भी होते थे, पर बहुसंख्यक दास ऐसे होते थे जिन्होंने कि कर्ज अदा न कर सकने या निर्धनता के कारण कुछ समय के लिए दासवृत्ति स्वीकार कर ली होती थी। युद्ध में बन्दी हुए व्यक्ति भी दास बना लिये जाते थे। बाली की यह दास प्रथा ठीक वैसी ही है, जैसी कि कौटलीय अर्थशास्त्र के 'दासकल्पः' प्रकरण में वर्णित है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के भारतीय राज्यों में स्त्रियों की स्थिति हीन नहीं मानी जाती थी। जावा के अनेक अभिलेखों में उन स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जो वहाँ के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुई थीं, और या जो महामन्त्री सदृश उच्च पदों पर नियुक्त थीं। पूर्वी जावा के प्रतापी राजा श्री ईशानतुंगदेव के बाद

उसकी पुत्री ईशानतुंगविजया राजसिंहासन पर आरूढ़ हुई थी। इसी प्रकार राजा मकुटवंशवर्धन के बाद उसकी पुत्री गुणप्रिया धर्मपत्नी ने राज्याधिकार प्राप्त किया था। मजपहित के राजा जयनगर के पश्चात् गायत्री राजपत्नी को राजसिंहासन प्रदान किया गया था, यद्यपि वह भिक्षुणी बन चुकी थी। उसके शासनकाल में उसकी पुत्री त्रिभुवनोत्तुंग देवी जयविष्णुवर्धनी शासन का संचालन करती रही। इसी प्रकार के कितने ही अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। जावा के अभिलेखों में कितनी ही स्त्रियों को महामन्त्री के पद पर नियुक्त बताया गया है। परदा की प्रथा इन देशों में प्रचलित नहीं थी। बाली की स्त्रियां आजकल भी परदा नहीं करती हैं। जावा के पुराने साहित्य में अनेक स्थलों पर स्वयंवर का उल्लेख मिलता है, जिससे विवाह के मामले में स्त्रियों की स्वतन्त्रता सूचित होती है। स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में एलँग के अभिलेख की यह बात महत्त्व की है, कि उसकी राजसभा में मन्त्रियों तथा वीरों के साथ ललनाओं (स्त्रियों) की उपस्थिति भी लिखी गई है—(भास्वद्भिर्ललनान्वितो निवशते वीरैः परीतो भृशम्)।

जावा में उपलब्ध मूर्तियों, रूपावलियों तथा चित्रफलकों से वहाँ के पुराने निवासियों की वेशभूषा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। भारत के समान जावा में भी अधोवस्त्र और उत्तरीय प्रधान परिधान थे। पुरुष और स्त्री—दोनों ही आभूषण पहना करते थे, और अपने शरीर को अलंकरणों से विभूषित करने पर बहुत ध्यान देते थे। उनके भोजन में चावल का प्रधान स्थान था, ताम्बूल का सेवन भी वहां किया जाता था और विविध प्रकार की मदिराएँ भी प्रयोग में लायी जाती थीं। द्यूतक्रीड़ा, शतरंज तथा कुक्कुटों की लड़ाई आमोद-प्रमोद के साधन थे। संगीत और नाटकों द्वारा भी वहाँ के लोग मनोरञ्जन में तत्पर रहते थे। जावा की रूपावलियों में वीणा, मृदंग, बांसुरी और सितार बजाती हुई तथा नृत्य करती हुई स्त्रियों के चित्र भी विद्यमान हैं। छाया-नाटकों का वहां बहुत चलन था। इन्हें वयांग कहते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के जावा, बाली तथा मलाया आदि में अब तक भी इनका बहुत चलन है। नाटकों के वहां अन्य भी अनेक प्रकार थे, और कठपुतली के खेलों का भी वहाँ रिवाज था। मृतक की अन्त्येष्टि क्रिया के लिए शव को जलाया जाता था, यद्यपि विशेष दशाओं में जलप्रवाह की पद्धति भी प्रयुक्त की जाती थी। अन्त्येष्टि क्रिया पदंड (पण्डित) कराया करते थे। अस्थियों को जल में प्रवाहित करने की भी वहां प्रथा थी।

दक्षिण पूर्वी एशिया के प्राचीन राज्यों की स्थिति द्वीपों में थी। अतः स्वाभाविक रूप से उनका आर्थिक जीवन सामुद्रिक व्यापार तथा नौकानयन पर आधारित था। इस क्षेत्र के प्रधान बन्दरगाह श्रीविजय और कटाह (केडा) थे, जहां दूर-दूर के व्यापारी अपना पण्य लेकर आया करते थे। यहाँ से अन्य देशों में जाने वाले पण्य में मसालों, सोना, चांदी, मोती, कपूर, चन्दन, इलायची, हाथी दांत, अगुरु और मूंगा प्रधान थे। जावा कृषिप्रधान देश था, और वहाँ का चावल अन्य देशों में भी बिकने के लिए जाया करता था। मुद्रापद्धति भी वहां विकसित दशा में थी। जावा से बहुत-से सिक्के मिले हैं, जो चांदी और तांबे के हैं। ये वहां के पुराने सिक्के हैं।

छठा अध्याय

कम्बोडिया के क्षेत्र में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना

(१) फूनान का राज्य

दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बरमा, मलायीसिया, सियाम और इन्डोनीसिया के देशों में भारतीयों ने जो उपनिवेश प्राचीन समय में स्थापित किये थे और जिनमें एक हजार से भी अधिक वर्षों तक भारतीय संस्कृति फलती-फूलती रही, उनका इतिवृत्त हमने पिछले अध्यायों में दिया है। इसी प्रकार के उपनिवेश उस क्षेत्र में भी भारतीयों द्वारा स्थापित किये गए थे, जिसे बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध तक इन्डोचायना (हिन्दचीन) कहा जाता था, और जहां वर्तमान समय में कम्बोडिया, लाओस, दक्षिणी विएत-नाम और उत्तरी विएत-नाम के राज्य हैं। इन्डोनीसिया के क्षेत्र में केवल जावा ही एक ऐसा द्वीप है, जहां प्राचीन भारतीय राजाओं के बहुत-से उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हैं, और साथ ही अनेक ऐसे विहार, चैत्य तथा मन्दिर आदि भी विद्यमान हैं जिनसे वहां भारतीय संस्कृति के अस्तित्व का एक स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाता है। सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि में भी भारतीयों ने बहुत-से विहारों आदि का निर्माण कराया था, और वहां के भारतीय राजाओं ने अनेक अभिलेख भी वहां उत्कीर्ण कराये थे। इनमें से कुछ इस समय प्राप्य भी हैं। पर वहाँ के विहार तथा मन्दिर अब प्राय: खण्डहरों के रूप में ही हैं, जिनके कारण इन प्रदेशों के भारतीय राज्यों के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है। पर इन्डोचायना का क्षेत्र (कम्बोडिया और विएत-नाम) प्राचीन भारतीय अवशेषों की दृष्टि से समृद्ध है। वहां के भारतीय राजाओं के बहुत-से शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं, और प्राचीन काल के अनेक मन्दिर तथा विहार भी वहां पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। अत: पुरातत्त्व-विषयक सामग्री के आधार पर भी इस क्षेत्र के भारतीय राज्यों के सम्बन्ध में समुचित परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन राज्यों की स्थिति चीन के पड़ौस में थी, और अनेक प्रतापी चीनी सम्राट् इनसे अपना प्रभुत्त्व स्वीकृत कराने में भी समर्थ हुए थे। अत: चीन के प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इन राज्यों के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ पायी जाती हैं।

फूनान राज्य की स्थापना—कम्बोडिया के क्षेत्र में भारतीयों ने जो अनेक उपनिवेश स्थापित किए थे, फूनान उनमें एक था। ईसा की तीसरी सदी के मध्य में कांग ताई नामक चीनी लेखक ने इस राज्य के सम्बन्ध में यह विवरण दिया था—"शुरू में फूनान में एक स्त्री का राज्य था, जिसका नाम लीऊ-य था। हो-फू में एक पुरुष रहता

था, जिसे हुएन-चेन कहते थे। वह ब्राह्मण (पौराणिक हिन्दू) देवता का श्रद्धालु भक्त था, और देवता उसकी भक्ति से प्रसन्न था। हुएन-चेन ने एक स्वप्न देखा, जिसमें देवता ने उसे एक दैवी धनुष देकर यह आदेश दिया, कि वह किसी व्यापारी जहाज पर सवार होकर समुद्र यात्रा के लिए प्रस्थान कर दे। प्रातःकाल जब वह मन्दिर में पूजा के लिए गया, तो वहाँ उसे एक धनुष पड़ा मिला। उसे लेकर वह एक व्यापारी जहाज पर सवार हो गया। देवता ने वायु का रुख इस प्रकार परिवर्तित कर दिया, कि वह जहाज फूनान के समुद्रतट पर जा लगा। जब लीऊ-य ने एक जहाज को अपने समुद्रतट पर देखा, तो उसे लूटने के लिए वह एक नौका लेकर चल पड़ी। यह देखकर हुएन चेन ने दैवी धनुष से ऐसा बाण छोड़ा, जो लीऊ-य की नौका के आर-पार हो गया। इससे रानी भयभीत हो गई, और उसने हुएन-चेन के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। अब वही फूनान का राजा बन गया।" चीनी विवरण के अनुसार लीऊ-य ने हुएन-चेन से विवाह कर लिया था, और फूनान पर उन दोनों का संयुक्त शासन स्थापित हो गया था।

यह तो स्पष्ट है, कि हुएन-चेन पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था और भारत से उसका सम्बन्ध था। पर चीनी विवरणों में जिसे हो-फू कहा गया है, वह भारत में कहीं था या मलाया सदृश उन प्रदेशों में कहीं उसकी स्थिति थी, जहां भारतीय लोग पहले ही अपनी बस्तियां बसा चुके थे, यह स्पष्ट नहीं है। हो-फू किस भारतीय शब्द का रूपान्तर है, यह भी पहचाना नहीं जा सका है। पर हुएन-चेन को कौण्डिन्य का चीनी रूपान्तर माना गया है, और प्रायः सभी विद्वान् इसे स्वीकार करते हैं। चीनी विवरणों के अनुसार फूनान के निवासी अर्ध-जंगली दशा में थे। वे नंगे रहा करते थे, और अपने शरीरों को नानाविध चित्र गुंदवा कर विभूषित किया करते थे। यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि कौण्डिन्य (हुएन-चेन) द्वारा फूनान में सभ्यता का प्रवेश हुआ। सम्भवतः, वह पहला व्यक्ति था जो बहुत-से भारतीय उपनिवेशकों के साथ फूनान गया था और जिसने वहां के पुराने असभ्य निवासियों को परास्त कर उस देश में अपनी बस्तियां बसा ली थीं। क्योंकि भारतीय उपनिवेशकों के साथ स्त्रियां नहीं थीं, अतः उन्होंने फूनान की स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए। फूनान के इस भारतीय उपनिवेश के निवासी जातीय दृष्टि से संकर थे। पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को वहाँ की स्त्रियों ने अपना लिया था, जिसके कारण वहाँ की जनता भारतीय रंग में रंग गई थी। हुएन-चेन के विषय में अन्य कोई जानकारी चीनी विवरणों से प्राप्त नहीं होती। पर चीनी ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि उसका काल ईस्वी सन् की पहली सदी में था।

फूनान राज्य की प्रगति—हुएनचेन के पुत्र के विषय में चीनी विवरणों में यह लिखा है, कि उसके राज्य में सात ऐसे नगर थे जिनका शासन स्थानीय व्यक्तियों के हाथों में था, पर जो फूनान के राजा की अधीनता स्वीकार करते थे। यह स्वाभाविक था, कि अवसर पाने पर ये शासक स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करें। पर हुएन-चेन का एक वंशज हुएन-पान-हुवांग था, जो इन स्थानीय शासकों को पूर्णतया अपना वशवर्ती बनाने में समर्थ हुआ। उसने इनके स्थान पर अपने पुत्रों और पौत्रों की नियुक्ति की,

और सारे राज्य पर सुव्यवस्थित रूप से शासन किया। हुएन-पान हुवांग की मृत्यु ९० साल की आयु में हुई, और उसके पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र पान-पान् फूनान का राजा बना। उसका सेनापति फान-चे-मान था, जो अत्यन्त योग्य तथा कुशल शासक था। पान-पान के समय में वही राज्य का कर्त्ता-धर्त्ता रहा, और तीन साल के स्वल्प शासन के पश्चात् जब पान-पान का देहावसान हो गया, तो जनता द्वारा फान-चे-मान का राजा के पद के लिए वरण किया गया (२०० ईस्वी के लगभग)। सम्भवत:, कोई ऐसा राजकुमार नहीं था, जो अपने अधिकार से पान-पान के बाद फूनान का राजा बन सकता। अतः भारत की पुरानी परम्परा के अनुसार जनता द्वारा वरण किये जाने पर फान-चे-मान ने राजसिंहासन प्राप्त किया, और अपनी योग्यता तथा वीरता से इस नए राजा ने फूनान के छोटे-से राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत कर दिया। एक शक्तिशाली जलसेना को संगठित कर उसने समुद्र के मार्ग से विजय-यात्रा प्रारम्भ की, और दस राज्यों को जीत लिया, और १२०० मील के लगभग तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सम्भवतः सियाम और मलाया प्रायद्वीप उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और लाओस का कुछ प्रदेश भी उसके आधीन था। मलाया से आगे बढ़कर वह किन-किन (सुवर्णद्वीप या सुवर्णभूमि) पर भी आक्रमण की तैयारी कर रहा था। पर वह बीमार पड़ गया और उसकी मृत्यु हो गई। जब वह रोगशय्या पर था, उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र फान-किन-चेंग को सेनापति बनाकर विजय-यात्रा को जारी रखने का प्रयत्न किया। पर उसके भानजे फान-चन ने अपने मामा की बीमारी से लाभ उठाकर फान-किन-चेंग का वध करा दिया, और अपने को फूनान का राजा घोषित कर दिया (२२५ ईस्वी)।

फान-चन का शासनकाल इस दृष्टि से बड़े महत्त्व का है, कि उस समय फूनान का चीन और भारत से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित था, और फान-चन द्वारा इन दोनों देशों के राजाओं की सेवा में अपने राजदूत भेजे गए थे। फूनान की ओर से जो दूतमण्डल २४३ ईस्वी में चीन गया था, वह अपने साथ अनेक बहुमूल्य उपहार भी ले गया था, जिनमें कुछ गायक भी थे। चीनी विवरणों के अनुसार किआ-सिग-ली नाम का एक भारतीय व्यापारी फान-चन के समय में व्यापार के सिलसिले में फूनान गया था। उससे फान-चन को भारत की अपार धन सम्पत्ति, रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार और रीति-रिवाज आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें ज्ञात हुईं। उसने यह भी बताया, कि भारत फूनान से ६००० मील की दूरी पर है, और वहाँ जाने-आने में तीन या चार साल लग जाएंगे। भारत के विषय में जानकारी प्राप्त कर फान-चन ने अपने अन्यतम सम्बन्धी सू-वू को राजदूत बनाकर भारत भेजा। उसने तेउ-केउ-ली (तक्कोला) के बन्दरगाह से जहाज द्वारा भारत के लिए प्रस्थान किया, और लम्बी समुद्रयात्रा के बाद वह एक बड़ी नदी (गंगा) के मुहाने पर पहुंच गया। वहाँ से नदी के साथ-साथ ऊपर की ओर १४०० मील की यात्रा के अनन्तर वह भारत के राजा की राजधानी में जा पहुंचा। भारत के राजा ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और भारत-भ्रमण की सब सुविधाएं उसे प्रदान कर दीं। जब फूनान का राजदूत सू-वू अपने देश को वापस

लौटने लगा, तो भारत के राजा ने अपने दो दूत उसके साथ कर दिए, और फूनान के राजा को उपहार के रूप में युइशि देश के चार घोड़े भी भेज दिए। सू-वू चार साल बाद फूनान लौटा, पर इस बीच में वहाँ अनेक परिवर्तन हो चुके थे। फान-चन की हत्या कर दी गई थी, और फान-चे-मान के छोटे लड़के फान-चांग ने राजगद्दी को अधिगत कर लिया था। पर फान-चांग भी देर तक फूनान पर शासन नहीं कर सका। उसके सेनापति फान-सिउन ने उसकी हत्या करा दी, और स्वयं राजा का पद प्राप्त कर लिया। भारत के जिस राज्य की राजधानी में सू-वू गया था, चीनी ग्रन्थों में उसके राजा को मेऊ-लुएन कहा गया है। सिल्वां लेवी ने इसे मुरुण्ड से मिलाया है। पुराणों और जैन साहित्य में मुरुण्ड शासकों का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः उन युइशि-शकों से सम्बद्ध थे, जिन्होंने कि उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर भारत में अपना राज्य स्थापित किया था। भारत के राजा द्वारा युइशि देश के चार घोड़ों को फूनान के राजा की सेवा में भेजा जाना भी यही सूचित करता है, कि भारत का यह राजा शक-मुरुण्ड ही था।

फान-चन द्वारा चीन और भारत के राजाओं की सेवा में भेजे गये दूतों के बदले में जो राजदूत उन देशों ने भेजे थे, वे जब फूनान पहुंचे तो वहां के राजसिंहासन पर फान-सिउन विराजमान था। चीन के राजदूतों के नाम कांग ताई तथा चू यिंग थे, और भारत का एक राजदूत चेन-सोंग था। फूनान के राजदरबार में चीनी राजदूतों की भारत के राजदूतों से भेंट हुई, और उन्हें भारत के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला। फूनान के राजदरबार में रहते हुए कांग-ताई ने भारत और फूनान के विषय में जो जानकारी प्राप्त की थी, उसे उसने एक पुस्तक के रूप में लेखबद्ध कर दिया था। कांग-ताई की यह पुस्तक उतनी ही महत्त्व की थी, जितनी कि मैगस्थनीज का भारत विवरण (इण्डिका) था! खेद है, कि मैगस्थनीज की इण्डिका के समान कांग-ताई की पुस्तक के भी कुछ अंश ही इस समय उपलब्ध हैं, जिन्हें कि बाद के लेखकों ने अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त कर लिया था।

फान-सिउन ने सुदीर्घ काल तक फूनान का शासन किया, और अनेक दूतमण्डल चीन भेजे। चीनी विवरणों में २६८, २८५, २८६ और २८७ ईस्वी में फान-सिउन द्वारा भेजे गए दूतमण्डलों का उल्लेख विद्यमान है। फान-सिउन के उत्तराधिकारियों के विषय में चीनी विवरणों से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। उनके अनुसार चन तन नामक राजा ने ३५७ ईस्वी में एक दूतमण्डल चीन भेजा था, और उसके साथ कुछ पालतू हाथी भी चीनी सम्राट् को उपहार के रूप में भेजे गए थे। चीनी विवरणों में चन तन को हिन्दू लिखा गया है, और यह कहा गया है कि उसने अपने को फूनान का राजा घोषित कर दिया था। इससे यह संकेत मिलता है, कि फान-सिउन के बाद फूनान में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, जिसका अन्त चन तन द्वारा किया गया था। चन तन को चन्दन या चन्द्र के साथ मिलाया गया है। चीनी विवरणों में फूनान के राजाओं के जो नाम दिये गए हैं, उनमें फान या फन शब्द आता है। विद्वानों ने इसे वर्मा का चीनी रूपान्तर प्रतिपादित किया है।

कौण्डिन्य (द्वितीय)—चीनी विवरणों के अनुसार पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में फूनान के राजसिंहासन पर किआओ-चेन (कौण्डिन्य) विराजमान था। वह भारत का रहने वाला ब्राह्मण था। एक दिन उसे फूनान जाकर वहाँ की राजगद्दी संभालने का दैवी आदेश सुनायी दिया, जिसे सुनकर वह समुद्रमार्ग से पूर्व की ओर चल पड़ा और फूनान जा पहुँचा। वहाँ के लोगों ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और उसे अपने देश का राजा वरण कर लिया। उस द्वारा फूनान में भारत के रीतिरिवाज, चरित्र, व्यवहार तथा कानून प्रचारित किये गए। ऐसा प्रतीत होता है, कि पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय उपनिवेशकों का एक नया दल फूनान पहुँचा था, जिसके कारण वहाँ भारतीय संस्कृति पहले से भी अधिक सुदृढ़ रूप में स्थापित हो गई थी। चीनी विवरणों में इस दूसरे भारतीय दल के नेता या नए उपनिवेशक को भी कौण्डिन्य नाम दिया गया है।

कौण्डिन्य के पश्चात् उसके जिन वंशजों ने फूनान में राज्य किया, उनमें एक चो-य-प-मो (जयवर्मा) था, जिसके विषय में चीनी विवरणों में अधिक विस्तार से लिखा गया है। कौण्डिन्य कुल के इस राजा ने व्यापार के लिए कुछ व्यापारियों को कैन्टन भेजा। जब वे वापस आ रहे थे, तो नागसेन नाम का एक भारतीय भिक्षु भी उनके साथ हो लिया। पर समुद्र में तूफान आ जाने के कारण उनके जहाज को चम्पा रुक जाना पड़ा। चम्पा भी भारतीयों का एक उपनिवेश था, जिसकी स्थिति विएत-नाम के क्षेत्र में थी। चम्पा के लोगों ने जहाज के सब माल को लूट लिया, क्योंकि इस समय में वहां का शासन कू-लेऊ-लो नामक व्यक्ति के हाथों में था, जो वस्तुतः फूनान का निवासी था। अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर वह चम्पा चला गया था, और एक षड्यंत्र द्वारा उसने वहां के राजसिंहासन को अधिगत कर लिया था। वह फूनान के राजा जयवर्मा के प्रति शत्रुता अनुभव करता था, और सम्भवतः इसी कारण उसने वहाँ के व्यापारी जहाज को लुटवा दिया था। नागसेन से चम्पा का वृत्तान्त सुनकर जयवर्मा ने ४८४ ईस्वी में एक दूतमण्डल चीन के सम्राट् के पास भेजा। इसके साथ एक पत्र भी जयवर्मा द्वारा भेजा गया था, जिसमें चीन के सम्राट् से चम्पा के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की गई थी। फूनान के दूतमण्डल का नेता नागसेन को बनाया गया था, जो पहले चीन रह चुका था। नागसेन ने चीन के सम्राट् से भेंट करते हुए फूनान राज्य का विशद रूप से परिचय दिया, और यह बताया कि वहाँ के निवासी महेश्वर (शिव) की पूजा करते हैं। उसने सम्राट् की सेवा में एक कविता भी प्रस्तुत की, जो महेश्वर, बुद्ध तथा सम्राट् की प्रशंसा में लिखी गई थी। चीन के सम्राट् ने चम्पा के राजा की निन्दा तो की, पर उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग करना उचित नहीं समझा। बाद में भी अनेक दूतमण्डल जयवर्मा द्वारा चीन भेजे गए। इसमें सन्देह नहीं, कि उसके समय में फूनान और चीन में घनिष्ठ सम्बन्ध की सत्ता थी। यद्यपि इस समय फूनान में प्रधानतया शैव धर्म का प्रचार था, पर बौद्ध धर्म का भी वहां प्रवेश हो चुका था। चीनी विवरणों के अनुसार फूनान के दो बौद्ध भिक्षु जयवर्मा के समय में चीन गए थे, और वहां रहकर उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के सम्बन्ध में महत्त्व-

पूर्ण कार्य किया था। इनमें एक भिक्षु संघपाल या संघवर्मा था, जो सोलह साल (५०६-५२२ ईस्वी) चीन रहा था। वह अनेक भाषाओं का ज्ञाता था, और सम्राट् वू के आदेश पर उसने अनुवाद कार्य के लिए जिस संस्थान को स्थापित किया था, उसे फूनान के नाम पर 'फूनान-कुआन' कहा जाता था। फूनान से जो दूसरा भिक्षु इस समय चीन गया था, उसका नाम मन्द्र या मन्द्रसेन था। अनुवाद कार्य में वह भी संघपाल का सहयोगी था।

जयवर्मा की पटरानी कुलप्रभावती थी, जिसका पुत्र गुणवर्मा था। जयवर्मा के बाद उसी को फूनान का राजा बनना चाहिए था। पर जयवर्मा की एक रखैल से एक अन्य पुत्र भी था, जो आयु में गुणवर्मा से बड़ा था। उसका नाम रुद्रवर्मा था। ५१४ ईस्वी में जयवर्मा की मृत्यु हो जाने पर रुद्रवर्मा ने अपने छोटे भाई गुणवर्मा का वध कर राजसिंहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया। दक्षिणी कम्बोडिया के त्रेअङ् प्रान्त में संस्कृत का एक अभिलेख मिला है, जिसमें जयवर्मा की रानी कुलप्रभावती द्वारा एक आराम, तड़ाग और आलय बनवाने का उल्लेख है। रुद्रवर्मा का भी एक संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुआ है। इनसे फूनान के इन राजाओं की सत्ता में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। राजा रुद्रवर्मा ने भी अनेक दूतमण्डल चीन भेजे थे, जो ५१७, ५१९, ५२०, ५३०, ५३५ और ५३९ ईस्वी में चीन गए थे। ५१७ में भेजे गये दूतमण्डल का नेता तंग-पाओ-लाओ (धर्मपाल ?) नामक एक भारतीय था। ५१९ में गये दूतमण्डल के साथ चन्दन की बनी एक बुद्ध-मूर्ति तथा बहुत-से मणिमाणिक्य उपहार रूप में भेजे गए थे।

रुद्रवर्मा के बाद जिन राजाओं ने फूनान में राज्य किया, उनके नामों तक का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में नहीं मिलता। सम्भवतः, फूनान के इतिहास में यह अव्यवस्था और अशान्ति का काल था, जिसके कारण कोई दूतमण्डल फूनान से चीन नहीं गया। चीनी वृत्तान्तों से यह अवश्य सूचित होता है, कि चेन-ला के राजा चित्रसेन ने फूनान पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था। चित्रसेन का पुत्र ईश्वरसेन था, जिसने ६१६-६१९ में अपना दूतमण्डल चीन भेजा था। अतः चित्रसेन का समय छठी सदी के अन्तिम भाग में होना चाहिए। चेन-ला कम्बुज का चीनी नाम था। फूनान के समान कम्बुज भी एक भारतीय उपनिवेश था, जिसके राजाओं की स्थिति फूनान के सामन्तों के सदृश थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि रुद्रवर्मा के बाद के अव्यवस्था के काल में चेन-ला (कम्बुज) फूनान की अधीनता से मुक्त हो गया था, और उसके राजा चित्रसेन ने उस पर विजय भी प्राप्त कर ली थी। पर फूनान की पृथक् रूप से सत्ता का अन्तिम रूप से अन्त सातवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। उस समय तक कम्बुज राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और उसके प्रतापी राजा अपने साम्राज्य के निर्माण के लिए प्रयत्न करने लग गए थे।

(२) फूनान में भारतीय संस्कृति

चीन के प्राचीन ग्रन्थों में फूनान की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक

विवरण विद्यमान हैं। चिन राजवंश (२६५-४१९ ईस्वी) के इतिहास में फूनान के विषय में लिखा है, कि यह राज्य चम्पा से ६०० मील पश्चिम में है। वहाँ बहुत-से ऐसे नगर हैं, जिनका निर्माण दुर्ग के रूप में किया गया है। प्रासादों तथा भवनों का भी वहाँ प्राचुर्य है। लोगों का रंग काला है, और वे सुन्दर नहीं हैं। वे नंगे पैर रहते हैं; और वस्त्र भी नहीं पहनते। उनकी प्रकृति बहुत सरल होती है, और चोरी या डकैती वहाँ बिल्कुल नहीं होती। खेती उनका प्रधान पेशा है। भोजन के लिए वे चाँदी की थालियाँ प्रयोग में लाते हैं। पुस्तकें वहाँ बड़ी संख्या में हैं, और अनेक पुस्तकालय भी वहाँ विद्यमान हैं। लिखने के लिए वे जिस लिपि का प्रयोग करते हैं, वह भारतीय लिपि पर आधारित है। बाद के एक चीनी इतिहास में यह लिखा है, कि फूनान के लोग मकान बनाने के लिए लकड़ी का प्रयोग करते हैं, और वहाँ के राजप्रासाद में अनेक मंजिलें हैं। उनकी नौकाएं ८० से ६० फीट तक लम्बी तथा ६ या ७ फीट चौड़ी होती हैं। नौकाओं का अगला भाग मछली के सिर की आकृति का और पिछला भाग मछली की पूंछ के ढंग का बनाया जाता है। जब राजा कहीं बाहर जाता है, तो हाथी पर सवारी करता है। जेल-खाने फूनान में नहीं होते। अपराध के निर्णय के लिए दैवी परीक्षा का उपाय प्रयुक्त किया जाता है। अभियुक्त यदि वस्तुतः अपराधी हो तो वह पानी में डूब जाएगा, यदि वह निरपराध हो तो पानी में नहीं डूबेगा। ईख, अनार और सन्तरे फूनान में बहुतायत से होते हैं। वहाँ के लोग अच्छे स्वभाव के हैं, और वे युद्ध को पसन्द नहीं करते।

लिआंग वंश (५०२-५५६) के इतिहास में फूनान के लोगों के विषय में लिखा गया है, कि वे देवताओं की कांस्य की मूर्तियाँ बनाते हैं। कुछ मूर्तियों के दो सिर और चार हाथ होते हैं, और कुछ के चार सिर और आठ हाथ। मरने पर शोक मनाने के लिए वे बाल और दाढ़ी-मूंछ मुंडा देते हैं। शवों का अन्त्येष्टि संस्कार चार प्रकार से किया जाता है, जलाकर, नदी में बहाकर, गाड़ कर या गिद्धों के लिए खुला छोड़कर। चीन के प्राचीन ग्रन्थों से फूनान के जीवन का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, वह प्रायः उसी ढंग का है, जैसा कि प्राचीन भारत में था। चतुर्भुजी तथा अष्टभुजी मूर्तियों की पूजा, दैवी परीक्षाओं द्वारा अपराध का निर्णय करना, भारतीय लिपि में पुस्तकों का लिखा जाना आदि ऐसी बातें हैं, जो फूनान पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का संकेत करती हैं। फूनान में तीन संस्कृत अभिलेख भी उपलब्ध हुए हैं, जिनसे वहाँ भारतीय भाषा, धर्म तथा संस्कृति के प्रचार में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। एक अभिलेख में राजकुमार गुणवर्मा द्वारा चक्रतीर्थस्वामी विष्णु के मन्दिर को दिये गये दान का उल्लेख है। अनेक पुराणों में चक्रतीर्थ शब्द विद्यमान है, और चक्रतीर्थस्वामी विष्णु का ही एक नाम है। इस अभिलेख का एक श्लोक यह है—

तद्भक्तोऽधिवसेत् विशेदपि च वा -तुष्टान्तरात्मा जनो
मुक्तो दुष्कृतकर्मणस्स परमं गच्छेत् पदं वैष्णवम् ॥

विष्णु का जो भक्त उसके मन्दिर में निवास करता है या उसमें प्रवेश भी कर लेता है, उसकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो जाती है। दुष्कर्मों से वह मुक्त हो जाता है, और

परमवैष्णव पद को प्राप्त कर लेता है। विष्णु के प्रति भक्ति का इस श्लोक में कितना महत्त्व निरूपित किया गया है। चीनी विवरणों से तो यही ज्ञात होता है, कि फूनान में प्रधानतया शैव धर्म का प्रचार था, और उसके साथ-साथ बौद्ध धर्म की भी वहां सत्ता थी। पर वैष्णव धर्म भी वहाँ प्रचलित था, यह इस अभिलेख से स्पष्ट है। गुणवर्मा द्वारा विष्णु के जिस मन्दिर को दिये गये दान का इस अभिलेख में उल्लेख किया है, उसकी मूर्ति ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी जो वेदों, उपवेदों और वेदांगों में पारंगत थे। फूनान के दूसरे संस्कृत अभिलेख में भी विष्णु की स्तुति की गई है। तीसरे संस्कृत अभिलेख में राजा जयवर्मा और उसके पुत्र रुद्रवर्मा का उल्लेख है, और उनकी प्रशस्ति में ये श्लोक कहे गये हैं—

एकस्थम् अखिलान् नराधिपगुणान् उद्यच्चते वेक्षितुं
धात्रा निर्मित एक एव स भुवि श्री रुद्रवर्मा......।
सर्द्वं सच्चरितं कृतं नृपतिना तेनातिधर्मार्थिना
लोकानुग्रहसाधनं प्रति न च क्षत्रव्रतं खण्डितम्॥

भगवान् ने श्री रुद्रवर्मा को ऐसे बनाया था, जिससे कि राजा के योग्य सब गुण उसमें एक स्थान पर एकत्र हो गये थे। धर्म के साधन की अभिलाषा से उसने सब सत्कृत्य किये थे, पर साथ ही उसने क्षत्रिय के उन कर्त्तव्यों का भी परित्याग नहीं कर दिया था जिन द्वारा जनता का हित-कल्याण होता है। रुद्रवर्मा की प्रशस्ति में कहे गये ये श्लोक ठीक भारतीय शैली में हैं। इसी अभिलेख में यह भी कहा गया है, कि राजा जयवर्मा ने एक ब्राह्मण (द्विज) नायक के पुत्र को अपने राज्य में 'धनानां अध्यक्ष' (कोषाध्यक्ष) के पद पर नियुक्त किया था। संस्कृत के एक अभिलेख में जयवर्मा की रानी कुलप्रभावती के सम्बन्ध में यह लिखा है, कि शुक्र के लिए शची का, अग्नि के लिए स्वाहा का, हर के लिए रुद्राणी का और श्रीपति के लिए श्री का जो स्थान है वही जयवर्मा के लिए कुलप्रभावती का था। ये अभिलेख यह प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि फूनान में संस्कृत भाषा और पौराणिक हिन्दू धर्म के साथ-साथ पौराणिक अनुश्रुति तथा प्राचीन भारतीय मान्यताओं की भी सत्ता थी, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस देश का सांस्कृतिक जीवन प्रायः उसी प्रकार का था, जैसा कि इस काल में भारत में था।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिये, कि फूनान के सब निवासी भारतीय ही नहीं थे। वहाँ ऐसे लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, जो पहले जंगली या अर्धसभ्य दशा में थे और भारतीय उपनिवेशकों के सम्पर्क में आ कर जिन्होंने सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होना प्रारम्भ किया था। इनके पुराने संस्कार, मान्यताएँ व रीति-रिवाज पूरी तरह से नष्ट नहीं हुए थे। भारतीय उपनिवेशक दो बार फूनान गये, पहली सदी में और फिर पांचवीं सदी के प्रारम्भ में। उपनिवेशकों के दोनों दलों के नेताओं को चीनी ग्रन्थों में 'कौण्डिन्य' नाम से कहा गया है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में भी भारतीय उपनिवेशकों द्वारा जो राज्य स्थापित किए गये, उनके राजकुल का सम्बन्ध भी कौण्डिन्य या कुण्डग के साथ जोड़ा गया है। सम्भवतः, कौण्डिन्य से भारत

के किसी विशिष्ट कुल का बोध होता है, जिसके साहसी व प्रतापी व्यक्तियों द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की प्रक्रिया का प्रारम्भ किया गया था।

(३) कम्बुज राज्य की स्थापना और संस्कृति

स्थापना—वर्तमान समय के कम्बोडिया के क्षेत्र में फूनान के उत्तर में कम्बुज राज्य की स्थिति थी, जो पहले फूनान के अधीन था। सातवीं सदी में यह राज्य न केवल फूनान की अधीनता से मुक्त हो गया, अपितु इसके प्रतापी राजाओं ने फूनान को भी जीत लिया। सातवीं सदी में कम्बुज का जो उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ था, वह प्रायः सात सौ साल तक कायम रहा। इस राज्य की स्थापना के विषय में यह कथा है, कि प्राचीन काल में कम्बु स्वायम्भव नाम का राजा आर्य देश पर शासन करता था। वह शिव का उपासक था, और मेरा नामक अप्सरा से उसका विवाह हुआ था। मेरा की मृत्यु हो जाने पर उसे वैराग्य हो गया, और आर्यदेश से प्रवास कर वह एक ऐसे देश में चला गया जो बियावान और उजाड़ था। वह चाहता था कि वहाँ अपने प्राणों का त्याग कर दे। इस उजाड़ प्रदेश से उसे एक गुफा मिली, जो ऐसे बड़े-बड़े और भयंकर सर्पों से परिपूर्ण थीं, जिनके कई-कई सिर थे। इन्हें देखकर कम्बु ने अपनी तलवार निकाल ली और सांपों को मारने के लिए ज्यों ही वह आगे बढ़ा, सर्पराज ने मनुष्य की वाणी में उसका नाम-धाम पूछा। कम्बु का परिचय प्राप्त कर सर्पराज ने कहा—मैं तुम्हें तो नहीं जानता, पर तुम शिव के भक्त हो, और शिव मेरे राजा हैं। अब तुम शोक का परित्याग कर इसी देश में हमारे साथ निवास करो। सर्पराज की यह बात कम्बु ने स्वीकार कर ली, और वह वहीं रहने लग गया। सर्प (नाग) जब चाहें, मनुष्यों का रूप धारण कर लेते थे। वस्तुतः, वे नाग जाति के मनुष्य ही थे। कुछ वर्ष पश्चात् कम्बु ने नागराज की कन्या के साथ विवाह कर लिया। नागराज को मन्त्र सिद्ध था। उसने अपनी मन्त्रशक्ति से उस उजाड़ प्रदेश को एक हरे-भरे सुन्दर देश के रूप में परिवर्तित कर दिया। अब कम्बु वहाँ का राजा बन गया, और उसी के नाम से वह देश कम्बुज कहाने लगा।

एक अन्य प्राचीन कथा के अनुसार इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवंश अपने पुत्र से रुष्ट हो गया, और उसने उसे राज्य से निर्वासित कर दिया। इन्द्रप्रस्थ से निर्वासित होकर वह कोकलोक नामक राज्य में चला गया और वहाँ के राजा को परास्त कर उस देश का स्वामी बन गया। एक बार की बात है, कि समुद्र तट पर घूमते हुए उसे वहीं रात बितानी पड़ गई। रात के समय वहाँ उसे एक अत्यन्त सुन्दर नागकन्या दिखायी दी, जिसके रूप पर वह मुग्ध हो गया। उसने उसके साथ विवाह करने का निश्चय किया, जिसे जानकर नागराज ने समुद्र के जल का पान कर अपने भावी दामाद के राज्यक्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर दिया। यही प्रदेश आगे चल कर कम्बुज नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों कथाओं में यह बात एकसमान है, कि कम्बुज देश के मूल निवासी नाग लोग थे, और भारत से गये हुए जिस व्यक्ति द्वारा वहाँ भारतीय

उपनिवेश का सूत्रपात किया गया था, उसने नागराज की कन्या के साथ विवाह कर लिया था। यह इस बात का संकेत है, कि कम्बुज देश में आर्यों और नागों का सम्मिश्रण हो गया था, और वहां के निवासियों में इन दोनों जातियों के तत्त्व विद्यमान थे।

कम्बुज की स्वतन्त्रता—पहले कम्बुज फूनान के अधीन था। यद्यपि वहां के अपने राजा थे, पर वे फूनान के प्रभुत्त्व को स्वीकार करते थे। जिस राजा ने कम्बुज को फूनान के प्रभुत्त्व से मुक्त कर स्वतन्त्र किया, उसका नाम श्रुतवर्मा था। श्रुतवर्मा का पुत्र श्रेष्ठवर्मा था, जिसके नाम पर स्वतन्त्र कम्बुज की राजधानी का नाम श्रेष्ठपुर रखा गया था। यह नगरी लाओस में बस्सक के समीप स्थित थी। प्राचीन कम्बुज राज्य की स्थिति वर्तमान कम्बोडिया के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में थी, और वर्तमान लाओस का भी कुछ प्रदेश उसके अन्तर्गत था। श्रेष्ठपुर इसी प्रदेश में था। वत फू पर्वत इसके पड़ोस में ही है। प्राचीन समय में उसे लिंग पर्वत कहा जाता था, और उसकी चोटी पर भद्रेश्वर शिव का मन्दिर विद्यमान था। कम्बोडिया में संस्कृत के अनेक ऐसे अभिलेख मिले हैं, जिनमें श्रुतवर्मा और श्रेष्ठवर्मा का उल्लेख है। ता प्रोम में राजा जयवर्मा का एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है, जो ८८६ ई० का है। इसमें श्रुतवर्मा को कम्बुज के राजवंश का मूल (वसुधाधरवंशयोनिः) कहा गया है, और उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मा तथा कम्बुज की राजधानी श्रेष्ठपुर का भी उल्लेख है। वकसेई चमक्रोन के अभिलेख (९४७ ईस्वी) में यह कहा गया है, कि श्रुतवर्मा ने कम्बुज को बन्धन से मुक्त किया था और वह वहां के राजवंश का मूल था (श्रीकम्बुभूधरभृतः श्रुतवर्ममूला मौलादपास्तबलिबन्ध-कृताभिमाना)।

कम्बुज के राजाओं में श्रुतवर्मा और श्रेष्ठवर्मा के बाद भववर्मा का नाम आता है। इसमें सन्देह नहीं, कि भववर्मा के साथ कम्बुज के राजाओं की एक नई वंशावलि का प्रारम्भ हुआ था, पर उसका श्रुतवर्मा और ज्येष्ठवर्मा से क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः उसका कम्बुज तथा फूनान दोनों राज्यों के राजवंशों के साथ सम्बन्ध था। जिन अनेक अभिलेखों में भववर्मा का वृत्तान्त विद्यमान है, उनके आधार पर विद्वानों ने इस राजा के विषय में बहुत ऊहापोह किया है। यह तो सुनिश्चित है, कि वह न श्रुतवर्मा का पुत्र था और न श्रेष्ठवर्मा का, क्योंकि अभिलेखों में उसके पिता का नाम श्रीवीरवर्मा दिया गया है। यह भी स्पष्ट है, कि वीरवर्मा स्वयं राजा नहीं था, क्योंकि अभिलेखों में वीरवर्मा के साथ राजा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इस दशा में एक मत यह प्रतिपादित किया गया है, कि भववर्मा श्रेष्ठवर्मा का दामाद था। ताप्रोक के अभिलेख के सातवें श्लोक में श्रेष्ठवर्मा का उल्लेख है, और नौवें श्लोक में भववर्मा का। बीच के आठवें श्लोक में एक स्त्री का उल्लेख है, जिसे 'कम्बुज-राजलक्ष्मी' कहा गया है। यह स्त्री श्रेष्ठवर्मा की पुत्री थी, या उसके साथ उसका कोई अन्य सम्बन्ध था, अभिलेख से यह स्पष्ट नहीं होता। पर अभिलेख में इस स्त्री को श्रेष्ठवर्मा के मातृकुल में उत्पन्न (तदीये मातृकुलाम्बुराशौ) कहा जाना यह सूचित करता है, कि श्रेष्ठवर्मा से उसका निकट सम्बन्ध था। सम्भवतः, श्रेष्ठवर्मा के पश्चात् कम्बुज के राजसिंहासन

पर इस 'कम्बुजराजलक्ष्मी' का ही अधिकार था, और इससे विवाह कर लेने के कारण ही श्रीवीरवर्मा का पुत्र भववर्मा वहाँ की राजगद्दी पर आसीन हो सका था। इसमें संदेह नहीं, कि भववर्मा उस वंश में उत्पन्न नहीं हुआ था, जिसके कि श्रुतवर्मा और श्रेष्ठवर्मा थे। ता प्रोम के अभिलेख में श्रेष्ठवर्मा को सूर्यवंशी कहा गया है, और भववर्मा को सोम (चन्द्र) वंशी। वकसेई चमक्रोन के अभिलेख से यह सूचित होता है, कि बाद में इन दोनों वंशों का एकीकरण हो गया था। सम्भवतः, 'कम्बुजराजलक्ष्मी' और भववर्मा के विवाह द्वारा ही श्रेष्ठवर्मा और भववर्मा के वंशों का एकीकरण हुआ था।

भद्रवर्मा के विषय में एक मत यह है, कि भववर्मा का सम्बन्ध फूनान के राजकुल के साथ था। फूनान के राजा रुद्रवर्मा का उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। कम्बोडिया के एक अभिलेख (अङ्-चुमनिक) के अनुसार भववर्मा रुद्रवर्मा के बाद राजा बना था। इस अभिलेख में वैद्यों के एक परिवार का उल्लेख है, और वैद्यों के नामों के साथ-साथ उन राजाओं के नाम भी दिये गये हैं, जिनके कि ये राजवैद्य थे। ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह रुद्रवर्मा के वैद्य थे, उनका (ये दोनों सगे भाई थे) बड़ा भानजा धर्मदेव भववर्मा का राजवैद्य रहा था, और छोटा भानजा सिंहदेव महेन्द्रवर्मा का। धर्मदेव का पुत्र सिंहवीर राजा ईशानवर्मा का मन्त्री था, और सिंहवीर का पुत्र सिंहदत्त जयवर्मा का राजवैद्य था। अङ्-चुमनिक के इस अभिलेख में पांच राजाओं के नाम दिये गए हैं, जो एक दूसरे के बाद हुए थे। इन राजाओं का क्रम इस प्रकार है—रुद्रवर्मा, भववर्मा, महेन्द्रवर्मा, ईशानवर्मा और जयवर्मा। महेन्द्रवर्मा आदि भववर्मा के उत्तराधिकारी थे, यह अन्य अभिलेखों से भी स्पष्ट है। पर अङ्-चुमनिक के अभिलेख से यह संकेत मिलता है, कि भववर्मा रुद्रवर्मा के बाद हुआ था। हमें ज्ञात है, कि रुद्रवर्मा भी फूनान का राजा था, और भववर्मा के राज्य में भी फूनान सम्मिलित था। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर एक मत यह प्रतिपादित किया गया है, कि रुद्रवर्मा की मृत्यु के पश्चात् फूनान में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, जिसका कारण राजसिंहासन की प्राप्ति के लिए संघर्ष था। भववर्मा का सम्बन्ध फूनान के राजवंश से था, और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर वही रुद्रवर्मा का उत्तराधिकारी बना था। अभिलेखों में अनेक प्रकार से यह प्रगट किया गया है, कि भववर्मा ने अपनी शक्ति का उपयोग कर राजसिंहासन प्राप्त किया था (स्वशक्तया क्रान्तराज्यस्य राज्ञः श्रीभववर्मणः), और उसे शत्रुओं के संघ का मर्दन करना पड़ा था (श्रीभववर्मणः क्षितिपतेश्शक्तित्रय-श्लाघिनो, वीर्योद्दामसपत्नसंघ-समर-स्पर्द्धाभिमानच्छिदः)। भववर्मा के विषय में जिन दो मतों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे पूर्णतया अनुमान पर आधारित हैं। उन्हें सुनिश्चित तथ्य नहीं कहा जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि भववर्मा के बाद जो राजा चिरकाल तक कम्बुज का शासन करते रहे, वे अपना मूल श्रुतवर्मा से मानते थे। इसीलिए दसवीं सदी और बाद के अभिलेखों में श्रुतवर्मा को ही कम्बुज के राजवंश की 'योनि' (मूल) कहा गया है।

भववर्मा—श्रेष्ठवर्मा के पश्चात् भववर्मा कम्बुज देश का राजा बना। उसका काल छठी सदी के मध्य भाग में माना जाता है। अपनी राजधानी का नाम उसने अपने नाम से भवपुर रखा था। वह एक महान् विजेता था, और उस द्वारा कम्बुज राज्य का

बहुत विस्तार हुआ। फूनान को जीत कर अपने राज्य में सम्मिलित करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ उसी द्वारा किया गया था, यद्यपि यह कार्य उसके भाई चित्रसेन (महेन्द्रवर्मा) द्वारा पूर्ण हुआ था। छह ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें भववर्मा का नाम आया है। इन्हें श्रेष्ठवर्मा के उत्तराधिकारी इसी भववर्मा का समझा जाता है। इन अभिलेखों में भववर्मा या उसके किसी राजपदाधिकारी द्वारा किये गए दान-पुण्य का उल्लेख है, और प्रसंगवश उनमें राजा के वंश तथा वीरकृत्यों का भी संकेत कर दिया गया है। एक अभिलेख के अनुसार भववर्मा ने शिव (त्र्यम्बक) के लिंग की स्थापना कर शिवमन्दिर के लिए ऐसा धन दान में दिया था, जो उसने धनुष के बल पर प्राप्त किया था (शरासनोद्योगजितार्थदानैः)। एक अन्य अभिलेख में राजा भववर्मा को सोमवंश का बताकर उसे शत्रु रूपी अन्धकार को दूर करने वाला सूर्य कहा गया है। इसी प्रकार एक अभिलेख में उसे शत्रुओं की नारियों के मुखकमलों को अश्रुवाष्प से आप्लावित कर देने वाला बताया गया है। अभिलेखों के ये श्लोक निम्नलिखित हैं—

स राजा भववर्म्मेति भवत्यधिकशासनः
सोमवंश्योऽप्यरिध्वान्त प्रध्वंसन दिवाकरः॥
सोमान्वयनस्सोमो यः कलाकान्तिसम्पदा
रिपुनारीमुखाब्जेषु कृतवाष्पपरिप्लवः॥

इसमें सन्देह नहीं, कि कम्बुज देश के उत्कर्ष के लिए भववर्मा का कर्तृत्व बहुत महत्त्व का था। फूनान की अधीनता से यह देश श्रुतवर्मा के समय में ही मुक्त हो गया था। पर भववर्मा केवल कम्बुज के राज्य में ही सन्तुष्ट नहीं रहा। उसने फूनान पर भी आक्रमण किया, और उसे अपने अधीन कर लिया। चीनी ग्रन्थों में फूनान की विजय का श्रेय चित्रसेन को दिया गया है, जो भववर्मा का भाई था और उसके बाद कम्बुज का राजा बना था। सम्भवतः, भववर्मा फूनान के केवल उत्तरी प्रदेशों को ही अपनी अधीनता में ला सका था। उसके शेष कार्य को चित्रसेन ने सम्पन्न किया।

चित्रसेन (महेन्द्रवर्मा)—ऐसा प्रतीत होता है, कि भववर्मा के बाद उसका पुत्र कम्बुज का राजा बना था। हन-चे के एक अभिलेख से इसी बात का संकेत मिलता है। पर या तो इस राजा की शीघ्र मृत्यु हो गई, और या इसके चाचा चित्रसेन द्वारा इसकी हत्या करा दी गई। एक चीनी ग्रन्थ में, चित्रसेन के राज्याभिषेक के कुछ समय बाद ही जिसकी रचना हुई थी, यह लिखा है, कि "जब कोई राजा राजसिंहासन पर आरूढ़ होता है, तो उसके भाइयों की नाक और उंगलियाँ काट ली जाती हैं, और उन्हें पृथक्-पृथक् स्थानों पर कैद कर दिया जाता है।" राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए भाई भतीजों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को दृष्टि में रखकर ही चीनी ग्रन्थ में यह बात कही गई थी।

चित्रसेन महेन्द्रवर्मा के नाम से कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। इस राजा के दो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। उनमें से एक की तीन प्रतियाँ मिली हैं, और दूसरे की छह। एक अभिलेख में इसने अपने को भववर्मा का छोटा भाई कहते हुए शक्ति में उससे 'अन्यून' कहा है। (शक्त्यपर्यन्यूनः कनिष्ठोऽपि भ्राता श्री भववर्मणः)।

चीनी विवरणों के अनुसार फूनान की विजय इसी राजा द्वारा की गई थी। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि फूनान की विजय का कार्य महेन्द्रवर्मा द्वारा पूरा किया गया था। चम्पा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है, कि इस राजा ने अपने राजदूत चम्पा के राजदरबार में भी भेजे थे। सातवीं सदी के प्रारम्भ काल में कम्बुज के दूतमण्डल चीन भी गए थे, जिन्हें या तो महेन्द्रवर्मा ने वहां भेजा था, और या उसके उत्तराधिकारी ईशानवर्मा ने।

महेन्द्रवर्मा शैव धर्म का अनुयायी था। शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में उस द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। एक अन्य अभिलेख में पत्थर की बनी एक ऐसी मूर्ति का उल्लेख है, जिसे महेन्द्रवर्मा ने विविध देशों की विजय के पश्चात् प्रतिष्ठापित कराया था। इसी राजा के शासनकाल के एक अभिलेख में शंभुपद (शिवपद) की स्थापना का वर्णन है। वहां लिखा है—"ध्रुवपुण्यकीर्ति के पौत्र, ध्रुव के पुत्र, द्विजोत्तम विद्यावित् ने इस शंभुपद के पुण्य कार्य को सम्पन्न किया। उसी ने पर्वत की उपत्यका में भगवान् के अभिषेक के लिये सरोवर बनवाया। शकाब्द ५२९ में भगवान् का यह पद ईंट की दीवारों से घेरा गया, और ५४६ में सरोवर को जल से भरा गया।" विष्णु पद तो भारत में मिलता है, पर शिवपद कम्बुज देश में ही था।

ईशानवर्मा—महेन्द्रवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र ईशानवर्मा कम्बुज देश का स्वामी बना। उसके राजगद्दी पर आरूढ़ होने का काल सातवीं सदी के प्रारम्भ में ६१७ ई० के आस-पास रखा जा सकता है। यद्यपि महेन्द्रवर्मा फूनान की विजय को पूरा कर चुका था, पर अभी वहाँ पूर्णरूप से शान्ति स्थापित नहीं हुई थी। कम्बुज के प्रभुत्त्व के विरुद्ध वहाँ संघर्ष चलता रहता था। सम्भवतः, फूनान का परास्त राजा अपने देश के दक्षिणी कोने में स्थित किसी दुर्ग को केन्द्र बना कर कम्बुज के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर था। ईशानवर्मा ने ६२७ ई० में उसे परास्त किया, और फूनान पर अपना अबाधित शासन स्थापित कर लिया। उसका राज्य बहुत विस्तृत था। सम्पूर्ण कम्बोडिया तो उसके अधीन था ही, पर पड़ौस के कतिपय अन्य राज्यों को भी वह अपनी अधीनता में ले आया था। उसके उत्कीर्ण लेख मेकांग नदी के मुहाने के प्रदेश में और सियाम की पूर्वी सीमा के प्रदेश में भी मिले हैं, जिससे उसके राज्य के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग के अनुसार ईशानवर्मा का राज्य पश्चिम में द्वारवती (मध्य सियाम) तथा पूर्व में महाचम्पा (विएतनाम) तक विस्तृत था। इस राजा ने भवपुर के स्थान पर ईशानपुर को अपनी राजधानी बनाया, जिसका नाम उसके अपने नाम पर रखा गया था। सम्बोर प्रई कुक नामक स्थान पर इस नगरी की स्थिति थी। वहाँ ईशानवर्मा के अनेक अभिलेख भी उपलब्ध हुए हैं। चम्पा के राज्य से ईशानवर्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसकी पुत्री श्रीशर्वाणी का विवाह चम्पा के राजा जगद्धर्म के साथ हुआ था। इस काल में चम्पा के राजकुल में अव्यवस्था मची हुई थी, जिसका कारण राजप्रासाद तथा अन्तःपुर के षड्यन्त्र थे। श्रीशर्वाणी का पुत्र प्रकाशधर्मा जब चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो उसने षड्यन्त्रों का अन्त कर शासन में सुव्यवस्था स्थापित की। ईशानवर्मा की एक अन्य कन्या भी थी, जिसका विवाह दक्षिण (सम्भवतः,

दक्षिणी भारत) के ब्राह्मण दुर्गस्वामी के साथ हुआ था। इससे यह सूचित होता है, कि इस काल में भारत के साथ भी कम्बुज देश का सम्बन्ध विद्यमान था। चीन के सम्राट् की सेवा में भी अनेक दूतमण्डल ईशानवर्मा द्वारा भेजे गये थे। चीन के प्राचीन ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया गया है। ये दूतमण्डल ६१६ और ६१७ ई० में चीन भेजे गये थे।

जयवर्मा प्रथम—अङ् चुमनिक के अभिलेख में ईशानवर्मा के बाद जयवर्मा का नाम दिया गया है। पर कम्बोडिया के एक अन्य अभिलेख से सूचित होता है, कि ६३९ ईस्वी में कम्बुज में भववर्मा का शासन था। इस अभिलेख में भववर्मा द्वारा देवी चतुर्भुज की मूर्ति की प्रतिष्ठा तथा उसके लिए दी गई दान-दक्षिणा का उल्लेख है। इससे सूचित होता है, कि ईशानवर्मा और जयवर्मा के बीच में भववर्मा नाम के एक अन्य राजा ने कम्बुज देश का शासन किया था। श्रेष्ठवर्मा के उत्तराधिकारी भववर्मा से पृथक् करने के लिए इसे भववर्मा द्वितीय कहा जाता है। पर इस राजा के शासन की कोई महत्त्व-पूर्ण घटना ज्ञात नहीं है। भववर्मा द्वितीय के बाद जयवर्मा प्रथम कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसका शासनकाल ६५७ से ६७४ ईस्वी तक था। उसके जो अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उनके प्राप्तिस्थानों को दृष्टि में रख कर यह माना जाता है कि उसके समय में कम्बुज राज्य में ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी, और महेन्द्रवर्मा द्वारा जिस सुविस्तृत राज्य की स्थापना की गई थी, वह अक्षुण्ण रूप से विद्यमान था। जयवर्मा प्रथम के अभिलेख में उसे एक सुयोग्य तथा प्रतापी राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(४) कम्बुज इतिहास का अन्धकार युग

स्थल कम्बुज—जयवर्मा के पश्चात् कम्बुज के अपकर्ष का प्रारम्भ हो गया था। चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है, कि इस समय कम्बुज दो राज्यों में विभक्त हो गया था, जिन्हें चीनी विवरणों में 'स्थल कम्बुज' और 'जल कम्बुज' कहा गया है। स्थल कम्बुज में कम्बोडिया के पर्वतप्रधान उत्तरी प्रदेश अन्तर्गत थे, और लाओस, तोन्किन तथा युन्नान के भी कुछ भाग इसमें सम्मिलित थे। यह एक अच्छा शक्तिशाली राज्य था, और चीन के साथ इसका राजनयिक सम्बन्ध कायम था। ७१७ ईस्वी में इस द्वारा एक दूतमण्डल चीन भेजा गया था। पर चीन और स्थल कम्बुज का मैत्री सम्बन्ध तब कायम नहीं रह पाया, जब कि अनाम (चम्पा के उत्तर में) के राजा ने चीन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्थल कम्बुज की सेना ने उसकी सहायता की। कम्बुज की सैनिक सहायता प्राप्त कर अनाम का राजा स्वतन्त्रता प्राप्त करने में भी समर्थ हो गया था। पर इस समय अन्य प्रदेशों में भी चीन के प्रभुत्त्व के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। दक्षिणी चीन के युन्नान प्रान्त के जो प्रदेश चीनी सम्राट् के अधीन थे, उन्होंने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था। इस दशा में चीन ने स्थल कम्बुज के साथ मैत्री को पुनः स्थापित करने में ही अपना हित समझा और कम्बुज की सहायता से चीन का सम्राट् नान-चाओ (युन्नान) के विद्रोह को दबा सकने में समर्थ हो गया

(७५३ ई०)। स्थल कम्बुज का राजकुमार नान-चाओ के विरुद्ध अभियान में अपने देश की सेना के साथ सम्मिलित था। ७७१ ईस्वी में स्थल कम्बुज के राजा ने स्वयं चीन की यात्रा की, जिसके कारण इन दोनों देशों का मैत्री सम्बन्ध और अधिक दृढ़ हो गया।

जल कम्बुज—चीनी ग्रन्थों में जिसे 'जल कम्बुज' कहा गया है, उसके इतिहास के सम्बन्ध में कोई सूचना चीनी विवरणों से उपलब्ध नहीं हुई है। पर अभिलेखों से ज्ञात होता है, कि वहाँ अनेक राज्य कायम हो गये थे। अभिलेखों में इस क्षेत्र के तीन राज्यों के नाम आये हैं, अनिन्दितपुर, शम्भुपुर और व्याधपुर। शम्भुपुर की स्थिति मेकांग नदी के तट पर थी, और उसे आजकल के सम्भोर के साथ मिलाया गया है। पर अनिन्दितपुर और व्याधपुर की स्थिति के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिले हैं। यह कह सकना भी कठिन है, कि ये तीनों राज्य एक समय में साथ-साथ विद्यमान थे, या एक के बाद एक करके हुए थे। अधिक सम्भव यही है, कि ये एक समय में साथ-साथ ही कायम थे, क्योंकि राजेन्द्रवर्मा के प्रे-रूप और मबोन के अभिलेखों में अनिन्दितपुर के राजा पुष्कराक्ष द्वारा शम्भुपुर के राज्य को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। शम्भुपुर की यह प्राप्ति सम्भवतः विवाह सम्बन्ध द्वारा की गई थी। यह प्रतीत होता है, कि जल कम्बुज (दक्षिणी कम्बोडिया) अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, और उसकी राजनीतिक एकता कायम नहीं रह सकी थी। इस काल के अभिलेखों में इन राज्यों के कतिपय राजाओं के नाम भी विद्यमान हैं, पर उन द्वारा इन राज्यों के क्रमिक इतिहास को नहीं जाना जा सकता। नौवीं सदी में यशोवर्मा नाम का कम्बुज देश का एक प्रतापी राजा हुआ था, जिसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। उसके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें पूर्ववर्ती राजाओं के सम्बन्ध में भी कुछ परिचय दिया गया है। इनमें जिन राजाओं के नाम दिये गये हैं, उनमें शम्भुपुर के नृपतीन्द्रवर्मा और पुष्कराक्ष, अनिन्दितपुर के बालादित्य और शम्भुवर्मा तथा नृपादित्य उल्लेखनीय हैं। अभिलेखों में इस काल के कुछ अन्य राजाओं के नाम भी विद्यमान हैं, पर वे कहाँ के राजा थे यह सूचित नहीं किया गया है।

शैलेन्द्र साम्राज्य और कम्बुज देश—इसमें सन्देह नहीं, कि आठवीं सदी में कम्बुज देश की राजनीतिक एकता कायम नहीं रही थी, और वह अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसकी राजशक्ति निर्बल पड़ गई और उसके लिए अपनी स्वतन्त्र स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखना सम्भव नहीं रहा। यही समय था, जबकि श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राट् साम्राज्य विस्तार के लिए तत्पर थे, और उन्होंने जावा, मलाया प्रायद्वीप तथा वर्तमान इन्डोनीसिया के बहुत से द्वीपों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था। कम्बुज की राजनीतिक परिस्थिति से शैलेन्द्रों ने लाभ उठाया, और उसे भी अपना वशवर्ती बनाने में सफलता प्राप्त की। अरब व्यापारी सुलेमान ने ८५१ ई० में जावक (श्रीविजय का शैलेन्द्र साम्राज्य) के राज्य-विस्तार का उल्लेख करते हुए लिखा था, कि कम्बुज के राजा को जावक के आक्रमण का तब तक पता नहीं चला, जब तक कि वह नदी के मार्ग से उसकी राजधानी तक

नहीं पहुँच गया। शैलेन्द्र साम्राज्य के उत्थान का वृत्तान्त लिखते हुए इस ग्रन्थ में पहले श्रीविजय द्वारा कम्बुज के पराभूत किये जाने पर प्रकाश डाला जा चुका है। श्रीविजय की अधीनता से कम्बुज कब स्वतन्त्र हुआ, इस सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा। यहाँ इतना सूचित कर देना ही पर्याप्त है, कि कम्बुज की स्वतन्त्रता का प्रधान श्रेय जयवर्मा द्वितीय को प्राप्त है, जो नौवीं सदी के प्रारम्भकाल में वहाँ के राजसिंहासन पर आरूढ़ था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि आठवीं सदी कम्बुज के अपकर्ष का काल थी, जिसमें उसकी राजशक्ति क्षीण हो गई थी।

(५) कम्बुज देश में भारतीय संस्कृति का प्रभाव

नौवीं सदी में राजा जयवर्मा द्वितीय के समय से कम्बुज देश के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ था। इस समय से यह देश उन्नति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता गया, और ग्यारहवीं सदी में वह एक शक्तिशाली एवं विशाल साम्राज्य को स्थापित करने में सफल हुआ। कम्बुज देश के इतिहास के इस उत्कर्ष-युग का वृत्तान्त लिखने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि इससे पहले के कम्बुज पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का परिचय दे दिया जाए। फूनान के अब तक केवल तीन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, पर कम्बुज देश के आठवीं सदी तक के जो अभिलेख मिले हैं उनकी संख्या पचास से भी अधिक है। चीनी विवरणों के अतिरिक्त इन अभिलेखों से भी प्राचीन कम्बोडिया की संस्कृति के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

शासन व्यवस्था—भारतीय उपनिवेशकों द्वारा कम्बुज देश में जो उपनिवेश या राज्य स्थापित किये गये थे, उनकी शासन-व्यवस्था भारत के राज्यों के सदृश थी, और उनमें उन्हीं आदर्शों या सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता था, जिनका प्रतिपादन भारत के राजशास्त्रप्रणेताओं ने किया था। अङ्चुमनिक के अभिलेख में राजा भववर्मा के दो मन्त्रियों का उल्लेख है, जिनके अन्य गुणों के साथ यह भी कहा गया है, कि वे धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के ज्ञाता थे। श्लोक इस प्रकार है—

तस्य तौ मन्त्रिणावास्तां सम्मतौ कृतवेदिनौ
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ ॥

सम्भवतः, यहाँ अर्थशास्त्र से आचार्य चाणक्य का कौटलीय अर्थशास्त्र अभिप्रेत है, जिसका अनुसरण कम्बुज देश में भी किया जाता था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है, कि भववर्मा के एक राजपदाधिकारी (अमात्य) ने शिवलिंग की स्थापना के सम्बन्ध में जो अभिलेख उत्कीर्ण कराया था, उसमें यह कहा गया है, कि वह अमात्य राजा का अत्यन्त अन्तरंग (अन्तरंगत्वमास्थितः) था, क्योंकि वह 'सर्वोपधाशुद्ध' था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में विविध उपधाओं द्वारा राजकर्मचारियों के 'शौचाशौच' (शुचि और अशुचि) की परख करने का विशद रूप से प्रतिपादन कर यह कहा गया है, कि जो व्यक्ति सब परखों में खरे उतरें, जो सर्वोपधाशुद्ध हों, उन्हें मन्त्रीपद पर नियुक्त किया जाए। कम्बुज के इस अभिलेख में मन्त्री को सर्वोपधाशुद्ध कहा जाना यह सूचित करता है, कि वहाँ कौटलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव विद्यमान था। राज्य के शासन में

राजा की स्थिति अत्यन्त महत्त्व की थी, और वही राज्य का कर्त्ता-धर्त्ता होता था। पर सम्भवतः, उसे परामर्श देने के लिए 'राजसभा' भी होती थी। ५६५ ईस्वी के तुओल प्रह्यत स्तम्भलेख में राजा जयवर्मा के 'राजसभाधिपति' द्वारा केदारेश्वर शिव के लिंग की स्थापना का उल्लेख है। राजसभाधिपति नामक राजपदाधिकारी की सत्ता तभी सम्भव थी, जबकि राज्य में कोई राजसभा भी हो। पर इस राजसभा के सदस्य कौन होते थे, और इसके क्या कार्य थे, इस विषय में कोई सूचना अभिलेखों से नहीं मिलती। कम्बुज के अभिलेखों में राज्य के अनेक पदाधिकारियों व राजकर्मचारियों का भी उल्लेख है। इनमें मन्त्री, दूत (राजदूत), द्वाराध्यक्ष (दौवारिक), नृपान्तरंगयोध (अंगरक्षक सेना का अध्यक्ष या आन्तर्वंशिक), राजभिषक् (राजवैद्य), महाश्वपति (अश्वसेना का अध्यक्ष), महानौवाहक (जलसेना का अध्यक्ष) और समन्तनौवाह (जल सेना का अन्य पदाधिकारी) विशेष महत्त्व के हैं। सैनिक अधिकारियों के अनेक वर्ग थे। जयवर्मा के एक अभिलेख में 'सहस्रवर्ग्गाधिपति' संज्ञक एक सैनिक अधिकारी का उल्लेख है, जो मुगल युग के हजारी और पांच हजारी का स्मरण दिलाता है। घोड़ों के अतिरिक्त हाथियों का भी कम्बुज की सेना में उपयोग था। इस युग के अभिलेखों में अनेक बार जंगी हाथियों का उल्लेख किया गया है। सातवीं सदी के एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार कम्बुज में ५००० जंगी हाथी थे।

ईशानवर्मा सदृश राजाओं के शासनकाल में कम्बुज राज्य अच्छा विस्तृत हो गया था। अतः शासन के लिये उसे अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था, जिनमें से प्रत्येक का शासन एक नगर से हुआ करता था। चीनी विवरणों में इन नगरों की संख्या तीस बताई गई है। अभिलेखों में भी ऐसे कुछ नगरों का उल्लेख है, ततन्दरपुर, ताम्रपुर, आढ्यपुर, श्रेष्ठपुर, भवपुर, ध्रुवपुर, धन्वीपुर, ज्येष्ठपुर, विक्रमपुर, उग्रपुर और ईशानपुर। अभिलेखों में इनके कुछ शासकों के नाम भी दिये गये हैं। राजा जयवर्मा ने अपने राजवैद्य सिंहदत्त को आढ्यपुर का अधिपति (शासक) नियुक्त किया था। नगरों की रचना दुर्गों के रूप में की जाती थी, और उनके चारों ओर प्राकार तथा परिखा रहती थीं। प्रजा के हित-कल्याण के सम्पादन के लिये नगरों में विप्रशाला, सरस्वती (सम्भवतः, सरस्वतीमन्दिर=शिक्षणालय या पुस्तकालय), सत्र (चिकित्सालय या धर्मशाला), सरोवर और भक्तशाला (भोजन वितरण एवं भीख देने के लिए शाला) आदि की व्यवस्था की जाती थी।

राजा ईशानवर्मा की राजधानी तथा राजदरबार के सम्बन्ध में चीनी ग्रन्थों का एक विवरण महत्त्व का है। वहाँ लिखा है, कि "चित्रसेन के देहावसान के पश्चात् उसका पुत्र ईशानवर्मा राजा बना। वह ईशानपुर में रहा करता था। इस नगर में बीस हजार मकान थे। नगर के मध्य में एक विशाल राजप्रासाद था, जहाँ राजा अपना दरबार लगाया करता था। वह सप्तरत्न-मण्डित पञ्चविध-गन्धसुगन्धित आसन पर आसीन होता है। गजदन्त तथा सुवर्ण-पुष्पों द्वारा सुसज्जित बहुमूल्य दारुस्तम्भों पर तना चंदवा उसके ऊपर होता है। सिंहासन के दोनों ओर एक-एक आदमी धूप जलाने की धूपदानी लिए खड़ा रहता है। राजा गोटेदार श्वेत रंग का रेशम पहनता है, बहुमूल्य

मणियों और मोतियों से अलंकृत मुकुट धारण करता है, और उसके कानों में सुवर्ण कुण्डल होते हैं। उसके जूते विभिन्न रंगों के चमड़े से बनाये जाते हैं, और उन पर हाथी दांत का काम किया होता है। राज्य के उच्च पदाधिकारी पाँच वर्गों के हैं, जिनकी पोशाक राजा के सदृश होती है। वे राजसिंहासन के सम्मुख झुककर तीन बार भूमि का स्पर्श करते हैं। तब राजा उन्हें ऊपर आने की अनुमति देता है। सीढ़ियों से ऊपर आकर वे हाथ जोड़कर राजा के सामने दण्डवत् करते हैं। इसके बाद वे आसन ग्रहण कर लेते हैं, और राजा के साथ राजकीय विषयों पर विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं। विचार-विमर्श के अनन्तर वे फिर झुककर प्रणाम तथा दण्डवत् करते हैं, और बाहर चले जाते हैं।" इस चीनी विवरण से कम्बुज के राजदरबार का एक स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है।

धार्मिक दशा—आठवीं सदी तक के जो अभिलेख कम्बुज में उपलब्ध हुए हैं, उनमें प्रायः किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा या दानपुण्य का ही उल्लेख है। इस कारण उन द्वारा कम्बुज की धार्मिक दशा के विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। इन अभिलेखों का प्रारम्भ प्रायः किसी देवता की वन्दना के साथ किया जाता है, जैसे 'नमोस्तु परमार्थाय त्रैलोक्यमूर्तये' या 'तं वन्दे हरिम्', जिससे उस युग के देवी-देवताओं का अच्छा परिचय मिल जाता है। आठवीं सदी तक कम्बुज देश में पौराणिक हिन्दू धर्म का प्राधान्य था, और वहां शिव, विष्णु आदि देवताओं की पूजा की जाती थी। राजा ईशानवर्मा के एक अभिलेख (५४६ ई०) में याज्ञिक कर्मकाण्ड का भी उल्लेख है, पर पूजा के लिए प्रधानतया देवी-देवताओं की मूर्तियां ही प्रतिष्ठापित की जाया करती थीं। कम्बुज का प्रधान देवता शिव था। उसकी सशरीर मूर्तियां भी स्थापित की जाती थीं, और लिंग रूप से भी। रुद्र, आम्रातकेश्वर, व्योमेश्वर, गम्भीरेश्वर, निकामेश्वर, पिंगलेश्वर, ईशान, नैमिषेश्वर, श्रीविजयेश्वर, केदारेश्वर, गिरीश, शम्भु, त्र्यम्बक, त्रिशूली, सिद्धेश, शंकर, त्रिभुवनेश्वर, नृत्तेश्वर, अचलेश्वर, कदम्बेश्वर, महेश्वर, उत्पन्नेश्वर आदि कितने ही नामों से शिव का उल्लेख कम्बुज के प्राचीन अभिलेखों में किया गया है। उसकी जो सशरीर (मानव शरीर के रूप में) मूर्तियां कम्बुज में मिली हैं, उनमें उसके मस्तक पर चन्द्रमा और जटाओं में गंगा का अंकन किया गया है। पर शिव की पूजा के लिये प्रधानतया लिंग का निर्माण किया जाता था। शिव के साथ में उनके वाहन नन्दी की मूर्ति भी बनाई जाती थी। विष्णु की पूजा भी कम्बुज में प्रचलित थी, और अभिलेखों में इस देवता का उल्लेख हरि, अच्युत, नारायण और त्रैलोक्यसार आदि नामों से किया गया है। उमा, दुर्गा-देवी, चतुर्भुजा, भगवती, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों की पूजा भी कम्बुज देश में प्रचलित थी, और शिव तथा विष्णु की हरिहर, शंकरनारायण, शम्भु-विष्णु, हरिशंकर, हर-अच्युत, शिवविष्णु सदृश संयुक्त रूप से पूजा का भी वहाँ प्रचार था। भारत के पौराणिक धर्म में जिन देवी-देवताओं की पूजा का विधान था, प्रायः उन सबकी मूर्तियां कम्बुज में बनाई गईं, और उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया गया। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, कम्बुज देश की दशा ठीक वही थी, जो भारत की थी।

यद्यपि कम्बुज देश का प्रधान धर्म पौराणिक हिन्दू धर्म था, पर बौद्ध धर्म का भी वहाँ प्रवेश प्रारम्भ हो गया था। इस काल के एक अभिलेख में तीन बोधिसत्त्वों का भी उल्लेख है, पर बौद्ध धर्म अभी वहाँ जड़ नहीं पकड़ पाया था।

कम्बुज देश के पुराने भग्नावशेषों में सैकड़ों हजारों मूर्तियाँ और उनके खण्ड विद्यमान हैं, जो वहाँ पौराणिक हिन्दू धर्म के व्यापक प्रचार के स्पष्ट प्रमाण हैं। जिस प्रकार भारत में राजा, राजकुल के व्यक्ति तथा संभ्रान्त लोग मन्दिरों के निर्माण तथा उनका व्यय चलाने के लिये दानपुण्य किया करते थे, वैसे ही कम्बुज में भी होता था। वहाँ के बहुसंख्यक अभिलेखों में उच्च वर्ग के व्यक्तियों द्वारा देवमूर्तियों के प्रतिष्ठापित किये जाने तथा उनके लिये किये गये दानपुण्य का ही उल्लेख है।

हिन्दू धर्म के प्रचार के कारण कम्बुज देश में वेद, वेदांग, इतिहास-पुराण, दर्शन आदि प्राचीन भारतीय साहित्य का भी भली-भाँति अध्ययन-अध्यापन होता था। एक अभिलेख में राजा भववर्मा की बहन के पति ब्राह्मण सोमशर्मा द्वारा त्रिभुवनेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठा के उल्लेख के अनन्तर यह कहा गया है, कि उस (सोमशर्मा) ने प्रति-अखण्ड पाठ के लिये रामायण, महाभारत और पुराण दान में दी थीं। छठी सदी के एक अभिलेख में व्यास द्वारा विरचित 'सम्भव' के दान किये जाने का उल्लेख है। 'सम्भव' से महाभारत के आदि पर्व का सम्भव पर्व अभिप्रेत है। राजा भववर्मा के एक अन्य अभिलेख में पाशुपत सम्प्रदाय के आचार्य कवि विद्यापुण्य को न्याय, वैशेषिक और व्याकरण आदि शास्त्रों में पारंगत कहा गया है। जिस अभिलेख में ब्राह्मण सोमशर्मा द्वारा प्रतिष्ठापित त्रिभुवनेश्वर की मूर्ति का उल्लेख है, उसमें उसे 'सोमवेदविद्' भी कहा गया है। छठी सदी के जिस अभिलेख में आचार्य विद्याविनय द्वारा शिवलिंग की स्थापना का वर्णन है, उसका प्रारम्भ 'ओ३म् जैमिनये स्वाहा' के साथ किया गया है, जिससे जैमिनीकृत पूर्वमीमांसा से कम्बुजवासियों की परिचिति का संकेत मिलता है।

कम्बुज देश में अनेक 'आश्रम' भी स्थापित थे। जिस प्रकार बौद्ध विहारों में स्थविर और भिक्षु निवास करते थे, वैसे ही संन्यासी और साधु महात्मा आश्रमों में रहा करते थे, राजा ईशानवर्मा के समय के एक अभिलेख में आर्य विद्यादेव द्वारा एक आश्रम की स्थापना का उल्लेख है। इन आश्रमों में किसी प्राणी की हिंसा करना, छत्र (छतरी) धारण करना, चंवर प्रयुक्त करना, कुत्ते और मुर्गी आदि पालन सर्वथा निषिद्ध था, और वहाँ के निवासियों को नियम-संयम के साथ जीवन बिताना होता था।

कम्बुज के प्राचीन अभिलेखों में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द आये हैं। वैश्य और शूद्र का उनमें उल्लेख नहीं मिलता। यह सम्भवतः, वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण था। जो उपनिवेशक भारत से जाकर वहाँ बसे थे, वे प्रायः क्षत्रिय वर्ण के थे। धर्म के प्रचार के लिये और लोगों से धर्मकृत्य सम्पादित कराने के लिये ब्राह्मण भी वहाँ गये होंगे, यह सुनिश्चित है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विवाह सम्बन्ध हो सकता था, जैसा कि राजा भववर्मा की बहन का ब्राह्मण सोमशर्मा के साथ विवाह होने से स्पष्ट है। "इस विवाह से जो पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसका नाम हिरण्यवर्मा

था। इससे यह सूचित होता है, कि सन्तान माता का वर्ण प्राप्त करती थी, पिता का नहीं।

कम्बुज के प्राचीन अभिलेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत है। उनमें काव्य की वही छटा दिखायी देती है, जो गुप्तवंशी सम्राटों की प्रशस्तियों में है। उन्हें पढ़कर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, कि इनकी रचना एक ऐसे देश में की गई थी, जो भारत से हजारों मील की दूरी पर है। वस्तुतः, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से कम्बुज देश भारत का ही एक भाग था, और उसका साँस्कृतिक वातावरण पूर्णतया भारतीय था। नौवीं सदी के बाद के संस्कृत के अभिलेख कम्बुज देश में अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। उनके आधार पर एक पृथक् अध्याय में भी कम्बोडिया की भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला जाएगा, क्योंकि दसवीं सदी में उस देश का विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ था।

सातवाँ अध्याय

कम्बुज देश का राजनीतिक इतिहास

(१) स्वतन्त्रता की पुनःस्थापना

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है, कि आठवीं सदी में कम्बुज देश की राजनीतिक एकता कायम नहीं रह सकी थी, और वह अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था। श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और कम्बुज को जीत कर अपने अधीन कर लिया। पर वे देर तक उसे अपने आधिपत्य में नहीं रख सके। नौवीं सदी के प्रारम्भ में वह फिर स्वतंत्र हो गया, और उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर होने लगा।

जयवर्मा द्वितीय—कम्बुज की पुनः स्वतन्त्रता का श्रेय जयवर्मा द्वितीय को दिया जाता है। वह एक महान् वीर था, और उस द्वारा कम्बुज के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। शताब्दियों तक उसके गीत वहाँ गाये जाते रहे। मृत्यु के पश्चात् उसे 'परमेश्वर' नाम दिया गया, और कम्बुज अनेक अभिलेखों में उसके लिए यही नाम प्रयुक्त किया गया है। जयवर्मा द्वितीय का अपना कोई लेख अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पर बाद के काल के कुछ ऐसे अभिलेख हैं, जिनसे उसके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकी है। ये अभिलेख उसके वंशज जयवर्मा द्वितीय, यशोवर्मा, सूर्यवर्मा और उदयादित्यवर्मा के समय के हैं। ८११ ई० के यशोवर्मा के अभिलेख से जयवर्मा द्वितीय के कुल तथा पूर्वजों का पता चलता है। उसके अनुसार उसकी नानी राजा पुष्कराक्ष की भानजी थी, और उसका अपना विवाह रुद्रवर्मा की भानजी के साथ हुआ था। पुष्कराक्ष और रुद्रवर्मा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आठवीं सदी में जब कम्बुज अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था, तो दक्षिणी कम्बुज (जल कम्बुज) में जो अनेक राज्य थे उनमें से शम्भुपुर और अनिन्दितपुर पर पुष्कराक्ष का शासन रहा था। यह स्पष्ट है, कि माता की ओर से जयवर्मा द्वितीय का शम्भुपुर-अनिन्दित-पुर के राजकुल के साथ सम्बन्ध था। पर वह स्वयं भी राजकुल का था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ८१७ ई० के फ्नोम संदक से प्राप्त यशोवर्मा के अभिलेख में यह कहा गया है, कि जयवर्मा ने प्रजा के हित के लिए अतिनिर्मल राज-वंश में जन्म लिया था (योऽभूत् प्रजोदयायैव राजवंशेऽतिनिर्मले)। इससे यह संकेत मिलता है, कि वह स्वयं भी राजवंश का था। पर कम्बुज के पुराने राजवंशों के साथ उसका सम्बन्ध अपनी माँ और पत्नी द्वारा ही था, यह भी सर्वथा स्पष्ट है। अभिलेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस राजा ने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में कम्बुज के राज्य को प्राप्त नहीं किया था। कम्बुज पहले शैलेन्द्र सम्राटों के अधीन था, जिन्होंने इन्डोनीसिया क्षेत्र के जावा आदि प्रायः सभी द्वीपों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया हुआ था। जयवर्मा द्वितीय भी पहले जावा में रहा था। वहाँ से वह

कम्बुज आया। सम्भवत:, शैलेन्द्र सम्राट् द्वारा उसे कम्बुज के शासन के लिए नियुक्त किया गया था। पर अवसर पाकर वह वहाँ का स्वतंत्र राजा हो गया। कम्बुज फिर से जावा (शैलेन्द्र साम्राज्य) के प्रभुत्व में न आ जाए, इस प्रयोजन से उसने अनेक तान्त्रिक अनुष्ठान भी कराये थे।

राजा उदयादित्यवर्मा द्वितीय का एक अभिलेख ६७४ ई० का है, जो स्दोक काक थोम से उपलब्ध हुआ है। इसमें ३४० पंक्तियाँ हैं, जिनमें १३० संस्कृत श्लोकों में हैं, और शेष ख्मेर भाषा में, जो कम्बुज देश की स्थानीय भाषा थी। इस अभिलेख से जयवर्मा द्वितीय की राज्यप्राप्ति के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश पड़ता है, अत: इसके कुछ भाग को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा—"यह (महापुरोहित) परिवार पहले इन्द्रपुर विषय (जिले) के भद्रयोगी गाँव में रहता था। परमभट्टारक परमेश्वर (जयवर्मा द्वितीय) शासन करने के लिए जावा से इन्द्रपुर आये। पूज्य श्रीमान गुरु शिवकैवल्य परमभट्टारक परमेश्वर के राजपुरोहित बने। फिर परमभट्टारक परमेश्वर ने इन्द्रपुर छोड़ दिया, और शिवकैवल्य भी उन्हीं के साथ चले गये। अब वे पूर्वदिशा विषय आ गये, और वहाँ परमभट्टारक ने कृपापूर्वक उन्हें भूमि प्रदान की, और कुटी नामक गाँव बसा कर वह भी उन्हें दे दिया। फिर परमभट्टारक परमेश्वर हरिहरालय नगरी में शासन करते रहे, और शिवकैवल्य भी अपने परिवार के साथ वहीं निवास करने लगे। फिर परमभट्टारक परमेश्वर ने अमरेन्द्रपुर नगरी बसायी, और शिवकैवल्य भी उनकी सेवा के लिए वहीं चले गये। शिवकैवल्य ने अमरेन्द्रपुर के समीप एक भूखण्ड की परमभट्टारक से याचना की, जो उसे दे दिया गया। उसने अपने परिवार को कुटी से बुलाकर वहाँ भवालय नामक गाँव में बसा दिया गया। फिर परमभट्टारक परमेश्वर शासन के लिए महेन्द्रपर्वत गये, और शिवकैवल्य भी उनकी सेवा के लिये वहीं चले गये। फिर हिरण्यदामा नामक ब्राह्मण, जो मन्त्रविद्या में निष्णात था, देश (भारत) से आया। परमभट्टारक ने उसे इस प्रयोजन से आमंत्रित किया था, कि वह कोई ऐसा विधान (पुरश्चरण) करे, जिससे कम्बुज देश जावा के अधीन न रहे और उसका अपना स्वतंत्र चक्रवर्ती (राजा) हो। ब्राह्मण ने विनाशिक (तंत्र) के अनुसार विधि तैयार की और देवराज की पूजा का प्रारम्भ कराया। ब्राह्मण ने विनाशिक, सम्मोह और शिरश्छेद (तंत्रों) को आदि से अन्त तक बोल कर लिखवा दिया, और साथ ही तन्त्र की विधि शिवकैवल्य को सिखा दी। साथ ही, देवराज की पूजा की विधि भी शिवकैवल्य को सिखा दी गई। परमभट्टारक परमेश्वर और ब्राह्मण हिरण्यदामा ने शपथ ग्रहण की, कि देवराज की पूजा की विधि को सम्पन्न करने के लिये केवल शिवकैवल्य के परिवार को ही काम में लाया जाएगा, किसी दूसरे को नहीं। शिवकैवल्य ने यह पूजा-विधि अपने सभी कुटुम्बीजनों को सिखायी। तब परमभट्टारक परमेश्वर शासन के लिए हरिहरालय लौट आए, और देवराज को भी वहीं ले जाया गया। शिवकैवल्य और उसके कुटुम्बीजन पूर्ववत् पौराहित्य कार्य करते रहे। शिवकैवल्य की मृत्यु परमभट्टारक के शासनकाल में हो गई। परमभट्टारक परमेश्वर का देहावसान भी हरिहरालय नगरी में हुआ। उनके उत्तराधिकारी देवराज को विविध राजधानियों में ले जाते रहे,

और सर्वत्र रक्षक देवता के रूप में राज्य की रक्षा करते रहे।" इस अभिलेख से ज्ञात होता है, कि जयवर्मा द्वितीय जावा से शासन के लिए कम्बुज आया था। वहाँ उसने अनेक राजधानियों (नगरों) में शासन किया, और अन्त में वह इस देश का स्वतंत्र शासक बन गया। उसकी राजधानी हरिहरालय नगरी थी, और विविध अभिलेखों के आधार पर यह माना गया है, कि वह ८०२ ई० में स्वतंत्र राजा की स्थिति में कम्बुज के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। देवराज की पूजा कोई विशिष्ट तान्त्रिक विधि थी, जिसका प्रारम्भ जयवर्मा द्वितीय द्वारा कम्बुज में कराया गया था। इससे पूर्व यह विधि जावा में प्रयोग में लायी जाती थी, और सम्भवतः वहां भारत से गयी थी। जयवर्मा ने शिवकैवल्य को अपना राजपुरोहित नियुक्त किया था, और यह पद उसके वंशजों में चिरकाल तक स्थिर रहा।

हरिहरालय नगरी की स्थिति अङ्कोर क्षेत्र के उत्तर में प्रह खान में थी। इस के समीप एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें हरिहरालय के ग्रामवृद्ध और पुरुषप्रधान के नाम एक राजकीय आदेश उत्कीर्ण है। इन्द्रपुर नगर कम्बुज देश के उत्तर-पूर्वी भाग में था, और अमरेन्द्रपुर की स्थिति अङ्कोर थोम के उत्तर-पश्चिम में सौ मील की दूरी पर थी। महेन्द्रपर्वत भी अङ्कोर थोम के उत्तर-पश्चिम में था, जहाँ आजकल फ्नोम कुलेन नामक पहाड़ी है। कुटीग्राम की अङ्कोर थोम के पूर्व में विद्यमान वन्ते क्देई के साथ एकता प्रतिपादित की गई है। जयवर्मा द्वितीय जो निरंतर अपनी राजधानियाँ बदलता रहा, इसके कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा अनेक उट्टंकनाएं की गई हैं। सम्भवतः, राजकीय आवश्यकता की दृष्टि से ही वह ऐसा करने के लिए विवश हुआ था। पर वह अपनी राजधानी को पूर्व से पश्चिम की ओर ले जाता गया, यह स्पष्ट है। अन्त में उसने अङ्कोर थोम के क्षेत्र में विद्यमान हरिहरालय को अपनी राजधानी बना लिया, और ५२ वर्ष के सुदीर्घ शासन के पश्चात् ८५४ ई० में यहीं उसकी मृत्यु हुई। हरिहरालय में इस राजा द्वारा उन वास्तुकृतियों का निर्माण प्रारम्भ किया गया, अङ्कोर थोम की अद्वितीय कृतियों के रूप में जो पूर्णता को प्राप्त हुई। हरिहरालय के लिए जो स्थान जयवर्मा ने चुना था, वह एक सुन्दर नगर के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। यहाँ एक कृतिम सरोवर है, जो दो मील लम्बा और तिहाई मील चौड़ा है। सरोवर के तट पर हरिहर का मन्दिर है, और बीच में एक द्वीप पर एक नागमन्दिर बना है। सरोवर के समीप ही हरिहरालय नगरी का निर्माण किया गया था, जिसकी प्राचीर, परिखा, महाद्वार आदि अब तक भी विद्यमान हैं, यद्यपि अन्दर की इमारतें अब नष्ट हो चुकी हैं।

९०५ ई० के एक अभिलेख में जयवर्मा द्वितीय के विषय में यह लिखा गया है कि "श्री जयवर्मा राजाओं का सनातन अधिपति था, जिसके चरणों को प्रणाम करते हुए राजाओं के मुकुटों की चमकीली मणियाँ और भी अधिक चमक उठती थीं। वह प्रजा के कल्याण के लिए परिशुद्ध राजवंश में एक ऐसे पद्म की भाँति प्रादुर्भूत हुआ, जो भूमि से असंबद्ध हो। इस राजा को देखकर ललनाएं कहतीं—'मेरी आँखों, तुम बन्द रहना, जिससे यह शुभ रूप एक क्षण के लिए भी हमारे मन से विलग न हो।' उसके

सौन्दर्य की कोई उपमा नहीं हो सकती। यद्यपि चन्द्रमा का उसके मुख से सादृश्य है, पर चन्द्रमा में कोई दोष है जिससे राहु उसे ढक लेता है। समुद्र जिसकी मेखला है, ऐसी पृथिवी उसकी भुजाओं के लिए अधिक भारी नहीं है। उसकी भुजा पृथिवी के शासकों को प्रणत करने के लिए पर्याप्त है। उसका आसन सिंहों के सिर पर है। उसकी आज्ञाएँ राजाओं के सिरों पर आसीन हैं। उसकी राजधानी महेन्द्र पर्वत पर है, तब भी वह निरभिमान है।" इसमें सन्देह नहीं, कि जयवर्मा द्वितीय एक अत्यंत योग्य एवं प्रतापी शासक था। कम्बुज देश को शैलेन्द्रों की अधीनता से मुक्त कर उसने वहाँ एक शक्तिशाली तथा समृद्ध राज्य की स्थापना की। कम्बुज का जो उत्कर्ष बाद के समय में हुआ, उसकी आधारशिला जयवर्मा द्वितीय द्वारा ही रखी गई थी। कम्बोडिया के लोग आज तक भी उसे केतुमाल नाम से स्मरण करते हैं, और उसके सम्बन्ध में वहाँ बहुत-सी दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कम्बोडिया में अङ्कोरवात आदि के जो बहुत-से विशाल मन्दिर हैं, स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार उनका निर्माता भी यही राजा था। कहते हैं कि वह वस्तुतः इन्द्र का पुत्र था। इन्द्र ने उसे स्वर्ग लोक में बुलाया, और एक वास्तुशिल्पी को उसके साथ भूलोक भेज दिया। यह वास्तुशिल्पी एक अप्सरा का पुत्र था, और इन्द्र की राजसभा के देवपुत्रों से इसने वास्तुशिल्प सीखा था। इसी ने इन्द्रलोक से आकर कम्बुज के विशाल मन्दिरों आदि का निर्माण किया। कम्बोडिया के राजप्रासाद में एक तलवार है, सब राजा अपने राज्याभिषेक के समय जिसे हाथ में लेते हैं। समझा जाता है, कि जब तक यह तलवार रहेगी, राजसिंहासन को कोई आँच नहीं आने पाएगी। लोगों का विश्वास है, कि यह तलवार जयवर्मा द्वितीय की ही है। इसकी रक्षा के लिए जो व्यक्ति नियुक्त हैं, उन्हें जयवर्मा के समय के ब्राह्मणों का वंशज माना जाता है। वास्तुकला की दृष्टि से कम्बोडिया अत्यन्त समृद्ध है। उसके मन्दिर और प्रासाद वस्तुतः आश्चर्य की वस्तुएँ हैं। यह स्वीकार कर सकना तो सम्भव नहीं है, कि उन सब का निर्माण जयवर्मा द्वितीय द्वारा ही कराया गया था, पर इसमें सन्देह नहीं कि उन कृतियों का श्रीगणेश इसी प्रतापी राजा द्वारा किया गया था।

जयवर्मा तृतीय—जय वर्मा द्वितीय का पुत्र जयवर्धन था, जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जयवर्मा नाम से कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस जयवर्मा तृतीय के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात नहीं है, पर उसके काल में कम्बुज राज्य सुव्यवस्थित रहा। ८७७ ईस्वी में इस राजा की मृत्यु हुई।

जयवर्धन या जयवर्मा तृतीय की मृत्यु के साथ उस राजवंश का अंत हो गया, जिसका सूत्रपात जयवर्मा द्वितीय द्वारा किया गया था। यद्यपि जयवर्मा द्वितीय और जयवर्मा तृतीय ने एक सदी से भी कम समय तक शासन किया, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनका शासनकाल कम्बुज देश के लिए अत्यंत महत्त्व का था। कम्बुज देश के उत्कर्ष का श्रीगणेश इन्हीं राजाओं के समय में हुआ। ८६३ ईस्वी में लिखे गये मान-चू नामक चीनी ग्रन्थ के अनुसार ख्मेर (कम्बुज) राज्य की उत्तरी सीमा दक्षिणी चीन के युन्नान प्रान्त तक विस्तृत थी तभी सम्भव था, जबकि लाओस भी कम्बुज राज्य के अन्तर्गत हो। क्योंकि इस चीनी ग्रन्थ के लेखक ने ८३२ ईस्वी में इन प्रदेशों की स्वयं यात्रा की थी,

अतः उसके कथन की प्रामाणिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अरब लेखकों के विवरणों द्वारा भी यह सूचित होता है, कि इस काल के कम्बुज राज्य अत्यन्त शक्तिशाली तथा समृद्ध था। याकूबी (८७५ ईस्वी) ने लिखा है, कि ख्मेर राज्य बहुत विस्तृत था, और अनेक राजा उसके राजा की अधीनता स्वीकार करते थे। एक अन्य अरब लेखक इब्न रोस्तेह (६०३ ईस्वी) के अनुसार ख्मेर राज्य में ८० न्यायाधीश थे, जो पूर्णतया निष्पक्ष रूप से न्याय कार्य सम्पन्न किया करते थे। यदि राजा के पुत्र को भी उनके सम्मुख उपस्थित किया जाए, तो वे उसके मामले का निर्णय उसी ढंग से करते थे, जैसे कि किसी सामान्य नागरिक का मामला हो।

(२) अङ्कोर राज्य का उत्कर्ष

राजा इन्द्रवर्मा—८७७ ईस्वी में जयवर्मा तृतीय की मृत्यु के पश्चात् इन्द्रवर्मा कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्भवतः, जयवर्मा तृतीय के कोई सन्तान नहीं थी। इस दशा में इन्द्रवर्मा नामक व्यक्ति ने कम्बुज के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। इन्द्रवर्मा कौन था और उसका जयवर्मा द्वितीय के वंश के साथ क्या सम्बन्ध था, इस विषय में ८७६ ईस्वी के एक अभिलेख से प्रकाश पड़ता है, जो सियमरप प्रदेश में रूलो के प्रहा-श्वो मन्दिर में उत्कीर्ण है। इस अभिलेख के अनुसार इन्द्रवर्मा 'क्षत्रिय' पृथ्वीचन्द्रवर्मा का पुत्र था, और उसकी माता श्री रुद्रवर्मा की पुत्री तथा श्रीनृपतीन्द्रवर्मा की दौहित्री थी। इसी श्रीरुद्रवर्मा की भानजी का विवाह राजा जयवर्मा द्वितीय के साथ हुआ था, और जयवर्मा तृतीय रुद्रवर्मा की भानजी का ही पुत्र था। इस प्रकार इन्द्रवर्मा का जयवर्मा तृतीय के साथ अपनी माता की ओर से सम्बन्ध भी था। सम्भवतः, इन्द्रवर्मा ही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसका जयवर्मा तृतीय के साथ पारिवारिक सम्बन्ध था, और किसी अन्य निकट सम्बन्धी के न होने के कारण जिसे राजसिंहासन का अधिकारी स्वीकार कर लिया गया था। इन्द्रवर्मा तथा उसके उत्तराधिकारियों के जो अनेक अभिलेख मिले हैं, उनमें जयवर्मा द्वितीय और जयवर्मा तृतीय का आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। इससे सूचित होता है, कि इन्द्रवर्मा ने किसी षड्यन्त्र या विद्रोह द्वारा कम्बुज के राज्य को प्राप्त नहीं किया था, अपितु किसी अन्य निकटतर सम्बन्धी के न होने के कारण वही राज्य का न्याय्य अधिकारी था। इन्द्रवर्मा का विवाह इन्द्रदेवी नामक कुमारी के साथ हुआ था, जो एक अभिलेख के अनुसार राजा महीपतिवर्मा की पुत्री थी। महीपतिवर्मा का पिता राजेन्द्रवर्मा था, और उसकी माता नृपतीन्द्र देवी थी। इसी अभिलेख के अनुसार राजेन्द्रवर्मा का सम्बन्ध उस प्रतापी राजा पुष्कराक्ष के साथ भी था, जिस द्वारा अनिन्दितपुर और शम्भुपुर के राज्यों को मिला कर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की गई थी। इस पुष्कराक्ष का उल्लेख इस ग्रंथ में पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रवर्मा जहाँ स्वयं राजकुल का था, वहाँ अपनी माता तथा पत्नी की ओर से भी उसका कम्बुज देश के प्राचीन राजकुलों के साथ सम्बन्ध था।

विविध अभिलेखों में इन्द्रवर्मा के कुल का परिचय देते हुए जिन राजाओं के

नाम दिये गए हैं, उनका शासन किन-किन प्रदेशों में था और कम्बुज देश के शासनतन्त्र में उनकी क्या स्थिति थी, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, वे सब (पृथ्वीन्द्रवर्मा, नृपतीन्द्रवर्मा आदि स्थानीय शासक थे, और जयवर्मा द्वितीय तथा जयवर्मा तृतीय के सामन्तों की स्थिति में अपने-अपने प्रदेश का शासन किया करते थे। इन्द्रवर्मा का पिता पृथ्वीन्द्रवर्मा भी इसी प्रकार का सामन्त राजा था, और जयवर्मा तृतीय के कोई सन्तान न होने की दशा में इन्द्रवर्मा ने अपने पारिवारिक सम्बन्धों के कारण कम्बुज के राजसिंहासन को प्राप्त कर लिया था। सम्भवतः, इन्द्रवर्मा द्वारा कम्बुज के राज्य की प्राप्ति में शिवसोम उसका प्रधान सहायक था। यह शिवसोम जयवर्मा के मामा श्री-जयेन्द्राधिपति वर्मा का पौत्र था, और शास्त्रों का अगाध विद्वान् था। इन्द्रवर्मा शिवसोम का शिष्य था, और क्योंकि शिवसोम का सम्बन्ध जयवर्मा के कुल के साथ भी था, अतः इस प्रभावशाली एवं विद्वान् व्यक्ति का साहाय्य इन्द्रवर्मा द्वारा राज्यप्राप्ति में अवश्य उपयोगी रहा होगा।

इन्द्रवर्मा का राज्यकाल (८८७-८८९ ईस्वी)—राजा इन्द्रवर्मा के शासन की घटनाओं के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात नहीं हैं। पर उसके अभिलेखों से यह अवश्य सूचित होता है, कि वह एक प्रतापी राजा था, और चीन, चम्पा तथा यवद्वीप (जावा) में उसके आदेशों का पालन होता था। प्रसत-कंडोल अभिलेख का यह पद उद्धरणीय है—

"चीन चम्पायवद्वीप भूभृत्तुंगमस्तके
यस्याज्ञामालतीमाला निर्मला चुम्बलायते॥"

चीन, चम्पा और यवद्वीप के राजा-उसकी आज्ञाओं रूपी मालतीपुष्पों की निर्मल मालाओं को अपने मस्तकों को झुका कर ग्रहण करते हैं। चम्पा राज्य की स्थिति कम्बुज के पूर्व में थी, और इन दोनों राज्यों में प्रायः संघर्ष चलता रहता था। नौवीं सदी के प्रारम्भ भाग में चम्पा का एक सेनापति कम्बुज देश पर आक्रमण करता हुआ बहुत दूर तक आगे बढ़ गया था, और उसने इस राज्य का बुरी तरह से ध्वंस भी किया था। राजा जयवर्मा द्वितीय के नेतृत्व में जब कम्बुज में नवशक्ति का संचार हुआ, तो चम्पा के लिए पुनः कम्बुज पर आक्रमण कर सकना सम्भव नहीं रहा। पर इन राज्यों में विरोध एवं विद्वेष नौवीं सदी में निरन्तर जारी रहा, जिसके कारण ही सम्भवतः इन्द्रवर्मा ने चम्पा पर आक्रमण किया और उसे अपना वशवर्ती तथा आज्ञानुवर्ती बनाने में सफलता प्राप्त की। चम्पा के इतिहास की जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर इन्द्रवर्मा के इस दावे का न समर्थन होता है, और न खण्डन। अधिक सम्भव यही है, कि चम्पा को अपना वशवर्ती बनाने में इन्द्रवर्मा सफल हुआ था। जहाँ तक यवद्वीप (जावा) का सम्बन्ध है, यह काल उसकी शक्ति के ह्रास का समय था। मध्य जावा के मतराम राज्य का इस समय अन्त हो गया था, और जावा की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र पूर्वी प्रदेशों में विकसित होने लग गया था। सम्भवतः, इन्द्रवर्मा ने जावा की राजशक्ति के ह्रास की परिस्थिति से लाभ उठाया था और चम्पा के समान उसे भी अपना वश-वर्ती बना लिया था। आठवीं सदी के उत्तरार्ध और नवीं सदी के प्रारम्भ काल में जावा

और चम्पा दोनों ही कम्बुज की तुलना में अधिक शक्तिशाली थे, और उन्होंने इस देश को आक्रान्त भी किया था। पर जयवर्मा द्वितीय और जयवर्मा तृतीय द्वारा कम्बुज की शक्ति में जो वृद्धि की गई, इन्द्रवर्मा ने उससे लाभ उठाया और अपने पड़ौस के दोनों राज्यों को परास्त कर अपने अधीन कर लिया। प्रसत-कंडोल अभिलेख में चम्पा और यवद्वीप के साथ चीन का भी इन्द्रवर्मा के वशवर्ती राज्य के रूप में उल्लेख किया गया है। यह तो स्पष्ट ही है, कि सम्पूर्ण चीन कम्बुज राज्य के अधीन नहीं था। पर दक्षिणी चीन के युन्नान प्रान्त में भी अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी, और दक्षिणी चीन के ये भारतीय राज्य आठवीं सदी में ही चीन की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे। चीन के तांगवंशी सम्राटों ने इन्हें जीतने का बहुत प्रयत्न किया, पर वे कभी पूर्णतया सफल नहीं हो सके। उत्तरी युन्नान में मिथिला राष्ट्र की स्थिति थी और दक्षिणी युन्नान में आलवी राष्ट्र की। ये दोनों भारतीय उपनिवेश थे, और इनका स्वरूप प्रायः वैसा ही था जैसा कि विएतनाम के चम्पा राज्य का था। इन्द्रवर्मा ने अपने अभिलेख में जिस चीन को अपना वशवर्ती बनाने का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः दक्षिणी चीन का युन्नान प्रान्त ही था जिसके मिथिला तथा आलवी राज्यों को जीतकर उसने अपने अधीन कर लिया था।

इन्द्रवर्मा केवल विजेता ही नहीं था, अपितु कला का भी प्रेमी था। वास्तुशिल्प पर उसने बहुत ध्यान दिया। एक अभिलेख के अनुसार राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के तत्काल पश्चात् उसने यह प्रतिज्ञा की थी, कि पाँच दिनों के अन्दर-अन्दर उस द्वारा नये निर्माण का कार्य प्रारम्भ करा दिया जायगा। उसने स्वयं एक सिंहासन, एक इन्द्रयान (एक प्रकार का वाहन) और इन्द्रविमानक तथा इन्द्रप्रासादक नाम के दो राज-प्रासादों का प्रारूप तैयार किया, और फिर उनका निर्माण शुरू करा दिया। उसने शिव और दुर्गा की भी तीन-तीन मूर्त्तियां स्वयं बनायी थीं (स्वशिल्परचिता), और उस द्वारा बनवाये गये अनेक मन्दिरों तथा इन्द्रतटाक नामक एक तालाब का विविध अभिलेखों में उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजा इन्द्रवर्मा से संरक्षण व प्रोत्साहन प्राप्त कर कम्बुज में शिल्प और कला का बहुत अच्छा विकास हुआ था। मृत्यु के पश्चात् यह राजा 'ईश्वरलोक' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यशोवर्मा—इन्द्रवर्मा का पुत्र यशोवर्धन था, जो अपने पिता के पश्चात् ८८९ ईस्वी में यशोवर्मा नाम से कम्बुज देश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसकी शिक्षा के लिये इन्द्रवर्मा ने वामशिव नामक आचार्य की नियुक्ति की थी, जो शिवकैवल्य के भाई का पौत्र था। आचार्य शिवकैवल्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह तन्त्रवाद का महान् पण्डित था। वामशिव से शिक्षा प्राप्त कर शास्त्रों और काव्यों में यशोवर्मा की अबाध गति हो गई थी, और विद्या तथा साहित्य के प्रति उसे बहुत अनुराग हो गया था। उसके जो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, उनमें साहित्य तथा काव्य की अनुपम छटा दिखाई देती है, और यह भी सूचित होता है कि यह राजा कवियों का आश्रय दाता था। कविता की दृष्टि में अत्यन्त उत्कृष्ट होते हुए भी यशोवर्मा के अभिलेख इस के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं पर विशेष प्रकाश नहीं डालते। पर उनसे यह

अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि यशोवर्मा के राज्य का विस्तार कहाँ-कहाँ तक था। एक अभिलेख के अनुसार इसके राज्य की सीमा चीन के समुद्र तक थी (चीनसन्धि-पयोधिभ्यां मितोर्वी येन पालिता)। राजा राजेन्द्रवर्मा (९४४ ईस्वी) के एक अभिलेख से सूचित होता है, कि यशोवर्मा का राज्य चीन और चम्पा तक वितीर्ण था। इन्द्रवर्मा द्वारा कम्वुज का जो राज्य विस्तार किया गया या, वह यशोवर्मा के समय में भी अक्षुण्ण था, यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है। उसने भी किसी प्रदेश की विजय की हो, या किसी अधीनस्थ प्रदेश के विद्रोह को शान्त करने के लिये शस्त्रशक्ति का प्रयोग किया हो, इस सम्वन्ध में कोई संकेत अभिलेखों से नहीं मिलता। एक अभिलेख में यह अवश्य आया है, कि उसने अपने नाविक वेड़े को विजय के लिये चारों ओर प्रसारित किया था (नौकार्वुदं येन जयाय याने प्रसारित पींतसितं समन्तात्) पर सामुद्रिक शक्ति का यह उपयोग किस प्रयोजन से और किस क्षेत्र में किया गया था, यह ज्ञात नहीं है।

यशोवर्मा के अभिलेखों में राजा द्वारा वनवाये गये मन्दिरों और आश्रमों आदि का सुविस्तृत रूप से वर्णन है। उस द्वारा उत्कीर्ण प्राह वात स्तेल शिलालेख में ५० श्लोक हैं, और उसकी ११ प्रतियां विविध स्थानों पर उपलब्ध हुई हैं। इनके अन्य सव श्लोक एक ही हैं, केवल एक श्लोक में अन्तर है, जिसमें कि उस विशिष्ट देवता का उल्लेख है जिसके उपलक्ष में वहां अभिलेख उत्कीर्ण कराया गया था। थूनल वरे स्तेल अभिलेख में १०८ श्लोक हैं, और वह ५ विभिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण है। इसी प्रकार लोले स्तेल अभिलेख में ९३ श्लोक हैं, और उसकी भी दो प्रतियां उपलब्ध हैं। इन विविध अभिलेखों द्वारा यशोवर्मा के समय के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर बहुत प्रकाश पड़ता है, क्योंकि इनमें आश्रमों तथा देव मन्दिरों के सम्वन्ध में अनेक नियमों तथा राजकीय आदेशों का भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। यशोवर्मा से पहले के राजाओं ने कम्वुज देश में जो अभिलेख उत्कीर्ण कराये थे, उनके लिये पल्लव (दक्षिण भारत) लिपि का प्रयोग किया गया था, पर अव वहां पल्लव लिपि के साथ-साथ उत्तर भारत की लिपि भी प्रयुक्त की जाने लगी। इसी प्रकार का परिवर्तन जावा में भी हुआ था, और इस काल के लगभग वहाँ भी उत्तर भारत की लिपि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था। इससे अनुमान किया गया है, कि नौवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के उत्तरी प्रदेशों से भी वहुत से नये उपनिवेशक दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में जाकर आवाद हुए थे।

यशोवर्मा स्वयं शैव धर्म का अनुयायी था, पर वौद्ध धर्म के प्रति भी उसकी आस्था थी। उसने जहाँ वहुत-से शैव व पौराणिक हिन्दू मन्दिर वनवाये, वहाँ वौद्ध विहारों की भी उपेक्षा नहीं की। अङ्कोर थोम के राजप्रासाद के समीप तेप्नम् के मन्दिर में एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसके पहले दो श्लोकों में शिव स्तुति के अनन्तर तीसरे श्लोक में कहा गया है, कि "जिसने स्वयं अवगत करके इस भव के वन्धन से मुक्ति के साधनों को तीनों लोकों को समझाया, और जिसने निर्वाण वर को प्रदान किया, उसी वंद्यचरण करुणहृदय वुद्ध को नमस्कार है।" एक अन्य अभिलेख में यशोवर्मा द्वारा वनवाये गये वौद्ध आश्रम (विहार) का उल्लेख है। वहाँ लिखा है—"राजाधिराज

कम्बुजभूमिपति राजा यशोवर्मा ने बौद्धों के हित के लिये इव सौगताश्रम को बनवाया।"

अभिलेखों के अनुशीलन में यशोवर्मा के शासनकाल का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उसके अनुसार इस राजा के शासन में कम्बुज राज्य अत्यन्त समृद्ध था, जनता सुखी एवं सम्पन्न थी, देश में सर्वत्र शान्ति विराजती थी, और राजा अपनी प्रजा की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्न-शील रहता था। यशोवर्मा ने एक नई नगरी की भी स्थापना की थी, जिसका नाम पहले कम्बुजपुरी रखा गया था और बाद में बदल कर यशोधरपुर कर दिया गया था। इस नगरी का निर्माण फ्नोम बखेन नामक पहाड़ी शिखर-प्रदेश पर किया गया था। अङ्कोर थोम क्षेत्र के कुछ अवशेष इस समय भी इस पहाड़ी पर विद्यमान हैं। पहले यह माना जाता था, कि अङ्कोर थोम का ही प्राचीन नाम यशोधरपुर था और उसका निर्माण यशोवर्मा द्वारा ही कराया गया था। पर अब यह समझा जाता है, कि अङ्कोर थोम बाद में बना था, यद्यपि उसका निर्माण उसी स्थान के समीप किया गया था जहाँ कि यशोवर्मा द्वारा यशोधरपुर नगरी बसायी गई थी। वर्तमान अङ्कोर थोम के सुविस्तृत क्षेत्र में वह नगरी भी आ गई है, जिसकी स्थापना यशोवर्मा द्वारा की गई थी। इस दृष्टि से अङ्कोर थोम के श्रीगणेश का श्रेय यशोवर्मा को देना असंगत नहीं है।

९०८ ईस्वी में यशोवर्मा की मृत्यु हुई। कम्बुज राजाओं की परंपरा के अनुसार मृत्यु के पश्चात् उसे 'परमशिवलोक' का विरुद प्रदान किया गया, जो शिव के इस उपासक राजा के लिये सर्वथा उपयुक्त था।

यशोवर्मा के उत्तराधिकारी—यशोवर्मा के बाद उसके दो पुत्र कम्बुज देश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इनके नाम हर्षवर्मा प्रथम और ईशानवर्मा द्वितीय थे। इनके पश्चात् जयवर्मा चतुर्थ कम्बुज देश का राजा बना। यह जयवर्मा चतुर्थ यशोवर्मा का बहनोई था। हर्षवर्मा, ईशानवर्मा और जयवर्मा चतुर्थ किस-किस वर्ष में और किन परिस्थितियों में राजा के पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए यह स्पष्ट नहीं है। अनेक अभिलेखों में राजा हर्षवर्मा का उल्लेख मिलता है। वात चक्रेत स्तेल अभिलेख में यशोवर्मा के पुत्र हर्षवर्मा द्वारा अद्रव्याधपुरेश शिव के मंदिर को दिए गये एक दान का वर्णन है, और इस अभिलेख के ख्मेर भाषा के भाग पर शक संवत् ८३४ (९१२ ईस्वी) अंकित है। पर अभिलेख का यह भाग खण्डित दशा में है, अतः ८३४ शक संवत् का उल्लेख किस प्रसंग में हुआ है, यह स्पष्ट नहीं है। ९१२ ईस्वी में हर्षवर्मा कम्बुज का राजा था, यह अनुमान इस अभिलेख से अवश्य किया जा सकता है। तुओल कुल के अभिलेख में ८४७ शक (९२५ ईस्वी) में ईशानवर्मा की सेवा में प्रस्तुत एक निवेदन का उल्लेख है, जिससे यह सूचित होता है कि ९२५ ईस्वी में कम्बुज के राजसिंहासन पर राजा ईशानवर्मा द्वितीय विराजमान था। इस दशा में हर्षवर्मा के शासन काल का अन्त ९२५ ईस्वी से पूर्व ही हो जाना चाहिये। इसी को दृष्टि में रखकर अनेक ऐतिहासिकों ने हर्षवर्मा का शासनकाल ९०८ से ९२२ ई० तक निर्धारित किया है। ९२२ तक कम्बुज देश हर्षवर्मा के शासन में रहा था, इस बात का संकेत एक अन्य अभिलेख में भी मिलता

है, जो तुओल पेई में उपलब्ध हुआ है। यह लेख खण्डित है, और इसमें राजा के नाम का प्रारम्भ 'ह' से हुआ है, जिस कारण इसे हर्षवर्मा का माना गया है। इस अभिलेख पर ८४४ शक (९२२ ईस्वी) अंकित है। सम्भवतः, ९२२ ईस्वी में हर्षवर्मा की मृत्यु हो गई थी, और उसके पश्चात् उसका छोटा भाई ईशानवर्मा कम्बुज देश का राजा बना था। मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्मा को 'रुद्रलोक' का विरुद दिया गया था।

ईशानवर्मा द्वितीय के शासनकाल की कोई घटना ज्ञात नहीं है। तुओलकुल के अभिलेख में उसकी सेवा में प्रस्तुत निवेदन का जो वर्णन है, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ईशानवर्मा के बाद जयवर्मा चतुर्थ कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। जयवर्मा यशोवर्मा का बहनोई था, और वह इन्द्रवर्मा के राजकुल का नहीं था। ईशानवर्मा के बाद उसने कम्बुज पर किस प्रकार अपना शासन स्थापित किया, इस प्रश्न पर विद्वानों ने बहुत तर्क-वितर्क किया है, और स्वाभाविक रूप से वे इस विषय पर एकमत नहीं हैं। अधिक प्रचलित मत यह है, कि ईशानवर्मा और हर्षवर्मा के जीवनकाल में ही जयवर्मा ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था, और ९२१ ईस्वी से कुछ समय पूर्व ही कोहकेर को राजधानी बनाकर स्वतंत्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। कम्बुज के कुलदेवता देवराज की मूर्ति को भी वह यशोधरपुर से कोहकेर ले गया था, और उसने उसी को अपने शासन का केन्द्र बना लिया था। ९२८ ईस्वी में ईशानवर्मा द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर वह सम्पूर्ण कम्बुज राज्य का स्वामी हो गया था, और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह गया जो उसका प्रतिस्पर्धी हो। मृत्यु के बाद ईशान-वर्मा द्वितीय को 'परमरुद्रलोक' का विरुद प्रदान किया गया था।

जयवर्मा चतुर्थ—जयवर्मा चतुर्थ ने अपने स्याल (पत्नी के भाई) यशोवर्मा के पुत्रों के विरुद्ध विद्रोह कर शक्ति प्राप्त की थी, और इसीलिए यशोधरपुर के स्थान पर कोहकेर में अपनी नई राजधानी का निर्माण किया था। यह स्थान अङ्कोर थोम के ५० मील उत्तर-पूर्व में है, और हरा भरा न होकर ऊसर भूमि के रूप में है। पर जयवर्मा चतुर्थ ने वहाँ जिस नई नगरी का निर्माण कराया था, उसके भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान हैं, जो उसकी विशालता तथा समृद्धि को सूचित करते हैं। इन भग्नावशेषों में एक मुख्य मन्दिर, बारह गौण मन्दिर तथा एक कृत्रिम जलाशय के खण्डहर उल्लेखनीय हैं। इस राजा द्वारा बनाये हुए मन्दिरों तथा उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों का वर्णन अनेक अभिलेखों में भी विद्यमान है। ये अभिलेख ख्मेर भाषा में हैं। इनमें प्रसत-अन्दोन अभिलेख विशेष महत्व का है। उसमें शिव, गंगा, विष्णु, ब्रह्मा, उमा और भारती की स्तुति के पश्चात् यशोवर्मा, हर्षवर्मा, ईशानवर्मा और जयवर्मा की प्रशस्तियाँ दी गई हैं, और जयवर्मा द्वारा ८१ हाथ की ऊँचाई पर लिंग की स्थापना का उल्लेख है। कोहकेर के भग्नावशेषों में भी १२० फीट ऊँचे एक आधार के खण्डहर विद्यमान हैं, जिसका निर्माण सम्भवतः लिंग या कुलदेवता को प्रतिष्ठापित करने के लिए ही किया गया था।

जयवर्मा चतुर्थ के शासनकाल में कम्बुज देश की सेनाओं द्वारा चम्पा पर आक्रमण किया गया था और चम्पा का राजा उनके सम्मुख नहीं टिक सका था, इसकी सूचना हमें

ज्ञात नहीं है। ९४२ ईस्वी में इस राजा की मृत्यु हुई थी, और मृत्यु के पश्चात् इसे 'परमशिवपद' का विरुद प्रदान किया गया था।

हर्षवर्मा द्वितीय—जयवर्मा चतुर्थ के बाद उसका पुत्र हर्षवर्मा द्वितीय कम्बुज देश के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस राजा के समय के केवल दो अभिलेख उपलब्ध हैं, एक फ्नोम बायन अभिलेख है, जिसमें उत्पन्नकेश्वर शिव की स्तुति के अनन्तर राजा जयवर्मा चतुर्थ की प्रशस्ति दी गई है, और हर्षवर्मा द्वितीय के राजा बनने का वर्ष शक संवत् ८३३ दिया गया है। दूसरा अभिलेख वातक्देई कार स्तेल का है, उसमें भी इस राजा के राज्यारोहण का उल्लेख मिलता है। पर इन अभिलेखों से हर्षवर्मा द्वितीय के शासनकाल की किसी घटना पर प्रकाश नहीं पड़ता। वस्तुतः, इस राजा का शासनकाल बहुत स्वल्प था। उसने केवल दो साल राज्य किया, और उसके बाद राजेन्द्रवर्मा ने कम्बुज देश के राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया। मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्मा द्वितीय के लिए 'ब्रह्मलोक' विरुद का प्रयोग किया गया था।

राजेन्द्रवर्मा—अनेक अभिलेखों में राजेन्द्रवर्मा को हर्षवर्मा द्वितीय का बड़ा भाई कहा गया है। इससे यह अनुमान किया गया था, कि राजेन्द्रवर्मा भी जयवर्मा चतुर्थ का ही पुत्र था। पर प्रश्न यह था, कि यदि राजेन्द्रवर्मा हर्षवर्मा का सगा बड़ा भाई था, तो उससे पहले हर्षवर्मा द्वितीय क्यों सिंहासन पर आरूढ़ हुआ? विविध अभिलेखों के आधार पर इस समस्या पर भी विद्वानों ने बहुत तर्क-वितर्क किया है। पर अब राजेन्द्रवर्मा के प्रे रूप अभिलेख से इस समस्या का सन्तोषजनक रूप से समाधान हो गया है। इसके अनुसार राजा यशोवर्मा की दो बहनें थीं, जयदेवी और महेन्द्रदेवी। जयदेवी का विवाह जयवर्मा चतुर्थ के साथ हुआ था, और उनके पुत्र का नाम हर्षवर्मा द्वितीय था। महेन्द्रदेवी का विवाह महेन्द्रवर्मा नामक व्यक्ति से हुआ था, और उनके पुत्र का नाम राजेन्द्रवर्मा था। जयदेवी बड़ी बहिन थी, अतः पहले उसके पुत्र को राजसिंहासन का अधिकारी माना गया, यद्यपि वह आयु में राजेन्द्रवर्मा से छोटा था। महेन्द्रवर्मा भी कुल की दृष्टि से साधारण व्यक्ति न होकर एक प्रतिष्ठित राजकुल में उत्पन्न हुआ था, यह भी प्रे रूप के अभिलेख में प्रतिपादित किया गया है। उसके अनुसार कौण्डिन्य और सोमा के वंशज बालादित्य की भानजी सरस्वती थी, जिसका विवाह विश्वरूप नामक ब्राह्मण के साथ हुआ था। इन्हीं के वंशजों में आगे चलकर वेदवती नामक कन्या हुई। महेन्द्रवर्मा का सम्बन्ध इसी वेदवती के कुल के साथ था, और इसी कारण राजेन्द्रवर्मा को भी राजकुल का व्यक्ति माना जा सकता है।

राजेन्द्रवर्मा का कुल चाहे कोई भी क्यों न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह एक प्रतापी राजा था और उसके शासनकाल में कम्बुज देश उन्नति तथा समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हुआ था। इस राजा के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं, जो विशद प्रशस्तियों के रूप में हैं। ८७४ शक संवत् (९५२ ईस्वी) में उत्कीर्ण मेबोन अभिलेख में २१८ श्लोक हैं, और ८९३ शक में उत्कीर्ण प्रे रूप अभिलेख की श्लोक-संख्या २९८ है। इन अभिलेखों के कतिपय श्लोक शार्दूलविक्रीड़ित और स्रग्धरा छन्दों में भी हैं, जिनके कारण इनके कलेवर बहुत विशाल हो गये हैं। इनके अतिरिक्त सात अन्य अभिलेख हैं, जो या तो

राजेन्द्रवर्मा द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे और यों उसके शासन-काल के हैं। यद्यपि इन अभिलेखों का मुख्य विषय राजेन्द्रवर्मा की वंशावलि तथा उसके वंश के विविध राजाओं के दानपुण्य तथा धर्मकृत्यों का उल्लेख करना है, पर प्रसंगवश उनसे कुछ राजनीतिक घटनाओं का भी संकेत मिल जाता है। उसके शासनकाल की प्रधान घटना यशोधरपुर को फिर से कम्बुज देश की राजधानी बनाना है। इस नगरी की स्थापना राजा यशोवर्मा द्वारा की गई थी। पर जयवर्मा चतुर्थ ने कोहकेर में अपनी नई राजधानी बनाई थी, जो हर्षवर्मा द्वितीय के समय में भी कम्बुज की राजधानी रही थी। चिरकाल तक उपेक्षित रहने के कारण यशोधरपुर उजड़ गया था। पर राजेन्द्रवर्मा द्वारा उनका पुनरुद्धार किया गया, और वहाँ 'महेन्द्रप्रासाद' नाम से एक नये राजमहल का निर्माण कराया गया, जिसमें एक सुवर्णगृह भी था। यशोवर्मा द्वारा निर्मित जलाशय के मध्य में राजेन्द्रवर्मा ने एक मन्दिर बनवाया और इस नगरी को विभूषित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये। अङ्कोर थोम के रूप में यशोधरपुर का जो विकास बाद के समय में हुआ, उसका सूत्रपात राजेन्द्रवर्मा द्वारा ही कर दिया गया था।

चम्पा और कम्बुज राज्यों में जो संघर्ष चिरकाल से चल रहा था, राजेन्द्रवर्मा के शासनकाल में उसने अत्यन्त उग्र रूप प्राप्त कर लिया था। ८८२ शक (९६० ईस्वी) में उत्कीर्ण बात चुम के अभिलेख के अनुसार राजेन्द्रवर्मा ने चम्पा आदि अनेक परराष्ट्रों पर विजय प्राप्त की थी। इस अभिलेख में उसे चम्पा आदि के लिए कालाग्नि के समान कहा गया है (**चम्पादिपरराष्ट्राणां दग्धा कालानलाकृतिः**)। इसी प्रकार प्रे-रूप के अभिलेख में इस राजा द्वारा चम्पाधिप के बाहुबल द्वारा जीते जाने का उल्लेख है (**चम्पाधिपं बाहुबलेन जित्वा**)। ९५२ ईस्वी में उत्कीर्ण कराये गये मेबोन शिलालेख से सूचित होता है, कि राजेन्द्रवर्मा के आज्ञानुवर्ती वीर सैनिकों ने चम्पाधिराज की नगरी को भूमिसात् कर दिया था, और समुद्र के समान गहरी उसकी परिखा भी उन द्वारा नष्ट कर दी गई थी (**यस्य सागरगम्भीरपरिखाभस्मसात्कृता, चम्पाधिराजनगरी वीरैराज्ञानुकारिभिः**)। राजेन्द्रवर्मा के विविधि अभिलेखों में चम्पा को जीतने का जो वर्णन है, उसकी पुष्टि चम्पा के भी एक अभिलेख से होती है। वहाँ लिखा है, कि कम्बुजों (कम्बुज के लोगों) द्वारा पो-नगर मन्दिर की एक सुवर्ण प्रतिमा उठा ले जायी गई थी, जिसके स्थान पर चम्पा के राजा ने ९६५ ईस्वी में एक प्रस्तर-मूर्ति प्रतिष्ठापित कर दी थी (हैमीं यत्प्रतिमां पूर्वं येन दुष्प्रापतेजसा, न्यस्तां लोभादिसंक्रान्तामृता उद्धतकाम्बुजाः) पो नगर के मन्दिर में ही एक अन्य शिलालेख है, जिसमें ८८७ शक (९१८ ईस्वी) में देवी भगवती की सुवर्णप्रतिमा के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। सन् ९१८ में पो नगर मन्दिर में जो सुवर्णमूर्ति स्थापित की गई थी, उसे ही राजेन्द्रवर्मा के सैनिक दसवीं सदी के मध्य भाग में कभी वहाँ से उठा ले गये थे, जिसके स्थान पर ९६५ ईस्वी में चम्पा के राजा द्वारा एक प्रस्तरमूर्ति प्रतिष्ठापित कर दी गई थी।

चम्पा के अतिरिक्त अन्य अनेक राज्यों पर भी राजेन्द्र वर्मा द्वारा आक्रमण किए गए थे, यह तो उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है, पर ये राज्य कौन-से थे इस

विषय में कोई संकेत अभिलेखों से नहीं मिलता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि राजेन्द्रवर्मा एक शक्तिशाली राजा था, और उसके शासनकाल में कम्बुज का राज्य अक्षुण्ण रहा था। सम्भवतः, अपने अधीनस्थ प्रदेशों के विद्रोहों का दमन करने के लिए ही राजेन्द्रवर्मा को चारों दिशाओं में आक्रमण करने की आवश्यकता हुई थी। ९६८ ईस्वी में जब इस राजा की मृत्यु हुई, तो उसके लिये 'शिवलोक' विरुद का प्रयोग किया गया। अपने जीवनकाल में ही उसने अपने पुत्र जयवर्मा को युवराज के पद पर नियुक्त कर दिया था। अतः उसके बाद वही कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राजेन्द्रवर्मा स्वयं पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था, और उसने शिव, पार्वती, विष्णु, ब्रह्मा और राजेन्द्रेश्वर शिव की अनेक मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करायी थीं। पर बौद्ध धर्म के प्रति भी उसका अनुराग था। मेंबोन के अभिलेख से सूचित होता है, कि उसने बौद्ध मत का भी भलीभाँति अध्ययन किया था।

जयवर्मा पञ्चम—अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ९६८ ईस्वी में जब जयवर्मा पञ्चम कम्बुज देश का राजा बना, तो उसकी आयु अधिक नहीं थी। यह इस बात से सूचित होता है, कि राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद भी वह अपने गुरु से विद्याध्ययन करता रहा था। उसने ३३ वर्ष तक राज्य किया, और १००१ ईस्वी में उसकी मृत्यु हुई। मृत्यु के पश्चात् उसे 'परमवीरलोक' विरुद दिया गया।

जयवर्मा पञ्चम के सुदीर्घ शासनकाल (९६८-१००१ ई०) की कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। प्रसत सेक ता तुई अभिलेख से सूचित होता है, कि जयवर्मा ने भी चम्पा पर आक्रमण किया था और इस युद्ध में उसने सफलता भी प्राप्त की थी। एक अभिलेख में उस द्वारा अपने नाम से जयनगरी नामक नगर के निर्माण का भी उल्लेख है। पर जयवर्मा पञ्चम के अभिलेखों में प्रधान रूप से उस द्वारा बनाये हुए मन्दिरों तथा उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों का ही वर्णन है। एक अभिलेख में इस राजा के विषय में लिखा है, कि उसने 'वर्णों और आश्रमों को दृढ़ आधार पर स्थापित कर भगवान् को प्रसन्न किया था।' जयवर्मा पञ्चम के समान उसकी भगिनी इन्द्रलक्ष्मी तथा उसके भगिनीपति देवभट्ट दिवाकर भी धर्म के प्रेमी थे। उनके विषय में एक अभिलेख में ये वाक्य आये हैं—'भूपाल राजेन्द्रवर्मा के जामाता और राजा जयवर्मा के भगिनीपति देवभट्ट दिवाकर थे, जिन्होंने मधुवन में तीन देवता स्थापित करके भद्रेश्वर के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की। भद्रेश्वर को सुवर्ण और दूसरे बहुमूल्य रत्नों के एक यान, अद्भुत रत्न-आभूषण देकर बहुत-सी भूमि, ताँबा, चाँदी, सोना, गाय, दास, दासी जैसे घोड़े और हाथियों के देने के बाद—देव दिवाकर ने स्वयं आज्ञा दी कि इस स्थान पर आने वालों के भोजन के लिये प्रतिवर्ष छह खारी चावल दिया जाए।

गृहकलह का काल—१००१ ईस्वी में जयवर्मा पञ्चम की मृत्यु के पश्चात् कम्बुज के राजसिंहासन के लिए गृहकलह प्रारम्भ हो गया, और अनेक व्यक्तियों ने अपने को राजा घोषित कर दिया। इसका कारण शायद यह था, कि जयवर्मा पञ्चम की कोई सन्तान नहीं थी, जिसे सब कोई निर्विवाद रूप से राजा स्वीकार कर लेते। ९२३ शक (१००१ ईस्वी) का प्रसत ख्ला का एक अभिलेख है, जिसे राजा उदयादित्यवर्मा

द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था। इस अभिलेख में उदयादित्यवर्मा के पूर्वजों की वंशावली दी गई है, और जयवर्मा पञ्चम के साथ उनका सम्बन्ध भी सूचित किया गया है। उसके अनुसार उदयादित्यवर्मा की माता जयवर्मा पञ्चम की पटरानी की बड़ी बहन थी। सम्भवतः, जयवर्मा की पटरानी के कोई सन्तान नहीं थी, इसी कारण उसके भानजे उदयादित्यवर्मा ने अपने को राजसिंहासन का न्याय्य अधिकारी मान लिया था। पर अन्य लोग उसके इस अधिकार को स्वीकृत करने को उद्यत नहीं हुए। १००१ ईस्वी का ही एक अन्य अभिलेख (रोवन रोमस शिलालेख) मिला है, जिसमें राजा सूर्यवर्मा का उल्लेख है। इससे सूचित होता है, कि उदयादित्यवर्मा के साथ ही सूर्यवर्मा ने भी अपने को राजा घोषित कर दिया था। इन दो के अतिरिक्त एक अन्य व्यक्ति ने भी इस समय राजा का पद ग्रहण कर लिया था। इसका नाम जयवीरवर्मा था, जिसका एक अभिलेख ९२५ शक (१००३ ईस्वी) में तुओल प्रसत में उत्कीर्ण कराया गया था। इस प्रकार जयवर्मा की मृत्यु के पश्चात् कम्बुज देश के राजसिंहासन के लिए तीन दावेदार मैदान में आ गये थे। इनमें से उदयादित्यवर्मा के सम्बन्ध में कोई सूचना १००२ ईस्वी के बाद में नहीं मिलती। वह किस प्रकार गृहकलह के क्षेत्र से पृथक् हो गया, यह पूर्णतया अज्ञात है। पर सूर्यवर्मा और जयवीरवर्मा में अनेक वर्षों तक संघर्ष चलता रहा, जिसमें अन्ततोगत्वा सूर्यवर्मा को सफलता प्राप्त हुई। इन दोनों राजाओं के जो अभिलेख मिले हैं, उनके प्राप्तिस्थानों से सूचित होता है कि यशोधरपुर, अङ्कोर क्षेत्र तथा कम्बुज देश के पश्चिमी प्रदेश जयवीरवर्मा के अधिकार में थे, और कम्बुज के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र पर सूर्यवर्मा का कब्जा था। कोई नौ साल तक इन दोनों राजाओं में संघर्ष चलता रहा, जिसका अन्त सूर्यवर्मा की विजय से हुआ (१०१० ईस्वी)।

जयवीरवर्मा के कुल का कोई परिचय अभिलेखों से नहीं मिलता। पर सूर्यवर्मा की जो अनेक प्रशस्तियां उपलब्ध हैं, उनमें उसे राजा इन्द्रवर्मा के कुल में उत्पन्न कहा गया है, और उसकी पत्नी श्रीवीरलक्ष्मी का सम्बन्ध हर्षवर्मा तथा ईशानवर्मा के कुल के साथ बताया गया है। इस राजा के विषय में एक अन्य मत का प्रतिपादन प्रसिद्ध फ्रेञ्च विद्वान सेदे ने किया है। उनके मत में सूर्यवर्मा मलाया का राजकुमार था, और जयवर्मा पञ्चम के पश्चात् की राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर उसने कम्बुज देश पर अपना शासन स्थापित कर लिया था। अभिलेखों में सूर्यवर्मा के साथ 'कम्त्वन' उपाधि का प्रयोग किया गया है, जिसे सेदे ने मलाया के 'त्वन' का रूपांतर माना है। मलाया की भाषा में 'त्वन' का अर्थ राजकुमार या राजा है। पन्द्रहवीं सदी के पालि-ग्रन्थ 'चामदेवी वंस' में सिरिधम्मनगर के राजा के पुत्र कम्बुज के राजा द्वारा हरिपुंजय पर आक्रमण करने का उल्लेख है। यह आक्रमण १०५६-५७ ईस्वी के लगभग हुआ था, जिस समय कि कम्बुज देश के राजसिंहासन पर सूर्यवर्मा विराजमान था। अतः जिस कम्बुजराज ने हरिपुंजय पर आक्रमण किया था, चामदेवी वंश के अनुसार वह सिरधम्मनगर के राजा का पुत्र था। क्योंकि सिरिधम्मनगर की स्थिति मलाया प्रायद्वीप में लिगोर नामक स्थान पर थी, अतः सेदे के मत में सूर्यवर्मा मूलतः मलाया का एक राजकुमार था, जिसने कि बाद में कम्बुज के राजसिंहासन को हस्तगत कर लिया था।

सम्भव है, कि मलाया के जिस राजकुल में सूर्यवर्मा उत्पन्न हुआ था, कम्बुज के इन्द्रवर्मा के कुल के साथ भी उसका सम्बन्ध रहा हो। पर सेदे के मन्तव्य को स्वीकार कर सकने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है, कि जयवर्मा पञ्चम की मृत्यु के बाद कम्बुज में जो गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ उसमें सूर्यवर्मा के अधिकार में कम्बुज के उत्तर-पूर्वी प्रदेश थे, और पश्चिमी प्रदेशों पर जयवीरवर्मा का प्रभुत्व था। यदि सूर्यवर्मा मलाया का राजकुमार होता और उसने वहाँ से कम्बुज को अधिगत करने का प्रयत्न किया होता, तो पहले पश्चिमी कम्बुज को अपने अधिकार में करता।

अपने प्रतिद्वन्द्वी जयवीरवर्मा को युद्ध में परास्त कर सूर्यवर्मा कम्बुज देश के राज-सिंहासन को अधिगत करने में समर्थ हुआ (१०१० ई०)। अनेक अभिलेखों के अनुसार सूर्यवर्मा ने नौ वर्षों के संघर्ष के पश्चात् ९२४ शक (१००२ ई०) में राजपद प्राप्त कर लिया था। यह तो स्पष्ट है, कि जयवीरवर्मा को अन्तिम रूप से परास्त करने में नौ वर्ष का समय लगा था। पर सूर्यवर्मा अपने को कम्बुज देश का वैध राजा उससे पूर्व ही (१००२ ई० में) मानने लग गया था, जबकि सम्भवतः उदयादित्यवर्मा की मृत्यु हो गई थी। जयवर्मा पञ्चम की मृत्यु के बाद के दस वर्षों का इतिहास प्रायः अस्पष्ट है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १०१० ईस्वी तक सूर्यवर्मा अपने विपक्षियों को परास्त कर कम्बुज देश पर अपना आधिपत्य सुदृढ़ रूप से स्थापित कर चुका था, और चालीस वर्ष तक इस राजा ने सुव्यवस्थित रूप से कम्बुज देश का शासन किया। सूर्यवर्मा प्रथम से कम्बुज के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें इस देश की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई।

(३) शक्तिशाली कम्बुज साम्राज्य

कम्बुज राज्य का विस्तार—अङ्कोर क्षेत्र में यशोधरपुर और कोह्केर को केन्द्र बनाकर कम्बुज के विविध राजाओं ने अपने राज्य की शक्ति का जिस ढंग से उत्कर्ष किया, इसका वृत्तान्त पिछले प्रकरण में लिखा गया है। इन राजाओं के प्रयत्न से कम्बुज एक शक्तिशाली एवं विशाल राज्य बन गया था, जिसकी उत्तरी सीमा चीन के साथ लगती थी। पूर्व में चम्पा की स्थिति एक स्वतंत्र राज्य की थी, पर कम्बुज के राजा उसे अपनी अधीनता में ले आने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे, और इस प्रयत्न में अनेक बार उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई थी। चम्पा के उत्तर में तोन्किन का प्रदेश कम्बुज राज्य के अन्तर्गत था, और उसके उत्तर में स्थित युन्नान प्रान्त में जो भारतीय उपनिवेश (आलविराष्ट्र और मिथिला राष्ट्र) थे, वे भी कम्बुज के आधिपत्य को स्वीकार करने लगे थे। ये प्रदेश वर्तमान समय में चीन के अन्तर्गत हैं, और इनके आधीन हो जाने के कारण कम्बुज राज्य की उत्तरी सीमा ठेठ चीन के साथ जा लगी थी। युन्नान के ये राज्य कम्बुज की अधीनता में आ गये थे, इस बात की पुष्टि स्थानीय विवरणों तथा अनुश्रुतियों द्वारा भी होती है। मेकांग नदी की एक उत्तरी शाखानदी के तट पर स्थित बयाओ नगरी के पुराने इतिवृत्त के अनुसार जब इस नगरी की स्थापना हुई, तो समीप के जंगलों और पहाड़ियों पर ख्मेर (कम्बुज) राजाओं द्वारा निर्मित राजप्रासादों तथा

नगरों के खंडहर सर्वत्र बिखरे पड़े थे। इसी प्रकार एक अन्य स्थानीय विवरण के अनुसार एक ख्मेर राजा ने सुवर्णग्राम नामक एक नगरी की स्थापना उस स्थान पर की थी, जहाँ कि बाद में विसएन सेन नगर आबाद हुआ। ये सब तथ्य यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि राजेन्द्रवर्मा जैसे प्रतापी राजाओं के शासनकाल में कम्बुज राज्य की उत्तरी सीमा ठेठ चीन के साथ जा लगी थी। पश्चिम दिशा में कम्बुज राज्य की सीमा सियाम तक पहुँच गई थी, और मीनम तथा मेकांग नदियों के मध्यवर्ती प्रदेशों पर कम्बुज का आधिपत्य स्थापित हो गया था। लवपुरी का प्रदेश कम्बुज राज्य के अन्तर्गत था, और उसके उत्तर में जो अनेक छोटे-छोटे राज्य पृथक् रूप से विद्यमान थे, वे कम्बुज देश के राजाओं के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। लवपुरी प्रदेश की स्थिति सियाम की खाड़ी के उत्तर और काम्फेङ् फेत के दक्षिण में थी। लवपुरी प्रदेश के उत्तर में स्थित जो राज्य कम्बुज के प्रभुत्व में थे, उनमें सुखोदय, योनकराष्ट्र और क्षेमराष्ट्र प्रधान थे। क्षेमराष्ट्र की पूर्वी सीमा आलविराष्ट्र के साथ लगती थी, वह भी कम्बुज के अधीन था। मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी भाग पर भी कम्बुज का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और इस प्रकार उसके राज्य की पश्चिम-दक्षिणी सीमा क्रा के स्थल-डमरूमध्य तक आ लगी थी। सियाम और उत्तरी मलाया को अपनी अधीनता में ले आने के कारण कम्बुज राज्य भारत से अधिक दूर नहीं रह गया था। इन देशों के बीच में अब केवल बरमा था, जिसमें उस समय रामावती, हंसावती, द्वारवती, श्रीक्षेत्र और रमञ्ञदेश सदृश कतिपय स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता थी।

सूर्यवर्मा प्रथम—ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ-भाग में कम्बुज राज्य भौगोलिक दृष्टि से इतना अधिक विस्तृत हो चुका था, जबकि अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर राजा सूर्यवर्मा प्रथम कम्बुज देश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ (१०१० ई०)। सूर्यवर्मा तथा इसके उत्तराधिकारी राजाओं के शासनकाल में कम्बुज की और भी अधिक उन्नति हुई। अपने राज्य का विस्तार करने का तो उन्होंने प्रयत्न किया ही, पर संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में जो उन्नति इन राजाओं के समय में कम्बुज देश ने की, वह वस्तुतः अत्यन्त महत्व की थी।

सूर्यवर्मा प्रथम ने नौ वर्ष के गृह-युद्ध के पश्चात् राजगद्दी प्राप्त की थी। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर देने मात्र से वह निश्चिन्त नहीं हो सकता था। उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक था, कि राज्य के सब पदाधिकारी तथा प्रमुख व्यक्ति उसके प्रति अनुरक्त बने रहें। इस प्रयोजन से उसने सब पदाधिकारियों तथा प्रमुख व्यक्तियों से अपने प्रति राजभक्ति की शपथ लिवाने की एक नई परम्परा का आरम्भ किया। यह शपथ अङ्कोर योम के गोपुरम् के आठ स्तम्भों पर उत्कीर्ण है, और इसे १०११ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। शपथ इस प्रकार है—"९३३ शकाब्द, भाद्रपद नवमी, रविवार। यह शपथ है, जिसे कि हम प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के तम्व्राच (दरबारी) ले रहे हैं...और अपना हाथ काट कर कृतज्ञता और विशुद्ध भक्ति के साथ ९२४ शकाब्द से पवित्र अग्नि, पवित्र रत्न, ब्राह्मणों और आचार्यों के सामने सम्पूर्ण प्रभुता को भोगने वाले परमभट्टारक श्रीसूर्यदेव को अर्पित कर रहे हैं। हम

कभी-किसी शत्रु में सांठ-गांठ नहीं करेंगे। हम इस बात का वचन देते हैं, कि परमभट्टारक के प्रति कृतज्ञतापूर्ण भक्ति के साथ हम सभी कार्यों का अनुष्ठान करेंगे। युद्ध होने पर अपने प्राणों की कोई चिन्ता न कर हम उनके लिए ईमानदारी से लड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं। हम युद्धक्षेत्र से भागेंगे नहीं। सम्पूर्ण जीवन भर के लिए हम अपने को परमभट्टारक की सेवा में अर्पित करते हैं। अतः अपनी मृत्यु तक प्रत्येक काल और परिस्थिति में हम राजा के प्रति ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। यदि परमभट्टारक किसी काम के लिये, किसी संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें विदेश जाने की आज्ञा देंगे तो हम विदेश जाकर उसके विषय में सब विवरण खोज लायेंगे। यहाँ उपस्थित हम सब यदि दीर्घजीवी परमभट्टारक के प्रति राजभक्ति की शपथ पर डटे न रहें, तो हमारी उनसे प्रार्थना है कि वे हमें सब प्रकार का दण्ड दें। यदि हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने से बचने के लिये अपने को छिपायें, तो हमारा जन्म 'यावच्चद्र दिवाकरौ' बत्तीस नरकों में हो। यदि हम अपनी शपथ को ईमानदारी से पूरा करें, तो परमभट्टारक हमारे देश की पुनीत प्रथा के अनुसार हमारे परिवारों की रक्षा के लिये आदेश दें, क्योंकि हम अपने स्वामी परमभट्टारक श्रीसूर्यवर्मदेव के अनुरक्त अनुयायी हैं, जो परमभट्टारक ९२४ शकाब्द से पुनीत शासन को पूर्णतया हाथ में लिये हुए हैं। भक्त सेवक के लिए इस लोक तथा परलोक में हमें समुचित बदला प्राप्त हो।" १०११ ईस्वी में जिस शपथ का राजा सूर्यवर्मा द्वारा प्रारम्भ किया गया था। वह वर्तमान समय में भी कम्बोडिया (कम्बुज) के राजपदाधिकारियों द्वारा ग्रहण की जाती है, यद्यपि उसके कतिपय शब्द अब परिवर्तित हो गये हैं।

सूर्यवर्मा प्रथम बौद्ध धर्म का अनुयायी था। लवपुरी या लोपपुरी (सियाम में) से १०२२ ई० का एक अभिलेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें मठों, विहारों तथा आश्रमों के विषय में राजा सूर्यवर्मा की आज्ञा उल्लिखित है। इस राजाज्ञा द्वारा समस्त धार्मिक-स्थानों, विहारों, यतियों और भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया है, कि वे अपने तप द्वारा प्राप्त पुण्य को राजा के अर्पित कर दें। स्वयं बौद्ध होते हुए भी सूर्यवर्मा ने पौराणिक हिन्दू धर्म को संरक्षण प्रदान किया, क्योंकि कम्बुज देश के निवासी इसी धर्म के अनुयायी थे। अनेक शैव और वैष्णव मन्दिर भी उस द्वारा बनवाये गये थे। उसके गुरु योगीश्वरपण्डित थे, जिनका अपनी माता की ओर से राजा जयवर्मा द्वितीय के साथ सम्बन्ध था। सूर्यवर्मा ने काव्य, व्याकरण, दर्शन तथा भाषा आदि संस्कृतग्रंथों व शास्त्रों का भी भली-भाँति अनुशीलन किया था। एक अभिलेख में इस राजा के पाण्डित्य का उल्लेख है, और उसे विविध शास्त्रों का ज्ञाता कहा गया है।

अनेक प्रदेशों की विजय कर सूर्यवर्मा प्रथम ने कम्बुज की शक्ति का विस्तार भी किया था। पन्द्रहवीं व सोलहवीं सदी के 'जिनकालमालिनी' तथा 'मूलसासन' नामक ग्रंथों में इस राजा द्वारा सियाम तथा दक्षिणी बरमा की विजय का उल्लेख है। दक्षिणी सियाम पहले ही कम्बुज राज्य के अंतर्गत था, और उत्तरी सियाम के अनेक राज्य भी उसके प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। पर सूर्यवर्मा द्वारा उत्तरी सियाम पर कम्बुज के प्रभुत्व को अधिक सुदृढ़ किया गया, और उसका शासन करने के लिये कम्बुज देश के

राज्यकर्मचारियों की नियुक्ति की गई। दक्षिणी बरमा के कुछ प्रदेश भी इस राजा द्वारा आक्रान्त किये गये थे, यद्यपि इन विजय-यात्राओं का वृतान्त ज्ञात नहीं है।

१०४६ ईस्वी में सूर्यवर्मा प्रथम की मृत्यु हुई, और मृत्यु के पश्चात् उसे 'निर्वाणपद' का विरुद दिया गया, क्योंकि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था।

उदयादित्यवर्मा द्वितीय—सूर्यवर्मा प्रथम की मृत्यु के पश्चात् १०४६ ईस्वी में उदयादित्यवर्मा कम्बुज देश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। हर्षवर्मा तृतीय के लोवेक अभिलेख के अनुसार "सूर्यवर्मा के परलोक सिधार जाने पर उसके मन्त्रियों द्वारा उदयादित्यवर्मा को चक्रवर्ती बनाया गया।" था इससे यह संकेत मिलता है, कि उदयादित्यवर्मा सूर्यवर्मा का पुत्र नहीं था और इस कारण राजसिंहासन पर उसका स्वाभाविक अधिकार भी नहीं था। पर मन्त्रियों द्वारा ही उसे चक्रवर्ती या राजा के पद पर अभिषिक्त किया गया था। सम्भवतः, राज्य के सब प्रमुख पुरुष व राजपदाधिकारी उसके राजा बनने से सन्तुष्ट नहीं थे, और इसी कारण उसके विरुद्ध अनेक विद्रोह हुए। ९८८ शकाब्द (१०६६ ईस्वी) में उत्कीर्ण प्राह नोक शिलालेख में इन विद्रोहों का विशद रूप में वर्णन है। यह शिलालेख सेनापति संग्राम द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था, जिसे कि राजा उदयादित्यवर्मा ने विद्रोहों का दमन करने तथा 'राजलक्ष्मी' की रक्षा के लिये नियुक्त किया था।

उदयादित्यवर्मा के विरुद्ध पहला विद्रोह अरविन्दह्रद नामक व्यक्ति के नेतृत्व में हुआ था। सम्भवतः, यह अपने को राजसिंहासन का वास्तविक अधिकारी मानता था, और राज्य के बहुत-से प्रमुख पुरुष तथा पदाधिकारी भी उसके समर्थक थे। इस लिए वह कम्बुज राज्य के दक्षिणी प्रदेशों में अपनी सत्ता को स्थापित कर सकने में समर्थ हो गया था और वहाँ स्वतन्त्र राजा के रूप में शासन करने लग गया था। उसकी सैन्यशक्ति बहुत अधिक थी, और उसके विरुद्ध उदयादित्य वर्मा द्वारा जो सेनापति भेजे गये वे सफलता प्राप्त नहीं कर सके थे। अन्त में सेनापति संग्राम ने उसे परास्त किया, और उसने चम्पा भागकर अपने प्राणों की रक्षा की। दूसरा विद्रोह कम्वौ नामक सेनापति के नेतृत्व में हुआ। इस विद्रोह ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया था, और कम्वौ की सेनाओं में कम्बुज राज्य के बहुत-से प्रदेशों को आक्रान्त कर ध्वस्त करने में सफलता प्राप्त की थी। पर अन्त में सेनापति संग्राम द्वारा कम्वौ के विद्रोह का दमन किया गया और स्वयं कम्वौ संग्राम द्वारा रणक्षेत्र में मार दिया गया। तीसरे विद्रोह का नेता स्लवत नामक सेनापति था, और विद्रोह में उसके मुख्य सहायक सिद्धिकार तथा सगान्तिभुवन थे, जो वीरता में अपने को कम्वौ से भी अधिक मानते थे। सेनापति संग्राम द्वारा इस विद्रोह का दमन किया गया, और विद्रोहियों के नेता स्लवत को जंजीरों में जकड़ कर उदयादित्यवर्मा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया, जिसके बदले में राजा ने संग्राम को अनेक पुरस्कार प्रदान किये गये। स्लवत के विद्रोह को सन् १०६६ में शान्त किया गया था, जो उदयादित्यवर्मा के शासन काल का अन्तिम वर्ष था। इस प्रकार इस राजा का प्रायः सारा ही शासन काल विद्रोहियों के विरुद्ध संघर्ष करने में व्यतीत हो गया, और उसे शान्ति के साथ देश का शासन करने का अवसर ही नहीं मिला। इन विद्रोह

का एक परिणाम यह हुआ कि चम्पा को कम्बुज के विरुद्ध शस्त्र उठाने का सुवर्णावसर प्राप्त हो गया और उसके राजा ने कम्बुज पर आक्रमण कर उसके कतिपय प्रदेशों को हस्तगत भी कर लिया। चम्पा के राजा जयपरमेश्वरवर्मदेव के दो अभिलेख १०५० ई० के मिले हैं, जिनमें इस राजा द्वारा कम्बुज देश को आक्रान्त करने का उल्लेख है। १०५६ ई० के इसी राजा के एक अन्य अभिलेख में चम्पा के युवराज महासेनापति द्वारा ख्मेरों की पराजय, शम्भुपुर नगरी के ध्वंस तथा वहाँ के सभी पवित्र स्थानों के विनाश का वर्णन है। इससे सूचित होता है, कि आन्तरिक विद्रोहों के कारण कम्बुज की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, जिससे कि चम्पा के राजा को उस पर आक्रमण करने का अवसर प्राप्त हो गया था।

उदयादित्यवर्मा का गुरु जयेन्द्रपण्डित था, जिससे कि इस राजा ने गणित, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त की थी। आठवीं सदी के उत्तरार्ध में कम्बुज राजा जयवर्मा द्वितीय ने शिवकैवल्य को अपना राजगुरु नियुक्त किया था। ढाई सदी के लगभग समय बीत जाने पर उदयादित्य के काल में भी कम्बुज के राजगुरु का पद शिवकैवल्य के परिवार में ही चला आ रहा था। जयेन्द्रपण्डित इसी परिवार से सम्बद्ध था। स्टोक काक थोम के जिस अभिलेख में राजगुरुओं के इस परिवार का क्रमिक वृत्तान्त विद्यमान है, उसे राजा उदयादित्यवर्मा के शासनकाल में ही १०५२ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था। उदयादित्य का एक अन्य गुरु भी था, जिसका नाम शंकर पण्डित था। लोवेक अभिलेख से ज्ञात होता है, कि जम्बुद्वीप के सुमेरु पर्वत—जहाँ देवताओं का निवास है, की अनुकृति के रूप में शंकर पण्डित द्वारा एक सुवर्ण-पर्वत बनवाया गया था, और उसके शिखर पर निर्मित एक सुवर्ण मन्दिर में शिवलिंग प्रतिष्ठापित कराया गया था। शंकर पण्डित का कम्बुज के शासनतन्त्र में महत्वपूर्ण स्थान था। उदयादित्यवर्मा की मृत्यु के पश्चात् जब उसके छोटे भाई हर्षवर्मा को मन्त्रि-वर्ग द्वारा राजसिंहासन प्रदान करने का निश्चय किया गया, तो उसका राज्याभिषेक शंकर पण्डित द्वारा ही कराया गया था।

हर्षवर्मा तृतीय—उदयादित्यवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई हर्षवर्मा तृतीय १०६६ ईस्वी में कम्बुज देश की राजगद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में चीन के सम्राट् ने अनाम पर आक्रमण किया, और इस आक्रमण में सहायता के लिए चम्पा और कम्बुज के राजाओं से भी प्रार्थना की। इन राजाओं द्वारा अनाम के विरुद्ध सेनाएँ भेजी भी गईं, पर उनका कोई उपयोग नहीं हुआ, क्योंकि चीन की सेनाएँ पहले ही अनाम द्वारा परास्त कर दी गई थीं। पर शीघ्र ही कम्बुज देश और चम्पा में युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसका विवरण चम्पा के अभिलेखों में विद्यमान है। चम्पा और कम्बुज की शत्रुता बहुत पुरानी थी। चम्पा के अभिलेखों के अनुसार चम्पा के राजा हरिवर्मा चतुर्थ ने सोमेश्वर में कम्बुज सेनाओं को परास्त किया, और उनके सेनापति श्रीनन्दवर्मदेव को कैद कर लिया। सम्भवतः, कम्बुज और चम्पा का यह युद्ध १०८० ईस्वी में हुआ था।

चम्पा से युद्ध और उनमें कम्बुज की पराजय का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ

कि कम्बुज राज्य की एकता कायम नहीं रह सकी। यद्यपि हर्षवर्मा तृतीय १०८९ ई० में अवश्य ही कम्बुज के राजसिंहासन पर विराजमान था, पर इस समय से पूर्व ही जयवर्मा नाम के एक अन्य राजा ने भी कम्बुज के कतिपय प्रदेशों पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि १०८२ ईस्वी में उत्कीर्ण कराये गये इस राजा के भी कतिपय अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में कम्बुज देश में दो पृथक् राजा राज्य करने लग गये थे। इन राजाओं के अभिलेखों के प्राप्ति-स्थानों से यह प्रतिपादित किया गया है, कि हर्षवर्मा तृतीय का शासन अङ्कोर क्षेत्र और उसके दक्षिण के प्रदेशों पर था, और कम्बुज देश के उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी प्रदेश राजा जयवर्मा (षष्ठ) के शासन में थे। जयवर्मा षष्ठ के शासन की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। कम्बुज देश की राजनीतिक एकता की पुनः स्थापना राजा सूर्यवर्मा द्वितीय द्वारा की गई, जिसके सम्बन्ध में इसी प्रकरण में आगे लिखा जायगा। जयवर्मा षष्ठ का अङ्कोर के पूर्ववर्ती राजाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। वह जिस कुल में उत्पन्न हुआ था, उसकी स्थिति स्थानीय सामन्त राजकुल के सदृश थी। कम्बुज राजा हर्षवर्मा तृतीय के विरुद्ध विद्रोह करके ही उसने राजसत्ता प्राप्त की थी। उसका राज-पुरोहित दिवाकर पण्डित था और उसी ने उसे राजा के पद पर अभिषिक्त किया था। जयवर्मा षष्ठ की मृत्यु ११०७ ईस्वी में हुई, और मृत्यु के अनन्तर उसे 'परम कैवल्य' पद का विरुद दिया गया।

धरणीन्द्रवर्मा प्रथम—जयवर्मा षष्ठ की मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े भाई धरणीन्द्र-वर्मा को दिवाकरपण्डित द्वारा राजा के पद पर अभिषिक्त किया गया। राज्यशासन का भार वहन कर सकने की इस राजा में क्षमता नहीं थी, क्योंकि यह वृद्ध था। राज-पुरुषों और दिवाकरपण्डित के आग्रह पर ही इसने राजसिंहासन पर बैठना स्वीकार कर लिया था। पर इसे देर तक राज्य की उत्तरदायिताओं को वहन करने की आव-श्यकता नहीं हुई। छह साल बाद १११३ ईस्वी में धरणीन्द्रवर्मा की बहन के दौहित्र सूर्यवर्मा ने उसे परास्त कर राज्य पर स्वयं अधिकार कर लिया।

सूर्यवर्मा द्वितीय—कम्बुज देश के इतिहास में सूर्यवर्मा द्वितीय का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उसने कम्बुज राज्य की राजनीतिक एकता को पुनः स्थापित किया। उस द्वारा कम्बुज के दोनों राज्यों को मिलाकर एक करने की बात का उल्लेख दो अभिलेखों में विद्यमान है, वात फू के अभिलेख में और वानयात के अभिलेख में। सूर्यदेव द्वितीय से पहले कम्बुज देश जिन दो राज्यों में विभक्त था, उनमें से एक का शासन धरणीन्द्रवर्मा के हाथों में था, और दूसरे पर हर्षवर्मा तृतीय का कोई उत्तराधिकारी राज्य कर रहा था। सूर्यवर्मा द्वितीय ने इन दोनों को परास्त कर सम्पूर्ण कम्बुज राज्य पर शासन किया।

जिस दिवाकरपण्डित ने सूर्यवर्मा को राजा के पद पर अभिषिक्त किया था, उसने उसे व्रह गुह्य में भी दीक्षित किया। कम्बुज के राजपुरोहित शिवकैवल्य की उस परम्परा को स्थायी रूप से जारी रख रहे थे, जिसके अनुष्ठानों में तन्त्र-मन्त्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। व्रह गुह्य भी एक गुह्य तान्त्रिक अनुष्ठान पद्धति थी, जिसकी शिक्षा

दिवाकरपण्डित ने सूर्यवर्मा को दी थी। इसी पण्डित की प्रेरणा से सूर्यवर्मा ने कोटिहोम, लक्षहोम तथा महाहोम आदि याज्ञिक अनुष्ठान किये थे। वात फू में स्थित भद्रेश्वर के मन्दिर में शंकर, नारायण, विष्णु तथा ब्रह्मा की मूर्तियाँ तथा शिवलिंग की प्रतिष्ठा भी इस राजा के समय में की गई थी, जिसके कारण इस मन्दिर का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। पर सूर्यवर्मा द्वितीय का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अङ्कोर वात के उस प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण है, जिसे संसार के आश्चर्यों में गिना जाता है। यह मन्दिर अत्यन्त विशाल है, और इसके चारों ओर की परिखा सात सौ फीट चौड़ी है। इस मन्दिर के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विशद रूप से लिखा जायगा। दिवाकरपण्डित की प्रेरणा से ही इस मन्दिर का भी निर्माण कराया गया था। सम्भवतः, इस मन्दिर का निर्माणकार्य सूर्यवर्मा के समय में पूरा नहीं हो पाया था। उस द्वारा जो कार्य प्रारम्भ किया गया था, उसे उसके उत्तराधिकारियों द्वारा पूरा कराया गया। अङ्कोर वात के मन्दिर की स्थिति अङ्कोर क्षेत्र से प्रायः एक मील की दूरी पर है।

सूर्यवर्मा द्वितीय ने कम्बुज राज्य की शक्ति की वृद्धि के सम्बन्ध में जो कार्य किया, वह भी बड़े महत्व का था। उसके वीरकृत्यों का परिचय केवल उसके अभिलेखों से ही नहीं मिलता, अपितु चीन के ग्रन्थों में भी उसका वृत्तान्त विद्यमान है। इसका कारण यह है कि सूर्यवर्मा ने १११७ और ११२१ ईस्वी में दो बार अपने दूतमण्डल चीन के सम्राट की सेवा में भेजे थे, जिनके कारण चीन के साथ कम्बुज का राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। चीनी विवरणों से ज्ञात होता है, कि सूर्यवर्मा का राज्य चम्पा से दक्षिणी बरमा तक विस्तृत था, और मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी प्रदेश भी उसके राज्य के अन्तर्गत थे। चीनी ग्रन्थों के अनुसार उसकी सेना में दो लाख हाथी थे। यह चाहे अतिशयोक्ति भी क्यों न हो, पर इसमें सन्देह नहीं, कि सूर्यवर्मा द्वितीय की सैन्यशक्ति बहुत अधिक थी, जिसका उपयोग राज्यविस्तार के लिए किया था। उसके अभिलेखों में उसे एक महान् विजेता के रूप में प्रस्तुत किया गया है और विजय-यात्राओं में उसने रघु को भी पीछे छोड़ दिया था, यह दावा किया गया है (स्वयं प्रयाय द्विषतां प्रदेशं, रघुंजयन्तं लघयाञ्चकार)। वह स्वयं शत्रुओं के प्रदेशों पर आक्रमण करता था, और उन्हें परास्त करता था। पर सूर्यवर्मा की विजयों व युद्धों का जो वृत्तान्त उसके अभिलेखों से नहीं मिलता, अनाम तथा चम्पा के अभिलेखों द्वारा उस पर प्रकाश पड़ता है। चम्पा पर सूर्यवर्मा ने अनेक बार आक्रमण किए थे, और उसके उत्तरी प्रदेश (विजय) को जीतकर अपना अधीनस्थ राज्य बना लिया था। ११२८ ईस्वी में उसने बीस हजार सैनिकों की एक सेना स्थलमार्ग से अनाम पर आक्रमण करने के लिए भेजी थी, और उसकी सहायता के लिए ७०० जहाजों का एक बेड़ा भी जलमार्ग द्वारा अनाम भेजा गया था। पर अनाम के विरुद्ध इस अभियान में सूर्यवर्मा को विशेष सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह था, कि जहाजी बेड़े के पहुँचने से पहले ही स्थल सेना अनाम पहुँच गई थी, और जलसेना की सहायता के बिना वह अनाम की सेना के सम्मुख टिक सकने में असमर्थ रही थी। इस असफलता के बाद ११३२ और ११३५ ईस्वी में कम्बुज द्वारा फिर

अनाम की विजय का प्रयत्न किया गया। पर ये प्रयत्न सफल नहीं हुए, कम्बुज अनाम को अपने अधीन नहीं कर सका।

अनाम को जीत सकने में असफल होकर सूर्यवर्मा द्वितीय ने चम्पा की विजय के लिए तैयारी की। चम्पा राज्य के उत्तरी भाग पर विजय करवह पहले ही अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था। अब उसने दक्षिणी चम्पा के विरुद्ध अभियान शुरू किया। ११४७ ईस्वी में चम्पा के राजसिंहासन पर राजा जयहरिवर्मदेव षष्ठ आरूढ़ हुआ था। नये राजा के राज्य प्राप्त करने से उत्पन्न स्थिति से सूर्यवर्मा द्वितीय से लाभ उठाया, और अपने प्रधान सेनापति शंकर को एक बड़ी सेना के साथ चम्पा पर आक्रमण करने का आदेश दिया। विजय राज्य (चम्पा राज्य का उत्तरी भाग) की सेना भी इस अभियान में सेनापति शंकर की सहायता के लिये रणक्षेत्र में आ गई। चम्पा के अभिलेखों के अनुसार इस आक्रमण में शंकर को सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसकी सेना परास्त हो गई, और वह स्वयं भी युद्ध-क्षेत्र में मारा गया। अगले साल सूर्यवर्मा ने एक और भी अधिक बड़ी सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेजी, पर जयहरिवर्मा ने उसे भी परास्त कर दिया। इन विजयों से जयहरिवर्मा का हौसला बहुत बढ़ गया, और उसने विजय राज्य को फिर से अपने अधीन करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। हरिवर्मा विजय को न जीत सके, इस प्रयोजन से सूर्यवर्मा ने अपने स्याल (रानी के भाई) हरदेव को वहाँ का शासक नियुक्त किया, और उसकी सहायता के लिए एक शक्तिशाली सेना वहाँ भेज दी। पर चम्पा के राजा जयहरिवर्मा ने महीश के रणक्षेत्र में हरिदेव को परास्त कर दिया, और विजय के प्रदेश से कम्बुज का आधिपत्य के समाप्ति कर दी। चम्पा के अभिलेखों से यही सूचित होता है, कि अन्य देशों की विजय के प्रयत्न में सूर्यवर्मा द्वितीय को असफलता का सामना करना पड़ा था। उसके अभिलेखों से उसे जो रघु से भी बढ़कर विजेता कहा गया है, वह किन विजयों के कारण है यह हमें ज्ञात नहीं है। पर यह तथ्य है, कि चम्पा को जीतने के उसके सब प्रयत्न असफल रहे थे, और उसके शासनकाल का बड़ा भाग युद्धों में ही व्यतीत हुआ था।

धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय— सूर्यवर्मा द्वितीय के शासन-काल का अन्तिम भाग प्रायः अन्धकारमय है। उसकी मृत्यु किस वर्ष में हुई, यह भी ज्ञात नहीं है। पर मृत्यु के पश्चात् वह 'परमविष्णुलोक' विरुद से प्रसिद्ध हुआ और उसके बाद धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस राजा के सम्बन्ध में सिंहल (लंका) के इतिहास से कुछ प्रकाश पड़ता है। इस काल में सिंहल में राजा पराक्रम बाहु का शासन (११६४-९७ ईस्वी) था। पराक्रमबाहु ने कम्बुज देश के राजा के पास उपायन (भेंट आदि) भेजा था, जिसमें सिंहल की राजकुमारी भी थी। मार्ग में बरमा के राजा ने उसे अधिगत कर लिया, जिस पर पराक्रमबाहु ने समुद्र मार्ग से एक सेना बरमा भेजी और उसके बन्दरगाहों को लुटवाया। धरणीन्द्रवर्मा के बाद एक राजा जयवर्मा सप्तम ने अपने राज्य के इस अपमान का प्रतिशोध करने के लिए बरमा पर आक्रमण किया था, और पेगू पर अपनी विजय-पताका फहरा दी थी।

यशोवर्मा द्वितीय—धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय के बाद यशोवर्मा द्वितीय कम्बुज देश

का राजा बना। इस राजा का एक अभिलेख व्रान्ते च्मर से उपलब्ध हुआ, जिससे इसके इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख के अनुसार भरतराहु सम्वृद्धि नामक व्यक्ति के नेतृत्व में यशोवर्मा के विरुद्ध विद्रोह हो गया था, और इस विद्रोह ने अत्यन्त गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया था। विद्रोहियों ने राजधानी की राजकीय सेनाओं को परास्त कर राजप्रासाद को भी आक्रान्त कर दिया था, जिसके कारण राजा की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई थी। इस दशा में श्रीन्द्रकुमार राजा की सहायता के लिए आगे बढ़ा, और उसने स्वयं युद्ध कर विद्रोहियों को परास्त किया। यह श्रीन्द्रकुमार जयवर्मा का पुत्र था, जो आगे चलकर कम्बुज के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। इतिहास में वह जयवर्मा सप्तम के नाम से प्रसिद्ध है। भरतराहु सम्वृद्धि से श्रीन्द्रकुमार के युद्ध प्रसंग में ही सबसे पहले 'सञ्जक' संज्ञा के उन राजकर्मचारियों या सैनिकों का उल्लेख आया है, जो अपने स्वामी की अंगरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सदा उद्यत रहते थे। ये सञ्जक अपने स्वामी के साथ छाया की तरह रहा करते थे, और जब तक इनके शरीर में प्राण रहता था कोई शत्रु इनके स्वामी का बाल भी बांका नहीं कर सकता था। श्रीन्द्रकुमार के दो सञ्जकों के नाम अर्जुन और श्रीधरदेव थे। ये दोनों भरतराहु सम्वृद्धि से अपने स्वामी की रक्षा करते हुए काम आये थे, और श्रीन्द्रकुमार ने इनके परिवारों के भरणपोषण के लिये जहां समुचित व्यवस्था की थी, वहां साथ ही इनकी मूर्तियां भी मन्दिर में प्रतिष्ठापित कर दी गयी थीं, जिससे सब कोई उनका समुचित सम्मान कर सकते थे।

भरतराहु सम्वृद्धि के विद्रोह से कम्बुज राज्य की शक्ति को अधिक क्षति नहीं पहुँची थी। इसीलिये यशोवर्मा द्वितीय ने चम्पा को जीतने का प्रयत्न किया और श्रीन्द्रकुमार के सेनापतित्व में एक सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिये भेजी। शुरू में इस सेना को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। चम्पा के राजा जयइन्द्र वर्मा ने वेक पर्वत पर जिस नये दुर्ग का निर्माण कराया था, उस पर कम्बुज सेनाओं ने कब्जा कर लिया। पर शीघ्र ही चम्पा की सेना ने अपने को पुनःसंगठित कर लिया, और श्रीन्द्रकुमार उसके सम्मुख नहीं टिक सका। वह परास्त हो गया और बड़ी कठिनता से अपने देश वापस लौटने में समर्थ हुआ। पर कम्बुज लौटकर श्रीन्द्रकुमार देर तक जीवित नहीं रहा। युवावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गयी, और उसके वीरकृत्यों की स्मृति में राजा द्वारा उसी मन्दिर में उसकी भी मूर्ति स्थापित कर दी गयी, जहां उसके सञ्जकों की मूर्तियां पहले ही विद्यमान थीं।

बार-बार परास्त हो जाने पर भी यशोवर्मा द्वितीय ने चम्पा के विरुद्ध अपने अभियान को बन्द नहीं किया। श्रीन्द्रकुमार के पिता जयवर्मा के सेनापतित्व में एक अन्य सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिये भेजी गई। पर जयवर्मा चम्पा के विरुद्ध आक्रमण को जारी नहीं रख सका। इसका कारण यह था, कि कम्बुज की सेना की अपने देश से अनुपस्थिति का लाभ उठाकर त्रिभुवनादित्यवर्मा नामक साहसी व्यक्ति ने यशोवर्मा द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था, और कम्बुज में जो सैनिक विद्यमान थे, उन्हें परास्त कर राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। ज्योंही यह

समाचार जयवर्मा को ज्ञात हुआ, वह चम्पा से लौट पड़ा। पर उसके आने से पूर्व ही त्रिभुवनादित्यवर्मा ने यशोवर्मा द्वितीय को मौत के घाट उतार दिया था।

त्रिभुवनादित्यवर्मा—यशोवर्मा द्वितीय को मार कर त्रिभुवनादित्यवर्मा ने सन् ११६६ में कम्बुज देश के राजसिंहासन को अधिगत किया था। सम्भवतः उसका कम्बुज के किसी भी राजकुल के साथ सम्बन्ध नहीं था। इसीलिए एक अभिलेख में उसे 'भृत्य' कहा गया है। सम्भवतः, यह यशोवर्मा द्वितीय की सेवा में किसी राजकीय पद पर नियुक्त था, और अवसर पाकर अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह कर उसने राजा का पद प्राप्त कर लिया था। त्रिभुवनादित्यवर्मा का शासन काल भी चम्पा के विरुद्ध संघर्ष में व्यतीत हुआ। उसके युद्धों का वृत्तान्त चीनी ग्रन्थों में भी पाया जाता है, और कम्बुज के कुछ अभिलेखों में भी उनका उल्लेख है। इस राजा के काल में भी चम्पा के राज-सिंहासन पर जयइन्द्रवर्मा विराजमान था, और उसने रणक्षेत्र में नये कम्बुजराज पर भी विजय प्राप्त की थी। चम्पा की सेनाओं ने ११७० ईस्वी में कम्बुज के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया था, और उनका यह आक्रमण सात साल तक जारी रहा था। चम्पा के राजा ने कम्बुज के विरुद्ध जल सेना का भी प्रयोग किया था, और उसका जहाजी बेड़ा मेकांग नदी के रास्ते कम्बुज की राजधानी तक पहुँच गया था। त्रिभुवनादित्यवर्मा चंपा की सेना से न केवल परास्त ही हुआ, अपितु रणक्षेत्र में उसने वीरगति भी प्राप्त की (११७७)।

जयवर्मा सप्तम—पर त्रिभुवनादित्यवर्मा की मृत्यु के बाद कम्बुज देश की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं हो गया। जयवर्मा ने चम्पा के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा, और जयइन्द्रवर्मा की सेनाओं को परास्त कर उन्हें कम्बुज छोड़कर चले जाने के लिये विवश किया। इस कार्य में चार साल लग गये, और चम्पा की सैन्यशक्ति को पूर्णरूप से परास्त कर कम्बुज का राजसिंहासन उसने प्राप्त कर लिया (११८१ ईस्वी)।

कम्बुज देश के राजाओं में जयवर्मा सप्तम का स्थान सर्वोपरि है। वह एक महान् विजेता था। पूर्व में चम्पा को परास्त कर अपने राज्य की सीमा उसने चीन के समुद्र तक पहुँचा दी थी, और बरमा के पगान राज्य को जीत लेने के कारण उसके राज्य की पश्चिमी सीमा बंगाल की खाड़ी के साथ आ लगी थी। कम्बुज राज्य का अधिकतम विस्तार इसी राजा के शासन काल में हुआ था। पर जयवर्मा सप्तम केवल विजेता ही नहीं था। अपनी प्रजा के हित और कल्याण के लिये उसने बहुत से चिकित्सालय खुलवाये, मार्गों पर धर्मशालाओं का निर्माण कराया, और विद्या के प्रसार के लिये विद्वानों को आश्रय प्रदान किया। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और कम्बुज में उसके लोकोपकारी कार्यों को देखकर भारत के राजा अशोक का स्मरण हो आता है। इसीलिये कतिपय विद्वानों ने उसे 'कम्बुज का अशोक' भी कहा है।

जयवर्मा सप्तम की विजयों का वृत्तान्त जहाँ कम्बुज तथा चम्पा के अनेक अभिलेखों द्वारा ज्ञात होता है, वहाँ चीनी ग्रन्थों से भी उन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके युद्धों का प्रधान क्षेत्र चम्पा राज्य का था, जिसके साथ कम्बुज का संघर्ष चिरकाल से चला आ रहा था। ११६६ ई० में चम्पा की सेनाएँ जल और स्थल मार्गों

से आगे बढ़ती हुई कम्बुज की राजधानी तक चली आयी थीं, और उनसे युद्ध करते हुए ही कम्बुजराज त्रिभुव नादित्यवर्मा ने वीरगति प्राप्त की थी। जयवर्मा ने अपने देश के इस अपमान का प्रतिशोध किया, और चम्पा पर आक्रमण कर उसके राजा को बन्दी बना लिया। चम्पा के कुछ अभिलेखों से इससे सम्बद्ध घटनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार जयवर्मा सप्तम द्वारा चम्पा पर किये गये आक्रमण का नेतृत्व श्रीसूर्यवर्मदेव द्वारा किया गया था। मूलतः, यह सूर्यवर्मदेव चम्पा देश का निवासी था, और वहां से कम्बुज आ कर बस गया था। कम्बुज के राजा ने उसकी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी थी, जिससे वह शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत हो गया था। उसे अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का प्रथम अवसर तब मिला, जबकि मल्यन नामक नगर में कुछ लोगों ने जयवर्मा सप्तम के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और उसका दमन करने के लिये सूर्यवर्मदेव को भेजा गया। विद्रोह का दमन करने में उसने अनुपम सफलता प्राप्त की, जिससे प्रसन्न होकर राजा जयवर्मा ने उसे 'युवराज' का पद प्रदान किया। कम्बुज देश में युवराज पद एक उच्च तथा सम्मानित राजकीय पद था। चम्पा के विरुद्ध युद्ध शुरू होने पर इसी सूर्यवर्मदेव को कम्बुज की सेनाओं का सेनापति बनाकर भेजा गया। चम्पा को परास्त करने में भी उसे सफलता प्राप्त हुई। ११६० ईस्वी में कम्बुज की सेना ने चम्पा को बुरी तरह पराजित किया, और वहाँ के राजा जयइन्द्रवर्मा को वन्दी बनाकर कम्बुज ले आया गया। यह पहला अवसर था, जबकि चम्पा को पूर्णरूप से अपनी अधीनता में ले आने में कम्बुज देश को सफलता प्राप्त हुई थी। जयवर्मा सप्तम ने शासन के लिये चम्पा राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया। दक्षिणी भाग का शासक श्रीसूर्यवर्मदेव को नियुक्त किया गया, और उत्तरी भाग का शासन सूर्यजयवर्मदेव के सुपुर्द किया गया, जो राजा जयवर्मा सप्तम का स्याल (पत्नी का भाई) था। दक्षिणी चम्पा की राजधानी राजपुर बनायी गई, और उत्तरी चम्पा की विजय नगरी।

दक्षिणी चम्पा का शासन करने में श्रीसूर्यवर्मदेव को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। उसके विरुद्ध जो भी विद्रोह हुए, उनका दमन करने में वह समर्थ हुआ और राजपुर में उसका शासन सुव्यवस्थित तथा शान्तिमय रहा। पर उत्तरी चम्पा के शासन को सम्हाल सकने में सूर्यजयवर्मदेव को सफलता प्राप्त नहीं हुई। रघुपति नामक एक सामन्त ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और सूर्यजयवर्मदेव को परास्त कर उसने श्रीजयइन्द्रवर्मदेव के नाम से स्वयं राजा का पद संभाल लिया। कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम इसे नहीं सह सका, क्योंकि सूर्य जयवर्मदेव उसका स्याल था, और वह उसी द्वारा चम्पा का शासक नियुक्त किया गया था। उसने जयइन्द्रवर्मदेव (रघुपति) को सिंहासन-च्युत करने के प्रयोजन से एक सेना भेजी, जो पहले राजपुर गई और वहाँ के राजा श्री सूर्यवर्मदेव के सेनापतित्व में उत्तरी चम्पा (विजय) की ओर अग्रसर हुई। जय इन्द्रवर्मदेव (रघुपति) इस सेना के सम्मुख नहीं टिक सका। विजय पर कम्बुज की सेना का कब्जा हो गया, रघुपति की पराजय हुई, और उसे मौत के घाट उतार दिया गया। अब चम्पा देश के दोनों भाग श्रीसूर्यवर्मदेव के शासन में आ गये। रघुपति को

परास्त करने के लिये जो सेना कम्बुज से चम्पा भेजी गई थी, उसके साथ चम्पा का का भूतपूर्व राजा (जयइन्द्रवर्मा) भी था, जिसे ११६० ईस्वी में वन्दी बनाकर कम्बुज से लाया गया था। जयवर्मा सप्तम की इच्छा थी, कि उसे उत्तरी चम्पा का शासक नियुक्त किया जाए, ताकि चम्पा की राष्ट्रीय भावना को सन्तुष्ट किया जा सके। वह चाहता था, कि जयइन्द्रवर्मा उसके अधीनस्थ राजा के रूप में विजय का शासन करे। पर श्रीसूर्यवर्मदेव ने उसकी इस योजना को क्रियान्वित नहीं होने दिया। उसने विजय को भी अपने शासन में ले लिया, और सम्पूर्ण चम्पा देश पर स्वतंत्र राजा के रूप में शासन करने लगा। जयइन्द्रवर्मा ने जब एक सेना एकत्र कर उसका विरोध करने का प्रयत्न किया, तो श्रीसूर्यवर्मदेव ने उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग किया और लंक के रणक्षेत्र में उसे न केवल परास्त ही किया, अपितु उसका वध भी कर दिया। अब श्रीसूर्यवर्मदेव का मार्ग निष्कण्टक हो गया था, और उसे जयवर्मा सप्तम की परवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। सम्पूर्ण चम्पा का वह अब स्वतंत्र राजा बन गया था (११९२ ईस्वी)।

पर श्रीसूर्यवर्मदेव शान्तिपूर्वक चम्पा का शासन नहीं कर सका। कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम ने उसे अपना वशवर्ती बनाने के लिये चम्पा पर अनेक बार आक्रमण किये, जिनके कारण उसे निरन्तर युद्धों में व्याप्त रहना पड़ा। १२०३ ईस्वी में एक बड़ी सेना कम्बुज से उसके विरुद्ध भेजी गई, जिसका सेनापति 'युवराज' ओंधनपति था। वह श्रीसूर्यवर्मदेव का चाचा था, और मूलतः चम्पा का निवासी था। सम्भवतः, वह भी अपने भतीजे के साथ ही चम्पा से कम्बुज आया था और जयवर्मा सप्तम का आश्रय प्राप्त कर उसने भी शासनतन्त्र में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। उसे भी 'युवराज' के पद से सम्मानित किया गया था। युवराज ओंधनपति के सेनापतित्व में कम्बुज की जो सेना श्रीसूर्यवर्मदेव के विरुद्ध चम्पा भेजी गई, उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। श्रीसूर्यवर्मदेव परास्त हो गया, और चम्पा का शासन जयवर्मा सप्तम द्वारा ओंधनपति के सुपुर्द कर दिया गया। उसके शासन के विरुद्ध जो अनेक विद्रोह चम्पा में हुए, उनका दमन करने में भी उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर जयवर्मा सप्तम ने उसे चम्पा का वैध राजा स्वीकार कर लिया, यद्यपि उसकी स्थिति कम्बुज के अधीनस्थ शासक की थी। पर उसके भाग्य में चैन के साथ चम्पा का शासन करना नहीं लिखा था। शीघ्र ही अनाम के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गये, जिनमें कम्बुज सेना ने सक्रिय रूप से भाग लिया। कम्बुज की इन सेनाओं में पगान (दक्षिणी वरमा) और सियाम के सैनिक भी बड़ी अच्छी संख्या में थे। वरमी और सियामी सैनिकों का कम्बुज की सेना में सम्मिलित होना इस बात का सूचक है, कि जयवर्मा सप्तम का शासन वरमा और सियाम के कतिपय प्रदेशों पर भी अवश्य विद्यमान था। अनाम के विरुद्ध युद्ध में चम्पा और कम्बुज की कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई थी, यह कह सकना कठिन है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन युद्धों के कारण कम्बुज देश की सैन्यशक्ति का बहुत ह्रास हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप कम्बुज के लिये चम्पा को भी अपने आधिपत्य में रख सकना संभव नहीं रहा था। यह दशा थी,

जबकि जयपरमेश्वरवर्मा ने चम्पा में अपना स्वतंत्र शासन स्थापित किया (१२२६ ईस्वी)। जयपरमेश्वरवर्मा चम्पा के पुराने राजवंश में उत्पन्न हुआ था, और अपने पिता जयहरिवर्मा सप्तम के बाद उसी को चम्पा का राजा बनना चाहिये था। पर ११६३ ईस्वी में जयइन्द्रवर्मा ने चम्पा के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, जिसके कारण जयपरमेश्वरवर्मा अपने देश को छोड़कर अन्यत्र प्रवास करने के लिये विवश हो गया था। अनेक स्थानों पर प्रवास करने के पश्चात् उसने भी कम्बुज आकर आश्रय ग्रहण किया था, और वहाँ के राजा जयवर्मा सप्तम ने उसे भी 'युवराज' की पदवी से विभूषित किया था। अनाम के युद्धों के कारण जब कम्बुज की सैन्यशक्ति क्षीण हो गई, और उसके लिये अन्य देशों को अपने अधीन रख सकना सम्भव नहीं रहा, तो जयपरमेश्वरवर्मा ने इस दशा से लाभ उठाया और चम्पा के राजसिंहासन को अधिगत कर लिया। सम्भवतः, इस समय तक कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम का देहावसान हो चुका था। उसकी मृत्यु के वर्ष का ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है। अधिक सम्भव यह है, कि कम्बुज साम्राज्य को ह्रास का प्रारम्भ होने (१२२६ ईस्वी के लगभग) से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

जयवर्मा सप्तम के धार्मिक एवं लोकहितकारी कार्य— जयवर्मा सप्तम न केवल एक महान् विजेता और साम्राज्य का निर्माता था, अपितु एक धार्मिक तथा प्रजापालक राजा भी था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और बौद्ध भिक्षुओं के लिये उसने अनेक विहारों आदि का निर्माण कराया था। ता-प्रोह्म अभिलेख में उसने लिखा है कि "प्राणिमात्र के शरण बुद्ध पूजित हैं, फिर बुद्धमार्ग भी पूजित है।" यह अभिलेख ता-प्रोह्म के 'राजविहार' नामक बौद्ध विहार की स्थापना के उपलक्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। इस विहार में उसने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति प्रतिष्ठापित करायी थी और इस मूर्ति के मुख की आकृति अपनी माता की मुखाकृति की अनुकृति में बनवायी थी। इस विशाल राजविहार में १२,६४० व्यक्ति निवास करते थे, और उनकी सेवा तथा विहार की देखभाल के लिये जो स्त्री-पुरुष (देवपरिचारक) नियुक्त थे, उनकी संख्या ६६,६२५ थी। इस प्रकार जिन व्यक्तियों का इस राजविहार से सम्बन्ध था, उनकी कुल संख्या ७९,२६५ थी। इनमें ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्हें चम्पा और बरमा से बन्दी बनाकर लाया गया था। ४३९ आचार्य तथा ९७० विद्यार्थी भी इस विहार में निवास करते थे, जो शास्त्रों के अध्ययन तथा विद्या के अभ्यास में तत्पर रहते थे। इस राजविहार का खर्च चलाने के लिये राजा तथा अन्य भूमिपतियों द्वारा ३४०० गाँव प्रदान किये गये थे, जिनकी आमदनी इसी पर खर्च की जाती थी। राजा ने प्रचुर मात्रा में सोना, चाँदी, पैंतीस हीरे, ४०६२० मोती, ४५४० रत्न तथा अन्य बहुमूल्य मणिमाणिक्य सुवर्णनिर्मित एक बड़ी थाली, कुछ खड़िया तथा भारी परिमाण में सीसा भी इस विहार को प्रदान किया था।

ता-प्रोह्म अभिलेख में जयवर्मा द्वारा बनवायी गई आरोग्यशालाओं का भी वर्णन है। उसके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में १०२ आरोग्यशालाएँ और ७९८ आरोग्य-मन्दिर स्थापित थे, जिनमें रहनेवाले रोगियों तथा अन्य व्यक्तियों को

१,१७,२०० खारिका चावल प्रतिवर्ष दिया जाता था। एक खारिका १२८ सेर के बराबर होती थी। इस प्रकार साढ़े तीन लाख मन से भी अधिक चावल इन चिकित्सालयों के लिये प्रतिवर्ष प्रदान किया जाता था। आरोग्यशालाओं और आरोग्यमन्दिरों का खर्च चलाने के लिये ८३८ गाँव लगा दिये गये थे, जिनकी आमदनी इन्हीं पर खर्च की जाती थी। इन चिकित्सालयों में ८१,६४० स्त्री-पुरुष काम करते थे। राजकीय भण्डार से जो वस्तुएँ इनके लिए प्रदान की जाती थीं, उनमें अन्न के अतिरिक्त मधु, मोमबत्ती, अजवायन, सोंफ, कपूर, इलायची, सोंठ और दवाइयों के बक्स आदि भी होते थे। इन आरोग्यमन्दिरों का उल्लेख कर राजा जयवर्मा सप्तम ने प्रार्थना की है, कि 'मेरे इन पुण्य कर्मों से मेरी माता भवसागर से मुक्त हो बुद्धपद को प्राप्त करे।'

राजा जयवर्मा सप्तम के आरोग्यशाला-सम्बन्धी दस अभिलेख मिले हैं, जो प्रायः एक सदृश हैं। इन सब में रोगान्धकार को दूर करने वाले भैषज्यगुरु बुद्ध, बोधिसत्त्व, सूर्य वैरोचन, चन्द्ररोची और वैरोचन रोहिणी की महिमा का बखान कर जयवर्मा के विषय में यह लिखा है—

देहिनां देहरोगो यन्मनोरोगो रुजत्तराम्
राष्ट्रदुःखं हि भर्तृणां दुःखं दुःखं तु नात्मनः ।।

मनुष्यों के शारीरिक रोगों से उसे (जयवर्मा सप्तम को मानसिक व्यथा अनुभव होती है, जो रोगी की व्यथा की तुलना में अधिक कष्टकर होती है, क्योंकि राजा अपने दुःख से दुःखी नहीं होता अपितु राष्ट्र (जनता) के दुःख से ही उसे दुःख होता है।) जयवर्मा सप्तम के अभिलेखों से ज्ञात होता है, कि आरोग्यशालाओं का निर्माण भैषज्यगुरु बुद्ध के मन्दिर के चारों ओर किया जाता था, और वे वर्ण व जाति आदि के भेदभाव के विना सब के लिये खुली रहती थीं।

भवननिर्माण एवं कलाकृतियां—कम्बोडिया के अङ्कोर थोम में कम्बुज देश की जिस प्राचीन राजधानी के अवशेष विद्यमान हैं, उसके निर्माण का श्रेय भी जयवर्मा सप्तम को दिया जाता है। पहले यह माना जाता था, कि इस नगरी का निर्माण यशोवर्मा प्रथम (८८९-९०८) द्वारा किया गया था। पर अब इस मत का परित्याग कर दिया गया है। इसी प्रकार कम्बोडिया के कितने ही अन्य विहारों, मन्दिरों आदि के निर्माण का श्रेय भी जयवर्मा सप्तम को ही दिया जाने लगा है। अगले अध्याय में हम इन पर विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

जयवर्मा सप्तम ने कितने साल और किस वर्ष तक राज्य किया, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक कोई सुनिश्चित मत निर्धारित नहीं कर सके हैं। शक संवत् से अंकित इस राजा का अन्तिम लेख ११२६ शकाब्द का मिला है, जिससे इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि उसका शासन-काल सन् १२०४ तक अवश्य था। एक अन्य अभिलेख ११२८ शकाब्द (१२०६ ईस्वी) का है, जिसमें कि 'यवर्मदेव' नाम अंकित है। सदे ने इसे जयवर्मदेव या जयवर्मा सप्तम का माना है। इस प्रकार इस प्रतापी राजा का शासन-काल १२०६ ईस्वी तक पहुँच जाता है। मृत्यु के पश्चात् जयवर्मा सप्तम को 'महा परम सौगत' विरुद दिया गया था, क्योंकि वह बौद्ध धर्म का श्रद्धालु अनुयायी था।

(४) कम्बुज राज्य का ह्रास

जयवर्मा सप्तम के उत्तराधिकारी—जयवर्मा सप्तम के बाद जो राजा कम्बुज देश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, वे जयवर्मा के समान प्रतापी नहीं थे। उनके शासन-काल में कम्बुज देश की शक्ति क्षीण होने लगी, और धीरे-धीरे उसकी अधीनता से प्रायः वे सभी प्रदेश स्वतन्त्र हो गये, जिन्हें कि कम्बुज के प्रतापी राजाओं ने अपने सैन्यबल से विजय किया था।

जयवर्मा सप्तम के पश्चात् इन्द्रवर्मा द्वितीय कम्बुज का राजा बना। अङ्कोर थोम के मंगलार्थ मन्दिर में उत्कीर्ण राजा श्रीन्द्रराजवर्मा का एक अभिलेख है जिसमें जयवर्मा सप्तम के उत्तराधिकारियों की सूची दी गई है। इसी से यह ज्ञात होता है, कि जयवर्मा सप्तम के बाद इन्द्रवर्मा द्वितीय कम्बुज का राजा बना था, और वह १२४३ ईस्वी तक राजगद्दी पर रहा था। इस राजा के शासनकाल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है।

इन्द्रवर्मा द्वितीय का उत्तराधिकारी जयवर्मा अष्टम था, जिसने कि १२९५ ईस्वी तक कम्बुज देश का शासन किया। ५२ वर्ष के सुदीर्घ शासन के बाद वह अत्यन्त वृद्ध हो गया था, और उसके लिये राज्य को संभाल सकना सुगम नहीं रहा था। इसलिये उसने अपने जामाता श्रीन्द्रवर्मा को राज्य सौंप दिया था, और वह स्वयं शासन-कार्य से निवृत्त हो गया था। यही वह समय था, जबकि मंगोल लोगों की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी, और चीन पर कुबेलखां का सशक्त शासन स्थापित हो गया था। मंगोलों का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था, और वे पड़ोस के सब देशों को अपना वशवर्ती बनाने के लिये कटिबद्ध थे। मंगोल सेनाओं ने चम्पा को भी आक्रान्त किया था, जिसका सामना कर सकना वहाँ के राजा के लिये सम्भव नहीं हुआ था। चम्पा ने कुबलेखां की अधीनता स्वीकार कर ली थी, और यह मंगोल सम्राट् उस देश को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत मानने लगा था। इसीलिये उसने सगतूखां को चम्पा में अपना प्रतिनिधि नियत किया। पर चम्पा के लोग अपने देश की स्वतन्त्रता के अपहरण को नहीं सह सके। कुमार हरजीतवर्मा के नेतृत्व में उन्होंने मंगोल आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अब कुबेलखां ने सगतूखां को चम्पा की विजय का कार्य सुपुर्द किया (१२८३ ईस्वी), और यह सेनापति अनेक वर्षों तक चम्पा को मंगोलों की अधीनता में ले आने के लिये युद्ध में तत्पर रहा। यद्यपि मंगोल लोग चम्पा को जीत तो नहीं सके, पर उन्होंने वहाँ के राजा को अपना वशवर्ती होकर रहने के लिये विवश अवश्य कर दिया। कम्बुज देश के प्रति भी मंगोलों ने इसी नीति का अनुकरण किया। वे चाहते थे, कि कम्बुज का राजा भी मंगोल सम्राट् की सेवा में भेंट उपहार भेजकर उसका वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कर ले। १२८५ ईस्वी में कम्बुज के राजा की ओर से मंगोल सम्राट् की सेवा में भेंट उपहार भेज दिये गये थे, जिसके कारण मंगोल सेना को उस पर आक्रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं रही थी।

जयवर्मा अष्टम ने अपने जामाता श्रीचन्द्रवर्मा के पक्ष में राजसिंहासन का परित्याग किया था (१२८५ ईस्वी)। पर उसका पुत्र यह नहीं सह सका, और वह श्रीन्द्रवर्मा

से संघर्ष करने के लिये उठ खड़ा हुआ। इस पर श्रीन्द्रवर्मा ने अपने स्याल को वन्दी वनाकर कारागार में डाल दिया। श्रीन्द्रवर्मा के शासन-काल में चीन से एक दूतमण्डल कम्वुज देश आया था, जिसके साथ चेउ-ता-कुअन नाम का एक लेखक भी था। इस ने कम्वुज देश के रीति-रिवाजों तथा आचार-व्यवहार का विशेष रूप में वर्णन लिखा है, जो इस देश की सभ्यता तथा संस्कृति से परिचय प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इसी चीनी लेखक के वृत्तान्त से यह ज्ञात हुआ है, कि श्रीन्द्रवर्मा ने अपने स्याल (जयवर्मा अष्टम के पुत्र) को परास्त कर राजसिंहासन को हस्तगत किया था।

श्रीन्द्रवर्मा ने १३०७ ईस्वी तक कम्वुज का शासन किया। अपने श्वसुर जयवर्मा अष्टम का अनुसरण कर उसने भी स्वेच्छापूर्वक राजसिंहासन का परित्याग कर दिया, और उसके वाद युवराज श्रीन्द्रजयवर्मा ने कम्वुज के शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। श्रीन्द्रजयवर्मा का श्रीन्द्रवर्मा से क्या सम्वन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। कम्वुज में 'युवराज' से एक उच्च राजपदाधिकारी ही अभिप्रेत होता था। श्रीन्द्रजयवर्मा राजकुल के साथ सम्वन्ध रखता था, इसका संकेत मंलगार्थ मन्दिर के अभिलेख में विद्यमान है। इस राजा का शासनकाल १३०७ से १३२७ ईस्वी तक था।

कम्वुज देश में जो उत्कीर्ण अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, उनसे वहां के एक अन्य राजा का भी परिचय प्राप्त होता है जिसका नाम जयवर्मादिपरमेश्वर था। अङ्कोरवात में इस राजा का एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें ब्राह्मण विद्येश द्वारा स्थापित किये गये आश्रम के लिये राजा द्वारा प्रदान की गयी दान-दक्षिणा का उल्लेख है। अभिलेख में यह भी वताया गया है, कि विद्येश के पूर्वज ब्राह्मण सर्वज्ञमुनि आर्यदेश (भारत) से कम्वुज आये थे। विद्येश का एक अन्य पूर्वज विद्येशविद् जयवर्मा अष्टम का होता तथा श्रीन्द्रवर्मा के राज्याभिषेक में ऋत्विज था। विद्येशविद् की मृत्यु के वाद एक अन्य ब्राह्मण श्रीन्द्रवर्मा का होता वना, और उसने यशोधर सरोवर के तट पर गंगा की एक मूर्ति स्थापित की।

कम्वुज से कोई ऐसा अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, जयवर्मादिपरमेश्वर के उत्तराधिकारियों का जिसमें उल्लेख हो। इसके वाद का कम्वुज का इतिहास जानने के एकमात्र साधन ख्मेर भाषा के वे ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना वहुत वाद में हुई थी। पुराने इतिहास के सम्वन्ध में उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है।

कम्बुज का पतन—चौदहवीं सदी और उसके वाद जिन राजाओं ने कम्वुज का शासन किया, उनका इत्तिवृत्त प्रायः अज्ञात है। पर इस काल की घटनाएँ ऐसी हैं, जो कम्वुज के पतन पर प्रकाश डालती हैं। जयवर्मा सप्तम के वाद चम्पा तो कम्वुज के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो ही गया था, उधर सियाम में भी कम्वुज के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। तेरहवीं सदी के मध्य भाग में इन्द्रादित्य नामक थाई सरदार ने सुखोदय को राजधानी वना कर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। तेरहवीं सदी के अन्त में सुखोदय के राजसिंहासन पर राम कहम्हेंग विराजमान था, जो अत्यन्त वीर तथा प्रतापी राजा था। उसने कम्वुज पर भी आक्रमण किये। चेउ-ता-कुअन ने लिखा है, कि सियाम और कम्वुज के युद्ध में अङ्कोर का प्रदेश वुरी तरह से ध्वस्त

हो गया था। यह चीनी लेखक १२९६ ईस्वी में कम्बुज आया था, और उससे कुछ समय पूर्व ही सुखोदय की सेनाओं ने कम्बुज पर आक्रमण किया था। १३५० ईस्वी के लगभग सियाम में एक अन्य स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, जिसकी राजधानी अयुथिया (अयोध्या) थी। अयोध्या के राजाओं ने सम्पूर्ण सियाम और लाओस पर अपना शासन स्थापित किया, और कम्बुज पर भी वे आक्रमण करते रहे। उधर कम्बुज के पूर्व में स्थित अनाम का राज्य भी बहुत शक्तिशाली हो गया, और पन्द्रहवीं सदी में उसने चम्पा को जीत लिया। इन दो शक्तिशाली राज्यों—सियाम और अनाम के बीच में पड़कर कम्बुज की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गयी, और इन द्वारा वह निरन्तर आक्रान्त होता रहा। इस प्रकार पड़ोस के शक्तिशाली राज्यों द्वारा आक्रान्त होता हुआ कम्बुज देश बहुत निर्बल हो गया। यह स्थिति थी, जब यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया, कम्बुज उनके सामने नहीं टिक सका, और १८५४ ईस्वी में वहाँ के निर्बल राजा ने फ्रांस की अधीनता स्वीकार कर ली। फ्रांस के अधीन उसकी वही स्थिति हो गयी, जो ब्रिटिश शासन के काल में भारत की देशी रियासतों की थी।

आठवाँ अध्याय

कम्बुज देश की सभ्यता और संस्कृति

(१) शासन-व्यवस्था

प्राचीन कम्बोडिया या कम्बुज देश का शासन राजतन्त्र था और वहाँ वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन विद्यमान था। वहाँ उपलब्ध हुए अभिलेखों द्वारा गणराज्यों की सत्ता सूचित नहीं होती। जिन लोगों ने भारत से जाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस देश में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे, उनमें राजतन्त्र शासन की परम्परा विद्यमान थी, और उन्होंने अपने नये राज्यों में भी इसी शासन पद्धति का अनुसरण किया था। भारत के अनेक राज्यों में प्राचीन समय में राजा को दैवी माना जाता था, और यह समझा जाता था, कि या तो वह साक्षात् देवता है और या इन्द्र, मित्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के अंशों से उसका निर्माण हुआ है। इसी मन्तव्य का संकेत कम्बुज के एक अभिलेख से भी मिलता है, जिसमें राजा जयवर्मा प्रथम को सहस्रों लिंगों (शिवलिंगों) के अंश को लेकर अवतीर्ण कहा गया है (**यस्य लिंगसहस्राणां··· तदंशेनावतीर्णेन जितं श्रीजयवर्मणा**)। जब राजा को सहस्रों शिवलिंगों के अंश को लेकर अवतीर्ण माना जाता हो, तो यह स्वाभाविक है कि ऐसे राजा की स्थिति राज्य में सर्वप्रधान हो और उसी द्वारा शासनसूत्र का संचालन किया जाए। पर राजा अकेला राज्य कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता था, अतः उसकी सहायता के लिए मन्त्रियों तथा अमात्य आदि अन्य राजपदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक समझा जाता था, कि वे धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में निष्णात हों। जयवर्मा प्रथम के कदेई अंग मन्दिर अभिलेख में राजा भववर्मा के दो मन्त्रियों का उल्लेख है, जिनके नाम धर्मदेव और सिंहदेव थे। इनके गुणों का वर्णन करते हुए इन्हें धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का ज्ञाता कहा गया है (**तस्य तौ मन्त्रिणावास्तां सम्मतौ कृतवेदिनौ, धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिनौ**)। भारत के राजनीति-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में यह प्रतिपादित किया गया है, कि मन्त्रियों तथा अमात्यों आदि की नियुक्ति करते हुए विविध प्रकार की उपधाओं (परखों) द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहिए और जो विविध उपधाओं में खरे उतरें, उन्हीं को इन उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिये। चाणक्य के अर्थशास्त्र में राजा के लिए तो यह प्रतिपादित किया गया है कि उसे एक आदर्श व्यक्ति या राजर्षि होना चाहिये। प्राचीन कम्बुज देश में भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रचलित थे, वहाँ के अभिलेखों से इसी बात के संकेत मिलते हैं। राजा भववर्मा की प्रशस्ति के रूप में उत्कीर्ण हनचेई मन्दिर अभिलेख में इस राजा के एक राजपदाधिकारी का उल्लेख है, जिसे 'सर्वोपधा-

शुद्ध' कहा गया है (महाराजाधिराजस्य तस्य श्रीभववर्मणः, भृत्यस्सर्वोपधाशुद्धरन्तरङ्गत्वमास्थितः)। कदेई अंग मन्दिर के अभिलेख में राजा जयवर्मा के अन्यतम राज्यपदाधिकारी सिंहदत्त (जो राजा द्वारा अद्यायपुर के शासक पद पर नियुक्त था) के विषय में उत्कीर्ण निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

योऽभवत् भवसंन्यस्तचित्तवृत्तिरुदारधीः ।
बाल्येऽपि विनयोपेतो यौवनेऽपि जितेन्द्रियः।
त्रिवर्गारम्भकालेऽपि धर्मे यस्त्वधिकादरः॥

संसार में रहते हुए भी चित्तवृत्तियों पर जिसने काबू पाया हुआ था, बाल्यावस्था में भी जिसने अपने को अनुशासित किया हुआ था, युवावस्था में भी जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की हुई थी, त्रिवर्गारम्भ के समय में भी धर्म के प्रति जिसका अत्यधिक आदर था, ऐसा वह आद्यपुर का शासक सिंहदत्त था। कम्बुज के अनेक अभिलेखों में मन्त्रियों तथा अन्य उच्च राजपदाधिकारियों द्वारा प्रतिष्ठापित देवमूर्तियों आदि का उल्लेख है। ऐसे अभिलेखों में इन पदाधिकारियों के वंश, कुल तथा व्यक्तिगत गुण भी वर्णित हैं। ये गुण प्रायः वही हैं, जो मनु, शुक्र, चाणक्य, कामन्दक आदि भारतीय राजशास्त्रप्रणेताओं के अनुसार राजपुरुषों में होने चाहियें। अभिलेखों में अनेकविध राजपदाधिकारियों का उल्लेख है, यथा मन्त्री, कुमारमन्त्री, राजकुल-महामन्त्री, राजभिषक्, बलाध्यक्ष, पुरोहित, राज्यसभापति, नृपान्तरंग, द्वाराध्यक्ष, शयनगृहपरीक्षक, नरेन्द्रपरिचारक, अन्नाधिपति और गुणदोष-परीक्षक आदि। इनमें से कतिपय पदाधिकारियों की संज्ञाएँ प्राचीन भारत के राजपदाधिकारियों के सदृश हैं। भारत में कुमारामत्य संज्ञक शासक होते थे, जिनका सम्बन्ध प्रायः राजकुल के साथ होता था। कम्बुज में इनके सदृश कुमारमन्त्री थे। राजकुल-महामन्त्री भी इसी वर्ग के उच्च पदाधिकारी थे। बलाध्यक्ष एक सैनिक अधिकारी होता था। भारत में इसके सदृश सैनिक अधिकारी बलाध्यक्ष और बलाधिकृत कहाते थे। द्वाराध्यक्ष कौटलीय अर्थशास्त्र के 'दौवारिक' के सदृश था, और नृपान्तरंग 'आन्तर्वंशिक' के। राजतंत्र शासनों में बहुत-से ऐसे राजकर्मचारी रखे जाते हैं, जिनका कार्य राजा की रक्षा तथा अन्तःपुर एवं राजप्रासाद की सुव्यवस्था करना हो। कौटलीय अर्थशास्त्र में आन्तर्वंशिक और दौवारिक के अधीन अनेक ऐसे कर्मचारियों का उल्लेख है। कम्बुज के अभिलेखों में जिन नरेन्द्र-परिचारक व शयनगृह-परीक्षक आदि का वर्णन है, वे ऐसे ही राजकर्मचारी थे। भारत के प्राचीन राज्यों में पुरोहित की स्थिति महत्त्व की होती थी, कम्बुज के अभिलेखों से वहाँ भी पुरोहित के महत्त्व का संकेत मिलता है। बलाध्यक्ष के अतिरिक्त महाश्वपति संज्ञक एक अन्य सैनिक अधिकारी होता था, अश्वारोही सेना जिसके अधीन थी। अन्य सैनिक अधिकारी 'समन्तनौवाह' (नौसेना या जलसेना का अध्यक्ष), सहस्रवर्गाधिपति आदि होते थे। छोटे राजकर्मचारियों की जो संज्ञाएँ अभिलेखों में आयी हैं, उनमें राजकुटीपाल पुस्तकरक्षक, पत्रकारक, लेखक और राजद्रोही आदि उल्लेखनीय हैं।

राजा जयवर्मा प्रथम के तुओल प्रह थत शिलालेख में उसके एक राजपदाधिकारी द्वारा एक शिवलिंग के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है और इस पदाधिकारी को

'राजसभाधिपति' कहा गया है। (स्वस्वामिनः प्रसादात् स च राजसभाधिपत्यकृतनामा)। इससे यह संकेत मिलता है, कि कम्बुज देश के शासन में एक राजसभा की भी सत्ता थी, और श्रीकेदारेश्वर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित कराने वाला राजपदाधिकारी इस राजसभा का अधिपति या अध्यक्ष था। राजसभा के सभापदों का उल्लेख राजा जयवीरवर्मा के तुओल प्रसत अभिलेख में विद्यमान है। वहाँ लिखा है, कि राजा की आज्ञा से जो कर्मचारी नियुक्त किये गये थे, उन द्वारा किये गये दुष्कृत्यों को लिपिबद्ध करके राजा जयवर्मा के समक्ष निवेदन किया गया था, और राजा ने मन्त्रियों और सभासदों के साथ उनकी सम्यक् रूप से समीक्षा की थी। अभिलेख के वाक्य इस प्रकार हैं—

सहदेवेन तन्नप्त्रा तेषां तद्दुष्कृतं कृतम्।
लिपिभिर्निवेदितस्सर्वं राज्ञि श्रीजयवर्मणि ॥
मन्त्रिभिस्ससभासद्भिः राज्ञा सम्यक् समीक्षितम् ॥

राजसभा के इन सभासदों की नियुक्ति किसी प्रकार के चुनाव द्वारा होती थी, यह कल्पना तो सर्वथा असंगत होगी। पर इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय राज्यों की सभाओं के समान कम्बुज की राजसभा में भी देश के विद्वान् एवं प्रमुख कुलों के 'मुख्य' सभासद् हुआ करते थे, और राजा उनसे भी परामर्श किया करता था।

कम्बुज राज्य अत्यन्त विस्तृत था और उसके प्रतापी राजाओं ने समीप के अनेक देशों को जीतकर उन्हें भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। अतः यह स्वाभाविक था, कि इस सुविस्तृत राज्य को शासन की सुविधा के लिए अनेक प्रान्तों में विभक्त किया जाए। चीनी ग्रंथों के अनुसार इन प्रान्तों की संख्या ३० थी। कम्बुज के अभिलेखों में अनेक प्रान्तों का उल्लेख मिलता है, यथा ताम्रपुर, आढ्यपुर, तंदमपुर, श्रेष्ठपुर, भवपुर, ध्रुवपुर, धन्विपुर, धर्मपुर, ज्येष्ठपुर, उग्रपुर, विक्रमपुर और ईशानपुर। सम्भवतः, ये प्रान्त भी आकार में अच्छे-बड़े थे, क्योंकि इनके क्षेत्र में एक से अधिक नगरों की सत्ता थी। राजा ईशानवर्मा के समय के वात चक्रेत मन्दिर में उत्कीर्ण एक अभिलेख में ताम्रपुर के शासक (ताम्रपुरेश्वर) द्वारा प्रतिष्ठापित 'हरिशंकरी' का उल्लेख है। इसी अभिलेख में ताम्रपुर के इस शासक को चक्रांग, अमोघ और भीम नाम के तीन अन्य पुरों का भी स्वामी कहा गया है। ताम्रपुर के इस शासक की नियुक्ति राजा ईशानवर्मा द्वारा की गई थी। पर कतिपय प्रान्तीय शासक वंशक्रमानुगत भी होते थे। पर इन शासकों की नियुक्ति भी राजा द्वारा ही की जाती थी, और उन्हें नियुक्त करते समय यह ध्यान में रखा जाता था कि वे शासन कार्य के योग्य हैं। आढ्पुर के प्रान्तीय शासक की नियुक्ति के सम्बन्ध में एक अभिलेख के ये शब्द महत्व के हैं—

पश्चादाढ्यपुरस्यास्य योऽध्यक्षस्त्वे कुलक्रमात्
योग्योऽयमिति सत्कृत्य स्वयं राज्ञा नियोजितः ॥

यद्यपि आढ्यपुर का शासन कुलक्रम से चला आ रहा था, पर योग्यता को दृष्टि में रख कर राजा ने स्वयं उसे इस पद पर अधिष्ठित किया था। प्रान्तीय शासक की संज्ञा भी 'अध्यक्ष' होती थी, यह भी इस श्लोक से सूचित होता है।

कम्बुज राज्य में न्याय व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस विषय में भी अभिलेखों द्वारा कतिपय महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। सम्भवतः, प्रधान न्यायाधीश की संज्ञा 'धर्माधिपति' होती थी, और उसके अधीन व्यवहाराधिकारी और धर्माधिकरणपाल सदृश विविध पदाधिकारी कार्य करते थे। एक अभिलेख में जहाँ मुकदमे के निर्णय का विशद रूप से उल्लेख है, वहाँ साथ ही उस मुकदमे से सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम भी दिए गए हैं। ये नाम हैं, न्यायाधीश कम-स्तेन-अन श्रीभूपतिवर्मा, सहायक न्यायाधीश लोनपित्रानन्दन, लोनई, लोन-आनन्दन और लोन पण्डिताचार्य, गत्राह-म्रतन श्री धरणीन्द्रकल्प और स्तेन्-अन्। कम्बुज देश से उपलब्ध हुए कितने ही अभिलेखों में न्यायालयों के सम्मुख प्रस्तुत मुकदमों तथा उनके निर्णयों का वर्णन विद्यमान है, जिनसे सूचित होता है कि वहाँ न्याय-व्यवस्था अच्छी समुन्नत दशा में थी।

राजा जयवीरवर्मा के प्रसत त्रपन अभिलेख द्वारा कम्बुज राज्य की भूमिव्यवस्था तथा स्थानीय शासन के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह अभिलेख संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाओं में है, और इसमें जयवीरवर्मा द्वारा श्रीकवीन्द्र पण्डित को दान में दिए गये एक ऐसे भूखण्ड का उल्लेख है जिसका उपयोग वह भगवान् नारायण के निमित्त से करना चाहता था। राजा ने स्थानीय राजकर्मचारियों की सहायता से इस भूखण्ड की सीमाओं को निर्धारित कराया और फिर इसे श्रीकवीन्द्र पण्डित को प्रदान कर दिया। इस प्रसंग में जिन राजकर्मचारियों का उल्लेख आया है, वे निम्नलिखित हैं—शुभ मुहूर्त को निर्धारित करने वाला, दश ग्राम (दश ग्रामों का अध्यक्ष या मुखिया), प्रधान (ग्राम का प्रधान), ग्रामवद्ध (ग्राम के विविध कुलों के मुखिया) और दास। कौटलीय अर्थशास्त्र आदि प्राचीन भारतीय राजनीतिक विषय ग्रंथों में भी ग्रामों के शासन के सम्बन्ध में प्रायः इन्हीं कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि कम्बुज देश में भी ग्रामों के शासन का प्रायः वही रूप था जो कि प्राचीन भारत में था।

कम्बुज देश के अभिलेखों द्वारा जहाँ राज्य के बहुत-से पदाधिकारियों तथा कर्म-चारियों के विषय में परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही उनसे यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें नियुक्त करते हुए किन बातों को ध्यान में रखा जाता था। बड़े राज्यपदाधिकारी प्रायः राजकुल से सम्बद्ध हुआ करते थे। इसी कारण उनके लिए राजकुल महामन्त्री और कुमारमन्त्री सदृश संज्ञाएँ प्रयुक्त की जाती थीं। अन्य उच्चपदाधिकारी भी प्रायः वंशक्रमानुगत हुआ करते थे। राजा जयवर्मा द्वितीय ने शिवकैवल्य नामक ब्राह्मण को अपना राजपुरोहित नियुक्त किया था। उसके बाद ढाई सौ वर्ष के लगभग तक शिवकैवल्य के वंशज या उनके निकट सम्बन्धी कम्बुज राजाओं के पुरोहित पद पर रहे। जयवर्मा प्रथम के तन क्रन अभिलेख में धर्मस्वामी नामक एक वेदवेदांगपारंगत ब्राह्मण का उल्लेख है, जो धर्मपुर का शासक था। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम अभिलेखों में नहीं दिया गया, पर उसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि पहले उसे महाश्वपति के पद पर नियुक्त किया था, फिर उसे श्रेष्ठपुर का शासन दिया गया और वहाँ से उसे ध्रुवपुर का शासक बनाकर भेज दिया गया। धर्मस्वामी के छोटे पुत्र का नाम

प्रचण्डसिंह था। वह भी एक उच्च राज्यपदाधिकारी था। सबसे पूर्व उसकी नियुक्ति 'शिरस्त्राणधारी और शस्त्रपाणि नृपान्तरङ्ग योद्धाओं' के अध्यक्ष के रूप में हुई थी। राजा की रक्षा के प्रयोजन से जो शिरस्त्राण धारण करने वाले और हाथों में शस्त्र लिये हुए अन्तरङ्ग सैनिक थे, प्रचण्डसिंह को उनका अध्यक्ष नियत किया गया था। बाद में इस वीर पुरुष की 'समन्तनौवाह' (जल सेनाध्यक्ष) के पद पर और फिर धन्विपुर के 'सहस्रवर्गाधिपति' के पद पर नियुक्ति की गई थी।

चीनी लेखकों ने कम्बुज राज्य के विषय में लिखा है कि वहाँ प्रायः उच्चराज्य-पदाधिकारी राजवंश के होते हैं, और पुरुषों के न होने पर स्त्रियाँ उनके पदों पर नियुक्त की जाती हैं। चीनी ग्रंथों में कम्बुज राजाओं के वैभव का भी वर्णन मिलता है। सातवीं सदी की एक चीनी पुस्तक में कम्बुजराज ईशानवर्मा के विषय में लिखा है, कि वह सप्तरत्नमण्डित व पंचविधगन्ध से सुगन्धित आसन पर बैठता है। गजदन्त तथा सुवर्ण-पुष्पों द्वारा मण्डित बहुमूल्य दारुस्तम्भों पर तना चंदवा उसके ऊपर होता है। सिंहासन के दोनों ओर एक-एक आदमी धूपदानी लिए रहता है। राजा गोटेदार श्वेत रेशमी वस्त्र पहनता है, बहुमूल्य मणियों और मोतियों से अलंकृत मुकुट धारण करता है, और उसके कानों में स्त्रियों की भाँति सोने के कुण्डल होते हैं।

प्रजा का हित एवं सुख प्रतिपादित करना कम्बुज के राजा अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। इसीलिए उन्होंने अपने राज्य के अनेक लोक हितकारी कार्यों की व्यवस्था की थी। राजा जयवर्मा सप्तम ने जिन बहुत-से आरोग्यमन्दिरों तथा आरोग्यशालाओं की स्थापना की थी और उनका खर्च चलाने के लिए जो सम्पत्ति उन्हें प्रदान की थी, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इन राजाओं ने मन्दिरों, विहारों, मठों और आश्रमों की स्थापना के लिए जो दान-पुण्य किये थे. उनके विषय में हम इसी अध्याय में पृथक् रूप से लिखेंगे। केवल राजा ही नहीं, अपितु उनके उच्च राज-पदाधिकारी भी शासन का कार्य करते हुए प्रजा के हित को दृष्टि में रखा करते थे। आढ्यपुर के शासक सिंहदत्त के विषय में एक अभिलेख में लिखा है, कि वह दूसरों के अभ्युदय के लिए सदा प्रयत्नशील रहता था। रोगपीड़ितों और याचकों के करुण-वचनों को सुनकर उसके हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ता था, और कर आदि द्वारा वह जो कुछ प्राप्त करता था उसे वह कुटुम्बियों के लिए ही प्रयुक्त कर देता था। कम्बुज देश के राजाओं के सम्मुख प्राचीन भारतीय राजाओं का आदर्श सदा उपस्थित रहता था, और वे अपने को उन्हीं के मार्ग का पथिक समझा करते थे। इसीलिए जयवर्मा प्रथम के समय ने कदेई अंग मन्दिर शिलालेख में राजा रुद्रवर्मा के शासन को दिलीप के समान प्रसिद्ध कहा गया है (राजा श्रीरुद्रवर्मासीत् त्रिविक्रमपराक्रमः, यस्य सौराज्य-मद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम्)।

(२) सामाजिक जीवन

कम्बुज देश से उपलब्ध हुए अभिलेखों से समाज का जो स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उसका आधार चातुर्वर्ण्य है। जयवर्मा सप्तम के से-फोंग अभिलेख

में चार वर्णों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है (चिकित्स्या अत्र चत्वारो वर्णा द्वौ भिपजौ तयोः) भारत के समान कम्बुज देश में भी चार वर्णों की सत्ता थी, जिनमें ब्राह्मण वर्ण का स्थान सर्वोपरि था। जिन भारतीयों ने इस सुदूर देश में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे, वे प्रायः ब्राह्मण वर्ण के ही थे। कम्बुज की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने वहाँ जाकर अपना राज्य स्थापित किया था, और वहाँ के मूल निवासियों की रानी के साथ विवाह किया था। यह अनुश्रुति इस तथ्य को प्रगट करती है, कि जिन भारतीयों ने कम्बुज देश में अपने उपनिवेश बसाये थे, वे ब्राह्मण वर्ण के थे। उस समय कम्बुज के मूल निवासी प्रायः असभ्य व जंगली थे; भारतीयों के सम्पर्क में आकर उन्होंने सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में उन्नति की, और भारत के ही धर्म, आचरण, संस्कृति आदि को अपना लिया। भारत से जाकर जो ब्राह्मण कम्बुज देश में बसे थे, उन्होंने वहाँ की स्त्रियों से विवाह किए और इन विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न हुई, जातीय दृष्टि से वह वर्णसंकर थी। पर क्योंकि उसने अपने पिता की संस्कृति, भाषा, धर्म आदि को अपना लिया था, अतः उसे भी ब्राह्मण माना जाने लगा था। कम्बुज की प्राचीन अनुश्रुति की पुष्टि चीनी इतिवृत्त द्वारा भी होती है। एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार तुअव-सिअन नगरी (फूनान के राज्यक्षेत्र में) में एक हजार से भी अधिक ब्राह्मणों का निवास था, और उन्होंने वहाँ के मूलनिवासियों की कन्याओं के साथ अपने विवाह किये हुए थे। भारतीय उपनिवेशकों की एक अन्य मण्डली चौथी सदी के अन्त व पाँचवीं सदी के प्रारम्भ काल में कम्बुज गई थी। उसके नेता को भी कौण्डिन्य ब्राह्मण कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि भारतीय उपनिवेशकों के इस दूसरे दल के लोग भी जाति से प्रायः ब्राह्मण ही थे। बाद में भी अनेक ब्राह्मण भारत से जाकर कम्बुज में बसते रहे, और वहाँ के राजाओं द्वारा उन्होंने सम्मान प्राप्त किया। राजा जयवर्मा द्वितीय के समय में हिरण्यदामा नामक ब्राह्मण भारत से कम्बुज गया था वह तन्त्र-मन्त्र में प्रवीण था, और उसने राजा के लिए एक ऐसा विधान (पुरश्चरण) तैयार किया था, जिससे कम्बुज यवद्वीप के अधीन न रहे, और जयवर्मा अपने देश में स्वतन्त्र चक्रवर्ती की स्थिति प्राप्त कर सके। भारद्वाज गोत्र के हृषिकेश नामक ब्राह्मण पण्डित राजा जयवर्मा सप्तम के समय में कम्बुज गये थे। राजा ने उन्हें 'श्रीजयमहा-प्रधान' की उपाधि से सम्मानित किया, और अपना राजपुरोहित नियुक्त किया। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्बुज के समाज में ब्राह्मणों का स्थान अत्यन्त महत्त्व का था। सम्भवतः, वहाँ के भारतमूलक निवासियों में बहुसंख्या भी ब्राह्मणों की ही थी।

ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रिय वर्ण का भी कम्बुज देश के समाज में उच्च स्थान था। वहाँ के राजकुल प्रायः क्षत्रिय वर्ण के थे। सम्भवतः क्षत्रिय लोग भी ब्राह्मणों के साथ-साथ अच्छी बड़ी संख्या में भारत से जाकर कम्बुज देश में बस गये थे। यह भी सम्भव है, कि वहाँ के निवासियों में जो उच्चकुलों के लोग थे और जिन्होंने भारत के धर्म, संस्कृति आदि को अपना लिया था, उन्हें भी क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत मान लिया गया था। यवन, शक आदि जिन जातियों ने भारत पर आक्रमण कर इस देश में अपने

राज्य स्थापित किये थे, बाद में उन्हें भी क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया था, क्योंकि भारत के सम्पर्क में आकर संस्कृति की दृष्टि से वे भारतीय बन गये थे। सम्भवतः यही प्रक्रिया कम्बुज देश में भी हुई थी। कम्बुज के अभिलेखों में कतिपय राजाओं या उनकी रानियों को 'क्षत्रान्वयन' (क्षत्रिय वंश या कुल में उत्पन्न) कहा गया है, तो दूसरों को 'ब्रह्मक्षत्रांशभव' (ब्राह्मण और क्षत्रिय के अंश से उत्पन्न) बताया गया है। राजा इन्द्रवर्मा के प्रह को: अभिलेख में श्री पृथिवीन्द्रवर्मा को क्षत्रिय कुल का (पत्नी श्रीपृथिवीन्द्रवर्म्मनृपतेः क्षत्रान्वयाप्रोद्‌गतेः) और लोवोक स्रोत अभिलेख में राजा जयवर्मा को ब्रह्म-क्षत्र कुल का कहा गया है (श्रीजयवर्मणि नृपतौ शासति पृथिवीं समुद्रपर्यन्तां, ब्रह्मक्षत्रांशभवे नतनृपवृतशासितरि नित्यम्)। कम्बुज देश में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होना बहुत प्रचलित था। न केवल ब्राह्मण क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करते थे, अपितु क्षत्रिय पुरुष ब्राह्मण कन्याओं से भी विवाह सम्बन्ध स्थापित किया करते थे। इस प्रकार वहाँ एक संकर जाति विकसित हो गई थी, जिसे 'ब्रह्मक्षत्र' कहा जाता था। कम्बुज अभिलेख में वैश्यों का भी उल्लेख विद्यमान है। यशोवर्मा के प्रसत कोमनप अभिलेख में वैश्यों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख है (इहस्या वैष्णवा सर्वे नाव्यक्षे वैश्यतां गताः)। भारत से जाकर जो उपनिवेशक दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन प्रदेशों में आबाद हुए थे, उनमें वैश्य भी अवश्य रहे होंगे, यह अनुमान करना सर्वथा समुचित है। हमें ज्ञात है, कि भारत के व्यापारी स्थल और जल-मार्गों से दूर-दूर के देशों में व्यापार के लिए जाया-आया करते थे। सुवर्णद्वीप या सुवर्णभूमि के प्रसंग में ऐसे व्यापारियों का उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले भी किया जा चुका है। यह सर्वथा सम्भव है, कि ऐसे बहुत-से व्यापारी इन देशों में स्थायी रूप से बस भी गये हों और वे (वैश्य) भी वहाँ की समाज के अन्यतम अंग बन गए हों। कम्बुज के अभिलेखों में उनका पृथक् रूप से जो उल्लेख नहीं हुआ है, उसका कारण शायद यह है कि ये अभिलेख प्रायः वहाँ के राजाओं, राजपुरोहितों एवं उच्च राज-पदाधिकारियों द्वारा अपने दानपुण्य के प्रसंग में उत्कीर्ण कराये गये हैं। कम्बुज के समाज में शूद्रों की भी सत्ता थी, जिनकी स्थिति दासों के सदृश थी। वहाँ के अभिलेखों तथा चीनी विवरणों से इन दासों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कम्बुज के राजा अपने देश के समाजसंगठन को भारत के चातुर्वर्ण्य पर आधारित समाज के अनुरूप बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। प्रसत त केओ अभिलेख में राजा सूर्यवर्मा के विषय में यह कहा गया है कि उसने अपने राज्य में वर्णभाग (वर्ण-व्यवस्था) का स्थापन किया था, और शिवाचार्य नामक विद्वान को 'श्रेष्ठत्व' की स्थिति प्रदान की थी (श्रीसूर्यवर्मणो राज्ये वर्णभागे कृतेपि यः, संपदं प्राप्य सदभक्तया वर्णश्रेष्ठत्व-संस्थितः)। पर अपने देश की विशिष्ट परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर वे समाज को एक नया रूप देने में भी संकोच नहीं करते थे। राजा जयवर्मा पंचम ने दो नए वर्णों का निर्माण किया, जिन्हें ख्मुक और कर्मान्तर कहते थे। इन वर्णों के जो व्यक्ति विद्या, शील और आचार में श्रेष्ठ हों, उन्हें 'आचार्य-चतुराचार्य-प्रधान' सदृश महत्त्वपूर्ण पदों पर भी नियुक्त किया जा सकता था। इन दो नये वर्णों के विशिष्ट

कार्य क्या थे, यह स्पष्ट नहीं है।

वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म था। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण ही होता था, चाहे वह कोई भी व्यवसाय व कार्य करता हो। राजा हर्षवर्मा तृतीय के पल्हल स्तेल अभिलेख से सूचित होता है, कि कम्बुज देश के ब्राह्मण कुलों के व्यक्ति कतिपय ऐसे कार्य भी करते थे, जिनका ब्राह्मणों से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे जिन कार्यों का इस अभिलेख में वर्णन है, उनमें हाथी के महावत (हस्तिप) का काम, शिल्पी का काम तथा गणिका का कार्य उल्लेखनीय है। इन कार्यों को करने वालों को भी ब्राह्मण ही माना जाता था, यदि उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ हो।

विवाह-सम्बन्ध—कम्बुज देश के समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्थान सर्वोच्च था, और इन वर्णों मे परस्पर विवाह-सम्बन्ध हो सकता था। यद्यपि ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता था, पर ब्राह्मण कन्या का विवाह अपने वर्ण से बाहर प्रायः केवल राजकुल के पुरुष से ही होता था, साधारण क्षत्रिय कुल के पुरुष से नहीं। राजा भववर्मा प्रथम के एक अभिलेख में 'सोमवेदविद् अग्रणी श्री सोमशर्मा' नामक ब्राह्मण के भववर्मा की बहन के साथ विवाह का उल्लेख है, सोमशर्मा की इस पत्नी को अभिलेख में पतिव्रता तथा धर्मरता कहा गया है। और उसकी उपमा अरुन्धती के साथ दी गई है। राजा जयवर्मा द्वितीय ने भास्स्वामिनी नाम की एक कुमारी के साथ विवाह किया था, जो कि आमलकस्थल के निवासी द्विज विष्णु की कन्या थी। इनकी पौत्री का नाम सत्यवती था, जिसने कि भानुवर नामक एक ब्राह्मण के साथ विवाह किया था। इसी विवाह से उस प्रसिद्ध श्रीयोगेश्वर पण्डित का जन्म हुआ, जिसने कि व्याधपुर में शिव और विष्णु के अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था और उनके लिए प्रभूत मात्रा में दान दक्षिणा प्रदान की थी। राजा जयवर्मा सप्तम की दोनों रानियाँ—जयराजदेवी और इन्द्रदेवी—ब्राह्मण कन्याएँ थीं। इनकी माता का नाम राजेन्द्रलक्ष्मी था, जिसके लिए अभिलेख में 'विप्र' विशेषण का प्रयोग किया गया है। राजा श्रीन्द्रवर्मा के अङ्कोर मन्दिर में उत्कीर्ण एक अभिलेख में नरपति देश (सम्भवतः, बरमा) से आकर कम्बुज में बसे हुए एक ब्राह्मण का वर्णन है, जो भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुआ था। इस ब्राह्मण का नाम हृषिकेश था। कम्बुज देश में वेदों का बहुत सम्मान है, और वहाँ बहुत-से वेदविद्याकोविद् विद्वानों का निवास है, यह सुनकर वह कम्बुज आये और वहाँ राजा जयवर्मा सप्तम ने उन्हें 'श्रीजयमहाप्रधान' की उपाधि से विभूषित किया। ११६५ में वे भीमपुर की शिवालय की यात्रा व दर्शन के लिए गए। वहाँ उन्होंने शैव-कुल में उत्पन्न एक कन्या के साथ विवाह किया, जिसका नाम श्रीप्रभा था। इस पत्नी से चार पुत्र और दो पुत्रियों का जन्म हुआ। श्रीप्रभा की द्वितीय पुत्री का विवाह राजा जयवर्मा अष्टम के साथ हुआ, और विवाह के समय उसे 'श्री चक्रवर्ती राजादिदेवी' की उपाधि से विभूषित किया गया। उस की बहन का नाम सुभद्रा था, जिसका विवाह 'अध्यापकाधिप' मङ्गलार्थ के साथ हुआ। दो बहनों में से एक का क्षत्रिय राजा से विवाह हुआ था, और दूसरी का ब्राह्मण पण्डित से। राजा यशोवर्मा (८८९-९०९) की मातामही 'वेदवेदाङ्गपण्डित' अगस्त्य ब्राह्मण के वंश की थी। ये उदाहरण यह

प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि कम्बुज देश में राजकुलों के क्षत्रियों और ब्राह्मणों में विवाह-सम्बन्ध भलीभाँति प्रचलित था।

कम्बुज देश में विवाह-संस्था का क्या स्वरूप था, इस विषय में कतिपय संकेत अभिलेखों में पाये जाते हैं, जो महत्त्व के हैं। सम्भवत:, छोटी जातियों या दास वर्ग के लोगों में बहुपति-विवाह की प्रथा भी विद्यमान थी। राजा ईशानवर्मा के वट सबव अभिलेख में उस दान-दक्षिणा का उल्लेख है जो म्रताञ् अनङ्ग नामक राजपदाधिकारी द्वारा देवता के प्रयोजन से प्रदान की गयी थी। इसके निम्न वाक्य उद्धरण के योग्य हैं—

त्रिंशद्वादश चैव किङ्करगणान् भार्यास्तदीया नव
द्वाविंश च्च गवां शतद्वयमिदं पञ्चोत्तरं माहिषम्
अर्धाशीतियुतं शतद्वय······

इन पंक्तियों में दान-दक्षिणा में प्रदान किये गये ४२ किंकरों (नौकरों या दासों) और उन की ९ भार्याओं (पत्नियों), २२२ गौवों तथा २४५ भैंसों का उल्लेख है। ध्यान देने योग्य बात है, कि ४२ किंकरों की केवल ९ पत्नियाँ थीं, जिससे बहुपति विवाह की पद्धति का संकेत मिलता है। विधवा विवाह का उल्लेख भी एक अभिलेख में है। राजा सूर्यवर्मा द्वितीय के फ्नोम रुन अभिलेख के अनुसार सूर्यवर्मा के पूर्वज हिरण्यवर्मा के तीन पुत्र थे, जिनमें से सबसे छोटे को 'युवराज' कहते थे। उसका विवाह विजयेन्द्रलक्ष्मी के साथ हुआ था। युवराज की मृत्यु हो जाने पर विजयेन्द्रलक्ष्मी ने हिरण्यवर्मा के द्वितीय पुत्र जयवर्मा (षष्ठ) के साथ विवाह किया, और जब उसकी मृत्यु हो गई तो हिरण्यवर्मा के सबसे बड़े पुत्र धरणीन्द्रदेव के साथ। राजकुल में विधवा विवाह की सत्ता का यह स्पष्ट विवरण महत्त्व का है।

राजा ईशानवर्मा (सातवीं सदी) के समय के चीनी विवरणों से कम्बुज देश में प्रचलित विवाह के रीतिरिवाजों पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार विवाह में कन्या के पास केवल एक परिधान भेंट के रूप में भेजा जाता है। विवाह की तिथि निश्चित हो जाने पर घटक वधू के पास जाता है। वर-वधू के परिवार सप्ताह भर बाहर नहीं निकलते। रात-दिन दीपक जलता रहता है। विवाह संस्कार हो जाने पर पति परिवार की सम्पत्ति में से अपना भाग लेकर पृथक् घर में रहने लगता है।

रहन-सहन, भोजन आदि—तेरहवीं सदी में चू-ता-कुवान नामक चीनी यात्री कम्बुज देश आया था। उसने जो यात्रा वृत्तान्त लिखा है, उससे तेरहवीं सदी के कम्बुज देश के रहन-सहन, आचार-विचार, सामाजिक जीवन आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है, कि पुरुष और स्त्री दोनों सिर पर अपने केशों का जूड़ा बांधते हैं।···वे केवल एक लुंगी पहनते हैं, पर बाहर जाने पर एक चादर भी ले लेते हैं। उनके सबसे अच्छे तथा बारीक कपड़े पश्चिमी समुद्र (भारत) से आते हैं। राजा बड़े-बड़े मोतियों की एक माला और हाथ-पैर में रत्नजटित कट-कंकण पहनता है। वह नंगे पैर चलता है, और उसके हाथ-पैर महावर से रंगे रहते हैं।···जनसाधारण में स्त्रियाँ ही अपने हाथों पैरों को रंगती हैं।···लोग मोटे और बहुत काले होते हैं।···गोरा रंग राजमहल के लोगों या कुलीन परिवारों की स्त्रियों में ही पाया जाता है।···स्त्री और

पुरुष दोनों साधारणतया शरीर के ऊपरी भाग को नंगा रखते हैं। बालों को जूड़े के रूप में बांधते है, और नंगे पैर घूमते हैं। रानियाँ भी इसी तरह रहती हैं।

एक अन्य चीनी ग्रंथ में कम्बुज के विषय में लिखा गया है कि वहाँ के आदमी कद में छोटे तथा काले रंग के होते हैं। लेकिन स्त्रियों में कोई-कोई साफ रंग की भी होती हैं। लोग अपने बालों का जड़ा बाँधते हैं, और कानों में कुण्डल पहनते है। वे दृढ़ और कर्मठ होते हैं। उनके घर और घर के सामान सियाम जैसे होते हैं। वे दायें हाथ को शुद्ध और बायें हाथ को अशुद्ध समझते हैं। वे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करते और वृक्ष की लकड़ी से दाँत साफ करते हैं। पोथी पढ़ने के बाद वे प्रार्थना करते हैं, फिर स्नान करते हैं और उसके बाद भोजन करते हैं। भोजन के बाद वे फिर दाँत धोते और एक बार और प्रार्थना करते हैं। अपने भोजन के लिए वे घी, मलाई, चीनी, चावल और बाजरा—जिसकी वे रोटी बनाते हैं—का प्रयोग करते हैं।

मृतक के सम्बन्ध में भी चीनी ग्रंथों का यह विवरण महत्त्व का है, कि वे सूतक मानते हैं, बिना भोजन किये और बिना बाल कटाये सात दिन तक स्त्री-पुरुष रोते-बिलखते रहते हैं। बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण-पुरोहितों के साथ सम्बन्धियों के एकत्र हो जाने पर वे बाजे के साथ जुलूस निकालते हैं। सुगन्धित लकड़ी की चिता पर शव को भस्म कर दिया जाता है, और चिता की राख को सोने या चाँदी की डिबिया में रखकर नदी में फेंक देते हैं। गरीब लोग इस काम के लिए मिट्टी की डिबिया को प्रयुक्त करते हैं, जो नाना प्रकार से चित्रित एवं अलंकृत की हुई होती है। कभी-कभी जीवों के खाने के लिए शव को पहाड़ पर भी रख दिया जाता है।

कम्बुज के घरों के विषय में चीनी ग्रंथों में लिखा है, कि इस देश में सभी घर पूर्वाभिमुख होते हैं। लोग बैठते भी पूर्व की ओर मुख करके हैं। अतिथि के सत्कार में सुपारी, कपूर तथा सुगन्ध प्रदान करने की प्रथा है। प्रगट में वहाँ कोई शराब नहीं पीता, पर जब परिवार के बड़े न हों तो पति-पत्नि घर के भीतर शराब पीते हैं।

चीनी विवरणों में कम्बुज देश के निवासियों के परिधान के विषय में जो लिखा गया है उसकी पुष्टि अङ्कोरवात में अंकित चित्रों द्वारा भी होती है। अङ्कोरवात की रूपावलियों में पुरुषों तथा स्त्रियों के जो बहुत-से चित्र हैं, उनमें उन्हें धोती पहने हुए दिखाया गया है। धोती को कमर के चारों ओर बाँधा जाता था, और उसमें चुन्नटें भी होती थीं। दुपट्टा या उत्तरीय कन्धों पर ओढ़ा जाता था, और सिर पर ऊँची मौलि (मुकुट) रहती थी। बायोन के मन्दिर की भित्तियों पर जो चित्र अंकित हैं, उनमें कहीं दाढ़ी वाले ब्राह्मण यज्ञोपवीत पहनकर वृक्ष की छाया में बैठे हैं, और कहीं राजा केवल एक धोती पहने और गले में एक हार डाले बैठा है। धोती दुपट्टा आदि के लिए सूती और रेशमी दोनों प्रकार के कपड़ों का प्रयोग होता था। राजा जयवर्मा सप्तम के त प्रोह्म अभिलेख में 'चीनांशुक' का भी उल्लेख आया है (चीनांशुकमयाः पञ्चचत्वारिंशत्पटा अपि) जिससे सूचित होता है कि कम्बुज देश में चीनी रेशम को भी वस्त्रों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। आभूषण पहनने का रिवाज बहुत अधिक था। पुरुष और स्त्रियाँ—दोनों ही अनेकविध आभूषण पहना करते थे। राजा श्री

उदयादित्यवर्मदेव का गुरु जयेन्द्रपण्डित था, जिसने अपने यजमान के लिए अनेक यज्ञों का अनुष्ठान कराया था। दक्षिणा में जो बहुमूल्य पदार्थ राजा की ओर से जयेन्द्रपण्डित को प्रदान किए गये थे, उनमें मुकुट, कुण्डल, केयूर, कटक(कड़े) आदि आभूषण भी थे।

कम्बुज के अभिलेखों से भी वहाँ के लोगों के भोजन के सम्बन्ध में कतिपय संकेत मिलते है। राजा जयवर्मा सप्तम के त प्रोह्म अभिलेख में उन भोज्य पदार्थों का परिगणन किया गया है, जो कि अध्यापकों और विद्यार्थियों के निर्वाहार्थ सत्रों में प्रदान किये जाते थे। ये भोज्य पदार्थ तण्डुल (चावल), तिल, मुद्ग (मूँग) घृत, क्षीर (दूध), दधि (दही), तेल, मधु, कुदुव (कोदो) व्रीहि आदि थे। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के सत्रों (भोजन-भण्डारों) के लिए इन पदार्थों की कितनी-कितनी मात्रा किस-किस अवसर पर प्रदान की जाए, त प्रोह्म के अभिलेख में यह अत्यन्त विशद रूप से लिखा गया है। अन्य भी अनेक अभिलेखों में इन्हीं भोज्य पदार्थों के नाम आये हैं, जिससे कम्बुज के लोगों के भोजन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कम्बुज के निवासियों का मुख्य भोजन चावल था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आश्रमों (मठों) में प्राणियों की हत्या व मांस-भोजन निषिद्ध थे, पर गृहस्थ लोग विशेषतया क्षत्रिय वर्ग के व्यक्ति मांस का भी भोजन के लिए प्रयोग करते थे, यह चीनी विवरणों से ज्ञात होता है।

यद्यपि कम्बुज देश के परिवार प्रधानतया पितृसत्ताक थे, पर अभिलेखों द्वारा कतिपय मातृसत्ताक कुलों की सत्ता के भी संकेत मिलते हैं। कुछ अभिलेखों में माता से भी वंशावलियाँ दी गई हैं। मातृसत्ताक कुलों की सत्ता सम्भवतः दक्षिणी भारत के प्रभाव के कारण थी, क्योंकि उसके साथ भी कम्बुज देश का घनिष्ठ सम्पर्क था।

कम्बुज देश के जीवन में गान, वादन और नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन कलाओं के प्रदर्शन के प्रधान स्थान मन्दिर थे, जिनमें गान, नृत्य आदि के लिए राजाओं तथा अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा इन कलाओं में प्रवीण स्त्री-पुरुषों के भी प्रदान किये जाने की प्रथा थी। राजा इन्द्रवर्मा के प्रह कोः अभिलेख में पहले राजा द्वारा प्रतिष्ठापित शिव तथा देवी की मूर्तियों का उल्लेख है, और फिर उन पदार्थों आदि का जिन्हें कि राजा ने दान-दक्षिणा के रूप में इनके लिए प्रदान किया था। दान-दक्षिणा का विवरण देते हुए नर्तकी आदि का इस रूप में उल्लेख किया गया है—

नर्तक्यश्शोभना बह्व्यो गायन्त्यो वादिकास्तथा।
वीणादिवाद्यवादिन्यो वेणुतालविशारदाः॥
पुरुषा रूपिणश्श्लाघ्या नर्तनाविविशारदाः।
बहवश्चारुवेषाश्च सभूषणपरिच्छदाः॥

गायिकाएँ, नर्तकियाँ, वीणा आदि वाद्यों को बजाने वाली तथा वेणुतालविशारद वादिकाएँ, नृत्य में कुशल सुन्दर तथा शोभनवेष वाले एवं भूषणों से विभूषित पुरुष राजा द्वारा शिव और देवी के मन्दिरों के लिए प्रदान किये गये थे। राजा जयवर्मा पञ्चम के एक अभिलेख में वीणा, वेणु, मृदंग, घण्टा, भेरी, शंख, पटह आदि कितने ही वाद्यों के नाम दिए गए हैं। नाटक लिखने और खेलने का रिवाज भी कम्बुज देश में था। राजा जयवर्मा सप्तम की रानी जयराजदेवी ने एक नाटक लिखा था, जिसका

विषय जातक कथाओं से लिया गया था। इस नाटक को खेलने के लिए बौद्ध भिक्षुणिओं को पात्र के रूप में प्रयुक्त किया गया था। राजा जयवर्मा पञ्चम का गुरु यज्ञवराह था, जो पातञ्जल व्याकरण, वैशेषिक दर्शन, सांख्यशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि में प्रवीण होने के साथ-साथ आख्यायिकाओं तथा नाटकों का लेखक भी था। वह नाटक खिलवाने में भी कुशल था (आख्यायिकाकृतिरभूत् स्वदेशे यदुपक्रमम्, नानाभाषालिपिज्ञश्च प्रयोक्ता नाटकस्य यः)।

कम्बुज देश में अनेक उत्सव भी सामूहिक रूप से मनाये जाते थे, जिनमें नर्तक तथा नर्तकियाँ अपनी कला का प्रदर्शन किया करती थीं। ऐसा एक उत्सव वसन्तोत्सव था, जिसका उल्लेख जयवर्मा सप्तम के त प्रोह्म अभिलेख में है। वहाँ लिखा है—

चैत्राष्टम्यां समारम्य यावत्तत्पूर्णिमा तिथिः।
सुवसन्तोत्सवविधिर्वंशारामजिनागमे ॥
नर्तक्यो नर्तकाश्चात्र नृत्येयुः परितो दिशः।
दानशीलादिकुशलं कुर्युस्सर्वे च मानवाः ॥

इससे सूचित होता है कि वसन्तोत्सव चैत्र की अष्टमी से शुरू करके चैत्र पूर्णिमा तक सात या आठ दिन मनाया जाता था, और उसमें नर्तकियाँ और नर्तक सब दिशाओं में नृत्य किया करते थे। जयवर्मा सप्तम के ही एक अन्य अभिलेख (प्रःखन शिलालेख) में एक उत्सव का वर्णन है, जो प्रतिवर्ष फाल्गुन मास में प्रःखन के मन्दिर में मनाया जाता था। शिवरात्रि के अवसर पर भी उत्सव मनाने का उल्लेख एक अभिलेख में विद्यमान है। नृत्य, गान, नाटक और सामूहिक उत्सवों के अतिरिक्त कम्बुज देश में मनोरंजन का एक साधन मुष्टियुद्ध भी था, जिसके सम्बन्ध में राजा राजेन्द्रवर्मा के कोक समरोज अभिलेख के उस भाग में उल्लेख है जो कि ख्मेर भाषा में है। मुष्टियुद्ध में जो व्यक्ति विजयी हुआ था, उसे एक भूखण्ड पुरस्कार के रूप में प्रदान किया गया था। मुष्टियुद्ध वर्तमान समय के बॉक्सिंग के समान ही होता होगा।

(३) कम्बुज देश की धार्मिक दशा

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य भारतीय उपनिवेशों के समान कम्बुज देश में भी पौराणिक हिन्दू-धर्म का प्रचार था। कौण्डिन्य नामक जिस भारतीय ने इस उपनिवेश का सूत्रपात किया था, वह जाति से ब्राह्मण था और पौराणिक धर्म का अनुयायी था। उसी द्वारा कम्बुज देश में भारत के पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रवेश हुआ, जिसे वहाँ के मूल-निवासियों ने अपना लिया। कौण्डिन्य के साथ जो अन्य भारतीय उपनिवेशक इस देश में गये थे, वे भी जाति से ब्राह्मण तथा धर्म से पौराणिक थे। चौथी सदी के अन्त या पाँचवीं सदी के प्रारम्भ काल में भारतीय उपनिवेशकों का जो नया दल कम्बुज देश में गया था, उसके सदस्य भी ब्राह्मण जाति के थे और शिव, विष्णु आदि पौराणिक देवी-देवताओं के उपासक थे। अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इस देश में भारत के प्राचीन वैदिक या पौराणिक धर्म का प्रचार हो। चिरकाल तक यही धर्म कम्बुज देश में फलता-फूलता रहा। बौद्ध धर्म का प्रवेश वहाँ बाद के समय में हुआ, पर

पौराणिक धर्म के विरोधी के रूप में नहीं। कम्बुज देश के जिन अनेक राजाओं ने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया, वे शिव और विष्णु आदि के प्रति भी अपनी श्रद्धा प्रगट करते रहे और वेद शास्त्रों के अध्ययन तथा श्रवण से भी वे विमुख नहीं हुए।

शैव धर्म—पौराणिक हिन्दू धर्म में शिव और विष्णु की पूजा का विशेष महत्त्व है। कम्बुज में इन दोनों की पूजा प्रचलित थी, और बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कर उनमें इनकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गयी थीं। शिव की पूजा के लिये जहाँ लिंग का निर्माण किया जाता था, वहाँ शिव और पार्वती की मूर्तियाँ मानवाकार में भी बनायी जाती थीं। कम्बुज के अभिलेखों में शिव की पूजा का स्थान-स्थान पर उल्लेख है वहाँ के भग्नावशेषों में शिव आदि पौराणिक देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ पायी भी गयी हैं। कम्बोडिया के कन्दल-स्तुंग प्रान्त में वत विहार नाम का एक प्राचीन मन्दिर है, जहाँ शिव और पार्वती की सुन्दर मूर्ति विद्यमान है। इसमें पार्वती को शिव की बाईं जांघ पर बैठा हुआ दिखाया गया है। यहाँ से एक अभिलेख भी उपलब्ध हुआ है, जो सातवीं सदी के प्रारम्भ का है। सातवीं सदी के प्रारम्भ का ही एक अन्य अभिलेख वयांग के मन्दिर से मिला है, जिसमें विद्याविन्दु नामक ब्राह्मण द्वारा 'जगत्पति' 'गिरीश' विभु (शिव) के पद की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। जैसे भारत में विष्णु-पद की पूजा का चलन था, वैसे ही कम्बुज देश में शिवपद की भी पूजा की जाती थी और उसका प्रारम्भ सातवीं सदी के शुरू में ही हो चुका था, इससे यह प्रमाणित होता है। राजा भववर्मा के एक अभिलेख में त्र्यम्बक लिंग (शिव लिंग) के निवेश (प्रतिष्ठा) का उल्लेख किया गया है। वहाँ लिखा है, कि धनुष बाण के बल पर धन सम्पत्ति की विजय करने वाले और दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) को अपने हाथ में रखने वाले राजा भववर्मा ने इस त्रैयम्बक लिंग को प्रतिष्ठापित किया (**शरासनोद्योग जितार्थ-दानै करस्थलोक द्वितयेन तेन। त्रैयम्बकं लिङ्गमिदं नृपेण निवेशितं श्रीभववर्म्मनाम्ना**) राजा भववर्मा का काल भी सातवीं सदी में था। यह स्पष्ट है कि सातवीं सदी में शिव की पूजा तीन ढंग से की जाती थी, शिवलिंग से, मानवाकार शिवमूर्ति से और शिवपद से। विविध नामों से शिव की पूजा की प्रथा भी बहुत प्राचीन काल में ही कम्बुज देश में प्रारम्भ हो गयी थी। सातवीं सदी के ही हनचेई अभिलेख में उग्रपुर के शासक द्वारा भद्रेश्वर शिव के लिंग की प्रतिष्ठा का उल्लेख है (इदमुग्रपुराधीशस्सुभक्त्या लिंगमैश्वरं प्रतिष्ठापितवानत्र श्रीभद्रेश्वरसंज्ञकम्), और इसी काल में एक अन्य अभिलेख में त्रिभुवनेश्वर शिव की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है। यह मूर्ति राजा भववर्मा की बहन और वीरवर्मा की कन्या द्वारा प्रतिष्ठापित करायी गयी थी। बिअल कन्तेल के इस अभिलेख की कुछ पंक्तियाँ उद्धरण के योग्य हैं······वह श्रीभववर्मा की भगिनी तथा वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति तथा धर्म की भक्ति में दूसरी अरुन्धती थी। हिरण्यवर्मा की उस माता को जिसने पत्नी के रूप में ग्रहण किया, ब्राह्मणों में सोम समान, स्वामी सोमवेदविद् अग्रणी, उस श्री सोमशर्मा ने पूजा विधि और अतुल-दान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिये उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" कम्बुज देश

के कितने ही अन्य अभिलेखों में शिव की मूर्तियों (लिंग, मानव व पद के रूप में) के प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। उन सब का विवरण देना उपयोगी नहीं है। शिव के उपासक अन्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठापित किया करते थे, जैसे कि श्रीसोमशर्मा ने त्रिभुवनेश्वर शिव के साथ सूर्य की मूर्ति की भी प्रतिष्ठा की थी। इसी प्रकार राजा इन्द्रवर्मा ने ८०१ शकाब्द (८७६ ईस्वी) में ईश शिव तथा तीन देवियों की 'स्वशिल्परचित' मूर्तियों को प्रतिष्ठापित किया था। शिव की मूर्तियों की केवल मन्दिरों में प्रतिष्ठा ही नहीं की जाती थी, अपितु शिविका (पालकी) में रखकर उनकी यात्रा भी निकाली जाती थी। राजा यशोवर्मा के वयांग अभिलेख में अमरभाव नाम के एक यतीश्वर का उल्लेख है, जिसे राजा ने उत्तरेन्द्राश्रम का अध्यक्ष नियुक्त किया था। एक तालाब की खुदाई कराते हुए उसे सोने का एक अच्छा बड़ा 'मण्डल' मिल गया। जिसे ढलवाकर अमरभाव ने शिव की मूर्ति का निर्माण कराया। इस सुवर्णप्रतिमा को शिविका में रखकर ले जाया जाता था (**शाम्भवी प्रतिमा येयं सौवर्णी शिविका-स्थिता, नीयतेऽद्यापि यस्तस्याः निमित्तमभवत् किल**)।

शिव के साथ पार्वती और दुर्गा आदि की मूर्तियाँ भी कम्बुज देश में बनायी जातीं थीं। राजेन्द्रवर्मा के मेबोन अभिलेख में शिव, गौरी, नारायण, ब्रह्मा और गंगा की स्तुति के पश्चात् जल राजा के दानपुण्य का उल्लेख किया गया है, तो उस द्वारा सिद्धेश्वरपुर में प्रतिष्ठापित एक लिंग (श्रीराजेन्द्रेश्वर शिवलिंग), पार्वती की दो मूर्तियों तथा देवी देवताओं की कतिपय अन्य मूर्तियों का वर्णन है। शिव की मानव रूप में जो मूर्तियाँ कम्बुज देश में बनायी जाती थीं, उनमें उनके शीश पर विराजमान गंगा और चन्द्रमा को भी प्रदर्शित किया जाता था। नौवीं सदी के अन्त के राजा यशोवर्मा के फ्नोम सन्दक अभिलेख में धूर्जटि शिव का इसी ढंग से वर्णन किया गया है। शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा केवल मन्दिरों में ही नहीं की जाती थी, अपितु इस प्रयोजन से ऊँचे मूलाधारों का भी निर्माण किया जाता था। राजा जयवर्मा चतुर्थ के प्रसत अन्दोन अभिलेख में ८१ हाथ ऊँचे मूलाधार पर शिवलिंग की स्थापना का वर्णन है, और इस कार्य को पूर्व-वर्ती राजाओं के लिये दुस्साध्य कहा गया है। (शम्भोर्यो लीलया लिङ्ग दुःसाध्यं पूर्व-भूभुजाम्, नवधा नवहस्तान्तं प्रतिमाभिरतिष्ठिपत्)। प्रसत दम्रेई अभिलेख में भी ८१ हाथ की ऊँचाई पर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है (**उग्रस्य लिङ्गन्नवधा गरिष्ठम्, अतिष्ठिपद्यो नवहस्तनिष्ठम्**)।

कम्बुज के अभिलेखों में शिव के लिये शम्भु, रुद्र, त्र्यम्बक, शंकर, महेश्वर, ईशान, गिरीश आदि कितने ही ऐसे नामों का प्रयोग किया गया है, जो भारत में भी प्रयुक्त होते थे। पर इन अभिलेखों में शिव के कतिपय ऐसे नाम या विशेषण भी आये हैं, जिन का सम्बन्ध या तो किसी स्थान विशेष के साथ है और या उस व्यक्ति के साथ जिस द्वारा कि शिवमूर्ति या मन्दिर की स्थापना की गयी थी। ऐसे नामों में आम्रातकेश्वर, गम्भीरेश्वर, पिंगलेश्वर, सिद्धेश्वर, उत्पन्नकेश्वर, राजेन्द्रभद्रेश्वर, भद्रेश्वर और त्रिभुवनमहेश्वर आदि उल्लेखनीय हैं। भारत में भी इसी ढंग से स्थान एवं व्यक्ति के नाम से शिव के विशेषण या नाम रखने की प्रथा रही है।

प्राचीन भारतीय परम्परा या मान्यता का अनुसरण करते हुए कम्बुज देश में भी शिव की अष्ट मूर्तियों या अष्ट तनुओं का प्रतिपादन किया गया है। नौवीं सदी के इन्द्रवर्मा के बकोंग अभिलेख में शिव की अष्ट मूर्तियों का उल्लेख है (राजवृत्तीरिलेशस्य सोष्टमूर्तिरतिष्ठिपत्), और इसी काल के एक अन्य अभिलेख में शिव के आठ तनुओं का (नमश् शिवाय यो मूर्तिरप्यष्टतनुभिस् स्थित:)।

वैष्णव धर्म—शिव के समान विष्णु की पूजा भी कम्बुज देश में भली-भाँति प्रचलित थी, और उनकी भी मूर्तियों के प्रतिष्ठापित करने का अनेक अभिलेखों में वर्णन है। विष्णु के लिये वहाँ अच्युत हरि माधव, वासुदेव, कृष्ण, नारायण, त्रिविक्रम, पद्मनाभ आदि कितने ही नामों का प्रयोग किया गया है, जो विष्णु के पर्यायवाची हैं। कम्बुज के सबसे पुराने अभिलेखों में विष्णु की ही स्तुति की गयी है, और उन्हीं की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। कम्बुज क्षेत्र से प्राप्त सबसे पुराना अभिलेख फूनान के राजा जयवर्मा का है, जिसका शासनकाल ४०५ से ५१४ ईस्वी तक था। क्षीरसमुद्र में शयन करने वाले एवं भुजंग के फण को पर्यङ्क (पलंग) के रूप में प्रयुक्त करने वाले भगवान विष्णु की स्तुति इस अभिलेख में इन शब्दों में की गयी है—

युञ्जन् योगमतर्कितङ्कमपि यः क्षीरोदशय्यागृहे
शेते शेषभुजङ्गभोग रचनापर्यङ्कपृष्ठाश्रितः ।
कुक्षिप्रान्त समाश्रित त्रिभुवनो नाभ्युत्थिताम्भोरुहो
(राज्ञो) श्रीजयवर्म्मणोग्रमहिषीं स स्वामिनी रक्षतु ।।

फूनान के राजा जयवर्मा की पटरानी (अग्रमहिषी) कुलप्रभावती थी। ब्राह्मणों द्वारा आबाद कुरुम्बनगर में उसने विष्णु की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित करायी थी, और उसके साथ एक तटाक (तालाब) तथा आराम (निवासगृह) का भी निर्माण कराया था। जयवर्मा और कुलप्रभावती के पुत्र गुणवर्मा के एक अभिलेख में भी चक्रतीर्थस्वामी विष्णु के 'वैष्णव पद' को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं, कि पाँचवीं और छठी सदियों में ही कम्बोडिया के क्षेत्र में विष्णु और विष्णुपद की पूजा का प्रारम्भ हो गया था। नौवीं सदी के प्रसत कोक अभिलेख में सबसे पूर्व चक्री, चक्रपाणि, पुण्डरीकाक्ष' भगवान् विष्णु की स्तुति की गयी है, और फिर पृथिवीन्द्रपण्डित श्रीनिवास कवि द्वारा हरि (विष्णु) के मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। इस श्रीनिवास कवि की भानजी की पुत्री का विवाह जयेन्द्रवर्मा के साथ हुआ था, जिसके पुत्र का नाम अमृतगर्भ था। इस अमृतगर्भ ने ईंटों द्वारा एक मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमें हरि की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी थी। अङ्कोर थोम क्षेत्र के एक मन्दिर पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में राजा यशोवर्मा के मामा विक्रमान्त द्वारा 'प्रभविष्णु' विष्णु की एक प्रतिमा के स्थापित किये जाने का वर्णन है। राजा जयवर्मा पञ्चम के गुरु यज्ञवराह का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसके एक सम्बन्धी का नाम 'धर्मबान्धव' था, और उसे 'पृथिवीन्द्र' उपाधि प्राप्त थी। उस द्वारा भी 'प्रभुविष्णु' विष्णु की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित करायी गई थी। वन्ते स्रे ई के एक अभिलेख में इसका स्पष्ट रूप

से उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव और विष्णु में अभेद मानकर उनकी संयुक्त मूर्तियों के निर्माण तथा पूजा की प्रथा भी कम्बुज देश में प्रारम्भ हो गई थी। राजा ईशानवर्मा के अङ्पू अभिलेख में इस राजा द्वारा शंकर और अच्युत (शिव और विष्णु) की अर्धशरीर प्रतिमा के बनाये जाने का वर्णन है (शंकराच्युतयोरर्धशरीरप्रतिमामिमाम्) और इसका प्रयोजन यह बताया गया है कि एक ही स्थान पर दोनों की पूजा की जा सके। ईशानवर्मा के ही एक अन्य अभिलेख में भी हरि और शंकर की संयुक्त मूर्ति का वर्णन है, जिसे ताम्रपुर के शासक ने प्रतिष्ठापित कराया था। इन दोनों अभिलेखों का समय सातवीं सदी है, जिससे सूचित होता है कि इस काल तक शिव और विष्णु में कम्बुज के लोग अभेद मानने लग गये थे। कितने ही अभिलेखों में शिवविष्णु, हरिहर आदि के रूप में भी इन प्रमुख पौराणिक देवताओं की संयुक्त मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। विष्णु ने तीन पादों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अतिक्रान्त कर दिया था, पुराणों की यह गाथा भी कम्बुज के अभिलेखों में परिलक्षित है। राजा जयवर्मा चतुर्थ के प्रसत नेअंग अभिलेख में उस लोकनाथ विष्णु की स्तुति की गई है, जिसने कि पृथिवी, व्योम और ब्रह्माण्डमण्डल को तीन पदों से अतिक्रान्त कर दिया था (त्रिपदक्रान्तधरणिव्योम-ब्रह्माण्डमण्डलः)। यह अभिलेख जहाँ उपलब्ध हुआ है, उसके समीप ही एक मन्दिर में विष्णु को तीन पगों द्वारा सम्पूर्ण विश्व को अतिक्रान्त करते हुए चित्रित किया गया है। वहीं पर एक अन्य चित्र है, जिसमें कृष्ण को गोवर्धन पर्वत उठाये हुए प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः, कम्बुज देश में वैष्णव धर्म का भी प्रायः उसी प्रकार से प्रचार था, जैसे कि शैव धर्म का।

अन्य पौराणिक देवी देवता—कम्बुज के अभिलेखों में अन्य भी बहुत-से पौराणिक देवी-देवताओं के स्तुतिपरक श्लोक हैं, या उनकी मूर्तियों के मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है। पौराणिक हिन्दू धर्म का शायद ही कोई देवी-देवता हो, जिसका उल्लेख कम्बुज के अभिलेखों में विद्यमान न हो। हिन्दू धर्म की देव-त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में ब्रह्मा की पूजा भी कम्बुज देश में प्रचलित थी। कितने ही अभिलेखों में शिव और विष्णु के साथ-साथ ब्रह्मा की भी स्तुति की गई है, और ब्रह्मा के अतिरिक्त उनके लिए चातुरास्य, अम्भोजजन्मा, पद्मोद्भव, चतुर्मुख, अम्भोजभू, नाभिनलिनोत्पन्न आदि नामों व विशेषणों का प्रयोग किया गया है। शिव और विष्णु के समान ब्रह्मा की मूर्तियाँ भी कम्बुज में प्रतिष्ठापित की जाती थीं। शिवाचार्य के वन्ते कदेई अभिलेख में इस आचार्य द्वारा ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियों के स्थापित किये जाने का उल्लेख है (**तेनेमौ स्थापितौ देवौ चतुरास्यचतुर्भुजौ**)। सूर्य, गणेश, कार्तिकेय, गणपति, यम आदि देवताओं और दुर्गा, गंगा, वागीश्वरी, गौरी, सरस्वती, चतुर्भुजा आदि देवताओं का भी कम्बुज के अभिलेखों में उल्लेख मिलता है। इन विविध देवी-देवताओं की भी वहाँ मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, और मन्दिरों में उन्हें प्रतिष्ठापित किया जाता था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड—भारत के प्राचीन धर्म में यज्ञों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था, और देवी-देवताओं की पूजा के लिए याज्ञिक-कर्मकाण्ड का ही अनुष्ठान किया

जाता था। उस समय देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। पर बाद में उनकी मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं, और मूर्तिपूजा का पौराणिक भारतीय धर्म में प्रमुख स्थान हो गया। जो भारतीय उपनिवेशक कम्बुज देश में जाकर बसे, वे मूर्तिपूजक थे। इसीलिए उन्होंने शिव, विष्णु आदि की मूर्तियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया। पर हिन्दू धर्म से यज्ञों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। विशेष अवसरों पर तथा विशेष प्रयोजनों के लिए भारत में भी यज्ञ किये जाते थे। कम्बुज में भी यही दशा थी। इसी कारण वहाँ के अभिलेखों में अनेक स्थानों पर याज्ञिक अनुष्ठानों का भी उल्लेख मिलता है। दसवीं सदी के फ्नोम प्र: नेत प्र: मन्दिर अभिलेख में मध्यदेशा नाम की एक स्त्री का वर्णन है, जो राजकीय मन्दिर की मालिनी (मालिन) थी। उसने ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किया था। इस यज्ञ के सम्बन्ध में अभिलेख का यह श्लोक उद्धरण के योग्य है—

आसहस्रात् यज्ञानां ब्रह्मयज्ञं महत्तरम्।
सर्वशास्त्रिगुरोरस्माद् ब्रह्मयज्ञं कृतं तया॥

राजा उदयादित्यवर्मा के स्दोक कक थोम अभिलेख के अनुसार जयेन्द्रपण्डित इस राजा का राजगुरु था। जयेन्द्रपण्डित ने भुवनाध्व तथा ब्रह्मयज्ञ सदृश अनेक यज्ञ राजा से करवाये थे, और इनके अनुष्ठान के पश्चात् जो दक्षिणा राजा द्वारा दी गई थी, उसमें बहुत-से मुकुट, कुण्डल, केयूर, कटक, रूप्यपीठ, सुवर्णकलश, चमर, मणिमाणिक्य, सुवर्ण और चाँदी के अतिरिक्त एक सहस्र गौएँ, २०० हाथी, १०० घोड़े, १०० बकरियाँ तथा भैंसें और एक हजार दास-दासी भी थे। राजा सूर्यवर्मा द्वितीय (ग्यारहवीं सदी) के फ्नोम प्रः विहार अभिलेख में इस राजा द्वारा लक्षहोम और कोटिहोम नामक यज्ञों के अनुष्ठान तथा उनके अनन्तर प्रदान की गई दक्षिणा का उल्लेख है। इन यज्ञों में होता का कार्य दिवाकरपण्डित ने किया था। राजा सूर्यवर्मा प्रथम के दसवीं सदी के वत थिपेदी अभिलेख में उन पण्डितों की वंशपरम्परा दी गई है, जो राजाओं के 'होता' पद पर अविष्ठित रहे थे। ये होता निम्नलिखित थे—जयवर्मा द्वितीय का प्रणवात्मा, यशोवर्मा का शिखाशिव, राजेन्द्रवर्मा का शंकर, जयवर्मा पंचम के नारायण और शिवाचार्य।

देवराज सम्प्रदाय—भारत के पौराणिक हिन्दू धर्म में कम्बुज देश में एक नये सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसे देवराज या जगत्-ता-राजा कहते थे। कई सदियों तक यह कम्बुज देश का राजधर्म रहा। इसका प्रारम्भ नौवीं सदी में हुआ था, जबकि राजा जयवर्मा द्वितीय कम्बुज के राजसिंहासन पर विराजमान थे, इस सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव पर पिछले अध्याय में भी प्रकाश डाला जा चुका है। कम्बुज के अभिलेखों में स्दोक काक थोम अभिलेख अत्यन्त महत्व का है। उसमें राजपुरोहित के एक ऐसे परिवार का विशद रूप से वृत्तान्त दिया गया है, जिसका देवराज सम्प्रदाय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह परिवार पहले इन्द्रपुर विषय (जिले) के भद्रयोगी नामक गाँव में निवास करता था। जब परमभट्टारक परमेश्वर (जयवर्मा द्वितीय) शासन करने के लिए जावा से इन्द्रपुर आये, तो उन्होंने इस पुरोहित-परिवार के श्रीमान गुरु शिवकैवल्य को अपना

राजपुरोहित नियुक्त कर दिया। फिर परमभट्टारक ने इन्द्रपुर छोड़ दिया, और वे पूर्वदिश विषय चले आये। उनकी आज्ञा से शिककैवल्य भी अपने सम्बन्धियों के साथ वहीं आ गये। परमभट्टारक ने वहां उन्हें भूमि प्रदान की, और कुटी नामक एक गांव बसा कर वह भी उन्हें दे दिया। फिर परमभट्टारक हरिहरालय नगरी में चले गये, और शिवकैवल्य भी अपने परिवार के साथ वहीं निवास करने लगे। फिर परमभट्टारक ने अमरेन्द्रपुर नगरी बसायी और शिवकैवल्य भी उनकी सेवा में उसी नगरी में चले आये। शिवकैवल्य ने वहां राजा से एक भूखण्ड मांगा और वहां भवालय नामक एक गांव बसाया। अपने परिवार व सब सम्बन्धियों को उन्होंने कुटी से भवालय बुला लिया। उनके आदेश से गंगाधर नामक ब्राह्मण ने भवालय में एक शिवलिंग की भी स्थापना की। परमभट्टारक अमरेन्द्रपुर से महेन्द्रपर्वत गये, और शिवकैवल्य भी उनके साथ वहीं चले गये।

जब परमभट्टारक जयवर्मा महेन्द्रपर्वत में निवास कर रहे थे, हिरण्यदामा नामक ब्राह्मण जनपद (सम्भवतः, भारत) से वहां आया। वह तन्त्र-मन्त्र विद्या में परम निष्णात था। राजा ने उसे ऐसा विधान (पुरश्चरण) तैयार करने के लिए निमन्त्रित किया था, जिससे कम्बुज देश जावा के अधीन न रहे और वहां का राजा अपने राज्य में चक्रवर्ती बनकर रहे। हिरण्यदामा ने व्रः विनाशिख तन्त्र के अनुसार विधि बनाई, और जगत-ता राज (देवराज) को प्रतिष्ठापित किया। उसने व्रः विनाशिख, नयोत्तर, सम्मोह और शिरच्छेद की शिक्षा दी, और उन्हें आदि से अन्त तक बोलकर लिखवा दिया। हिरण्यदामा ने शिवकैवल्य को यह भी सिखा दिया, कि देवराज की पूजा का अनुष्ठान कैसे किया जाए। राजा जयवर्मा (द्वितीय) तथा ब्राह्मण हिरण्यदामा ने तब यह शपथ ली, कि जगत ता-राज विधि का अनुष्ठान करने के लिए केवल शिवकैवल्य के परिवार को ही काम में लाया जायगा, किसी अन्य को नहीं। शिवकैवल्य ने यह विधि अपने सब सम्बन्धियों को सिखायी। इसके बाद राजा हरिहरालय लौट गये, और जगत-ता-राज को भी वहीं ले जाया गया। शिवकैवल्य और उनके सम्बन्धी वहां भी पूर्ववत् पौरोहित्य करते रहे। शिवकैवल्य और राजा (जयवर्मा द्वितीय) की मृत्यु हरिहरालय में ही हुई। जयवर्मा द्वितीय के उत्तराधिकारी परमभट्टारक विष्णुलोक (जयवर्मा तृतीय) के शासनकाल में भी जगत-ता-राज हरिहरालय में प्रतिष्ठापित रहे। शिवकैवल्य के बाद कोई ढाई सौ साल तक उनके वंशज एवं सम्बन्धी कम्बुज राजाओं के राजपुरोपित रहे, और हिरण्यदामा द्वारा प्रतिपादित विधि का अनुष्ठान कर देवराज या जगत-ता-राज की पूजा करने में तत्पर रहे। ये देवराज भगवान कम्बुज देश के संरक्षक माने जाते थे, और वहाँ के राजा इन्हें रक्षक देवता मानकर इनकी पूजा कराया करते थे। जयवर्मा द्वितीय के उत्तराधिकारियों द्वारा जो अनेक नई राजधानियाँ बसायी गई, उन सब में इस देवता को प्रतिष्ठापित किया गया और उसकी पूजा अबाध रूप से जारी रही।

देवराज (जगत-ता-राज) का क्या स्वरूप था और उसकी पूजा विधि क्या थी, यह स्पष्ट नहीं है। यह माना जाता है, कि देवराज की प्रतिमा लिंग या शिवलिंग के रूप में बनायी जाती थी, और उसे ऐसे मन्दिर में प्रतिष्ठापित किया जाता था जो किसी ऊँचे

स्थान (पहाड़ी के शिखर या कृत्रिम रूप से निर्मित अत्यन्त ऊँचे मूलाधार) पर विद्यमान हो। शिव को कैलाश का निवासी माना गया है, जो हिमालय के इस उच्च शिखर पर रहते हुए जगत् का पालन करते हैं। जगत-ता-राज भी (लिंग के रूप में) एक ऊँचे स्थान पर (जो कैलाश का प्रतीक होता है) प्रतिष्ठापित होकर कम्बुज राज्य की रक्षा किया करते थे। देवराज (जो शिव का ही एक रूप था) की पूजा के लिए जिस विधि का प्रतिपादन ब्राह्मण हिरण्यदामा द्वारा किया गया था, वह तन्त्रशास्त्र पर आधारित थी। जिन चार शास्त्रों की शिक्षा हिरण्यदामा द्वारा शिवकैवल्य को दी गई थी, वे शैव आगमों के अन्तर्गत थे। इनमें नयोत्तर सबसे पुराना था, और प्राचीन शैव आगम का अंगभूत था। अन्य तीनों शास्त्रों की रचना बाद के काल में हुई थी, यद्यपि उन्हें भी शैव आगम में सम्मिलित कर लिया गया था। सातवीं और आठवीं सदियों में भी इन चारों शैवशास्त्रों का अध्ययन हुआ करता था, और इन्हें शैव आगम के प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते थे। ब्राह्मण हिरण्यदामा ने इन्हीं की शिक्षा शिवकैवल्य को प्रदान की थी, और इस प्रकार उसने कम्बुज देश में शैव धर्म के एक ऐसे सम्प्रदाय का सूत्रपात किया था, जो भारत में पहले ही प्रचलित था। सातवीं सदी तक भारत में-वज्रयान, वाममार्ग आदि ऐसे सम्प्रदायों का विकास हो चुका था, जिनमें कि तान्त्रिक क्रियाओं का प्रमुख स्थान था। शैवधर्म भी उस युग की इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा था, और उसका भी एक ऐसा सम्प्रदाय विकसित हो गया था जिसमें तन्त्र-मन्त्र को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। जयवर्मा द्वितीय के समय में हिरण्यदामा द्वारा देवराज शिव की जिस पूजाविधि का कम्बुज देश में प्रारम्भ किया गया था, वह शैवधर्म के एक तान्त्रिक सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित थी। इस विधि में याज्ञिक अनुष्ठान का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान था, जैसा कि राजा राजेन्द्रवर्मा के बक्सेई चमक्रन अभिलेख से सूचित होता है। वहाँ लिखा है कि राजा जयवर्मा (द्वितीय) ने महेन्द्रशिखर पर पैर जमाकर कोटि यज्ञ किये थे। जयवर्मा द्वितीय के समय में ही देवराज शिव की पूजा का कम्बुज देश में प्रारम्भ हुआ था, और इस राजा ने देवराज के लिंग को अपनी राजधानियों में प्रतिष्ठापित करने में विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी। उसने जिन कोटि यज्ञों का अनुष्ठान किया था, वे देवराज के लिंग को प्रतिष्ठापित करने तथा उसकी पूजा के सम्बन्ध में ही किये गये होंगे, यह कल्पना असंगत नहीं होगी।

राजा जयवर्मा द्वितीय ने जो यह शपथ ली थी कि राजपुरोहित का पद केवल शिवकैवल्य के परिवार में ही रहे, इसका भी कारण था। भारत में शिवाचार्य पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति प्रायः उत्तर भारत के ऐसे ब्राह्मण परिवारों में से ही लिये जाते थे, जोकि शैव आगम में निष्णात हों। कम्बुज देश में ऐसे परिवार अधिक नहीं थे, जो कि शैव शास्त्रों के पण्डित हों। भारत से गये ब्राह्मण हिरण्यदामा ने शिवकैवल्य को शैव आगमों में भली-भाँति प्रशिक्षित कर दिया था, जिसके कारण राजा जयवर्मा ने यह व्यवस्था की थी, कि कम्बुज के राजपुरोहित का पद शिवकैवल्य के परिवार में ही स्थिर रहे। भारत में चोल राजा राजेन्द्र चोल ने तंजौर के राजराजेश्वर मन्दिर के पुरोहित पद पर शिवाचार्य शिवपण्डित को नियुक्त किया था। यह पण्डित आर्यदेश (आर्यावर्त

या उत्तर भारत) के निवासी थे। राजेन्द्र चोल ने आदेश दिया था, कि राजराजेश्वर मन्दिर के पुरोहित आर्यदेश, मध्य देश और गौड़देश से ही लिये जाया करें, अन्यत्र से नहीं। इसी प्रकार भटगाँव (नेपाल) के मल्लवंशी राजाओं ने भी यह व्यवस्था की थी, कि उनके राज्य में केवल गौड़देश के पण्डित ही पुरोहित हुआ करें। इस दशा में यदि कम्बुज देश में राजा जयवर्मा ने भी पुरोहित के पद को शिवकैकल्य के परिवार (जो कि शैव आगम में निष्णात हो गया था) में स्थिर रखने की व्यवस्था की हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

देवराज सम्प्रदाय में जहाँ कैलाश पर्वत के प्रतीक के रूप में किसी उच्च स्थान पर शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया जाता था, वहाँ साथ ही राजा तथा उसके परिवार के अन्य व्यक्तियों की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। कम्बुज देश में राजा को दैवी माना जाता था, और देवता के रूप में उसकी पूजा भी की जाया करती थी। मृत्यु के अनन्तर राजा को एक ऐसा नाम दे दिया जाता था, जिससे कि यह सूचित हो कि उसने देवत्व की प्राप्ति कर ली है। मृत्यु के बाद राजा हर्षवर्मा प्रथम को परमरुद्रलोक, जयवर्मा चतुर्थ को परमशिवपाद, हर्षवर्मा द्वितीय को ब्रह्मलोक, सूर्यवर्मा प्रथम को निर्वाणपद, जयवर्मा सप्तम को महापरमसौगत, जयवर्मा द्वितीय को परमेश्वर के नाम प्रदान किये गये थे। इसी प्रकार के नाम कम्बुज के अन्य भी बहुत-से राजाओं को दिये गये थे, जिनका उल्लेख वहाँ के अभिलेखों में विद्यमान है। इन राजाओं की देवरूपी मूर्तियाँ बनाकर उन्हें भी देवराज (शिव) के लिंग के समीप मन्दिर में स्थापित कर दिया जाता था, और उनकी भी पूजा की जाती थी। कम्बुज के कतिपय राजाओं ने शैवधर्म के स्थान पर बौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था, पर देवराज की पूजा की परम्परा को उन्होंने भी कायम रखा था। मृत्यु के पश्चात् इनकी भी प्रतिमाएँ स्थापित की गयी थीं, यद्यपि उनके नाम 'महापरम सौगत' सदृश थे, जो उनके बौद्ध होने को सूचित करते हैं। राजाओं के साथ उनके पूर्वजों तथा कतिपय विशिष्ट पारिवारिक जनों की देवरूप में मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा भी देवराज सम्प्रदाय में विद्यमान थी। नौवीं सदी के राजा यशोवर्मा के एक अभिलेख में देवी-देवताओं के ये नाम आये हैं, इन्द्रवर्मेश्वर, इन्द्रदेवी, महायतीश्वर और राजेन्द्रदेवी। इनमें से पहले दो राजा यशोवर्मा के माता-पिता के नाम पर थे, और बाद के दो उसकी माता के पिता-माता के नाम पर। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दिवगंत राजा एवं उसके पूर्वजों आदि के नाम से जो देवमूर्तियाँ बनायी जाती थीं, उनकी मुखाकृतियाँ भी उन्हीं के समान होती थीं।

देवराज सम्प्रदाय की पूजाविधि का मूल स्रोत भारत ही था और वहाँ के शैव धर्म के एक तान्त्रिक मत से ही उसका ग्रहण किया गया था यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है। अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि दिवगंत राजा और उसके पूर्वजों को दैवी मानकर देवता के रूप में उनकी मूर्तियाँ स्थापित करने की पद्धति भी भारत से ही ली गयी थी। भारत के मनु सदृश स्मृतिकारों ने राजा को 'देवसंभूत' और देवपुत्र' माना है। तैंतीस देवराजों ने अपना अंश प्रदान कर सब देवताओं के पुत्र रूप

में राजा का निर्माण किया (**त्रयस्त्रिंशदेव राजेन्द्र भागो दत्तो नृपस्य हि पुत्रत्वे सर्वदेवैश्च निर्मितो मनुजेश्वरः**), यह मन्तव्य स्मृतिकारों को स्वीकार्य था। भारत का यह मन्तव्य कम्बुज देश में भी गया और वहां राजा को 'देवसंभूत' मानकर उस 'देवराज' का अंश समझा जाने लगा, शिवलिंग के रूप में वहाँ जिसकी मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती थी और जिसे राज्य का रक्षक माना जाता था।

दिवंगत पूर्वजों की मूर्तियाँ बनाने और उनमें देवत्व का आधान कर पूजा के प्रयोजन से उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करने की प्रथा भारत में भी विद्यमान थी, इसके कतिपय संकेत मिलते है। भास के प्रतिमा नाटक में दशरथ तथा अन्य पूर्वजों की मूर्तियों को मण्डप में स्थापित करने का उल्लेख है। मथुरा में कुशाण राजाओं की मूर्तियों को देवमाला के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया था, जिनके अवशेष अब भी उपलब्ध हैं। देवराज सम्प्रदाय की पूजाविधि तथा स्वरूप के विषय में अधिक लिख सकना संभव नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री अभी प्रकाश में नहीं आयी है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि तीन सदियों (नौवीं से ग्यारहवीं सदियों) तक यह कम्बुज देश का राजधर्म रहा।

बौद्धधर्म—यद्यपि पौराणिक हिन्दू धर्म का कम्बुज देश में प्राधान्य था, पर बौद्धधर्म का भी वहाँ प्रवेश आरम्भ हो गया था। कम्बुज में बौद्धधर्म की सत्ता का सबसे पुराना प्रमाण प्रसत त कम अभिलेख (७९१ ईस्वी) है, जिसमें कि लोकेश्वर की प्रतिमा का उल्लेख किया गया है। यह अभिलेख इस प्रकार है—

समगुणशशिनगशाके प्रथितो यस्सुप्रतिष्ठितो भगवान्।
जगदीश्वर इति नाम्ना स जयति लोकेश्वर प्रतिमः॥

लोकेश्वर से यहां अवलोकितेश्वर अभिप्रेत है, यह विद्वानों ने प्रतिपादित किया है। अवलोकितेश्वर एक बोधिसत्व था, जिसकी पूजा बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में की जाती थी। आठवीं सदी में महायान सम्प्रदाय का कम्बुज देश में प्रवेश हो चुका था, और वहाँ बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठापित की जाने लगी थीं, यह इस अभिलेख से सूचित होता है।

पर बौद्ध भिक्षु इससे पहले भी कम्बुज देश में विद्यमान थे, इस बात का संकेत राजा जयवर्मा प्रथम के वत प्रेई वार शिलालेख में मिलता है। इसका काल ६६५ ईस्वी है। इस शिलालेख में रत्नभानु और रत्नसिंह नामक दो भिक्षुओं का उल्लेख है, जो कि सहोदर भाई थे और जिनकी भानजी के पुत्र का नाम शुभकीर्ति था। जयवर्मा ने एक धार्मिक सम्पत्ति के उपभोग का वंशक्रमानुगत (कुलक्रमसन्तति) रूप से अधिकार अपने राजकीय आदेश द्वारा इस शुभकीर्ति का प्रदान किया था। वत प्रेई वार शिलालेख में रत्नभानु और रत्नसिंह को स्पष्ट रूप से भिक्षु (राज्ये भिक्षुवरिष्ठौ स्तत्सहोदरौ) कहा गया है, और यह समझा जाता है कि ये बौद्ध भिक्षु ही थे, जो कम्बुज देश में बसे हुए थे। पर इनका बौद्ध भिक्षु होना पूर्णतया निर्विवाद नहीं है, क्योंकि इस शिलालेख में संन्यस्यते' और 'साधुभिः' शब्द भी इस प्रसंग में आगे चलकर आये हैं, **जिनसे** इनका पौराणिक भिक्षु या साधु हो सकना भी असम्भव नहीं कहा जा सकता।

प्रसत ते कम अभिलेख (७९१ ईस्वी) के पश्चात् एक सदी के लगभग तक कम्बुज देश में कोई ऐसा अभिलेख नहीं मिलता, जिसमें कि बौद्ध धर्म का उल्लेख हो। इस काल में वहाँ पौराणिक हिन्दू धर्म का विशेष रूप से उत्कर्ष हुआ, यद्यपि बौद्ध लोग भी अपने धर्म के प्रचार में तत्पर रहे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जब राजा यशोवर्मा (८८६ ईस्वी) ने विविध धार्मिक आश्रमों का निर्माण कराके उन्हें भरपूर मात्रा में दान-दक्षिणा प्रदान की, तो बौद्ध आश्रमों की स्थापना पर भी उसने ध्यान दिया। यशोवर्मा स्वयं पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था, पर अपनी प्रजा को दृष्टि में रखकर उसने यह भी आवश्यक समझा था, कि कम्बुज में निवास करने वाले बौद्ध लोगों के लिए भी आश्रमों का निर्माण कराया जाए। तेप प्रनम अभिलेख के ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के हैं—

सश्रीयशोवर्म्मन्नृपो नृपेन्द्रः कम्बुजभूपतिः
सौगताभ्युदयार्यंतं कृतवान सौगताश्रमम् ॥
त्रिसन्ध्यविधिसंसक्ताः शीलाध्ययनतत्पराः
गृहस्थकर्म्मनिर्म्मुक्ता यतयो विजितेन्द्रियाः ॥
वर्षास्वनन्यशयिता एकभक्तेन जीविनः
स्वधर्मकर्मशक्तास्ते वास्तव्याः सौगताश्रमे ॥

कम्बुज देश के स्वामी नृपेन्द्र राजा श्री यशोवर्मा ने सौगत (बौद्ध) लोगों के अभ्युदय के लिये सौगत आश्रम का निर्माण कराया था, और उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की थी, कि इन्द्रियजयी, ग्रहस्थ कर्म का त्याग किए हुए शीलसम्पन्न, अध्ययन-तत्पर, धार्मिक पूजापाठ की विधि में निपुण, यति लोग ही इस सौगत आश्रम में निवास कर सकें। सौगत आश्रम में निवास करने वाले आचार्य, अध्यापक, यति, भिक्षु आदि को अपने निर्वाह के लिए किस हिसाब से खाद्य पदार्थ, वस्त्र, दीपक आदि प्रदान किए जाएँ, इसका विवरण भी इस अभिलेख में दिया गया है। यशोवर्मा ने शैव और वैष्णव आश्रमों का निर्माण कराते हुए उनके सम्बन्ध में जैसी व्यवस्थाएँ की थीं, प्रायः वैसी ही सौगत आश्रम के लिए भी की थीं। यद्यपि यशोवर्मा बौद्ध न होकर पौराणिक धर्म का अनुयायी था, पर तेप प्रनम अभिलेख में उसने बुद्ध के प्रति भी प्रणाम निवेदन किया है। बुद्ध के सम्बन्ध में वहाँ लिखा गया है, कि 'स्वयं बोध प्राप्त कर जिसने त्रिभुवन को ज्ञान प्रदान किया, जो निर्वाण रूपी फल देने वाला तथा कृपालु है, उस वन्द्यचरण बुद्ध को नमस्कार हो (**योऽबोधयत् त्रिभुवनं स्वयमेव बुद्ध्वा निर्वाणसौख्यफलदाय कृपात्मकाय बुद्धाय वन्द्यचरणाय नमोस्त तस्मै**)।

९६१ ईस्वी के कोक सम्रों अभिलेख में राजा राजेन्द्रवर्मा के भृत्य (राजपदाधिकारी) भद्रातिशय का उल्लेख है, जिसके छोटे भाई ने एक मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराया था। इस अभिलेख के प्रारम्भ में संघ, बुद्ध और धर्म—इस त्रिरत्न को प्रणाम निवेदन किया गया है (नमस् संघाय···संबुद्धरत्नं प्रणमामि धर्म्मम्)। बौद्ध लोग बुद्ध, धर्म और संघ—इस क्रम से त्रिरत्न की पूजा करते हैं। पर इस अभिलेख में त्रिरत्न का क्रम संघ, बुद्ध और धर्म रखा गया है, जो असाधारण है। पर कोक सम्रों के

अभिलेख से यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि दसवीं सदी के अन्त में कम्बुज देश में बौद्ध धर्म भलीभाँति स्थापित हो गया था। राजेन्द्रवर्मा के समय के एक अन्य अभिलेख (प्रे रूप अभिलेख) में 'योगाचार' का उल्लेख आया है, जो बौद्ध धर्म का अन्यतम सम्प्रदाय था।

९८१ ईस्वी के एक अभिलेख (फ्नोम वन्ते नन अभिलेख) का प्रारम्भ बुद्ध, प्रज्ञापारमिता, लोकेश्वर, वज्री, मैत्रेय और इन्द्र की स्तुति के साथ किया गया है, और बाद में यह उल्लेख है कि आचार्य त्रिभुवनवज्र ने बुद्ध की माता की एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी।

ग्यारहवीं सदी में कम्बुज देश में बौद्ध धर्म के प्रचार तथा प्रभाव में वृद्धि हो गई थी। सम्भवतः, सूर्यवर्मा प्रथम (१००२-४९) पहला कम्बुज नरेश था, जिसने कि बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, यद्यपि अपने देश की परम्परा का अनुसरण करते हुए वह पौराणिक देवीदेवताओं के प्रति भी आस्था रखता था। १०२२ ईस्वी के लोपबुरी अभिलेख में राजा सूर्यवर्मा का एक आदेश उल्लिखित है, जिसमें कि सब धार्मिक स्थानों विहारों, मन्दिरों, यतियों, स्थविरों और महायान के भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया है कि वे अपने तप द्वारा अर्जित पुण्य राजा को अर्पित कर दें। मृत्यु के पश्चात् सूर्यवर्मा को 'निर्वाणपद' का विरुद प्रदान किया गया था। इन सब बातों से सूचित होता है कि सूर्यवर्मा ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था, और उसके काल में बौद्ध धर्म उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था।

कम्बुज देश के बौद्ध राजाओं में जयवर्मा सप्तम (११८२-१२०२) का स्थान सर्वोपरि है। इस राजा के अनेक अभिलेखों के प्रारम्भ में बुद्ध की स्तुति की गई है। से फोंग अभिलेख का प्रारम्भ ही 'नमो बुद्धाय' से हुआ है, और उसमें बुद्ध को भैषज्यगुरु भी कहा गया है। फिमानक अभिलेख में 'सर्ववेत्ता शाक्येश्वर' बुद्धि की स्तुति के साथ-साथ त्रिकाय और लोकेश्वर की भी वन्दना की गई है। ता प्रोह्म अभिलेख में प्राणिमात्र के शरण (भूतशरण) बुद्ध को नमस्कार करने के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ (अनुत्तर) बौद्धमार्ग (बौद्ध धर्म) तथा सब प्रकार के रागों से मुक्त होते हुए भी दूसरों के कल्याण में सदा निरत रहने वाले संघ के प्रति आदर भावना प्रकट की गई है। इस राजा ने प्रज्ञापारमिता के रूप में अपनी माता की मूर्ति का निर्माण कराया था, और इस मूर्ति को प्रतिष्ठापित कर मन्दिर का खर्च चलाने के लिए राजविभार नामक नगर को दान में दे दिया था। जयवर्मा सप्तम की रानी इन्द्रदेवी बौद्धधर्म के प्रति अगाध आस्था रखती थी, और बौद्ध धर्म के ग्रंथों का उसने गम्भीरता के साथ अध्ययन किया था। नगेन्द्रतुङ्ग तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम नामक बौद्ध विहारों में उनसे बौद्ध भिक्षुणियों को बौद्ध धर्म की शिक्षा भी दी थी। इन्द्रदेवी ने अपनी छोटी बहन जयराजदेवी को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। यह सब राजा जयवर्मा सप्तम के फिमानक अभिलेख से ज्ञात होता है। भारत के अशोक के समान जयवर्मा सप्तम ने जनता के हित व कल्याण के लिए जो बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य किये, उन पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इस राजा के शासनकाल में कम्बुज

देश में बौद्ध धर्म का बहुत उत्कर्ष हुआ था।

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का ही विशेष रूप से प्रचार हुआ था। पर बाद में हीनयान सम्प्रदाय का भी वहाँ प्रवेश हुआ। श्रीलंका में हीनयान का प्रचार था, और सम्भवतः वहीं से वह सम्प्रदाय समुद्रमार्ग द्वारा कम्बुज में प्रविष्ट हुआ था। राजा श्रीन्द्रवर्मा का तेरहवीं सदी का एक अभिलेख (कोक स्वे चाक अभिलेख) पालि भाषा में मिला है, जिसका प्रारम्भ त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति नमस्कार के साथ इन शब्दों में किया गया है—

विसुद्धमविसुद्धानं सुद्धिसम्पापकञ्जिनं
धम्मञ्चारियसङ्घञ्च सततं सीरसा नमः॥

त्रिरत्न के प्रति प्रणाम निवेदन के पश्चात् इस अभिलेख में यह बताया गया है, कि महाथेर (महास्थविर) सिरि सिरिन्दमोलि को राजा द्वारा सिरिसिरिन्दरतन नाम का गाँव दान में दिया गया था, और राजा की आज्ञा से सिरिमालिनीरतनलक्खी नामक उपासिका ने एक विहार का निर्माण किया था, जिसमें बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। राजा ने इस विहार के खर्च के लिए चार गाँव प्रदान किये थे। तेरहवीं सदी में श्रीलंका से जिस हीनयान धर्म का कम्बुज में प्रवेश हुआ था, उसका प्रचार वहाँ निरन्तर बढ़ता गया, और समयान्तर में उसी ने वहाँ महायान का स्थान ग्रहण कर लिया।

बौद्ध और पौराणिक धर्मों में सम्बन्ध—कम्बुज देश में बौद्ध धर्म के प्रचार का यह अभिप्रायः नहीं था, कि उसने वहाँ से पुराने पौराणिक धर्म का अन्त कर उसका स्थान ले लिया था। वहाँ जिन राजाओं या साधारण जनों ने बौद्ध धर्म को अपनाया था, उन्होंने शैव या वैष्णव धर्मों का परित्याग नहीं कर दिया था। वस्तुतः, कम्बुज के लोगों ने बुद्ध को भी एक देवता के रूप में स्वीकार कर लिया था, और उसे भी ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की त्रिमूर्ति में एक चौथे देवता का स्थान दे दिया गया था। १०६७ ईस्वी का राजा उदयार्कवर्मा का एक अभिलेख (प्रसत प्राह् क्षेत अभिलेख) है, जिसमें वासुदेव के पुत्र संकर्षण द्वारा एक प्राचीन शिवलिंग (जो कंवौ विद्रोह के समय में क्षतिग्रस्त हो गया था) की पुनःस्थापना के साथ-साथ ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की मूर्तियों के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है। शिव, विष्णु और ब्रह्मा के साथ बुद्ध की मूर्ति के स्थापित हो जाने के कारण अब त्रिमूर्ति के स्थान पर 'चतुर्मूर्ति' उपास्य हो गई थीं (येन भक्त्या चतुर्मूर्तिश् शैवी संस्थापिता मुदा)। दसवीं सदी के मध्य भाग के प्राह् पुत लो शिलालेख में एक ही व्यक्ति द्वारा तथागत बुद्ध, ब्रह्मा, विष्णु और परमेश्वर शिव की मूर्तियों के प्रतिष्ठापित लिये जाने का उल्लेख है। वस्तुतः, कम्बुज देश में बौद्ध धर्म पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रतिस्पर्धी नहीं था। वहाँ इन दोनों धर्मों में बहुत सुन्दर सामञ्जस्य की स्थापना हो गई थी।

(४) मठ व आश्रम

कम्बुज देश में मन्दिरों के साथ आश्रमों व मठों की भी सत्ता थी, जिनके लिए राजाओं तथा अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा प्रभूत मात्रा में दान दिया जाता था। इन

आश्रमों के सम्बन्ध में अनेकविध नियम थे, जिन्हें राजकीय आज्ञा के रूप में जारी किया गया था। राजा यशोवर्मा के प्रह् वत अभिलेख (८८६ ईस्वी) में यशोधराश्रम की स्थापना का उल्लेख है, जिसे चन्दन पर्वत पर बनवाया गया था। इस आश्रम के लिए प्रदत्त रत्न, काञ्चन, रूप्य, हाथी, घोड़े, गौ, भैंस, दास, दासी, उद्यान, भूमि आदि का उल्लेख कर यशोवर्मा ने यह आदेश उत्कीर्ण कराया था, कि "ये सब वस्तुएँ जो यशोवर्मा द्वारा आश्रम के लिए प्रदान की गई हैं, उन्हें अन्य कोई तो क्या राजा भी आश्रम से वापस नहीं ले सकेगा। आश्रम की राजकुटी के भीतरी भाग में केवल राजा, ब्राह्मण और राजपुत्र ही अपने आभूषणों को उतारे बिना प्रविष्ट हो सकेंगे। इनसे भिन्न जो सर्वसाधारण लोग हैं, वे बहुत सादे परिधान में और पुष्पमाल्य आदि के बिना ही वहाँ जा सकेंगे। वे न कानों में कोई आभूषण पहन सकेंगे, न कोई सुवर्ण-निर्मित आभूषण पहनकर भीतर जा सकेंगे, और भीतर जाकर वे भोजन एवं सुपारी नहीं खा सकेंगे। वहाँ कोई झगड़ा नहीं किया जा सकेगा। दुष्टचरित्र वाले यति (साधु) वहाँ नहीं रह सकेंगे। शिव और विष्णु के पूजक, ब्राह्मण, शिष्ट, तथा शीलवान् लोग वहाँ जप और ध्यान अवश्य कर सकेंगे। राजा के अतिरिक्त जो कोई भी आश्रम के सामने से गुजरे, उसे रथ से उतर जाना होगा और बिना छाता लगाये पैदल चलना होगा। जो तापसोत्तम (उत्तम तपस्वी) आश्रम का कुलपति नियुक्त किया जाए, उसका यह कर्त्तव्य होगा कि जो राजपुत्र, मन्त्री सेनाध्यक्ष, ब्राह्मण, शैव, वैष्णव, तपस्वी व अन्य श्रेष्ठ पुरुष अतिथि के रूप में आश्रम में आएँ, अन्न, पान, सुपारी आदि से उनका यथोचित अतिथ्य करे और उनके विश्राम की समुचित व्यवस्था करे।" जिस प्रकार का एक आश्रम राजा यशोवर्मा ने चन्दन पर्वत पर गणेश देवता को अर्पित कर स्थापित कराया था, वैसे ही आश्रम अन्य देवताओं (परमेश, पञ्चलिङ्गेश्वर, कार्तिकेय, नारायण, ब्रह्मराक्षस, रुद्राणी आदि) को अर्पित करके भी स्थापित कराये गये थे। उनके लिये भी इसी प्रकार के आदेश जारी किये गये थे, जिनकी ग्यारह प्रतियाँ विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध हुई हैं। लोले अभिलेख के अनुसार राजा यशोवर्मा द्वारा स्थापित आश्रमों की संख्या सौ थी। (**चतुराश्रममर्यादां शासिता कल्पयन्नपि, आश्रमाणां प्रशस्तानां शतं दिक्षु चकार यः**)। इन आश्रमों की स्थापना प्रधानतया शैव और वैष्णव मन्दिरों के साथ की गई थीं, जिसके कारण ये 'शैव आश्रम' या 'वैष्णव आश्रम' कहाते थे। पर जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है, यशोवर्मा ने अपनी बौद्ध प्रजा की आवश्यकता को पूरा करने के लिए 'सौगत' या बौद्ध आश्रमों का भी निर्माण कराया था। इन आश्रमों में जो अध्यापक और विद्यार्थी विद्या पढ़ाने तथा पढ़ने में व्यापृत रहते थे, उनके भोजन आदि का व्यय राजा एवं अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। राजा जयवर्मा सप्तम के ता प्रोह्म अभिलेख में यह लिखा है, कि मन्दिर के सत्र से अध्यापकों तथा उनके अन्तेवासियों (विद्यार्थियों) के लिए कितनी-कितनी भोजन-सामग्री राजा की ओर से प्रतिवर्ष प्रदान की जाती थी (**सत्राण्याध्यापकाध्येतृवासिनां प्रतिवासरं खार्य्यश्चतुर्दश द्रोणः एञ्च प्रस्थाश्च तण्डुला :**)। भोजन सामग्री तथा वस्त्र आदि के किसानों तथा तन्तुवायों आदि से लिये जाने का उल्लेख भी इस अभिलेख में

विद्यमान है।

आश्रमों में जो आचार्य, अध्यापक, ब्रह्मचारी व अन्य विद्यार्थी निवास करते थे, उन्हें किस हिसाब से भोजन सामग्री एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान की जाती थीं, इसका उल्लेख भी यशोवर्मा के अभिलेखों में किया गया है। उनके अनुसार आचार्यों और ब्रह्मचारियों के लिए प्रतिदिन प्रति व्यक्ति चार दन्तकाष्ठ (दतौन) आठ सुपारी, साठ ताम्बूलपत्र (पान के पत्ते), आधा आढ़क चावल, एक मुट्ठी दीपिका (पाचक धान्य) और एक गट्ठा ईंधन देने की व्यवस्था की गई थी। वृद्ध और बाल आश्रमवासियों के लिए इनकी मात्रा कम रखी गई थी। आश्रमों में जहाँ बहुत-से अध्यापक तथा विद्यार्थी रहते थे, वहाँ साथ ही कतिपय लेखक तथा पुस्तक रक्षक आदि कर्मचारियों को भी विशिष्ट कार्यों के सम्पादन के लिये रखा जाता था। तेप प्रनम अभिलेख में लिखा है, कि दो लेखक, दो राजकुटीसंरक्षक, दो पुस्तक रक्षक, दो ताम्बूलिक, दो पानी लाने वाले, छह पत्रकारक (ताल पत्रों की व्यवस्था करने वाले), चार मसालची, आठ भोजन-पाचक एवं भोजनशाला के अन्य कार्यकर्त्ता नियुक्त किये जायेंगे। आश्रम के कुलपति की सेवा के लिए जिन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी, उनकी संख्या बहुत अधिक थी। उसके लिए नौ दास, एक दासी, एक क्षुरक (नाई) तथा तीन कृषीवल दासों (खेतिहरों) की व्यवस्था की गई थी। इसी प्रकार से अन्य अध्यापकों, आचार्यों आदि के लिए भी सेवकों के रखे जाने का विधान था।

क्योंकि आश्रमों में पठन-पाठन का कार्य होता था, अतः वहाँ मसीपात्रों (दवातों) और स्याही की भी आवश्यकता पड़ती थी। तेप प्रनम अभिलेख में इनके दिये जाने का भी उल्लेख है (**आचार्येभ्यः प्रदेयानि वृद्धभिक्षुभ्य एव च, रिक्तपात्रं मषी मृत्स्नामध्ये तृषु दिशेदपि**)। पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का कार्य भी इन आश्रमों में सम्पन्न होता था, और हस्तलिखित ग्रंथों को बहुत बहुमूल्य माना जाता था। राजा सूर्यवर्मा द्वितीय के वन थट अभिलेख में एक आश्रम को दिये गये दानों का उल्लेख है, जिनमें सब शास्त्रों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी थीं (**निश्शेषशास्त्रैलिखितैस् सनाथान्...स पुस्तकानध्ययनाच्छिदार्थं तत्राश्रमेऽनेक विधान् अचंषीत्**)। राजाओं के अतिरिक्त अन्य सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा स्थापित किये जाने वाले आश्रमों में एक का उल्लेख करना यहाँ उपयोगी होगा, जिसकी सूचना जयवर्मा पञ्चम के समय के प्रसत कोम्फस अभिलेख से मिलती है। जयवर्मा पञ्चम की बहन इन्द्रलक्ष्मी थी, जिसका विवाह दिवाकर भट्ट नामक ब्राह्मण के साथ हुआ था। यह दिवाकर भट्ट भारत के उस प्रदेश के निवासी थे, "जहाँ सुन्दर कालिन्दी (यमुना) नदी बहती है, जहाँ कृष्ण ने कालियनाग का मर्दन किया था और छत्तीस हजार ब्राह्मणों द्वारा गाये जाने वाले ऋक्, यजु और सामवेद के मन्त्रों की ध्वनि से जहाँ की भूमि प्रतिध्वनित होती रहती थी।" सम्भवतः, दिवाकर भट्ट मथुरा से कम्बुज देश आये थे, और उनकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर राजा राजेन्द्रवर्मा ने अपनी पुत्री इन्द्रलक्ष्मी का विवाह उनके साथ कर दिया था। इन दिवाकर भट्ट ने कम्बुज देश के मधुवन नामक स्थान पर विष्णु-महेश्वर लिंग को द्विजेन्द्र के नाम से और विष्णु की एक मूर्ति को प्रतिष्ठापित

किया था, और साथ ही द्विजेन्द्रपुर में एक आश्रम की भी स्थापना की थी (द्विजेन्द्र-पुरदेव त्वत्राश्रमं प्रकल्पयत्)।

कम्बुज देश के इन आश्रमों में किन विषयों व विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था, इस पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर ये आश्रम विद्या के केन्द्र होने के साथ-साथ धर्म के भी केन्द्र हुआ करते थे और धर्मशास्त्रों का इनमें विशेष रूप से पठन-पाठन हुआ करता था। राजा जयवर्मा पञ्चम के वन्ते स्रेई अभिलेख में आश्रम के कुलपति को यह आदेश दिया गया है, कि वह सब आश्रमवासियों के भोजनादि और आतिथ्य की व्यवस्था करे, और अध्यापक आलस्य का परित्याग कर निरन्तर ब्रह्मसत्र (वेदपाठ) में तत्पर रहा करें (कुलस्य पत्या कर्तव्यमातिथ्यं भोजनादिकम्, अध्यापकेन चाच्छिन्नं ब्रह्मसत्रमतन्द्रिणा)। आश्रमों में किसका कितना सम्मान किया जाए और नियमों का उल्लंघन करने पर किसे क्या दण्ड दिया जाए, इस विषय में भी सब व्यवस्थाएँ अभिलेखों में विद्यमान हैं। ये दण्ड राजपुत्रों, राजा के सम्बन्धियों तथा मन्त्रियों के लिए बहुत अधिक हैं, और व्यापारियों तथा सर्वसाधारण लोगों के लिए अपेक्षया कम हैं।

(५) भाषा, शिक्षा तथा साहित्य

भाषा—कम्बुज देश से जो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, वे प्रायः संस्कृत और ख्मेर भाषाओं में हैं। बहुत-से अभिलेख ऐसे भी हैं, जिनमें संस्कृत और ख्मेर दोनों भाषाएँ प्रयुक्त की गई हैं। इससे यह संकेत मिलता है, कि यद्यपि राज्य के शासन में, मन्दिरों, विहारों और मठों में तथा सम्भ्रान्त वर्ग में संस्कृत भाषा का उपयोग होता था, पर जनसाधारण की भाषा ख्मेर थी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि भारतीय लोग उपनिवेशक के रूप में कम्बुज देश में गये थे, और वहाँ के पुराने निवासियों के बीच में उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किए थे। यद्यपि कम्बुज के पुराने ख्मेर लोगों ने भारतीय धर्म और संस्कृति आदि को अपना लिया था, और वे भारत की संस्कृत भाषा को भी शासन, पठन-पाठन तथा धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयुक्त करने लग गये थे, पर ऐसे लोग भी वहाँ विद्यमान थे जो केवल अपनी ख्मेर भाषा ही जानते थे। यही कारण है, जो कम्बुज के राजाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अभिलेखों में बहुत-से ऐसे हैं, जिनमें संस्कृत के साथ-साथ ख्मेर भाषा भी प्रयुक्त की गई है। कुछ अभिलेख ऐसे भी हैं, जो केवल ख्मेर भाषा में हैं। यद्यपि कम्बुज के बहुसंख्यक अभिलेख संस्कृत में हैं, पर कुछ अभिलेखों में पालि भाषा का भी प्रयोग किया गया है। श्रीलंका द्वारा जब कम्बुज में हीनयान सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ, तो उसके साथ ही पालि भाषा भी प्रविष्ट हुई और वहाँ के हीनयानी भिक्षु पालि त्रिपटक के पठन-पाठन में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार कम्बुज में पालि का भी प्रचार हुआ, और उसमें भी कुछ अभिलेख लिखे गये।

प्राकृत भाषा का कोई अभिलेख कम्बुज में उपलब्ध नहीं हुआ है। पर इस भाषा के ग्रंथों का पठन-पाठन भी वहाँ होता था, इसके संकेत अभिलेखों में विद्यमान

हैं। एक सूखी हुई विशाल झील के पूर्वी तट से प्राप्त राजा यशोवर्मा के अभिलेख में 'प्राकृतप्रिय' गुणाढ्य का उल्लेख है (पारदः स्थिरकल्याणो गुणाढ्यो प्राकृतप्रियः)। गुणाढ्य प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध लेखक हुआ है। कम्बुज देश में संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं के लिये प्रधानतया ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया जाता था। वहाँ के बहुसंख्यक अभिलेख इसी लिपि में है। पर कुछ अभिलेख ऐसे भी हैं, जिन्हें दक्षिणी भारत की पल्लव लिपि में उत्कीर्ण किया गया है। भारतीय उपनिवेशक भारत के उत्तरी और दक्षिणी—दोनों भागों से कम्बुज गये थे। इस दशा में वहाँ ब्राह्मी और पल्लव दोनों लिपियों का प्रचलित होना स्वाभाविक ही था।

शिक्षा—संसार के अन्य देशों के समान प्राचीन समय में कम्बुज देश में भी शिक्षा का कार्य मुख्यतया मन्दिरों तथा अन्य धर्मस्थानों में केन्द्रित था। मन्दिरों और विहारों के साथ आश्रम स्थापित थे, जिनमें विद्यार्थी गुरुओं से शिक्षा प्राप्त किया करते थे। पिछले प्रकरण में इन आश्रमों पर प्रकाश डाला जा चुका है। कम्बुज के ये आश्रम शैव, वैष्णव और बौद्ध मन्दिरों के साथ स्थापित थे, और उनमें शिक्षा का कार्य करने वाले गुरु कुलपति, कुलाध्यक्ष, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक कहाते थे। यशोवर्मा के अभिलेखों में जहाँ उस द्वारा स्थापित आश्रमों के सम्बन्ध में राजकीय आदेश उत्कीर्ण कराये गये हैं, कुलपति और कुलाध्यक्ष शब्द आये हैं (आश्रमे यः कुलपतिर्नियुक्तस्तापसोत्तमः और कुलाध्यक्षेण कर्त्तव्यं कृत्स्नैः कर्मकरैरिति), सम्भवतः जो एक ही अधिकारी के द्योतक हैं। कुलपति का कार्य आश्रम की व्यवस्था करना था, किसी तपस्वी (तापसोत्तम) व्यक्ति को ही इसी पद पर नियुक्त किया जाता था। आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक विद्या पढ़ाने का कार्य किया करते थे। यशोवर्मा के प्रसत कोपनम अभिलेख में आश्रम के प्रसंग में इनका उल्लेख हुआ है। कतिपय अभिलेखों में उन विद्वानों के नाम आये हैं, जो विविध शास्त्रों में पारंगत थे, और जिन्हें अध्यापन के लिए नियुक्त किया गया था। ऐसा एक विद्वान् शिखाशिव का दौहित्र विजय था, जिसे राजा जयवीरवर्मा के प्रह कोः अभिलेख के अनुसार 'अध्यापक' नियुक्त किया गया था। राजा श्रीन्द्रवर्मा के अङ्कोर अभिलेख में जयमङ्गलार्थ नामक विद्वान् का उल्लेख है, जो शास्त्रों और व्याकरण में पारंगत था और जिसे राजा ने 'अध्यापकाधिप' (प्रधान अध्यापक) नियुक्त किया था। नौवीं सदी के राजा इन्द्रवर्मा के प्रसत कन्दोल दोम अभिलेख में शिवसोम नामक एक आचार्य का उल्लेख है, जो सर्व विद्याओं में निष्णात था। शिवसोम के गुरु भगवान् शंकर थे, जिनके चरणों में बैठकर उसने सब शास्त्रों का अध्ययन किया था।

कम्बुज देश में किन विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था, इस सम्बन्ध में भी अनेक संकेत अभिलेखों में विद्यमान हैं। शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि धर्मों के धार्मिक साहित्य का कम्बुज की शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान था। पर उसके अतिरिक्त व्याकरण, काव्य, संगीत, नृत्य, कला, ज्योतिष आदि की भी वहाँ शिक्षा दी जाती थी। इन्द्रवर्मा के प्रसत कन्दोल अभिलेख में उन शास्त्रों तथा विद्याओं का उल्लेख है, जिनमें कि आचार्य शिवसोम निष्णात थे। वह वेदवित्, तर्कशास्त्र, योग तथा व्याकरण में

प्रवीण और पुराण, महाभारत, सम्पूर्ण शैव साहित्य तथा काव्यों के पण्डित थे। नौवीं सदी के प्रसत कोक पो अभिलेख में श्रीस्वामी नाम के एक पण्डित का उल्लेख है, जो वेद और व्याकरण का ज्ञाता तथा तर्कशास्त्र में पारंगत था (श्रीस्वामी यस्य च पिता वेदव्याकरणोत्तमः तर्काभिपारगो विप्रो ब्रह्मैवैकं मुखं दधत्)। यशोवर्मा के लोले अभिलेख में राजा को सब शास्त्रों और शस्त्रों, सब शिल्पों, भाषाओं और लिपियों तथा नृत्य, संगीत आदि विज्ञानों का पण्डित कहा गया है (यस्सर्व शास्त्रशस्त्रेषु शिल्प भाषा लिपिष्वपि, नृत्तगीतादि विज्ञानेस्वादिकर्त्तेव पण्डितः)। दसवीं सदी के अन्त के राजा जयवीर वर्मा के प्रसत त्रपन सन अभिलेख में कवीन्द्रपण्डित द्वारा विष्णु मन्दिर को दिये गए एक भूखण्ड का उल्लेख है। इसमें कवीन्द्रपण्डित के विषय में यह कहा गया है, कि वह पाँचों व्याकरणों का मर्मज्ञ, शब्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, आगम, काव्य महाभारत और रामायण का विद्वान् था, और इन्हें स्वयं पढ़कर उसने शिष्यों को पढ़ाया था (यः पञ्च-व्याकरणान्तगः, शब्दार्थागमशास्त्राणि काव्यं भारतविस्तरम्, रामायणञ्च योऽधीत्य शिष्यानप्यध्यजीगपत्)। सातवीं सदी के राजा ईशानवर्मा के सम्बोर प्रेई कुक अभिलेख में विद्याविशेष नामक आचार्य का उल्लेख है, और उसे शब्दशास्त्र, वैशेषिक दर्शन, न्यायदर्शन और सौगत (बौद्ध) दर्शन का समीक्षक विद्वान् कहा गया है (शब्दवैशेषिक न्याय समीक्ष्य सुगताध्वनाम्)। राजा जयवर्मा प्रथम के तन क्रन अभिलेख में एक ब्राह्मण परिवार का वर्णन है, जिसके लोग राजसेवा में उच्च पदों पर नियुक्त थे। इस परिवार के धर्मस्वामी नामक पुरुष को विद्वान् और वेद-वेदाङ्गों का पारंगत कहा गया है (अवासीद् ब्राह्मणों विद्वान् वेद-वेदाङ्गपारगः)। राजा उदयादित्यवर्मा के समय के स्दोक काक थोम अभिलेख में जयेन्द्र पण्डित का उल्लेख है। इस अभिलेख के ख्मेर भाषा के भाग में यह बताया गया है कि जयेन्द्र पण्डित ने उदयादित्यवर्मा को सिद्धान्त, व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा दी थी। वन थत अभिलेख के अनुसार 'भूपेन्द्रपण्डित' सुभद्र मूर्धशिव नामक आचार्य त्रयी (ऋक्, साम और यजुर्वेद) आदि अनेकविध वाङ्मय का कोविद, शैववाङ्मय में पारंगत, न्याय, सांख्य और वैशेषिक दर्शनों में निष्णात, तथा शब्दशास्त्र (व्याकरण) और भाष्य (महाभाष्य) का विद्वान् था। इस भूपेन्द्रपण्डित के आश्रम में जहाँ निरन्तर यज्ञ में दी गई आहुतियों के धूम की सुगन्ध व्याप्त रहती थी, वहाँ कठिन शास्त्रों के अभिप्राय के सम्बन्ध में मतिभेद के कारण विद्यार्थियों में जो वाद-विवाद चलते रहते थे, उनकी ध्वनि से भी उसका आश्रम गुञ्जायमान रहता था।

"विद्यापवर्गविहितापचितिप्रबन्धे यस्याश्रमेऽनवरताहुति धूमगन्धे।
दुर्गागमेषु मतिभेदकृतार्थनीत्या विद्यार्थिनां विवदतां ध्वनि रुत्ससर्प।"

वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, काव्य, इतिहास, रामायण, महाभारत आदि के अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र का भी कम्बुज देश में पठन-पाठन होता था। आयुर्वेद एक उपवेद है, पर सुश्रुतसदृश ग्रंथों का कम्बुज के अभिलेखों में उल्लिखित होना वहाँ इस शास्त्र की शिक्षा का स्पष्ट संकेत है। यशोवर्मा के लोले अभिलेख में राजा को प्रजा की व्याधि को हरण करने वाला वैद्य और उसकी वाणी को सुश्रुत से उदित (सुश्रुतोदिता) कहा गया है।

कम्बुज देश के आश्रमों में जहाँ इन विविध शास्त्रों एवं विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी, वहाँ गुरु और शिष्यों में पिता और पुत्र का सम्बन्ध भी रहता था। उदयादित्य-वर्मा के स्दोक काक अभिलेख में एक आश्रम के गुरु और शिष्यों के सम्बन्ध को इस प्रकार प्रगट किया गया है—

'शिष्यान् यथा चेष्टयितोपवेष्टा यथात्मजान् वा जनकोऽपि यत्नात्' जैसे पिता अपनी सन्तान का यत्नपूर्वक पालन करता है, वैसे ही वहाँ गुरु अपने शिष्यों का ध्यान रखता हुआ उन्हें शिक्षा प्रदान करता था।

शिक्षा केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं थी। स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। सूर्यवर्मा द्वितीय के वन थत अभिलेख में तिलका नामक एक महिला का उल्लेख है, जो परम विदुषी थी। विद्वानों में श्रेष्ठ, ज्येष्ठ नरेन्द्रगुरु ने तिलका की विद्वता से प्रभावित होकर उसे 'वागीश्वरी भगवती' की उपाधि प्रदान की थी, और भरी परिषद् में उसकी विद्वत्ता को स्वीकार किया था। सूर्यवर्मा के प्रसत ता केओ अभिलेख में एक अन्य विदुषी महिला का उल्लेख है, जिसका नाम 'सती जनपदा' था। वह आचार्य योगेश्वर की शिष्या थी, और केशव नामक ब्राह्मण के साथ उसका विवाह हुआ था। राजा जयवर्मा सप्तम की रानी इन्द्रदेवी परम विदुषी थी। वह पहले नगेन्द्रतुङ्ग तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम नामक आश्रमों में अध्यापन का कार्य किया करती थी। वहाँ वह सरस्वती के समान विराजती थी, और शिष्याओं द्वारा घिरी रहती थी। कम्बुज की स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार था, यह प्रमाणित करने के लिए ये उदाहरण पर्याप्त हैं।

साहित्य—वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, शास्त्र आदि का कम्बुज अभिलेखों में सामान्य रूप से बार-बार उल्लेख आया है, जिससे प्राचीन भारतीय वाङ्मय के इन ग्रन्थों की वहाँ सत्ता सूचित होती है। पर कतिपय अभिलेखों में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के विशिष्ट ग्रन्थों के भी नाम आये हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। राजा यशोवर्मा के एक अभिलेख में प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' का संकेत है, जिसे कालिदास ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती देवी के पुत्र वाकाटक राजा प्रवरसेन के नाम से लिखा था। अभिलेख का श्लोक इस प्रकार है—

"येन प्रवरसेनेन धर्मसेतुं विवृण्वता
परः प्रवरसेनोपि जितः प्राकृतसेतुकृत् ॥"

राजा (यशोवर्मा) ने अपनी प्रवरसेना द्वारा स्थापित धर्मसेतुओं से दूसरे प्रवरसेन को पीछे छोड़ दिया, क्योंकि उसने तो केवल एक साधारण सेतु का ही निर्माण किया था। एक अन्य अभिलेख में यशोवर्मा के सम्बन्ध में यह कहा गया है, कि—

"मयूररचिते पादस्तवे तुष्टो अंशुमानिति
स्पर्धयेवान्वहं प्राज्य राजहंस कृते तु यः" ॥

सूर्य एक मयूर (कवि) की पद्यमय प्रशंसा से संतुष्ट हो गया, किन्तु इसके विपरीत राजा (यशोवर्मा) हंसगण से प्रतिदिन अपने चरण पुजवाता रहा। कवि मयूर महाकवि बाण का श्वसुर था, और उसने 'सूर्यशतक' काव्य की रचना की थी। अभिलेख के इस

श्लोक में मयूर कवि के प्रति श्लेषोक्ति विद्यमान है। इसी प्रकार की श्लेषोक्तियाँ वृहत्कथाकार गुणाढ्य, कामसूत्रकार वात्स्यायन, तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि के सम्बन्ध में भी अभिलेखों में पायी जाती है, जिससे कम्बुज के विद्वानों का इनके ग्रन्थों से परिचित होना प्रमाणित होता है।

कम्बुज के लोग मनुस्मृति से भी भली-भाँति परिचित थे। राजा उदयवीरवर्मा के स्दोक काक थोम अभिलेख में 'मानवनीतिसार' का उल्लेख है, जो मानव सम्प्रदाय का नीतिविषयक ग्रन्थ था। मनु द्वारा ही मानव विचार-सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया गया था। यशोवर्मा के प्रसत कोमनप अभिलेख में मनुसंहिता का एक श्लोक भी दिया गया है, जो इस प्रकार है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद यदुत्तरम्॥

पाँच कारणों से मनुष्य सम्मान प्राप्त करता है, धर्म से, बन्धु-बान्धवों से, आयु से, कर्म से और विद्या से। इनमें पहले की तुलना में बाद में कहे गए कारण अधिक महत्त्व के हैं, अर्थात् धन, आयु या कर्म की तुलना में विद्या के कारण मनुष्य को अधिक सम्मान प्राप्त होता है।

भारत के छह आस्तिक दर्शनों में वैशेषिक और न्याय दर्शनों का अनेक अभिलेखों में उल्लेख आया है। सम्बोर प्रेई कुक अभिलेख में वैशेषिक और न्याय दोनों दर्शनों के नाम दिये गए हैं, और यशोवर्मा के सूखी झील के पूर्वी तट पर स्थित अभिलेख में इस राजा को 'न्यायशास्त्र का वेत्ता' कहा गया है (**अप्रमेयतमः पक्षमजयन्न्यायवित् कलिम्**)। सांख्य दर्शन का उल्लेख भी इसी अभिलेख में आया है (**यतो वदन्त्यसाङ्ख्यन्तु तत्त्वज्ञा गुणविस्तरम्**)। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का भी कम्बुज देश में पठन-पाठन होता था। राजा जयवर्मा प्रथम के अभिलेख में दो मन्त्रियों का उल्लेख है, जो धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के ज्ञाता थे (**धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ**)। मनुसंहिता सदृश ग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहा जाता था, और कौटलीय अर्थशास्त्र सदृश नीतिग्रन्थों को अर्थशास्त्र। जो धर्मशास्त्र कम्बुज देश में विशेष रूप से प्रचलित थे, उनमें मनुसंहिता के अतिरिक्त शैवस्मृति और शैवश्रुति का विशिष्ट स्थान था। क्योंकि कम्बुज में मुख्यतया शैव धर्म का प्रचार था, अतः स्वाभाविक रूप से वहाँ के आचार-विचार शैव धर्मग्रन्थों पर आधारित थे। राजा राजेन्द्रवर्मा ने तो उनके आधार पर एक नई सदाचारविधि का भी निर्माण कराया था, जैसे कि उसके मेबोन अभिलेख में सूचित किया गया है—

स कल्पयामास महेन्द्रकल्पस्सदा सदाचारविधिं विधेयम्।
शैवश्रुतिस्मृत्युदितां सपर्य्यां पर्याप्तमासामिह देवतानाम्॥

ज्योतिष ग्रन्थों में होराशास्त्र कम्बुज देश में पढ़ा जाता था। राजा यशोवर्मा के फिमानक अभिलेख में सत्याश्रय नामक एक मन्त्री का उल्लेख है, जिसे होराशास्त्र-रूपी समुद्र के पार उतरने वाला कहा गया है (तस्य राजाधिराजस्य होराशास्त्राब्धिपारगः, यश्श्रीसत्याश्रयाख्योऽभून्मन्त्री मन्त्रीव वज्रिणः)। रामायण के रचयिता

बाल्मीकि मुनि का उल्लेख यशोवर्मा के सूखी झील के पूर्वी तटवर्ती अभिलेख में है (वल्मीकजमुखोद्गीर्णं स्वपुत्रो राघवस्य तु), और महाभारत के संकलयिता व्यास का प्रासात प्र: थात के अभिलेख में (भवज्ञानेन निहितं व्यासमल्लनिवन्धनम्)। इस अभिलेख के अन्त में यह भी कहा गया है, कि जो कोई व्यास के ग्रन्थ को नष्ट करेगा, वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ नरक में रहेगा। कम्बुज देश में महाभारत का कितना आदर था, यह इससे स्पष्ट है। व्याकरण में पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य का कम्बुज में बहुत प्रचार था। अभिलेखों में अनेक ऐसे प्रयोग आये हैं, जो पाणिनि और पतञ्जलि के व्याकरणों के अध्ययन का संकेत करते हैं। इसी प्रकार कितने ही ऐसे श्लोक भी अभिलेखों में विद्यमान हैं, जो कालिदास, भारवि आदि के काव्यों की छाया प्रतीत होते हैं। यह तभी सम्भव था, जबकि इन महाकवियों के काव्यों का कम्बुज देश में भली-भांति पठन-पाठन होता हो।

ब्राह्मण हिरण्यदामा द्वारा जिस तन्त्रविधि की शिक्षा शिवकैवल्य को दी गयी थी, उसमें प्रयुक्त होने वाले ग्रन्थों के नाम भी अभिलेखों में दिये गये हैं, जिन्हें इसी अध्याय में देवराज सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए लिखा जा चुका है। शैव आगम के ये ग्रन्थ भी भारत से ही कम्बुज देश में ले जाये गये थे। वास्तविकता यह है, कि भारत में दर्शन, काव्य, कला, आयुर्वेद आदि का जो भी साहित्य विकसित हुआ, भारत के विभिन्न प्रदेशों के समान कम्बुज में भी उसका प्रवेश हुआ और वहाँ के लोग भी उसके अध्ययन में तत्पर रहे। इसका कारण यह था, कि भारत और कम्बुज देश में सम्बन्ध निरन्तर कायम रहा था, और दोनों के बीच में विद्वानों का आना-जाना होता रहता था। हिरण्यदामा और दिवाकरभट्ट सदृश कितने ही भारतीय विद्वान् कम्बुज गये और वहाँ उन्होंने सम्मानित स्थान प्राप्त किये। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन्हीं भारतीय विद्वानों के साथ सम्पर्क का यह परिणाम था, कि कम्बुज देश में अनुश्रुति, साहित्य आदि की वही परम्परा विकसित हो गयी थी, जो कि भारत में थी। वशिष्ठ, दिलीप, युधिष्ठिर, भीम, रावण, कृष्ण आदि का कम्बुज के अभिलेखों में अनेक बार उल्लेख आया है, और इन अभिलेखों को पढ़कर यह कल्पना कर सकना कठिन हो जाता है कि इन्हें भारत से सहस्रों मील दूर पर स्थित एक देश में उत्कीर्ण कराया गया था।

(६) आर्थिक जीवन

यद्यपि कम्बुज देश के अभिलेखों का सम्बन्ध प्रधानतया धर्म-मन्दिरों और उनमें प्रतिष्ठापित मूर्तियों के साथ है, पर उनसे वहाँ की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत मिल जाते हैं। कम्बुज देश का आर्थिक जीवन मुख्यतया कृषि और पशुपालन पर आधारित था। ये ही वहाँ के निवासियों की आजीविका के प्रधान साधन थे। छठी सदी के अन्त के राजा ईशानवर्मा के वात सवाव अभिलेख में राजकीय आज्ञा द्वारा देवमन्दिर के लिये प्रदान किये गये किङ्करों (नौकरों) गौओं, भैंसों तथा चावल के खेतों का उल्लेख है। दसवीं सदी के फूनोम वान्ते अभिलेख में भी क्षेत्रों

(खेतों), किङ्करों और केदारों (साक सब्जी के खेतों) के दान दिये जाने का वर्णन है। लोगों का मुख्य भोजन तण्डुल (चावल) था, पर उसके अतिरिक्त कोदों, मूंग, तिल आदि कृषिजन्य पदार्थों तथा घी, दूध, मधु, तेल, गुड़ आदि अन्य भोज्य वस्तुओं का भी अभिलेखों में उल्लेख मिलता है। खेती के लिए बैल आदि पशुओं का प्रयोग होता था, और किंकर तथा दासकृषिवल (खेती करने वाले दास) खेती का काम किया करते थे।

तेरहवीं सदी में चू-ता-कुवान नामक चीनी यात्री कम्बुज आया था। उसने वहाँ का जो विवरण लिखा है, उसमें खेती के सम्बन्ध में यह आया है कि "इस देश में प्रतिवर्ष तीन बार फसलें काटी जाती हैं।...खेतों को उर्वर बनाने के लिए पाखाना इस्तेमाल नहीं किया जाता, क्योंकि लोग गन्दा समझ कर उससे घृणा करते हैं।... यहाँ गेहूँ की बहुत माँग है, किन्तु चीन से उसका निर्यात निषिद्ध है।" ऐसा प्रतीत होता है, कि कम्बुज देश में गेहूँ की पैदावार नहीं होती थी। अभिलेखों में उसका उल्लेख नहीं मिलता।

यद्यपि कम्बुज देश के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार खेती थी, पर अनेक व्यवसाय एवं शिल्प भी वहाँ विकसित हो गये थे। तन्तुवाय (जुलाहा), सुनार, गान्धिक, स्थपिति, शिल्पी आदि के व्यवसाय अच्छी उन्नत दशा में थे। जयवर्मा सप्तम के ता-प्रोह्म अभिलेख में राजा द्वारा अपने गुरु को दिए गए दान का विशद रूप में उल्लेख है। दान में दी गई वस्तुओं में तन्तुवाय के घर से और ग्राम की दूकानों से मंगाये गये कपड़ों के हजारों जोड़ों का भी वर्णन है (तन्तुवायगृहात् ग्रामादापणादेश्च वासाम्, युगलानांसहस्राणि चत्वारिंशच्च पञ्चकम्)। इसी प्रसंग में चीनांशुक पटों (चीनी रेशम से बने वस्त्रों) और देववस्त्रादि विविध वस्त्रों के भी दान में दिये जाने का उल्लेख है (देववस्त्रादिवस्त्राणां युगलानि शतानि षट्, चीनांशुकमयाः पञ्चचत्वारिंशत्पटा अपि), जिससे सूचित होता है कि कम्बुज देश में वस्त्र व्यवसाय अच्छी उन्नत दशा में था, और वहाँ सूती तथा रेशमी सब प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। कम्बुज देश में आभूषण पहनने का भी बहुत रिवाज था, और स्त्रियाँ तथा पुरुष दोनों ही कानों, गले, बाहुओं आदि में गहने पहना करते थे। वस्त्रों पर भी सोने और चाँदी का जरी का काम करने की वहाँ प्रथा थी। इसलिये सुनार का व्यवसाय भी वहाँ बहुत उन्नत दशा में था। सुनार या सुवर्णकार के लिये अभिलेखों में 'चामीकरकार' शब्द प्रयुक्त किया गया है। जयवीरवर्मा के प्रह को अभिलेख में चामीकरकारों के वर्ण्ण या वर्ण का उल्लेख है, और यह लिखा है कि देवीपुर की जनता के निवेदन को स्वीकार कर राजा ने वहाँ के निवासियों को चामीकरकार वर्ग का सदस्य बनने की अनुमति प्रदान कर दी थी (राजाधिराजो नगनेत्ररन्ध्रे देवीपुरस्था जनतास्तदानीम्, चकार चामीकरकारवर्ण्णं निवेदनात्तस्य सुशिल्पबुद्धीः)।

कम्बुज के अभिलेख में शिल्पियों और स्थापकाचार्य (स्थपिति) का भी उल्लेख विद्यमान है। राजा जयवर्मा-परमेश्वर के वायोन अभिलेख में शिल्पियों, स्थापकाचार्यों ब्राह्मणों, ज्योतिषियों आदि को दी गयी दान-दक्षिणा का विवरण दिया गया है। जिसमें सोने और चाँदी के बर्तन भी सम्मिलित हैं। स्थापकाचार्य या स्थपिति मकान

बनाने का काम करते थे, और शिल्पियों से लुहार, बढ़ई आदि अन्य कारीगर अभिप्रेत थे। राजा हर्षवर्मा तृतीय के पल्हल अभिलेख में एक ब्राह्मण परिवार का उल्लेख है, जिसके कतिपय सदस्यों ने राजा की आज्ञा से शिल्पी व्यवसाय स्वीकार कर लिया था (शिल्पवित्तमुपश्लिष्टः परिचरणेन्वभृतं तदाज्ञया तदा शिल्पी भूत्वा धर्माह्वयो नरः)। कम्बुज देश में शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि की मूर्तियों का निर्माण होता था, नौकाएँ बनायी जाती थीं और विविध प्रकार के वाहन (पालकी, गाड़ी आदि) भी तैयार किये जाते थे। इनके लिए पृथक् प्रकार के शिल्पी होते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। कम्बुज देश के ये विविध शिल्पी एवं व्यवसायी संगठनों में भी संगठित थे, इसके भी कुछ संकेत अभिलेखों में विद्यमान हैं। तेरहवीं सदी के राजा श्रीन्द्रवर्मा के बन्ते स्रे ई अभिलेख में त्रिपटाक नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है, जो इस प्रकार के एक संघ (ऐसे संघों को भारत में 'श्रेणि' कहा जाता था) का अध्यक्ष या मुखिया था। व्यवसायियों के इन संगठनों पर अभिलेखों से कोई परिचय नहीं मिलता।

कम्बुज देश में व्यापार की क्या दशा थी, इस सम्बन्ध में भी कुछ संकेत अभिलेखों में विद्यमान हैं। राजा जयवर्मा सप्तम के ता प्रोह्म अभिलेख में चीनांशुक का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि रेशम चीन से कम्बुज में बिक्री के लिए आया करता था। दसवीं सदी के राजा हर्षवर्मा के एक अभिलेख में एक राजाज्ञा का उल्लेख है जिस द्वारा वाप चीन नामक व्यक्ति के जब्त हुए माल को छोड़ देने का आदेश दिया गया था। इस माल में सोना, चाँदी, हाथी, गाय, बैल आदि थे। सम्भवतः, वाप चीन एक चीनी था, जो व्यापार के लिये कम्बुज देश में बसा हुआ था। व्यापार के विषय में चीनी यात्री-शू-ता-कुवान के ये कथन महत्त्व के हैं—"इस देश में स्त्रियाँ व्यापार का कार्य करती हैं। चीन की सोने और चाँदी की कीमत बहुत होती हैं, और इनके बाद चीन के रेशमी वस्त्र, रांगा चीनी बरतन, हल्दी, कागज, शोरा आदि अधिक महत्त्व रखते हैं।" स्पष्ट है कि रेशमी वस्त्र, कागज आदि चीन से कम्बुज देश में आया करते थे।

कम्बुज के अभिलेखों में किंकरों और दास-दासियों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। मन्दिरों को दान देने के प्रसंग में जहाँ सोना, चाँदी, धन धान्य आदि का वर्णन किया जाता है, वहाँ साथ ही प्रायः दास-दासियों का भी उल्लेख कर दिया जाता है। राजा जयवर्मा सप्तम के प्रखान अभिलेख में उस द्वारा स्थापित आश्रमों, मन्दिरों, धर्मशालाओं आदि में काम करने के लिये २,०८,५३२ दास-दासियों के दिये जाने का वर्णन है। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्बुज देश में दास प्रथा की सत्ता थी।

सम्भवतः, धातु व्यवसाय भी कम्बुज में भली-भाँति विकसित था। अभिलेखों में बहुत-सी धातुओं के नाम आये हैं, जिनमें लोहा, ताँबा, कांसा, सीसा, सोना, चाँदी और रांगा उल्लेखनीय हैं। जयवर्मा सप्तम के प्रखान अभिलेख में इन सब का वर्णन है। इसी अभिलेख में पद्मराग, मुक्ता, रत्न आदि का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि बहुमूल्य धातुओं के साथ-साथ मणिमुक्ता आदि का भी कम्बुज के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वस्तुओं को तोलने के लिए कम्बुज देश में जिन बाटों का प्रयोग होता था, उनके

विषय में कुछ सूचनाएँ अभिलेखों से प्राप्त होती हैं। ये वाट खारिका, द्रोण, प्रस्थ और कुदुव थे। खारिका १२८ सेर के बराबर होता था, और दोण ८ सेर के। प्रस्थ एक सेर के लगभग होता था। कुदुव का प्रयोग घी, तेल, मधु सदृश द्रव पदार्थों को नापने के लिये किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्बुज देश का आर्थिक जीवन अच्छी उन्नत दशा में था, जिसके कारण वहाँ के प्रतापी राजा दूर-दूर तक विजय-यात्राएं करने में समर्थ हुए थे।

नौवाँ अध्याय

कम्बुज में भारतीय संस्कृति के मूर्त अवशेष

(१) अभिलेख

कम्बोडिया के भारतीय राज्यों और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के प्रमुख साधन वे अभिलेख हैं, जो वहाँ अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। जावा के समान कम्बोडिया में कोई ऐसा साहित्य नहीं है, जिससे वहाँ के भारतीय राजाओं का इतिवृत जाना जा सके। पर अभिलेखों में यह देश बहुत समृद्ध है। वहाँ से प्राचीन काल के जो अभिलेख अब तक प्राप्त किये जा सके हैं, उनकी संख्या तीन सौ से भी अधिक है। इनमें से कुछ अभिलेख तो बहुत विशाल हैं, और आकार में वे खण्ड-काव्यों से भी बड़े हैं। राजा राजेन्द्रवर्मा के मेबोन अभिलेख में २१८ श्लोक हैं, और प्रे रूप अभिलेख में २९८। इस राजा के अन्य अभिलेखों में भी श्लोकों की संख्या १०७ और ५८ है। सेनापति संग्राम के प्रह तोक अभिलेख में १६१ श्लोक हैं, और राजा उदयादित्यवर्मा के प्रसत ख्न अभिलेख में १२२। सूर्यवर्मा द्वितीय का वन थन अभिलेख तीन सर्गों में है, और उसमें कुल मिलाकर १३६ श्लोक हैं। राजा यशोवर्मा और राजा जयवर्मा सप्तम के अभिलेख भी अच्छे बड़े-बड़े हैं। ये सब अभिलेख संस्कृत में हैं, और इन में काव्य की अनुपम छटा दिखायी देती है। इनके श्लोकों के लिए अनुष्टुप्, आर्या, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीड़ितम्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, वसन्ततिलक, पुष्पिताग्र संवृत्त, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, वैतालीय आदि सभी प्रमुख छन्दों का उपयोग किया गया है। अनेक अभिलेख राजाओं की प्रशस्ति के रूप में हैं, और उनमें राजाओं, की वंशावलियाँ भी दी गयी हैं। पर अभिलेखों का मुख्य विषय मन्दिरों का निर्माण, उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा मन्दिरों से सम्बद्ध आश्रमों आदि के लिए प्रदान की गई दान-दक्षिणा का उल्लेख करना है। बहुत-से लेख जहाँ राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हैं, वहाँ ऐसे अभिलेख भी अच्छी बड़ी संख्या में हैं, जिन्हें राजाओं के सेनापतियों, पुरोहितों व अन्य पदाधिकारियों द्वारा लिखवाया गया था। ये अभिलेख चट्टानों, प्रस्तर-शिलाओं मन्दिरों के द्वारों और भित्तियों आदि पर उत्कीर्ण हैं। कम्बुज देश में विरचित कोई संस्कृत काव्य तो अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं, पर इन अभिलेखों को पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि इस देश में संस्कृत साहित्य और काव्य आदि का खूब पठन-पाठन होता था और वहाँ के विद्वान् काव्य रचना में भी तत्पर रहा करते थे। वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृतिग्रन्थ, रामायण, महाभारत, पुराण, महाभाष्य आदि प्राचीन भारतीय संस्कृत ग्रन्थों का उन्हें भलीभाँति परिज्ञान था। यही कारण है, जो इन अभिलेखों पर इस साहित्य की छाप भी विद्यमान है।

कम्बुज के बहुत-से अभिलेख ऐसे भी हैं, जिनकी रचना संस्कृत के साथ-साथ ख्मेर भाषा में भी की गई है। राजा उदयादित्यवर्मा के स्दोक काक थोम अभिलेख में संस्कृत की १९२ पंक्तियाँ (१३० श्लोक) हैं, और ख्मेर भाषा की १४६ पंक्तियाँ हैं। जयवर्मा पञ्चम के वन्ते स्रेई अभिलेख में संस्कृत के ४४ श्लोकों के साथ-साथ ख्मेर भाषा में भी ११ पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। हर्षवर्मा तृतीय के लोंवेक शिलालेख में संस्कृत के ५९ श्लोक हैं और ख्मेर भाषा के अभिलेख की ४५ पंक्तियाँ हैं। इन अभिलेखों में ख्मेर भाषा की पंक्तियों में संस्कृत श्लोकों का अनुवाद ही नहीं है, अपितु उनमें ऐसी भी बातें हैं, जो संस्कृत श्लोकों में नहीं हैं। इसीलिए इन अभिलेखों के दोनों ही भागों का अनुशीलन उपयोगी है। अनेक राजाओं तथा पण्डितों के संस्कृत नामों के साथ ख्मेर अभिलेखों में उनके ख्मेर नाम व विरुद भी दिए गए हैं, जिनसे कम्बुज देश की संस्कृति के एक अन्य पहलू का भी परिचय प्राप्त होता है। स्दोक काक थोम अभिलेख के ख्मेर भाग में श्रीजयेन्द्र पण्डित के गुरु का नाम कम्रतन् अन् श्री वागीन्द्र पण्डित लिखा गया है। यह स्पष्ट है, कि कम्रतन् अन् गुरु का ख्मेर विरुद है।

कम्बुज के अभिलेखों में जिस संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है, वह प्रायः शुद्ध है और उसमें पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में प्रतिपादित व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पालन किया गया है। इसका कारण यह है, कि भारत के समान कम्बुज में भी पाणिनि और पतञ्जलि के व्याकरण का पठन-पाठन होता था। एक अभिलेख में राजा यशोवर्मा के विषय में तो यह भी कहा गया है, कि उसने महाभाष्य की व्याख्या भी की थी। यशोवर्मा का यह श्लोक निम्नलिखित है—

नागेन्द्र वक्त्रविषवृष्टतयेव भाष्यं मोहप्रदं प्रतिपदं किल शाब्दिकानाम्।
व्याख्यामृतेन वदनेन्दुविनिर्गतेन यस्य प्रबोधकरमेव पुनः प्रयुक्तम्॥

यद्यपि कम्बुज के बहुसंख्यक अभिलेखों की संस्कृत भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है, पर कतिपय अभिलेख ऐसे भी हैं जिनमें विभक्ति, लिंग आदि के प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुरूप नहीं हैं। ये अभिलेख प्रायः बाद के हैं, जब कि तुर्क आक्रमणों के कारण भारत के सांस्कृतिक विकास में बाधा उपस्थित हो गई थी, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के राज्यों के साथ भारत के सम्बन्ध का भी प्रायः अन्त हो गया था। इस दशा में यदि कम्बुज की संस्कृत भाषा का विकास भारत की संस्कृत से कुछ भिन्न प्रकार से होने लग गया हो, तो यह स्वाभाविक ही था। यही कारण है, जो कम्बुज के अभिलेखों की संस्कृत में ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जो पाणिनीय व्याकरण के अनुरूप नहीं हैं। उनमें कतिपय ऐसे शब्द भी आये हैं, जो भारत के संस्कृत काव्यों एवं अभिलेखों में नहीं पाये जाते। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्बुज के अभिलेख उस देश में भारतीय संस्कृति की सत्ता के ठोस प्रमाण हैं। उनके अनुशीलन से एक ऐसे देश का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है, जहाँ भारतीय धर्मों का प्रचार था, जहाँ शिव, विष्णु और बुद्ध के मन्दिर स्थापित थे, जहाँ पौराणिक और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की जाती थीं, जहाँ वेदशास्त्र पुराणों का पठन-पाठन होता था, और जहाँ के राजा अपने आदेश संस्कृत भाषा में जारी किया करते थे।

(२) अङ्कोर क्षेत्र के अवशेष

कम्बुज देश में भवन निर्माण कला और मूर्तिकला का विकास किस प्रकार हुआ, और इन पर भारत का प्रभाव किस अंश तक था, इस विषय पर हम अगले प्रकरण में विचार करेंगे। पर अङ्कोर क्षेत्र में विद्यमान भारतीय संस्कृति के जो ठोस अवशेष दर्शकों को आश्चर्य में डालते हैं, पहले उनका उल्लेख करना उपयोगी होगा।

राजा यशोवर्मा (८८९-९०९ ई०) ने सबसे पूर्व अङ्कोर क्षेत्र को अपनी राजधानी बनाने के लिए चुना था। उदयादित्यवर्मा के स्डोक काक थोम अभिलेख में लिखा है, कि "तब परमभट्टारक परमशिवलोक (यशोवर्मा) ने यशोधरपुर नगरी बसायी और जगत-ता-राजा (देवराज) को हरिहरालय से ले आये। फिर परमभट्टारक ने केन्द्रीय शिखर (मन्दिर) बनवाया, और वामशिव ने उसके मध्य में पवित्र लिंग (देवराज) को प्रतिष्ठापित किया।" जिस केन्द्रीय शिखर या मन्दिर के चारों ओर यशोधरपुर बसाया गया था, वह कौन-सा था, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद रहा है। पहले यह माना जाता था, कि यह बायोन का मन्दिर था जो इस समय भी विद्यमान है। पर अब इस मन्तव्य का निराकरण किया जा चुका है, और यह माना जाता है कि यशोवर्मा द्वारा निर्मित यशोधरपुर नगर फ्नोम बखेङ् के मन्दिर का केन्द्र बना कर बसाया गया था। फ्नोम बखेङ् के मन्दिर की स्थिति अङ्कोर वात और अङ्कोर थोम के बीच में है, और उसके चारों ओर यशोवर्मा ने अपने नाम से जिस नगर को बसाया था, वह तीन सदी के लगभग तक कम्बुज देश की राजधानी रहा। बाद में राजा जयवर्मा सप्तम (११८१-१२०१) ने अङ्कोर क्षेत्र में ही एक नये नगर का निर्माण कराया, जिसका केन्द्र बायोन मन्दिर था। जयवर्मा सप्तम द्वारा स्थापित यह नगर ही अङ्कोर थोम कहाता है, जो यशोधरपुर के स्थान पर कम्बुज देश की राजधानी बन गया। इस नये नगर के निर्माण से पूर्व राजा सूर्यवर्मा द्वितीय (१११२-५२ ई०) ने अङ्कोर वात के उस प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया था, जो कम्बुज देश की सबसे अद्भुत वास्तुकृति है। अङ्कोर क्षेत्र में जहाँ यशोवर्मा द्वारा निर्मित यशोधरपुर के और जयवर्मा सप्तम द्वारा निर्मित अङ्कोर थोम के भग्नावशेष विद्यमान हैं, वहाँ उनसे भी अधिक महत्त्व के अवशेष अङ्कोर वात के मन्दिर के हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से मन्दिरों के भग्नावशेष इस क्षेत्र में हैं, जो कम्बुज की वास्तुकला के क्रमिक विकास के परिचायक हैं।

अङ्कोर वात—यह एक विशाल मन्दिर है, जिसके चारों ओर की परिखा चौड़ाई में ६५० फीट है। इसे परिखा के बजाय झील कहना अधिक उपयुक्त होगा। मन्दिर ढाई मील के घेरे में स्थित है, अतः इस परिखा की लम्बाई भी ढाई मील के लगभग है क्योंकि परिखा के मन्दिर को चारों ओर से घेरा हुआ है। परिखा के साथ-साथ अन्दर की ओर एक प्राचीर है, जो मन्दिर के चारों ओर बनी है। जैसे दुर्गों के चारों ओर ऊँची दीवार (प्राचीर) होती है, जो परिखा द्वारा घिरी रहती है, ठीक वैसे ही इस मन्दिर में भी है। जल से भरी परिखा को पार कर मन्दिर में जाने के लिए एक पुल

वना है, जो छत्तीस फीट चौड़ा है। पुल के दोनों ओर जंगले वने हैं, जिनके स्तम्भों पर नागों की मूर्तियाँ वनायी गई हैं और इन नागों ने अपने फण आगे की ओर फैलाये हुए हैं। परिखा के पुल से पार कर जव प्राचीर पर पहुँचते हैं, तो वहाँ से अन्दर जाने के लिए एक विशाल द्वार वना है जिसके दोनों ओर पहले दो इमारतें थीं जो पुस्तकालयों के काम आती थीं। इस द्वार का मुख पश्चिम की ओर है। इससे अन्दर प्रविष्ट होते ही एक लम्वी गैलरी मिलती है जो चतुर्भुज आकार की है। यह गैलरी पूर्व से पश्चिम की ओर २६५ गज है और उत्तर से दक्षिण की ओर २२४ गज। इस प्रकार इस गैलरी की कुल लम्वाई १००० गज के लगभग हो जाती है। इसके वड़े भाग (२५०० फीट के लगभग) में वहुत-सी चित्रावलियाँ अंकित हैं, जिनका सम्वन्ध विष्णु और यमलोक के कथानकों के साथ है। यह गेलरी एक ऐसे पथ के रूप में है, जो ऊपर से ढका हुआ है और जिसने मन्दिर के सवसे निचले स्तर-भाग को चारों ओर से घेर रखा है। ऊपर की तरफ जाने के लिए मुख्य द्वार से एक सोपान गई है, जिससे ऊपर चढ़ने के वाद एक वड़ा सहन आ जाता है, जिसमें भी अनेक गैलरियाँ वनी हैं और उन गैलरियों के कारण वहाँ चार चौक भी वन गये हैं। यहाँ से फिर एक अन्य सोपान ऊपर की ओर जाती है, जो एक खुले आँगन में पहुँच जाती है। यह आँगन एक विशाल ऊँचे प्लेटफार्म के समान है, जिसके चारों कोनों पर वुर्ज या शिखर वने हुए हैं, और जिसके चारों ओर ऐसे स्तम्भों की एक शृंखला विद्यमान है जिन्हें ऊपर से जोड़ा हुआ है। नीचे की भूमि से यह प्लेटफार्म पर्याप्त ऊँचाई पर है, क्योंकि इस तक पहुँचने के लिए दो सोपानों से चढ़ना पड़ता है। इस प्लेटफार्म के वीच में एक ऊँचा पिरामिड वनाया गया है, जिसके ऊपर मुख्य मन्दिर विद्यमान है। इस मन्दिर में पहुँचने के लिए पर्वताकार पिरामिड के चारों ओर सीढ़ियाँ वनाई गई हैं। इस मन्दिर के केन्द्रीय शिखर की ऊँचाई भूमि की सतह से २१० फीट है। जिस प्लेटफार्म के ऊँचे पिरामिड पर मन्दिर या देवस्थान निर्मित है, उसके चारों कोनों पर चार अन्य शिखर वने हुए हैं, जो केन्द्रीय शिखर की तुलना में ऊँचाई में कम हैं। पहले इस मन्दिर में देवराज की मूर्ति प्रतिष्ठापित थी, जो अव वहाँ नहीं है। केन्द्रीय शिखर के नीचे एक कुआँ है, जो १२० फीट गहरा है। उससे कुछ सुवर्ण निर्मित वस्तुएं भी उपलव्ध हुई हैं।

अङ्कोर वात के मन्दिर की भित्तियों तथा गैलरियों में पापाण को खोदकर जो अलंकरण वनाये गये हैं, वे अत्यन्त सुन्दर तथा कलात्मक हैं। भित्तियों पर फूलपत्तों और देवकन्याओं को वहुत वारीकी से वनाया गया है। प्रस्तरों पर उत्कीर्ण करके जो चित्रावलियाँ वनाई गई हैं, उनका सम्वन्ध केवल देवी-देवताओं से ही नहीं है। एक स्थान पर राजा, रानी और राजकुमारों के चित्र उत्कीर्ण हैं। वहीं भाले और धनुप-वाण लिए अंगरक्षक वनाये गये हैं, जिनके सामने कानों में कुण्डल धारण किए हुए लम्वे व्राह्मण वड़े गर्व के साथ विराजमान हैं। अन्यत्र मन्त्रियों की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। एक स्थान पर सेनापतियों की प्रतिमाएं भी विद्यमान हैं। वहुत-सी मूर्तियों तथा दृश्यों के नीचे नाम भी खुदे हैं। अङ्कोर वात की गैलरियों में जो चित्रावलियाँ उत्कीर्ण हैं, उनमें विष्णु और कृष्ण की कथाएं, असुरों और देवों द्वारा समुद्र का मन्थन, तथा

रामायण की कथाएँ विशेष रूप से अंकित हैं।

अङ्कोर थोम—अङ्कोर वात के उत्तर में एक मील की दूरी पर अङ्कोर थोम की स्थिति है, जिसे राजा जयवर्मा सप्तम (११८१-१२०१) ने एक नई नगरी के रूप में बसाया था और यशोधरपुर के स्थान पर उसे अपनी राजधानी बनाया था। यह नगरी अब प्रायः ध्वंस हो चुकी है, पर इसके जो भग्नावशेष विद्यमान हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इसके चारों ओर एक ऊँची दीवार (प्राचीर) थी, जो एक ३३० फीट चौड़ी परिखा से घिरी हुई थी। परिखा की कुल लम्बाई साढ़े आठ मील के लगभग थी, और उसके दोनों किनारों के साथ-साथ विशालाकार पत्थर लगाये गये थे। नगरी प्रायः वर्गाकार थी, और उसका प्रत्येक पार्श्व दो मील लम्बा था। परिखा को पार कर नगरी तक जाने के लिए पाँच पुल बनाये गये थे। जिनकी मुंडेरें पत्थर की थीं और उन्हें इस ढंग से बनाया गया था, कि उनसे नौ सिरवाले साँप झाँकते दिखायी दें। पुलों के दोनों ओर विशालकाय दैत्य बनाये गये थे, जिन्होंने साँपों को अपने हाथों में पकड़ा हुआ था। पुलों से परिखा को पार करने पर प्राचीर आती थी, जिसमें पाँच महाद्वार बने हुए थे। पाँचों द्वार एक जैसे थे। उनकी तोरण तक ऊंचाई ३० फीट थी और चौड़ाई में वे १५ फीट थे। द्वारों के दोनों पार्श्वों को हाथियों के सिरों पर उठाया हुआ दिखाया गया था। द्वारों के तोरणों पर शिखर बने हैं, जिसके कारण उनकी ऊँचाई ७० फीट हो गई है। अङ्कोर थोम नगरी के ठीक बीच में बायोन का मन्दिर था, जिसके उत्तर में एक खुला मैदान था, जिसकी लम्बाई ७६५ गज और चौड़ाई १६५ गज थी। इस मैदान के एक ओर बायोन का मन्दिर था और अन्य ओर बापुओन, फिमेनाक आदि की इमारतें थीं। नगरी के महाद्वारों से तीन महापथ बायोन के मन्दिर की ओर जाते थे, और दो महापथ मन्दिर के उत्तर में स्थित मैदान की ओर। ये महापथ १००० फीट चौड़े थे। नगरी की मुख्य इमारतें इन महापथों के समीप बनी हुई थीं, जिनमें राजप्रासाद और राज्य के प्रमुख मन्त्रियों, पदाधिकारियों और अन्य सम्भ्रान्त लोगों के निवासस्थान प्रमुख थे। सरकारी कामकाज के भवन, मन्दिर और मठ आदि भी नगरी के भीतरी क्षेत्र में थे। पर सर्वसाधारण जनता परिखा के बाहर निवास किया करती थी। कितने ही सरोवर भी इस नगरी में बने हुए थे। अङ्कोर थोम की पुरानी इमारतें वर्तमान समय में प्रायः नष्ट हो गई हैं, पर उनके ध्वंसावशेष अब भी विद्यमान हैं। महापथों के दोनों ओर बापुओन के मन्दिरों के आस-पास और टूटे-फूटे सरोवरों के समीप ईंटों, पत्थरों और ठीकरों के बड़े-बड़े ढेर इस नगरी के पुराने गौरव का स्मरण दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। मूर्तियों के खण्ड भी वहाँ सर्वत्र बिखरे पड़े हैं।

बायोन का मन्दिर—जयवर्मा सप्तम द्वारा स्थापित अङ्कोर थोम नगरी के ठीक मध्य में बायोन मन्दिर की स्थिति थी, जो वर्तमान समय में भी कुछ भग्न दशा में विद्यमान है। इस मन्दिर की दीवारें पत्थरों से बनायी गई हैं, और उन पर नानाविध चित्रावलियाँ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने मैदान में दोनों ओर दो पुष्करणियाँ हैं। बायोन मन्दिर के शिखर की ऊँचाई १५० फीट है। इस मुख्य शिखर के अतिरिक्त चालीस अन्य शिखर भी वहाँ हैं, जिनकी ऊँचाई अपेक्षया कम है। शिखरों

में चारों दिशाओं की ओर मुख बने हुए हैं, जो त्रिनेत्रधारी शिव के मुख हैं। उन पर शिव की जटाएँ बड़ी बारीकी से उत्कीर्ण की गई हैं। ये जटाएँ कभी सुवर्णरञ्जित थीं। मन्दिर की भित्तियों तथा गैलरियों में बहुत-से चित्र विद्यमान हैं, जिन्हें प्रस्तरशिलाओं पर उत्कीर्ण करके बनाया गया है। इन चित्रों में अनेकविध दृश्य अंकित किए गये हैं। कहीं युद्ध के दृश्य हैं, सेनानायक व सामन्त हाथियों पर बैठे धनुष हाथ में लिए हुए हैं, पदाति सैनिक भाले और ढाल लिए खड़े हैं, और कुछ लोग छाती पर रस्से लपेटे हुए हैं। कहीं दाढ़ीवाले ब्राह्मण यज्ञोपवीत पहने वृक्षों की छाया में बैठे हैं। कहीं कुश्ती हो रही है, वादक वीणा बजा रहे हैं और नट एवं बाजीगर अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे हैं। कहीं राजा केवल एक धोती पहने और गले में हार डाले खिड़की पर बैठा है। उसके चारों ओर परिचारक खड़े हैं। खिड़की के नीचे हिरण, साँड, गैंडा, खरगोश आदि को ले जाया जा रहा है कहीं शवयात्रा का दृश्य दिखाया गया है। कहीं राजकुमारियाँ पालकियों पर जा रही हैं, और कहीं बैल रथ को खींच रहे हैं। मछली पकड़ने के दृश्य, समुद्र का युद्ध, परास्त हुए देशों से अपार धन सम्पत्ति लाते हुए हाथी—सभी प्रकार के दृश्य बायोन मन्दिर की भित्तियों पर अंकित हैं। लौकिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन चित्रों के अतिरिक्त बहुत-से चित्र वहाँ ऐसे भी हैं, जिनमें पौराणिक कथाओं, देवताओं के महात्म्य तथा रामायण आदि के कथानकों को अंकित किया गया है। एक चित्र में क्रुद्ध शंकर अपनी तृतीय आँख की ज्वाला से कामदेव को भस्म करते हुए दिखाये गए हैं। पौराणिक गाथाओं के बहुत-से दृश्य इस मन्दिर की भित्तियों पर उत्कीर्ण हैं। राजा जयवर्मा सप्तम बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, अतः स्वाभाविक रूप से बौद्ध मूर्तियों तथा चित्रों को भी इस मन्दिर में स्थान प्राप्त हुआ है। एक चित्र में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर कमल पर खड़े हैं। उनके हाथों में कमल, पुस्तक, माला और दर्पण हैं, और चारों ओर उड़ती हुई अप्सराएँ हैं।

कम्बुज देश का राजकीय उपास्यदेव जगत ता राजा या देवराज था। बायोन के मन्दिर में भी उसी की मूर्ति प्रतिष्ठापित थी। पर कम्बुज राज्य के विविध प्रदेशों में स्थानीय देवता भी थे, जिनकी पूजा वहाँ के लोग किया करते थे। इन विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी बायोन मन्दिर में स्थापित की गई थीं। बौद्ध जयवर्मा सप्तम ने जिन लोकेश्वरों या अवलोकितेश्वरों की मूर्तियाँ इस मन्दिर में स्थापित करायी थीं, वे भी देवाधिदेव देवराज की शक्ति को ही अभिव्यक्त करती थीं। बायोन में पौराणिक और बौद्ध धर्मों का बहुत सुन्दर रूप से समन्वय हुआ था।

नेअक पेअन मन्दिर—अङ्कोर थोम नगरी के अन्दर ही एक अन्य मन्दिर के भी भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिसे नेअक पेअन मन्दिर कहते हैं। इसका निर्माण तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था यह मन्दिर एक ऐसे आधार पर खड़ा है जिसे कमलाकार बनाया गया है। यह कमलाकार आधार एक जलाशय पर बना है, जिसके साथ चार अन्य छोटे जलाशय भी हैं। बड़े जलाशय से छोटे जलाशयों में जल डालने के लिए चार फव्वारे बने हैं, जिनके मुख शेर, घोड़े, हाथी और मनुष्यों के मुखों की अनुकृति में बनाये गये हैं। मन्दिर के कमलाकार आधार को दो नागों ने लपेटा हुआ है। मन्दिर का केवल

एक शिखर है, जिसका आमलक कमल के सदृश है। इस मन्दिर में बोधिसत्त्व लोकेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठापित थी।

बन्ते स्रेई—इस मन्दिर का निर्माण चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में राजा श्रीन्द्रवर्मा के गुरु द्वारा कराया गया था। यहाँ एक ही प्लेटफार्म पर तीन शैवमन्दिर विद्यमान हैं, जिनके चारों ओर खुली जगह है। मन्दिरों के शिखर पर कलश बनाये गये हैं। उनमें प्रवेशद्वार तो एक-एक है, पर शेष तीनों ओर ऐसी दीवारें हैं जो देखने में द्वार मालूम होती हैं। इन मन्दिरों का महत्त्व इनकी भित्तियों आदि पर बनी हुई मूर्तियों तथा चित्रों के कारण है। दीवारों में बने हुए आलों में देवमूर्तियों का निर्माण किया गया है, और उन्हें चारों ओर से कलात्मक पत्र-पुष्पों से अलंकृत किया गया है। मन्दिरों के अतिरिक्त दो अन्य इमारतों की भी यहाँ सत्ता है, जिनका निर्माण पुस्तकालयों के लिए किया गया था। इनमें से एक पर उत्कीर्ण वह मूर्ति विशेष महत्त्व की है, जिसमें रावण कैलाश पर्वत को उठा रहा है।

फ्नोम बखेंग—राजा यशोवर्मा ने नौवीं सदी के अन्तिम भाग में यशोधरपुर नाम से जिस नगरी का निर्माण कराया था, वह भी अङ्कोर के क्षेत्र में ही स्थित थी। उसकी स्थिति अङ्कोर वात और अङ्कोर थोम के बीच में थी। इस नगरी को फ्नोम बखेंग के मन्दिर के चारों ओर उसी तरह से बनाया गया था, जैसे कि बायोन के मन्दिर को केन्द्र बनाकर अङ्कोर थोम का निर्माण किया गया था। जगत का राजा देवराज के मन्दिर ऊंचे स्थान (जो कैलाश या मेरु पर्वत का प्रतिनिधित्व करते हों) पर बनाये जाते थे। अतः फ्नोम बखेंग के मन्दिर का निर्माण भी एक ऐसे ऊँचे स्थान पर किया गया था, जिसके लिए एक पहाड़ी को तराश कर पांच चबूतरों या मंजिलों के पिरामिड में परिणत कर दिया गया था। सबसे ऊपर के चबूतरे पर मन्दिर का निर्माण किया गया था, जिसमें यशोधरेश्वर नामक शिवलिंग प्रतिष्ठापित था। यही शिवलिंग जगत-ता राजा (देवराज) का भी प्रतीक था। फ्नोम बखेंग की यह मुख्य इमारत अब नष्ट हो गई है, पर सबसे ऊपर के चबूतरे पर बने हुए पांच बुर्ज (शिखर) अब भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार के (परन्तु ऊँचाई में कम) शिखर निचले चबूतरों पर भी बने हैं। निचले चबूतरे से उपरले चबूतरे पर जाने के लिए सोपान बनी हैं।

फिमानक—फिमानक मन्दिर का निर्माण भी अङ्कोर क्षेत्र के अन्तर्गत यशोधरपुर नगरी में दसवीं सदी में किया गया था। इसे भी एक ऐसे ऊंचे स्थान पर बनाया गया है, जिसके लिए तीन चबूतरों व मंजिलों वाला एक अच्छा ऊँचा पिरामिड निर्मित है। निचले चबूतरे से उपरले चबूतरे पर जाने के लिए सोपान बनायी गई हैं, जिनके दोनों ओर पत्थर के बने सिंह बैठे हुए हैं। सबसे ऊपर के चबूतरे पर मन्दिर की जो इमारत है, उस पर वर्तमान समय में कोई शिखर नहीं है। सम्भवतः, वे नष्ट हो गये हैं। फिमानक के मन्दिर की अनेक गैलरियाँ इस समय भी सुरक्षित दशा में हैं, और वहाँ जो बहुत-से कोष्ठ बने हैं, वे सम्भवतः, यात्रियों के निवास और भिक्षा के रूप में धान्य के वितरण के काम में आया करते थे।

ताकेओ का मन्दिर—यह भी एक ऊँचे प्लेटफार्म पर बना है, जिसका निर्माण एक

के ऊपर एक बने कई चबूतरों (मंजिलों) से हुआ है। सबसे ऊपर के चबूतरे पर शिव का मन्दिर है, जिसके आठ शिखर हैं। ये आठ शिखर शिव के 'अष्टवपुओं' के प्रतीक हैं। फिमानक के मन्दिर की भांति इसमें भी गैलरियों की सत्ता है।

पर्से्ई चमक्रोङ्—अङ्कोर के क्षेत्र के मन्दिरों में यह भी बहुत पुराना है। इसका निर्माण दसवीं सदी के मध्य भाग में हुआ था। इसे भी एक ऐसे ऊँचे स्थान पर बनाया गया था जो कैलाश या मरु पर्वत का प्रतीक है। जिस ऊँचे पिरामिड पर इस मन्दिर का निर्माण किया गया है, उसमें पाँच चबूतरे या मंजिलें हैं। निचले चबूतरे से ऊपरले चबूतरे पर जाने के लिए चारों ओर चार सोपान बनी हैं। पहले इन सोपानों के दोनों ओर शेर भी बने थे, पर अब वे नहीं रहे हैं।

लोले के मन्दिर—इनका निर्माण राजा यशोवर्मा द्वारा कराया गया था। ये सब एक ही चबूतरे पर बने हैं, और इनमें प्रधानतया शिव और पार्वती की मूर्तियां प्रतिष्ठापित हैं। मन्दिरों के द्वारों के दोनों ओर द्वारपालों की मूर्तियां खड़ी हैं, और उनके ऊपर तथा विविध पार्श्वों में अनेक आले बने हुए हैं, जिनमें विविध देवी-देवताओं की मूर्तियां है। मन्दिरों की छतों से ऊपर ऊँचे शिखर हैं जो कई भागों में विभक्त हैं और नीचे से ऊपर छोटे होते जाते हैं। शिखरों के निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया गया है, पर मन्दिरों के द्वार पत्थर के बने हैं। आलों की मूर्तियों को बनाने में चूने का भी उपयोग हुआ है।

अङ्कोर के क्षेत्र अतिरिक्त कम्बुज में अन्यत्र भारतीय संस्कृति के जो ठोस अवशेष विद्यमान है, उन पर कम्बुज की कला में क्रमिक विकास का विवेचन करते हुए अगले प्रकरण में प्रकाश डाला जायगा।

(३) कम्बुज की कला का क्रमिक विकास

मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में भारतीय संस्कृति के जो ठोस अवशेष कम्बोडिया में विद्यमान हैं, वे वस्तुतः अत्यंत समृद्ध तथा अद्भुत हैं। ये अवशेष प्रधानतया अङ्कोर क्षेत्र में केन्द्रित हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आधुनिक विद्वानों को इनका कोई भी परिज्ञान नहीं था। वनस्पतिशास्त्र के एक फ्रेञ्च विद्वान् औंरी मूहो (Henri Mouhot) ने १८६० में इनका पता लगाया। स्थानीय लोगों से उन्होंने सुना कि पुराने जमाने के उजड़े हुए नगर सघन जंगल में विद्यमान हैं, और कोई भी मनुष्य उनमें नहीं रहता। उत्सुकतावश फ्रेञ्च विद्वान् जंगल में गये, और वहां उन्हें ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों के शिखर दिखायी दिये। इन मन्दिरों की इमारतें वृक्षों व लताओं से पूरी तरह ढक गई थीं। औंरी मूहो इन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह गया, और इनके विषय में उसने लिखा कि ये संसार की अत्यंत आश्चर्यचकित इमारतें हैं। ऐसी इमारतें ग्रीस और रोम में भी कभी नहीं बनायी गई थीं।

इसमें सन्देह नहीं, कि वास्तुकला के क्षेत्र में कम्बुज के लोगों ने असाधारण उन्नति की थी। पर वहां इस कला का विकास धीरे-धीरे हुआ, और भारतीयों ने उसे बहुत प्रभावित किया।

प्रारम्भिक काल—कम्बोडिया के क्षेत्र में भारतीयों का जो सबसे पुराना उपनिवेश था, और कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने जिसकी स्थापना की थी, चीनी ग्रन्थों में उसे फूनान कहा गया है। फूनान का यह राज्य सातवीं सदी तक कायम रहा था। इस काल के जो भी भग्नावशेष इस समय विद्यमान हैं, उन पर भारतीय प्रभाव बहुत स्पष्ट है। फूनान के निवासी जातीय दृष्टि से संकर थे। वहाँ के मूल निवासियों के साथ मिलकर और उनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर भारतीय उपनिवेशकों ने एक संकर जाति को उत्पन्न कर दिया था, सांस्कृतिक दृष्टि से जो भारत से बहुत अधिक प्रभावित थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वहाँ के भवनों, मन्दिरों और मूर्तियों आदि पर भी भारत का प्रभाव हो। यही कारण है, कि पाँचवीं, छठी और सातवीं सदियों के जो बहुत-से मन्दिर आदि इस समय मिले हैं, वे भवननिर्माण तथा स्थापत्य की भारतीय कला से पूर्णतया प्रभावित हैं। जो भारतीय उपनिवेशक इस प्राचीन काल में कम्बोडिया के क्षेत्र में जाकर बसे थे, वे अपने धर्म, भाषा आदि के साथ अपनी वास्तु एवं स्थापत्य कलाओं को भी अपने साथ ले गये थे, और उन्होंने उसी के अनुसार वहाँ मन्दिरों आदि का निर्माण किया था।

सैगोन से अङ्कोर को जाने वाली सड़क पर स्थित कोम्पोंग थोम के समीप जो दुर्गम जंगल है, उसमें सम्बोर और प्रेई कुकाकी प्राचीन नगरियों के भग्नावशेष विद्यमान है। ये नगरियाँ फूनान राज्य की राजधानियाँ भी रही थीं। इसके भग्नावशेषों में बहुत से पुराने मन्दिर अब भी देखे जा सकते हैं, जो झाड़-झंकार द्वारा ढके हुए हैं और जिन पर वृक्ष भी उग आये हैं। पर इस समय भी वे इतनी सुरक्षित दशा में हैं, कि उनसे फूनान की वास्तुकला का सुचारु रूप से निरूपण किया जा सकता है। ये मन्दिर प्रायः ईंटों से बने हैं, यद्यपि इनके निर्माण में पत्थरों का भी प्रयोग किया गया है। ये मन्दिर छोटे-छोटे हैं, और गोल न होकर या तो वर्गाकार हैं और या आयताकार। इनके बीच में गर्भगृह हैं, जिनमें शिवलिङ्ग या देवमूर्ति को प्रतिष्ठापित किया जाता था। गर्भगृह के चारों ओर प्रायः प्रदक्षिणापथ की भी सत्ता है। मन्दिर की छत पर शिखर का भी निर्माण किया गया है, जो नीचे से ऊपर की ओर निरन्तर संकरा होता जाता है। मन्दिर की भित्तियों पर मूर्तियों व चित्रावलियों को उत्कीर्ण नहीं किया गया है, पर दीवार के बाहरी ओर जो ईंटें लगायी गई हैं उनमें से अनेक ऐसी भी हैं विविध प्रकार के अलंकरण जिन पर बनाये गये हैं। भारत में गुप्त युग के मन्दिरों में भी इसी प्रकार की अलंकृत ईंटों का प्रयोग किया जाता था। कच्ची ईंटों या टाइलों पर विविध प्रकार के बेल-बूटे एवं आकृतियाँ उत्कीर्ण कर दी जाती थीं, और फिर उन्हें आग में पका लिया जाता था। इस प्रकार पकी हुई अलंकृत पक्की ईंटें मन्दिर की दीवारों के बाहरी ओर लगा दी जाती थीं। सीरपुर और भिटारगाँव के गुप्तकालीन मन्दिरों में ऐसी ईंटें प्रयुक्त की गई हैं, और कम्बोडिया के प्राचीन युग के मन्दिरों में भी ऐसी ईंटों का प्रयोग हुआ है। मन्दिरों के द्वारों के ऊपर प्रायः पत्थर के लिन्टल हैं, जिन पर मकर-आकृतियाँ बनायी गई हैं। दीवारों के बाहरी ओर जिन अलंकृत ईंटों का प्रयोग किया गया है, उन पर प्रायः प्रासाद की आकृति उत्कीर्ण है, जो सम्भवतः मन्दिर की ही अपनी अनुकृति है। छत और

दीवारों के बीच में प्रायः बाहर की ओर निकली हुई कार्निस है, जिस पर देवी-देवताओं के शीर्ष बने हैं। नक्काशी की हुई या उत्कीर्ण की गई ईंटें इन मन्दिरों की एक ऐसी विशेषता है, जो भारत में गुप्त युग के मन्दिरों में भी पायी जाती है।

कम्बोडिया के इन अत्यन्त प्राचीन मन्दिरों में से कुछ का परिचय देना उपयोगी है। बयङ् के मन्दिर का निर्माण सातवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ था। यह एक शैव मन्दिर है, जो पहाड़ी की चोटी पर बना है। मन्दिर आयताकार है, जिसके गर्भगृह और बाह्य दीवार के बीच में प्रदक्षिणापथ है। मन्दिर की छत तीन मंजिलों की है, जिनमें ऊपर की मंजिल निचली मंजिल की तुलना में छोटी है। इन मंजिलों का क्रियात्मक दृष्टि से कोई उपयोग नहीं है, इन्हें केवल शोभा के लिए बनाया गया है। भारत के गुप्त युग में भी मन्दिरों के ऊर्ध्व भाग को इस शैली से बनाये जाने के उदाहरण विद्यमान हैं। मन्दिरों की दीवारों में जो बहुत-सी खिड़कियाँ बनी हुई हैं, वे नकली हैं। उन्हें भी केवल अलंकरण के हेतु बनाया गया है। बयङ् मन्दिर के निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया गया है। इस मन्दिर की छत प्रायः उसी ढंग की है, जैसी कि काञ्चीपुरम् के कैलाशमन्दिर की और मामल्लपुरम् के रथ मन्दिरों की है।

कम्बोडिया के इस प्राचीन काल के बहुसंख्यक मन्दिर ईंटों के बने हैं, पर सम्बोर तथा अन्यत्र कुछ ऐसे मन्दिर भी विद्यमान हैं, जो पूर्णतया पत्थरों द्वारा निर्मित हैं। ऐसा एक मन्दिर प्रेई कुक में है। यह एक आयताकार भवन है, जिसकी दीवारें बिलकुल सादी हैं। पर उसमें जो चौकोर खम्बे हैं, उन पर नक्काशी की हुई है। मन्दिर की छत चपटी है, और एक विशाल शिला से बनी है। छत के चारों ओर आगे की तरफ बढ़ा हुआ कार्निस है, जिस पर देवताओं के शीर्ष बने हुए हैं। गुप्त युग के भारत में भी अनेक मन्दिरों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। सम्बोर के समीप हंचेई का मन्दिर भी पत्थर का बना है, और उसके प्रवेशद्वार के ऊपर जो लिन्टन है, उस पर चतुर्भुज अनन्तशयन की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसकी छत भी चपटी है। बयङ् और सम्बोर के ये मन्दिर प्रायः वैसे ही हैं, जैसे कि भारत के गुप्त युग के मन्दिर हैं। इन पर भारत की भवन-निर्माण कला का प्रभाव इतना अधिक है, कि यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि इन्हें उन शिल्पियों द्वारा बनाया गया होगा जो कि भारतीय उपनिवेशकों के साथ भारत से कम्बोडिया के प्रदेशों में गये थे।

ख्मेर काल—सातवीं सदी में फूनान का राज्य अक्षुण्ण नहीं रह सका था और वहाँ अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। ख्मेर लोगों ने इस स्थिति में लाभ उठाया, और कम्बोडिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार किया। ख्मेर लोग कम्बोडिया और लाओस के उत्तरी प्रदेशों के निवासी थे, और फूनान की दुर्दशा से लाभ उठाकर उन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। पर फूनान के मूल निवासियों के समान ख्मेर लोग भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आ गये थे। उन द्वारा आबाद प्रदेशों में भारतीय उपनिवेशकों ने जिस प्रकार अपने प्रभाव एवं प्रभुत्व का विस्तार किया, उसका वृतान्त पहले लिखा जा चुका है। ख्मेर लोग सभ्यता की दृष्टि से उतने पिछड़े हुए नहीं थे, जैसे कि फूनान के मूल निवासी थे। अतः आठवीं सदी के बाद

कम्बोडिया में जिस भवननिर्माण कला एवं स्थापत्य कला का विकास हुआ उस पर ख्मेर लोगों का प्रभाव भी था। आठवीं सदी एवं उससे पूर्व जो मन्दिर कम्बोडिया में बने, वे विशुद्ध रूप से भारतीय थे। पर नौवीं सदी से जो मन्दिर वहाँ बनने शुरू हुए, उन पर भारतीय कला के साथ-साथ ख्मेर कला का भी प्रभाव है। इस काल के मन्दिर न विशुद्ध रूप से भारतीय थे, और न ख्मेर। दोनों कलाओं के तत्त्वों को लेकर ही उनका निर्माण किया गया था, यद्यपि भारत का प्रभाव उन पर अधिक था।

ख्मेर और भारतीय कलाओं के सम्मिश्रण से कम्बोडिया में जिन बहुत-से मन्दिरों का निर्माण हुआ, उनमें अङ्कोर क्षेत्र के मन्दिरों का परिचय पिछले प्रकरण में दिया जा चुका है। इस क्षेत्र से बाहर के प्रदेशों में जो बहुत-से मन्दिर हैं, उन सबका परिचय यहाँ दे सकना सम्भव नहीं है। इनमें बन्ते च्मर के मन्दिर का उल्लेख करना उपयोगी है। अङ्कोर क्षेत्र से प्रायः सौ मील उत्तर-पश्चिम की ओर यह स्थान है, जहाँ सूखी निर्जल भूमि के बीच एक कृत्रिम सरोवर बनाया गया था। इस सरोवर को पानी से भरने के लिये एक नहर लायी गई थी। सरोवर के बीच में एक मन्दिर था, और उसके पश्चिमी किनारे पर एक नगरी बसायी गई थी, जो डेढ़ मील लम्बी और सवा चार मील चौड़ी थी। नगरी के चारों ओर प्राचीर और उसके चारों ओर परिखा थी। परिखा पर चार पुल थे, जिनके दोनों ओर के जंगले नागमूर्तियों से अलंकृत थे। पुलों के बाद चार विशाल द्वार थे, जिन्हें विशाल आकार की गरुड़ मूर्तियों से सुशोभित किया गया था। इन द्वारों से जो राजपथ नगरी के भीतर जाते थे, उनके दोनों ओर सिंहों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। नगरी के बीच में भी एक चतुष्कोण मन्दिर था, जिसकी दीवारों पर चित्रावलियाँ या मूर्तियों की पंक्तियाँ उत्कीर्ण थीं। इनमें धार्मिक जुलूस, पालकियों पर चलती राजकुमारियाँ, पदाति सेनाएँ, युद्ध के दृश्य, सामुद्रिक युद्ध आदि के दृश्य अंकित किये गए हैं। पौराणिक देवी-देवताओं की भी बहुत-सी मूर्तियाँ यहाँ बनी हैं। बन्ते च्मर के ये भग्नावशेष बड़े महत्त्व के हैं, और अङ्कोर वात तथा अङ्कोर थोम के बाद इनका ही स्थान है। पहले यह समझा जाता था, कि बन्ते-च्मर की इस नगरी का निर्माण राजा जयवर्मा द्वितीय (नौवीं सदी) द्वारा कराया गया था। पर अब इसे यशोवर्मा द्वितीय (११६०-११८०) या जयवर्मा सप्तम (११८१-१२०१) की कृति माना जाता है। अङ्कोर क्षेत्र से बाहर पुराने मन्दिरों और अन्य इमारतों के जो बहुत-से अवशेष विद्यमान हैं, उनमें फ्नोम-कूलेन, मेबोन और प्रखान के भग्नावशेष भी महत्त्व के हैं। कला तथा शैली की दृष्टि से ये प्रायः उसी प्रकार के हैं, जैसे कि कम्बोडिया के अन्य मन्दिर व भवन हैं। ख्मेर काल की इस कला की विशेषताओं का निरूपण पहले किया जा चुका है। इसके मन्दिर प्रायः ऊँचे स्थान पर बनाये जाते है, जिन्हें कैलाश या मेरु का प्रतीक समझा जाता है। मन्दिर के ऊँचे आधार को प्रायः अनेक चबूतरों या मंजिलों द्वारा पिरामिड के रूप में बनाया जाता है, और उस पर बने मध्यवर्ती मन्दिर पर ऊँचा शिखर रहता है। उसके अतिरिक्त विभिन्न मंजिलों के चारों कोनों पर अन्य भी शिखर बनाये जाते हैं। साथ ही, मन्दिर के विविध भागों में सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए गैलरियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें विविध चित्रावलियों तथा मूर्तियों द्वारा

विभूषित किया जाता है। जिसे ऊपर ख्मेर शैली कहा गया है, बहुत-से विद्वानों ने उसे क्लासिकल शैली का नाम दिया है। पर यह निर्विवाद है, कि इस पर भारतीय कला का बहुत प्रभाव है और इसकी प्रेरणा भारत की धार्मिक परम्पराओं तथा विश्वासों से ही ली गई है।

(४) मूर्तिकला

कम्बुज देश के प्राचीन मन्दिरों और भवनों की तुलना में वहाँ की प्राचीन मूर्तियों पर भारत का प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। ख्मेर काल से पहले की जो मूर्तियाँ कम्बोडिया के क्षेत्र से मिली हैं, वे गुप्त युग की भारत की मूर्तियों से इतनी अधिक समता रखती हैं कि उन्हें या तो भारत से ले जाया गया समझा जा सकता है और या उन शिल्पियों द्वारा बनाया गया जो कि भारत से कम्बोडिया गये थे। इस काल की मूर्तियों में आँखें पूरी तरह से खुली हुई हैं, ओठों पर हल्की-सी मुस्कान है और वस्त्र ऐसे कलात्मक ढंग से बनाये गए हैं कि उनकी चुन्नटें सुन्दर रूप से उभरी हुई हैं। गुप्तकाल की मूर्तियों में भी ये ही बातें पाई जाती हैं। कम्बोडिया की इन प्राचीन मूर्तियों में सम्बोर के समीप प्रसत अन्देत से उपलब्ध हरिहर की एक मूर्ति विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जो इस युग की मूर्तिकला की उत्तम उदाहरण है।

ख्मेर काल में कम्बोडिया की मूर्तिकला का और अधिक विकास हुआ। भारतीय प्रभाव उस पर पूर्ववत् बना रहा, पर ख्मेर लोगों ने अपनी प्रतिभा से उसमें कतिपय मौलिक तत्त्वों का भी समावेश किया। वेशभूषा, अलंकरण तथा कथानक के चित्रण में इन भित्तियों को विभूषित करने के लिए जो चित्र अंकित किये गये, उनके लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथाओं का आश्रय लिया गया, क्योंकि ये कथानक कम्बुज देश की संस्कृति के भी उसी प्रकार से अंग थे, जैसे कि भारत की संस्कृति के। पर बाद में इन चित्रावलियों के लिए ऐसे दृश्यों व प्रसंगों का भी उपयोग किया गया, जिनका सम्बन्ध कम्बुज देश के जीवन के साथ था। बायोन मन्दिर की बाह्य दीवारों पर तथा अन्यत्र कम्बुज के जगजीवन तथा राज दरबार आदि को प्रगट करने वाले जो विविध चित्र विद्यमान हैं, उनका उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है।

कम्बुज देश में प्रधानतया पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था, अतः स्वाभाविक रूप से वहाँ से पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बहुत अधिक संख्या में मिली हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, हरिहर, पार्वती, उमा, लक्ष्मी, गरुड़, बलराम आदि की बहुत सी मूर्तियाँ वहाँ बनाई गईं, और उनसे सम्बद्ध कथानकों को भी चित्रावलियों में अंकित किया गया। कम्बुज के लोग शैव धर्म के अनुयायी थे, अतः शिव की मूर्तियाँ वहाँ सबसे अधिक संख्या में बनीं। शिव की मूर्तियाँ बैठी और खड़ी दोनों अवस्थाओं में हैं। कुछ ऐसी शिवमूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें शरीर का केवल ऊपर का भाग बनाया गया है, या केवल सिर ही है। एक मूर्ति में मुड़े हुए घुटने पर पार्वती को बैठा हुआ बनाया गया है। कांसे की एक शिवमूर्ति में शिव और पार्वती नन्दी पर आसीन हैं। बन्ते स्रेई के एक उत्कीर्ण चित्र में जहाँ रावण द्वारा कैलाश को उठाने का दृश्य अंकित है,

उसमें शिव पार्वती के साथ कैलाश पर बैठे हैं और उनके साथ उनके गण भी हैं। गणेश को भी हाथ जोड़े हुए दिखाया गया है। रावण द्वारा कैलाश को उठाने का प्रयत्न करते समय, पर्वत गुफाओं में जो सिंह, हाथी तथा हिरण आदि थे, वे भागने लग गये और उन्हें भी इस चित्र में भय से भागते हुए प्रदर्शित किया गया है। शिव की अनेक मूर्तियों में उनके माथे पर त्रिनेत्र और सिर पर चन्द्रमा भी अंकित किया गया है। मानव शरीर के रूप में बनी शिवमूर्तियों के अतिरिक्त कम्बुज देश से बहुत-से शिवलिंग भी मिले हैं, जिन्हें वहाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया गया था।

शिव के समान विष्णु की भी कम्बुज देश में पूजा की जाती थी। विष्णु की मूर्तियाँ खड़ी भी मिली हैं, और शेषनाग पर लेटी हुई भी। खड़ी मूर्तियों में प्रसत दम्रेई क्राप से उपलब्ध मूर्ति में विष्णु ने शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए हैं, और उनके मुख-मण्डल पर प्रसन्नता का भाव झलक रहा है। कांसे की एक मूर्ति शयनावस्था में है, जिसमें विष्णु के कण्ठ में माला तथा भुजाओं के कंकण हैं। मुखमण्डल अत्यंत गम्भीर है, और आंखों के ऊपर कमानीदार चौड़ी भँवें हैं। कोह कैर से विष्णु का एक सिर मिला है, जो अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक है। सिर पर एक ऐसी उष्णीश बनायी गई है, जो रत्नजटित है और जिसके चार घेरे नीचे से ऊपर की ओर छोटे होते जाते हैं। द्वारों के ऊहर के लिन्टलों तथा मन्दिरों की भित्तियों पर विष्णु तथा उनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने ही कथानक मूर्तिरूप से उत्कीर्ण हैं। लिन्टल पर बनी एक मूर्ति में विष्णु शेष-शय्या पर लेटे हुए हैं, उनकी नाभि से एक कमल निकला हुआ है जिस पर ब्रह्मा विराजमान हैं। भित्तियों पर अंकित चित्रावलियों में विष्णु के कूर्म और नरसिंह सदृश अवतारों, और राम तथा कृष्ण से सम्बद्ध कितने ही कथानक अंकित हैं। रामायण की कथा पर आधारित मारीच का आखेट, सीताहरण, वाली और सुग्रीव का युद्ध, अशोक वाटिका में सीता, सुग्रीव और राम की मैत्री तथा राम-रावण युद्ध आदि के कितने ही दृश्य कम्बुज देश के मन्दिरों की भित्तियों पर चित्रित हैं।

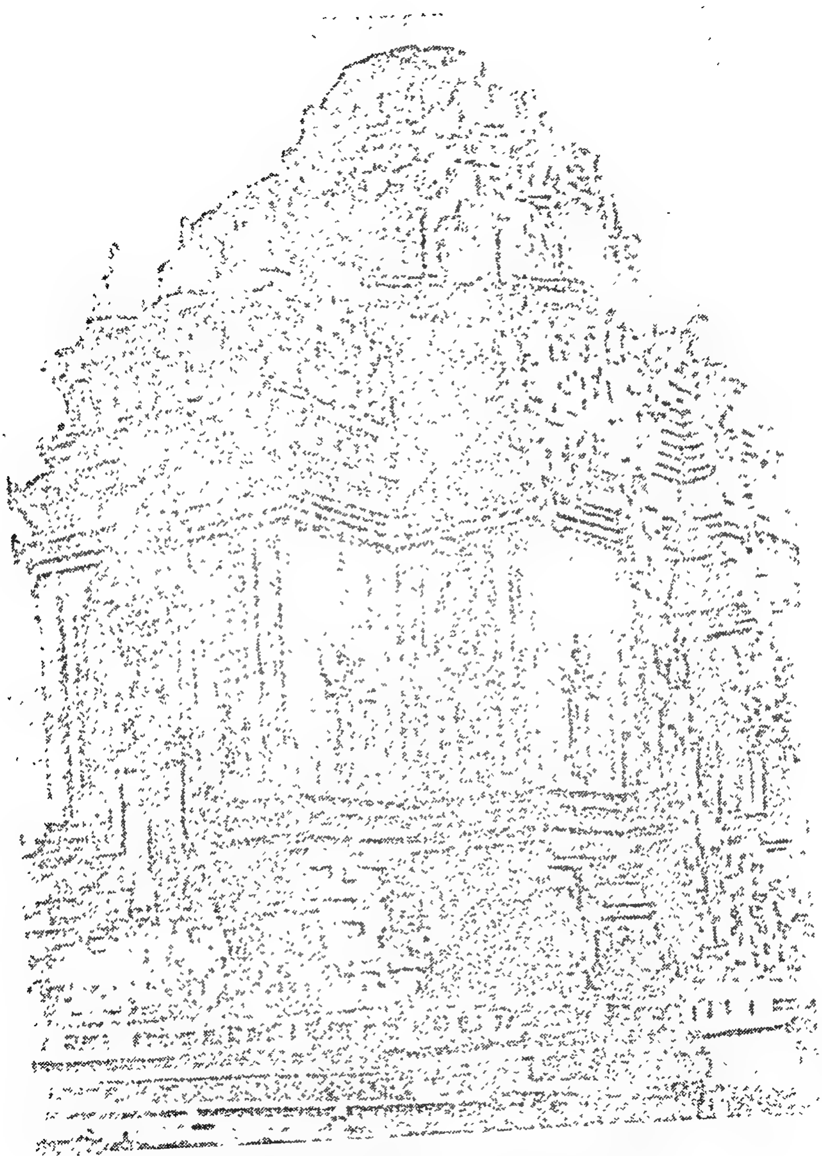
ब्रह्मा की भी कुछ मूर्तियाँ कम्बुज देश से प्राप्त हुई हैं। एक मूर्ति में ब्रह्मा हंस पर बैठे हैं। कुछ खड़ी मूर्तियों में ब्रह्मा के चार मुख और चार हाथ बनाये गये हैं। उनके कान लम्बे और छिदे हुए हैं, और मुख पर गम्भीर भाव है। पौराणिक हिन्दू धर्म में जिन विविध देवी-देवताओं की पूजा की जाती है, प्रायः उन सब की मूर्तियों का कम्बुज देश में निर्माण किया गया था। हरिहर के रूप में विष्णु और शिव की संयुक्त मूर्तियाँ भी वहाँ बनायी गई थीं। मयूर पर सवार कार्तिकेय, ऐरावत हाथी पर आरूढ़ इन्द्र, राम और बलराम, गोवर्धन को उठाये हुए कृष्ण—सबकी मूर्तियाँ कम्बोडिया के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुई है। कम्बुज देश में जगत् ता राजा या देवराज के रूप में शिव की जो पूजा की जाती थी, उसके लिए जहाँ शिवलिंग को प्रतिष्ठापित किया जाता था, वहाँ मानवरूप में भी देवराज की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। ऐसी एक मूर्ति में सिर के ऊपर जो उष्णीष है, उसके अनेक घेरे बनाये गये हैं, जो पिरामिड की तरह के है। मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी है। भवें खूब लम्बी व कमानीदार हैं, और नाक के नीचे घनी तथा लम्बी मूछें हैं। शरशय्या पर पड़े भीष्म, शिव द्वारा कामदेव को भस्म किया

जाना, अमृत प्राप्ति के लिए समुद्र का मन्थन, और कृष्ण की लीला आदि के कितने ही दृश्य कम्बुज के मन्दिरों की भित्तियों पर अंकित हैं। असुर, देव, यक्ष, किन्नर, राक्षस—कोई भी तो ऐसा नहीं है, जिसकी प्रतिमा वहाँ उत्कीर्ण न की गई हो। नाचती हुई अप्सराओं के मनोहर चित्र तो बहुत बड़ी संख्या में वहाँ विद्यमान हैं। ये अत्यन्त सुन्दर हैं, और इनमें अप्सराओं को नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया गया है।

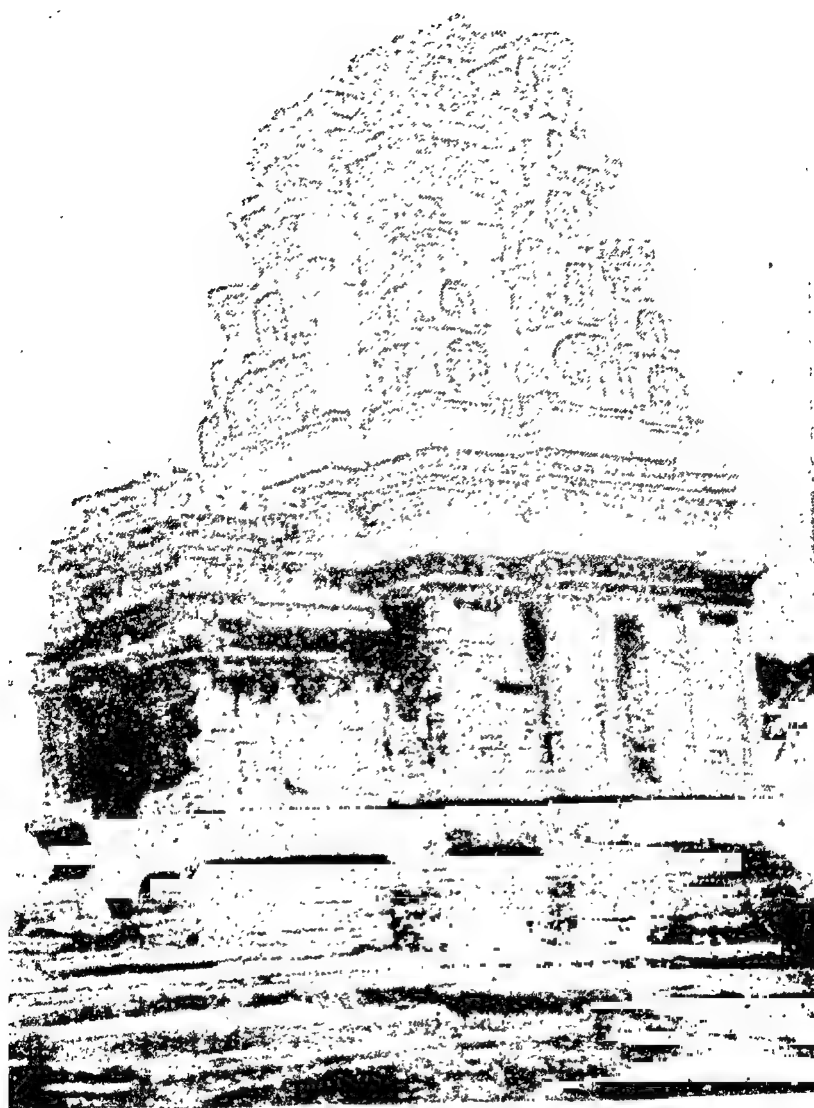
सूर्यवर्मा (ग्यारहवीं सदी) और जयवर्मा सप्तम (बारहवीं सदी) के समय में कम्बुज देश में बौद्ध धर्म का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण शैव और वैष्णव धर्म के समान उसने भी वहाँ महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इसीलिये वहाँ बुद्ध, बोधिसत्व (अवलोकितेश्वर, मैत्रेय आदि) और प्रज्ञापारमिता आदि की भी मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। कम्बुज की बौद्ध मूर्तियों और भारत की मथुरा शैली तथा गान्धार शैली में बनी बौद्ध मूर्तियों में बहुत सादृश्य है। अङ्कोर वात की एक मूर्ति में बुद्ध को अभय मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है। बायोन की एक मूर्ति में वे पद्मासन लगाये समाधि में बैठे हैं। उनकी आँखें बन्द हैं, और सिर थोड़ा सा नीचे की ओर झुका हुआ है। कतिपय मूर्तियों में बुद्ध को नाग पर पद्मासन लगाये प्रदर्शित किया गया है। उनके ऊपर नाग ने अपना फण फैलाया हुआ है। बोधिसत्व लोकेश्वर की कई ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें चार हाथ हैं, और उनमें उन्होंने अमृत का कुम्भ पुस्तक, माला तथा कमल पकड़े हुए हैं।

कम्बोडिया से प्राप्त धातु की मूर्तियों में अप्सरा की एक मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मूर्ति में एक अप्सरा कमल के फूल पर खड़ी हुई नृत्य कर रही है, और एक अन्य अप्सरा कमल की कली से बाहर निकल रही है। नृत्य करती हुई अप्सरा ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये हुए हैं, और पल्लवित कमलनाल उसके ऊपर आयी हुई है। अप्सरा के मुखमण्डल पर अनुपम भाव है।

कम्बुज में भारतीय संस्कृति की सत्ता के इन मूर्त्त अवशेषों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, कि यह देश उसी प्रकार से भारत का एक भाग था, जैसे कि अंग, वंग, गान्धार मथुरा कर्णाटक आदि थे।



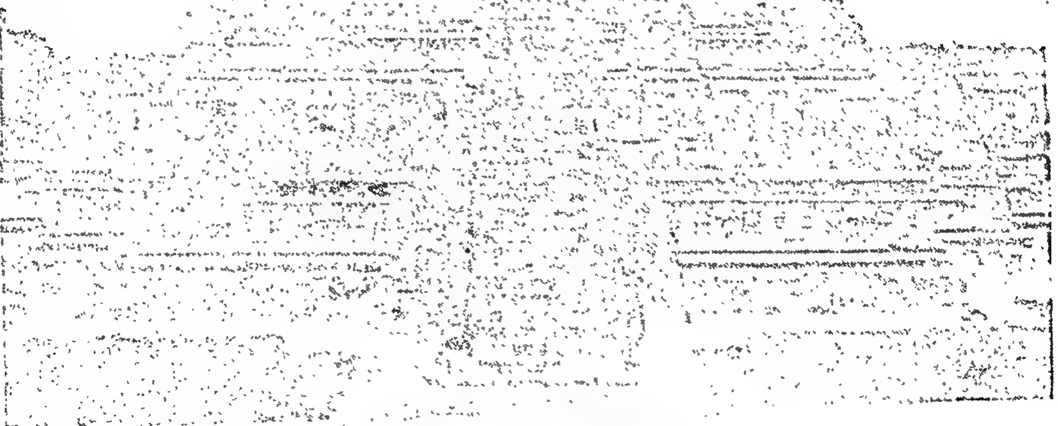
चण्डी कलसन (मध्य जावा) का एक प्राचीन मन्दिर



दिएङ् (जावा) में चण्डी भीम का मन्दिर



बुद्ध अमोघसिद्धि की मूर्ति (बरोबदूर, जावा)



पूर्वी जावा का एक शिव मन्दिर



देवराज देवता की मूर्ति (कम्बाडिया स प्राप्त



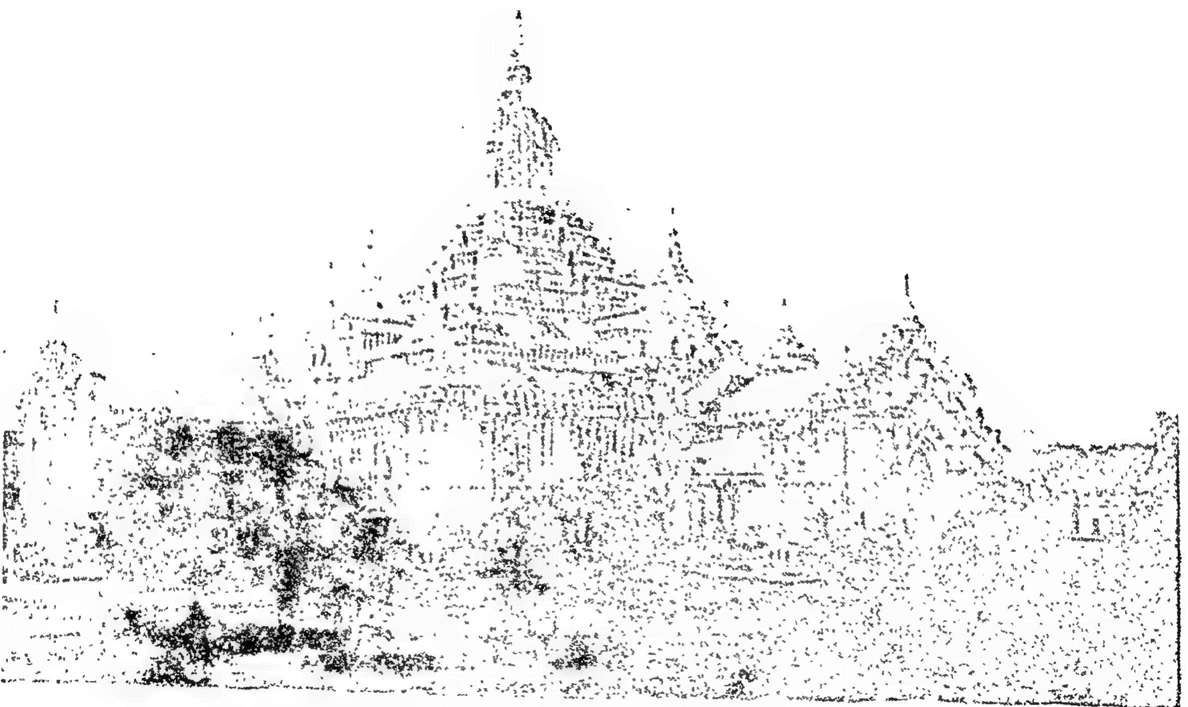
कोह केर (कम्बोडिया) से प्राप्त विष्णु की मूर्ति का शीर्षभाग



कम्बोडिया से प्राप्त अप्सरा की कांस्य मूर्ति



जंग्या से प्राप्त बोधिसत्व की मूर्ति



पगान (बरमा) का प्रसिद्ध आनन्द विहार

दसवाँ अध्याय

विएत-नाम के क्षेत्र में चम्पा का राज्य और उसका राजनीतिक इतिहास

(१) चम्पा का राज्य

वर्तमान समय में जो प्रदेश दक्षिणी विएत-नाम का राज्य कहाते हैं, प्रायः वे ही प्राचीन काल में चम्पा के हिन्दू या भारतीय राज्य के अन्तर्गत थे। इस राज्य के पूर्व में समुद्र था, और पश्चिम में पहाड़ों की एक शृंखला ने इसे मेकांग की घाटी से पृथक् किया हुआ था। उत्तर में इसका विस्तार १८ अक्षांश तक था, और उत्तरी विएत-नाम के भी अनेक प्रदेश इसमें सम्मिलित थे। पर्वत शृंखलाओं और समुद्र से घिरा हुआ देश चौड़ाई में बहुत कम था, और अनेक पहाड़ियों ने इसे ऐसे भागों में विभक्त कर दिया था, जिनमें कि परस्पर सम्पर्क बहुत कम रहता था। यही कारण है, जो इस देश में अनेक स्वतन्त्र एवं पृथक् बस्तियाँ स्थापित हो गयी थीं, और उनका यही प्रयत्न रहता था कि वे अपने पृथक्त्व को कायम रखें। इस प्राचीन चम्पा देश के निवासी दो प्रकार के थे। जातीय दृष्टि से या नसल में उनमें कोई भिन्नता नहीं थी, दोनों का सम्बन्ध आस्ट्रोनीसियन नसल से था। पर उनका एक वर्ग सभ्यता में बहुत पिछड़ा हुआ था, वह जंगली दशा में था, जबकि दूसरे वर्ग ने सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली थी। यह सभ्य वर्ग 'चम' कहाता था, जिसका यह नाम चम्पा के भारतीय उपनिवेश के कारण ही पड़ा था। भारतीयों के इस देश में बसने से पूर्व वहाँ के ये मूल निवासी क्या कहाते थे, यह ज्ञात नहीं है। पर जब भारतीय उपनिवेशक वहाँ बस गये और उन्होंने चम्पा को स्थापित कर लिया, तो सभ्य भारतीयों के सम्पर्क में आकर इस देश के जिन मूल निवासियों ने अपने को सभ्य बना लिया, वे 'चम' कहाने लगे। इसके विपरीत वहाँ के जो मूल निवासी पहले के समान असभ्य व जंगली दशा में ही रहे, उन्हें म्लेच्छ कहा जाने लगा।

दक्षिणी विएत-नाम के क्षेत्र में भारतीयों ने अपने उपनिवेश बसाने कब प्रारम्भ किये और उनका प्रारम्भिक इतिहास क्या था, यह ज्ञात नहीं है। इस विषय में प्राचीन चीनी ग्रन्थ ही कुछ प्रकाश डालते हैं, और चम्पा के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में हमें जो कुछ भी जानकारी है, उसके प्रधान साधन ये चीनी ग्रन्थ ही हैं। पर बाद में संस्कृत भाषा के अभिलेख भी इस देश में मिलने लगते हैं, जिनसे वहाँ के प्राचीन इतिहास का भी कुछ आभास मिल जाता है।

तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में त्शी हुआँग-ती नामक एक प्रतापी राजा चीन में हुआ था, जिसने न केवल सम्पूर्ण चीन को अपने अधीन कर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना

की, अपितु समीप के अनेक प्रदेशों को जीत कर एक विशाल साम्राज्य का भी निर्माण कर लिया था। तोन्किन और उत्तरी विएत-नाम के अनेक प्रदेश भी इस काल में चीनी साम्राज्य के अधीन हो गये थे। चीन के इस विशाल साम्राज्य के दक्षिण-पूर्व में वह प्रदेश था, जिसमें चम लोगों का निवास था। ये चम बहुधा चीनी साम्राज्य पर आक्रमण करते रहते थे, और उत्तरी विएत-नाम तथा तोन्किन के निवासी इन आक्रमणों में उनका साथ भी देते थे। इसका कारण यह था, कि इन प्रदेशों के लोग भी जाति या नसल की दृष्टि में आस्ट्रोनीसियन ही थे, और चीनियों की तुलना में वे चम लोगों से एकता की अनुभूति रखते थे। ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में चीन की राजनीतिक दशा सुव्यस्थित नहीं रही थी। चम लोगों ने इससे लाभ उठाया, और अनेक बार उसके दक्षिणी प्रदेशों पर आक्रमण किये। १३७ ईस्वी में दस हजार चम सैनिकों ने चीनी साम्राज्य के दक्षिणी प्रदेशों को आक्रान्त किया, और वहाँ के दुर्गों तथा नगरों को बुरी तरह से नष्ट किया। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक आक्रमण चम लोगों द्वारा किये गये। १९२ ईस्वी में किउ-लिअन नामक एक व्यक्ति ने चीन के विरुद्ध संघर्ष में अनुपम सफलता प्राप्त की, और चीन की सेना को परास्त कर अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। यह किउ-लिअन सिअंग-लिन का निवासी था, और चीनी लोगों को परास्त कर उसने अपना जो स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था, उसकी राजधानी इसने सिअंग-लिन ही बनायी थी। चीनी ग्रन्थों में जिसे सिअंग-लिन कहा गया है, उसका वास्तविक नाम चम्पानगरी या चम्पापुर था। वर्तमान समय में जहाँ त्र-कियु नगरी की स्थिति है, वहीं प्राचीन समय में चम्पापुर विद्यमान था। त्र-कियु कंग-नाम के कुछ दक्षिण में है।

विएत-नाम के संस्कृत अभिलेखों के अनुसार चम्पा के प्रथम भारतीय राजा का नाम श्रीमार था। वो-चोंक अभिलेख में श्रीमार-राजकुल-कुलनन्दन राजा के आदेश से दिये गये दान का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि इस प्रदेश में प्राचीन काल में जिस भारतीय राज्य की स्थापना हुई थी, उसके राजा श्रीमार-राजकुल के थे जिसकी स्थापना श्रीमार नामक व्यक्ति द्वारा की गई थी। अनेक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि चीनी ग्रन्थों का किउ-लिअन ही संस्कृत अभिलेखों का श्रीमार था। किउ-लिअन या श्रीमार के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध की कोई घटनाएँ ज्ञात नहीं हैं। पर यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि सिअंग-लिन या चम्पा के ये राजा अपनी शक्ति के विस्तार में निरन्तर तत्पर रहे, क्योंकि इस काल में चीन की राजशक्ति सुव्यवस्थित नहीं थी। चम्पा के राजाओं ने इस दशा से लाभ उठाया, और अपने राज्य को एक सुदृढ़ आधार पर स्थापित कर लिया। चीन ने इस राज्य की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता को स्वीकार किया, जिसके कारण २२० ईस्वी के लगभग चम्पा के राजा ने अपना एक दूतमण्डल किआ चे (तोन्किन) के प्रान्तीय शासक की सेवा में भेजा था। पर चम्पा और चीन में मैत्री सम्बन्ध देर तक कायम नहीं रह सका। २४८ ईस्वी में चम्पा की एक सेना ने समुद्र के मार्ग से तोन्किन पर आक्रमण कर दिया, जिसमें उसे अनुपम सफलता प्राप्त हुई। अनेक नगरियों पर उसका कब्जा हो गया, जिससे विवश होकर चीन की सरकार ने चम्पा के साथ एक सन्धि कर ली, और उस द्वारा किउ-स (सिअंगलिन

थुआ-थिएन) का प्रदेश चीन ने चम्पा को प्रदान करना स्वीकार कर लिया।

चीनी ग्रन्थों में सिअंग-लिन (चम्पा) के राजाओं के जो नाम दिये गये हैं, उन सबमें 'फन' शब्द आता है, जिसे वर्मन् या वर्मा का चीनी रूपान्तर माना गया है। तीसरी सदी के चौथे चरण में चम्पा का राजा फन हिओंग था। सम्भवतः, वह श्रीमार का ही वंशज था। उसने प्रयत्न किया, कि उत्तर दिशा में अपने राज्य का और अधिक विस्तार करे। इसमें उसने फूनान (कम्बोडिया) की भी सहायता प्राप्त की। फन हिओंग ने चीन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया, जो दस साल तक चलता रहा। इसमें चीन को नीचा देखना पड़ा, और २८० ई० में जो सन्धि हुई, वह चम्पा के पक्ष में थी। फन हिओंग के बाद उसका पुत्र फन-यी चम्पा के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके शासनकाल में चीन और चम्पा में मैत्री सम्बन्ध कायम रहा, और फन-यी द्वारा एक दूतमण्डल भी चीन की राजधानी में भेजा गया। वह पहला चम्पाराज था, जिसने कि चीन के सम्राट् के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया था। ३३६ ईस्वी में फन-यी की मृत्यु हो गई, और उसके सेनापति फन-वेन ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। फन-वेन एक प्रतापी राजा था। राज्य के सब सामन्तों तथा विविध कबीलों को पूर्णतया वश में लाकर उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया, और ३४० ईस्वी में एक दूत-मण्डल इस प्रयोजन से चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा, ताकि चम्पा और चीनी साम्राज्य की सीमा को सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया जाए। वह चाहता था, कि होअन सोन्ह पर्वतमाला को चम्पा राज्य की उत्तरी सीमा स्वीकृत कर लिया जाए। पर इससे चम्पा राज्य में कतिपय ऐसे प्रदेश भी अन्तर्गत हो जाते थे, जो अत्यन्त उपजाऊ तथा समृद्ध हैं। ये प्रदेश थुआ थिएन, क्वां गत्री और क्वांग बिन्ह थे, जिन्हें चीनी लोग सामूहिक रूप से न्हुत-नाम कहते थे। चीन का सम्राट् इन पर चम्पा के अधिकार को स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं हुआ, जिस पर फन-वेन ने सैन्यशक्ति के उपयोग का निश्चय किया। न्हुत-नाम के निवासी उसी नसल के थे, जिसके कि चम लोग थे। चीन का शासन उन्हें जरा भी पसन्द नहीं था। ३४७ ईस्वी में सैन्यबल द्वारा फन वेन ने न्हुत-नाम को जीत लिया, और उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। ३४९ ईस्वी में चीन की एक शक्तिशाली सेना न्हुत-नाम को जीतने के लिए भेजी गई, पर वह चम्पा की सेना द्वारा परास्त कर दी गई। चीन के विरुद्ध फन-वेन ने अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया, पर वह स्वयं चीनी सेना से लड़ते-लड़ते मारा गया।

भद्रवर्मा—फन वेन के बाद उसका पुत्र फन फो (३४९-३८०) और पौत्र फन हुआ-ता (३८०-४१३) चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इनके शासनकाल में चम्पा और चीन में निरन्तर युद्ध जारी रहा। ३५८ ईस्वी में चीनी सेनाएँ चम्पा नगरी तक बढ़ आईं, और फन फो उनका प्रतिरोध कर सकने में असमर्थ रहा। विवश होकर उसने चीन के साथ सन्धि कर ली (३५९), जिस द्वारा न्हुत-नाम का प्रदेश चीन को प्रदान कर दिया गया। चीन द्वारा फन फो की पराजय का प्रतिशोध उसके पुत्र फन हुआ-ता ने किया, और अपने शासनकाल में उसने न केवल न्हुत-नाम को फिर से जीत लिया, अपितु उत्तर की ओर आगे बढ़ता हुआ वह थान होआ तक चला गया।

चीन के सम्राट् द्वारा नियुक्त किआओ-चे (हनोई) के शासक ने फन हुआ-ता की गति को अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सका। इसमें सन्देह नहीं, कि फन हुआ-ता अत्यन्त शक्तिशाली राजा था, और उसके शासनकाल में चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि चीनी ग्रन्थों का फन हुआ-ता और संस्कृत अभिलेखों का भद्रवर्मा एक ही व्यक्ति थे। धर्ममहाराज श्रीभद्रवर्मा नाम के एक राजा के अनेक अभिलेख विएत-नाम में विविध स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें चौथी सदी के अन्त या पांचवीं सदी के प्रारम्भ का माना जाता है। इनसे यह सर्वथा स्पष्ट है, कि चौथी सदी के अन्त में चम्पा पर राजा भद्रवर्मा का शासन था। चीनी ग्रंथों के अनुसार यही वह समय था, जबकि चम्पा शासक फन हुआ-ता था। इस दशा में इन दोनों को एक मानने की बात को असंगत नहीं कहा जा सकता। चम्पा के इतिहास में राजा भद्रवर्मा का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वह अत्यन्त प्रतापी राजा था और उस का राज्य बहुत विस्तृत था। वर्तमान समय के विएत-नाम राज्य के प्रायः सभी प्रदेशों पर उसका शासन था। पर इस राजा की ख्याति का प्रधान कारण भद्रेश्वरस्वामी शिव का वह मन्दिर था, जिसका निर्माण उसने माइसोन नामक स्थान पर कराया था। भग्न दशा में यह मन्दिर अब भी विद्यमान है। अपने नाम पर शिव की मूर्ति को 'भद्रेश्वर-स्वामी' नाम से प्रतिष्ठापित कर राजा भद्रवर्मा ने जिस परिपाटी का प्रारम्भ किया था, बाद के राजाओं ने भी उसका अनुसरण किया। वे भी अपने नाम पर भगवान् शिव की मूर्ति को प्रतिष्ठापित करते रहे। माइसोन के अभिलेख में उस जागीर की सीमाएँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित की गई हैं, जो राजा भद्रवर्मा ने अक्षय नीवी के रूप में अपने द्वारा स्थापित भद्रेश्वरस्वामी शिव के मन्दिर को प्रदान की थी, और जिससे प्राप्त होने वाली आमदनी मन्दिर के ही कार्य में प्रयुक्त की जा सकती थी। इस अभिलेख में राजा भद्रवर्मा के लिए 'चातुर्वेद्य' विशेषण का भी प्रयोग किया गया है, जिससे सूचित होता है, कि वह चारों वेदों का ज्ञाता था।

गंगाराज—चीनी ग्रन्थों के अनुसार फन हुआ-ता का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ती-चेन था, जो अपने पिता की मृत्यु (४१३ ई०) के पश्चात् चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। ती-चेन का एक भाई था, जिसका नाम ती-काई था। किसी कारणवश वह अपनी माँ को लेकर चम्पा से कहीं अन्यत्र चला गया, जिससे ती-चेन को बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत प्रयत्न किया, कि ती-काई माँ को साथ लेकर स्वदेश लौट आये। पर वह सफल नहीं हुआ। निराश होकर चम्पा का राज्य उसने अपने भतीजे को सौंप दिया और स्वयं भारत चला गया। चीनी ग्रन्थों की इस कथा की पुष्टि सातवीं सदी के एक संस्कृत अभिलेख से भी होती है, जिसे राजा प्रकाशधर्म ने उत्कीर्ण कराया था (६५७)। इस अभिलेख में चम्पा के राजाओं की वंशावली भी दी गई है। यद्यपि यह खण्डित दशा में है, तब भी इससे यह अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि गंगाराज नामक एक राजा अपने भतीजे को राज्य सौंप कर जाह्नवी के तट पर जा बसा था, ताकि वहाँ गंगा के दर्शन का सुख प्राप्त करता रह सके (गंगाराज इति श्रुतो नृपगुणप्रर्य्यातवीर्य्यश्रुतिः, राज्यं दुस्त्य (ज) ......प्रग्रहे, गंगादर्शनजं सुखं महदिति प्रायादितो जाह्नवीम्)।

चीनी ग्रन्थों का ती-चेन और अभिलेख का गंगाराज एक ही व्यक्ति हैं, यह कल्पना सर्वथा संगत है।

फन यंग-माई—ती-चेन या गंगाराज के चम्पा से चले जाने पर वहाँ अव्यवस्था फैल गई और गृहयुद्ध का प्रारम्भ हो गया। इस दशा का अन्त फन यंग-माई द्वारा किया गया, जो अपने विरोधियों का अन्त कर ४२० ई० में चम्पा के राजसिंहासन पर अधिकार करने में समर्थ हुआ। फन यंग-माई किस कुल का था, यह ज्ञात नहीं है। पर भद्रवर्मा तथा गंगाराज के कुल के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यंग-माई के बाद उसका पुत्र चम्पा का राजा बना। इसका नाम भी यंग-माई ही था, अतः इसे यंग-माई द्वितीय कहना उपयुक्त होगा। चीन और चम्पा का संघर्ष इन राजाओं के शासन काल में जारी रहा। ४३१ ई० में यंग-माई द्वितीय ने एक सौ जहाजों का एक बेड़ा न्हुत-नाम पर समुद्र मार्ग द्वारा आक्रमण करने के लिए भेजा। न्हुत-नाम पहुँच कर चम्पा के सैनिकों ने जो लूट-मार मचायी, उससे वहाँ का चीनी शासक बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसने एक शक्तिशाली सेना जल और स्थल मार्गों से चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई, और फन यंगमाई द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया। जब यह समाचार चीन के सम्राट को ज्ञात हुआ, तो उसने चम्पा को काबू में लाने का निश्चय किया। कई वर्षों की तैयारी के पश्चात् एक बड़ी चीनी सेना तान हो-चे नामक सेनापति के नेतृत्व में चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई। निरंतर आगे बढ़ती हुई चीनी सेना ४४६ ईस्वी में किउ-सू पहुँच गई, और उसका घेरा डाल दिया। किउ-सू का दुर्गपाल फन फू-लोंग था। उसने बड़ी वीरता से चीनी सेना का मुकाबला किया, पर यह उसके सामने नहीं टिक सका। न केवल फन फू-लोंग को, अपितु किउ-लू के सब वयस्क निवासियों को चीनियों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया, और वहाँ से अनन्त धनराशि लूट के रूप में चीनी सेना से प्राप्त की। तान हो-चे केवल किउ-सू को हस्तगत करके ही संतुष्ट नहीं हो गया, वह निरन्तर आगे बढ़ता गया, और राजा फन यंग-माई द्वितीय को परास्त कर चम्पा नगरी पर भी उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। चीनी सेना ने चम्पा नगरी को बुरी तरह से लूटा। वहाँ के मन्दिरों को नष्ट कर दिया गया, और उनकी मूर्तियों को पिघला कर धातु के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। ये मूर्तियाँ बहुमूल्य धातुओं द्वारा निर्मित थीं। चीनी ग्रंथों के अनुसार जो लूट चम्पा नगरी से चीनी सेना ने प्राप्त की थी, उसमें सवा हजार मन के लगभग शुद्ध सोना भी था। अपने देश तथा राजधानी की इस दुर्दशा से यंग-माई द्वितीय को बहुत दुःख हुआ, और ४४६ ईस्वी में शोक-संतप्त दशा में उसकी मृत्यु हो गई। चम्पा नगरी को ध्वंश कर और वहाँ से अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त कर चीनी सेना स्वदेश वापस लौट गई। चम्पा राज्य पर स्थायी रूप से अपना अधिकार स्थापित कर लेने का प्रयत्न उसने नहीं किया।

फन यंग-माई के बाद उसके पुत्र और पौत्र क्रमशः चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। उसके पुत्र का नाम ज्ञात नहीं है। पर उसका पौत्र फन चेन-चेंग था, जिसने कि चीन के प्रति मैत्री की नीति का अनुसरण किया, और कम-से-कम तीन बार (४५५,

४५८ और ४७२ ई० में) चीन के सम्राट् की सेवा में बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ दूतमण्डलों को भेजा। भेंट-उपहारों को प्राप्त कर चीन का सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने चम्पा के राजदूतों को अनेक सम्मानसूचक उपाधियों से विभूषित किया। फन चेन-चेंग की मृत्यु के पश्चात् चम्पा के राज्य में फिर अव्यवस्था उत्पन्न हो गई, जिससे लाभ उठाकर फन तांग-केन-चुएन नामक व्यक्ति ने राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। यह फूनान के राजा जयवर्मा का पुत्र था, और किसी जघन्य अपराध के कारण इसे जयवर्मा द्वारा देश से वहिष्कृत कर दिया गया था। फूनान से तांग-केन-चुएन चम्पा चला आया था, और वहाँ की अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाकर उसने शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया था। पर तांग-केन-चुएन देर तक चम्पा की राजगद्दी पर नहीं रह सका। फान यंग-माई द्वितीय के अन्यतम प्रपौत्र फन फू-नोंग ने उसे परास्त कर दिया और शासनच्युत कर स्वयं राजसिंहासन को प्राप्त कर लिया। फन चू-नोंग ने ४६१ से ४९८ ई० तक राज्य किया। उसके तथा उसके तीन उत्तराधिकारियों के शासन काल की कोई उल्लेखनीय घटना ज्ञात नहीं है। इनमें से अन्तिम पि-त्सुए-प-मों (विजयवर्मा) था, जिसका शासन काल ५२० से ५२९ ईस्वी तक था। चीन के साथ इस राजा के मैत्री-पूर्ण संबन्ध थे, और उसने दो बार अपने राजदूत चीन भेजे थे।

विजयवर्मा के पश्चात् रुद्रवर्मा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह गंगाराज का वंशज था। गंगाराज किस प्रकार चम्पा छोड़कर गंगा के तट पर (भारत में) जा बसा था, यह इसी प्रकरण में ऊपर लिखा जा चुका है।

(२) गंगाराज के वंशजों का शासन

रुद्रवर्मा—विजयवर्मा के बाद जो रुद्र वर्मा चम्पा का राजा बना, उसके कुल का परिचय राजा प्रकाशधर्म के माईसोन अभिलेख द्वारा मिलता है। इस अभिलेख द्वारा पहले गंगाराज (जिसने कि अपने राज्य का परित्याग कर गंगा तट पर निवास किया था) का उल्लेख कर फिर राजा मनोरथवर्मा के विषय में लिखा गया है। पर गंगाराज और मनोरथवर्मा में क्या सम्बन्ध था, यह इस अभिलेख से स्पष्ट नहीं होता। इसका कारण शायद यह है, कि गंगाराज और मनोरथवर्मा का वर्णन करने वाले श्लोकों के बीच की पंक्ति कुछ खण्डित है। पर राजा विक्रान्तवर्मा के एक अभिलेख में प्रकाशधर्म (जो मनोरथवर्मा का वंशज था) को गंगाराज का एक वंशज कहा गया है, जिससे यह अनुमान कर सकना असंगत नहीं होगा कि मनोरथवर्मा भी गंगाराज का वंशज था। मनोरथवर्मा की दोहती का पुत्र रुद्रवर्मा था। (तस्य कीर्ति यशोऽऽश्रीमनोरथवर्मणः दौहित्रीतनयो योभूत्···श्रीरुद्रवर्मणस्तस्य)। यही रुद्रवर्मा विजयवर्मा के बाद चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। चीनी ग्रन्थों में ती-चेन (गंगाराज) के बाद चम्पा के जिन राजाओं का उल्लेख हुआ है, प्रकाशधर्म के माईसोन अभिलेख में दी गई वंशावली में उनके नाम नहीं पाये जाते। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि ये राजा गंगाराम के वंशज नहीं थे। रुद्रवर्मा का शासनकाल छठी सदी के पूर्वार्ध में था,

और चीन के सम्राट् के साथ उसका सम्बन्ध मैत्री पूर्ण था। इसीलिए उसने ५२६ और ५३४ ईस्वी में अपने दूतमण्डल उसके राजदरबार में भेजे थे।

शम्भुवर्मा—रुद्रवर्मा का पुत्र प्रशस्तधर्म था, जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शम्भुवर्मा के नाम से चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके शासनकाल में चीन की राजशक्ति निर्बल हो गई थी, जिससे लाभ उठाकर शम्भुवर्मा ने अपने राजदूतों को बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ चीनी राजदरबार में भेजना बन्द कर दिया। पर जब सुई राजवंश की स्थापना के कारण चीन के शासनतन्त्र में नई शक्ति का संचार हुआ, तो शम्भुवर्मा ने पुनः वहाँ के सम्राट् के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और भेंट-उपहार के साथ अपने राजदूत चीन भेजे (५९५ ई०)। पर प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी सुई-वंशी सम्राट् इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए कटिबद्ध था। इसीलिए उसने लिउ फंग नामक सेनापति को चम्पा की विजय का कार्य सुपुर्द किया, और इस चीनी सेनापति ने एक बड़ी सेना को साथ लेकर चम्पा की ओर प्रस्थान कर दिया। चम्पा की सैन्यशक्ति प्रधानतया हस्तिबल पर निर्भर थी। पर लिउ फंग की सेना द्वारा बाणों की जो बौछार की गई, चम्पा के हाथी उसके सम्मुख नहीं टिक सके। शम्भुवर्मा ने चीनी सेना के विरुद्ध बहुत वीरता प्रदर्शित की, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। लिउ फंग की सेनाएँ चम्पा राज्य में आगे बढ़ती हुई चम्पा नगरी तक पहुँच गई (६०५ ई०), और शम्भुवर्मा ने समुद्र के मार्ग से भाग कर अपने प्राणों की रक्षा की। लिउ फंग ने चम्पा नगरी को बुरी तरह से नष्ट किया। वहाँ के बहुत-से निवासियों को बन्दी बना लिया गया, और सुवर्ण आदि सम्पत्ति के साथ-साथ १३५० बौद्ध ग्रन्थ भी वह चम्पा से अपने देश ले गया। चम्पा नगरी के जिन लोगों को बन्दी बनाकर वह चीन ले गया था, उनमें वे संगीतज्ञ भी थे जो फूनान से वहां आये हुए थे। लिउ फंग के चम्पा से लौटते ही शम्भुवर्मा अपनी राजधानी में वापस आ गया। उसे अब यह भली-भाँति समझ में आ गया था, कि चीन के साथमैत्री सम्बन्ध रखने में ही अपना हित है, और वहाँ के शक्तिशाली सम्राट् के सम्मुख झुक जाने पर ही वह अपने सिंहासन को कायम रख सकता है। अतः उसने अपना एक दूत मण्डल चीन भेजा, और उसके सम्राट से क्षमा प्रार्थना की।

शम्भुवर्मा के विषय में माइसोन के प्रकाशधर्म के अभिलेख से यह ज्ञात होता है, कि राजा भद्रवर्मा द्वारा स्थापित भद्रेश्वरस्वामी शिव का मन्दिर अग्नि द्वारा भस्म हो गया था और शम्भुवर्मा ने उसका पुनः निर्माण कराया था। पुनः प्रतिष्ठापित मन्दिर का नाम अब, शम्भुभद्रेश्वर' रख दिया गया था, और रुद्रवर्मा द्वारा अक्षयनीवी के रूप में जो जागीर इस मन्दिर को प्रदान की गई थी, शम्भुवर्मा ने उसकी संपुष्टि कर दी थी। भद्रेश्वर का मन्दिर कब अग्नि द्वारा भस्म हुआ था, यह भी अभिलेख में लिखा है। पर अभिलेख का यह स्थल खण्डित है, और वहां केवल "....**युत्तरेषु चतुर्षु वर्षशतेषु शकानां व्यतीतेषु**" ही पढ़ा जाता है। इसमें ४०० के बाद जो अंक अक्षरों द्वारा अंकित किये गये थे, वे खण्डित हो गये हैं। पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि शक संवत् की पाँचवीं सदी में या ईस्वी सन् की छठी सदी में किसी समय इस मन्दिर

का ध्वंस हुआ था।

कंदर्पधर्मा—शम्भुवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका औरस पुत्र कंदर्पधर्मा चम्पा का राजा बना (६२९)। वह बड़ा धर्मात्मा तथा प्रजापालक राजा था, और प्रजा का अपनी सन्तान के समान पालन करता था। माइसोन के अभिलेख में उसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि

यस्सूनुरौरसो राजा प्रादुरासीन्महायशाः।
श्रीमान् कंदर्पधर्मेति साक्षाद् धर्म इवापरः।
प्रजा यस्स्वैर्धर्मैं व्यसनरहितः पाति सुतवत्॥

कंदर्पधर्मा के शासनकाल में चम्पा के राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम रही और चीन के साथ भी उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे।

गृहयुद्ध का काल—कंदर्पधर्मा के पश्चात् उसका पुत्र प्रभासधर्मा चम्पा की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। उसकी एक छोटी बहन थी, जिसका विवाह सत्यकौशिक स्वामी के साथ हुआ था। यह सत्यकौशिकस्वामी राजा रुद्रवर्मा का दौहित्र (पुत्री का पुत्र) था। सम्भवतः, रुद्रवर्मा की पुत्री का विवाह ब्राह्मण कुल में हुआ था। इसी लिये सत्यकौशिकस्वामी को क्षत्र-ब्राह्मण कुल का कहा गया है (क्षत्रं कुलं ब्राह्ममय द्वयं हि निरन्तरं यः प्रकटीचकार)। कंदर्पधर्मा की मृत्यु के पश्चात् सत्यकौशिकस्वामी ने चम्पा के राजसिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर प्रभासधर्मा के मुकाबले में वह सफल नहीं हो सका। अपने षड्यन्त्र में असफल होकर सत्यकौशिकस्वामी ने कम्बुज में जाकर आश्रय ग्रहण किया। वहां रहते हुए भी उसने अपने प्रयत्न को जारी रखा, और ६४५ ईस्वी में प्रभासधर्मा को मार कर चम्पा के राजसिंहासन को अधिकृत कर लिया। प्रभासधर्मा के कुल में जो अन्य पुरुष थे, उनकी भी हत्या कर दी गई। पर सत्यकौशिक स्वामी भी शान्तिपूर्वक चम्पा का शासन नहीं कर सका। चम्पा के प्रमुख पुरुष उसके विरुद्ध हो गये थे, और उसे चम्पा से चले जाना पड़ा। उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी (राजा कंदर्पधर्मा की पुत्री) शासन का संचालन करती रही। पर यह दशा देर तक कायम नहीं रह सकी। कुछ समय पश्चात् सत्यकौशिकस्वामी चम्पा वापस आ गया और उसने शासनसूत्र को फिर अपने हाथों में ले लिया। ६५३ ईस्वी तक वही चम्पा का कर्ताधर्ता रहा। सत्यकौशिकस्वामी का पुत्र श्री भद्रेश्वर वर्मा था और उसका पौत्र श्रीजगद्धर्म था। श्रीजगद्धर्म का विवाह कम्बुज देश के राजा ईशानवर्मा की पुत्री शर्वाणी के साथ हुआ था, जिससे उनके जो पुत्र उत्पन्न हुआ था वह प्रकाशधर्म-विक्रान्तवर्मा के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। यह विक्रान्तवर्मा ५७९ शकाब्द या ६५७ ईस्वी में चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। सत्यकौशिक स्वामी का शासनकाल ६५३ ईस्वी तक था। अतः उसके पुत्र श्रीभद्रेश्वर वर्मा और पौत्र श्रीजगद्धर्म के शासन के लिये केवल चार वर्ष बचते हैं। इन दोनों के शासन काल या तो बहुत छोटे-छोटे थे, और या इनमें से किसी एक ने राजा का पद प्राप्त ही नहीं किया था। अनेक ऐतिहासिकों ने यह कल्पना की है, कि कंदर्पधर्मा के पश्चात् चम्पा में जो गृहयुद्ध हुए, उनमें कम्बुज के राजाओं का हाथ था। सत्यकौशिकस्वामी के पिता को किसी जघन्य अपराध के कारण

चम्पा से वहिष्कृत कर दिया गया था और उसने कम्बुज में जाकर आश्रय ग्रहण किया था। प्रभासधर्मा के विरुद्ध षड्यन्त्र में असफल होकर सत्यकौशिकस्वामी ने भी कम्बुज में शरण ली थी, और उसके पौत्र जगद्धर्म का विवाह कम्बुज की राजकन्या के साथ हुआ था। ये सब बातें संकेत करती हैं, कि चम्पा के राजसिंहासन के सम्बन्ध में जो संघर्ष कंदर्पधर्मा की मृत्यु के पश्चात् हुआ, उसमें कम्बुज देश के राजकुल का हाथ था।

प्रकाशधर्म-विक्रान्तवर्मा—इस राजा का एक अभिलेख माइसोन के मन्दिर के एक फलक पर उत्कीर्ण है, जिससे चम्पा के पूर्ववर्ती राजाओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। गंगाराज के वंशजों का जो वृत्तान्त हमने ऊपर दिया है, वह प्रधानतया इसी अभिलेख पर आधारित है। इस अभिलेख के अनुसार इस राजा ने चम्पा नगरी में श्रीप्रभासेश्वर को प्रतिस्ठापित किया था, और ईशानेश्वर, श्रीशम्भुभद्रेश्वर तथा श्रीप्रभासेश्वर की सतत पूजा के निमित्त बहुत-सा दानपुण्य किया था। ईशानेश्वर और श्रीशम्भुभद्रेश्वर के मन्दिर चम्पा में पहले से विद्यमान थे, पर श्री प्रभासेश्वर का मन्दिर राजा प्रकाशधर्म-विक्रान्तवर्मा ने बनवाया था। इन तीनों मन्दिरों में निरन्तर पूजापाठ होता रहा, इसी प्रयोजन से इस राजा ने अनेक व्यवस्थाएँ की थीं। एक अन्य अभिलेख में इस राजा द्वारा कुबेर के निमित्त दिये गये दान का उल्लेख है, और इसी राजा का एक अभिलेख खन-हुआ में मिला है, जिसमें शिव की पूजा के विषय में लिखा गया है। प्रकाशधर्म-विक्रान्तवर्मा के शासनकाल में चम्पा में शान्ति और व्यवस्था कायम रही। चीन के साथ उसका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था, और कम-से-कम तीन बार उसने अपने राजदूत चीनी सम्राट् की सेवा में भेजे थे।

नरवाहनवर्मा—प्रकाशधर्म-विक्रान्तवर्मा के बाद नरवाहनवर्मा चम्पा का राजा बना। इस राजा का उल्लेख ६५३ शकसंवत् (७३१ ईस्वी) में उत्कीर्ण विक्रान्तवर्मा द्वितीय के अभिलेख में आया है, और वहाँ इसके विषय में यह लिखा है कि इसने शम्भुवर्मा द्वारा बनवायी गई एक वेदी के बाह्य भाग को सोने और चाँदी के पत्रों से मढ़वाया था। इस राजा का शासनकाल ६८७ ईस्वी के बाद माना जाता है।

विक्रान्तवर्मा द्वितीय—यह नरवाहन वर्मा के बाद चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। ७३१ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया हुआ इसका जो अभिलेख मिला है, उसमें इस राजा द्वारा लक्ष्मी की एक मूर्ति की स्थापना का भी उल्लेख है।

रुद्रवर्मा द्वितीय—गंगाराज के जिन वंशजों ने चम्पा का शासन किया, उनमें रुद्रवर्मा द्वितीय अन्तिम था। उसने ७४९ ईस्वी में अनेक बहुमूल्य भेंट उपहारों के साथ अपना दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। रुद्रवर्मा द्वितीय ७५७ ईस्वी तक चम्पा के राजसिंहासन पर विराजमान रहा, और उसके साथ उस राजवंश का अन्त हो गया जिसका प्रारम्भ गंगाराज के साथ हुआ था। इस वंश के राजाओं के अभिलेख माइसोन एवं उसके समीपवर्ती स्थानों से मिले हैं, जिससे सूचित होता है कि इनके राज्य का केन्द्र क्वांग-नाम का प्रदेश था जिसमें माइसोन की स्थिति थी।

(३) पाण्डुरंग वंश

राजा रुद्रवर्मा द्वितीय के पश्चात् चम्पा राज्य का शासन एक नये राजवंश के हाथों में चला गया, जिसका प्रवर्तक पृथ्वीन्द्र वर्मा था। अव तक इस राज्य का केन्द्र नवांग-नाम प्रान्त था, जिसकी स्थिति चम्पा राज्य के उत्तरी क्षेत्र में थी। पर पृथ्वीन्द्रवर्मा के समय से चम्पा की राजशक्ति का केन्द्र दक्षिण के कठोर प्रदेश में हो गया। पाण्डुरंग (वर्तमान फनरंग) की स्थिति भी इसी प्रदेश में थी। पृथ्वीन्द्रवर्मा और उसके वंशजों का उद्गम-स्थल यही पाण्डुरंग था, जिसके कारण उनका वंश भी पाण्डुरंग ही कहा जाता है। ८०१ ईस्वी के राजा इन्द्रवर्मा के ग्लै लमोव अभिलेख में पृथ्वीन्द्रवर्मा को सम्पूर्ण चम्पा राज्य का स्वामी कहा गया है। यह राज्य उसने शक्ति द्वारा अपने सब शत्रुओं को जीतकर प्राप्त किया था। उसके राज्य में सब वस्तुएँ विद्यमान थीं, और कहीं दुर्भिक्ष न होकर सर्वत्र सुभिक्ष था। इस राजा के सम्बन्ध में ग्लै-लमोव अभिलेख के ये श्लोक उद्धरण के योग्य हैं—

> श्रीमान्नरेन्द्रः पृथिवीन्द्रवर्मा-ख्यातस्स्ववंशैर्ज्जगति प्रभावैः।
> ह्यस्तीति लोके स भुनक्ति भूमि शक्त्या च निर्ज्जित्य रिपून् हि सर्वान्॥
> चम्पाञ्च सकलां भुक्तवा स एव परमो नृपः।
> तस्य राज्ये सुभिक्षा स्यान्नानाद्रव्याणि सन्ति च॥

किन शत्रुओं को जीतकर पृथ्वीन्द्रवर्मा ने राज्य प्राप्त किया था, इसका संकेत चीनी ग्रन्थों से मिलता है। उनके अनुसार ७६७ ईस्वी में जावा द्वारा चम्पा राज्य पर आक्रमण किया गया था। सम्भवतः, इस आक्रमण के निराकरण में पृथ्वीन्द्रवर्मा ने अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया था, और इसी से उसे सम्पूर्ण चम्पा पर अपना शासन स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो गया था।

सत्यवर्मा—७७४ ईस्वी में पृथ्वीन्द्रवर्मा की मृत्यु हुई, और उसका भागिनेय (वहिन का पुत्र) सत्यवर्मा चम्पा राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसके शासनकाल की प्रधान घटना जावा की जल सेना द्वारा समुद्र मार्ग से चम्पा राज्य पर आक्रमण कर वहाँ से एक शिवलिंग को उठा ले जाना तथा मन्दिर को ध्वंस कर देना थी। अनेक अभिलेखों में इस घटना का उल्लेख है। पो नगर से प्राप्त एक अभिलेख में जावा के इन आक्रान्ताओं को काले रंग का, रूखा और यम के समान क्रूर (कृष्णरुक्षपुरुषैः कालोग्रपापात्मकैः) कहा गया है। इन्होंने जहाजों (पोतों) द्वारा आक्रमण कर मन्दिर को नष्ट किया, और वहाँ से शिव के मुखलिंग तथा अन्य सामान को वे अपने साथ ले गये। राजा सत्यवर्मा ने अपनी जल सेना द्वारा जावा के आक्रान्ताओं का पीछा किया, और समुद्र के युद्ध में उन्हें परास्त करने में सफलता प्राप्त की। पर जावा के लोगों ने मुखलिंग तथा मन्दिर से लायी हुई अन्य सामग्री को समुद्र में फेंक दिया। इस दशा में सत्यवर्मा ने मन्दिर का पुनः संस्कार करा के एक नवीन शिव मुखलिंग को उसमें प्रतिष्ठापित कराया, और बहुत-सी भूमि मन्दिर को दान में दी। शिव मुखलिंग के अतिरिक्त दुर्गा और गणेश की मूर्तियाँ भी सत्यवर्मा ने मन्दिर में प्रतिष्ठापित करायी थीं। ७८५ ईस्वी में राजा

सत्यवर्मा का देहावसान हुआ।

इन्द्रवर्मा—सत्यवर्मा के पश्चात् उसका भाई इन्द्रवर्मा चम्पा का राजा बना। सत्यवर्मा के समान वह भी पृथ्वीन्द्रवर्मा का भागिनेय था। इस राजा के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। फनरंग के मैदान के समीप यंग-तिकुह अभिलेख के अनुसार कलियुग के दोषों की अत्यधिकता के प्रभाव से नौकाओं द्वारा आये हुए जावा के सैनिक-संघों ने भद्राधिपतीश्वर शिव के मन्दिर को भस्म कर दिया था। (**ततश्चकलियुगदोषातिशय भावेन नावागतैर्जवबलसंघैर्निदह्यतेपि**)। इन्द्रवर्मा ने मन्दिर का पुनः निर्माण कराया और इन्द्रभद्रेश्वर नाम से शिव की एक नई मूर्ति प्रतिष्ठापित की। इस मन्दिर के लिए इन्द्रवर्मा ने रजत, सुवर्ण, मुकुट, रत्नहार, दास-दासी, गाय-भैंस और खेत आदि प्रचुर परिमाण में प्रदान किये। इन्द्रवर्मा का यह मन्तव्य था, कि पृथिवी पर जो भी द्रव्य हैं, सब भगवान् इन्द्रभद्रेश्वर के हैं (इन्द्रभद्रेश्वरस्यैव सर्वद्रव्यं महीतले)। अतः यदि उसने इतनी अधिक धनसम्पत्ति भगवान् के मन्दिर को प्रदान कर दी हो, तो यह स्वाभाविक ही था। इन्द्रभद्रेश्वर शिव के अतिरिक्त धर्मप्राण राजा इन्द्रवर्मा ने वीरपुर में इन्द्रभद्रेश्वर शिव की मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की थी। अपने भाई सत्यवर्मा द्वारा बनवाये हुए एक मन्दिर में उसने इन्द्रपरमेश्वर की मूर्ति स्थापित की, और नारायण तथा शंकर (हरिहर) की भी एक मूर्ति प्रतिष्ठापित कराके बहुत-सी दान-दक्षिणा इसके लिए प्रदान की। इन्द्रवर्मा केवल धार्मिक तथा श्रद्धालु ही नहीं था, वह परम प्रतापी भी था। ग्लै लमोव अभिलेख के अनुसार वह शत्रुओं की सेनाओं का उस प्रकार से संहार करता था, जैसे कि इन्द्र ने असुरों का किया था (सोऽहनन् परसैन्यानि वज्रहस्त इवासुरान्)। ब्राह्म और शास्त्र दोनों प्रकार के गुण उसमें विद्यमान थे, और उसकी राजधानी ऐसी सुर नगरी के समान थी, जिसमें वर्णाश्रम-व्यवस्था सुचारु रूप से पालन होता था। इसीलिए वहाँ कोई उपद्रव नहीं होते थे।

हरिवर्मा—राजा इन्द्रवर्मा ने ८०१ ईस्वी तक राज्य किया। उसके बाद उसका बहनोई हरिवर्मा चम्पा राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसके शासन की मुख्य घटना चीन पर आक्रमण तथा उसके दो दक्षिणी प्रदेशों (होंअन तथा अई) को चम्पा द्वारा अधिगत कर लिया जाना है। पो नगर से प्राप्त एक अभिलेख में हरिवर्मा द्वारा चीन को पराजित करने का उल्लेख है। वहाँ यह लिखा गया है, कि उसने अपने धनुष रूपी सूर्य से चीन के अंधकार को दूर कर दिया।" इस बात की पुष्टि चीनी ग्रंथों से भी होती है, जिनके अनुसार चम्पा के एक राजा ने होंअन और अई के दो प्रदेशों को अधिगत कर लिया था। पर इन प्रदेशों पर चम्पा का आधिपत्य देर तक कायम नहीं रह सका। चीन के इस क्षेत्र के शासक ने युद्ध में चम्पा की सेनाओं को परास्त किया, और होंअन तथा अई के उन लोगों को कठोर दण्ड दिये, जिन्होंने कि चम्पा की सहायता की थी। हरिवर्मा ने पाण्डुरंग के प्रदेश का शासन अपने पुत्र विक्रान्तवर्मा के सुपुर्द कर दिया था। पर अभी उसकी आयु बहुत कम थी, अतः उसके संरक्षक के रूप में एक सेनापति की नियुक्ति की गई थी जिसका नाम 'पर' था। इस सेनापति ने कम्बुज देश पर अनेक आक्रमण किये थे, और वहाँ के नगरों को लूटा भी था। उनके अभिलेखों में

हरिवर्मा द्वारा प्रतिष्ठापित देवमूर्तियों तथा उन के लिए दी गई दान-दक्षिणा का भी उल्लेख किया गया है। इस राजा का पूरा नाम वीर जयश्री हरिवर्मदेव था, और अभिलेखों में इसके लिए 'राजाधिराज श्रीचम्पापुरपरमेश्वर' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस राजा का शासनकाल ८२० ई० तक था।

विक्रान्तवर्मा तृतीय—हरिवर्मा के पश्चात् विक्रान्तवर्मा तृतीय चम्पा का राजा बना। यह सत्यवर्मा तथा इन्द्रवर्मा का भागिनेय था। उसके चार अभिलेख पो नगर में मिले हैं, जिनमें उसके दानपुण्य का उल्लेख है। उसके शासनकाल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। पाण्डुरंग वंश का वह अन्तिम राजा था। उसके पश्चात् चम्पा में एक नये राजवंश का शासन प्रारम्भ हुआ, जो भृगुवंश के नाम से प्रसिद्ध है।

पाण्डुरंग वंश का शासन नौवीं सदी के मध्य (८५४ ईस्वी) तक रहा।

(४) भृगु वंश

इन्द्रवर्मा द्वितीय—इस वंश का पहला राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय था। ८७५ ईस्वी में उत्कीर्ण राजा के दोंग दुओंग अभिलेख के अनुसार वह 'ख्यातयशा' श्रीभद्रवर्मा का पुत्र था, और उसने तप के फलविशेष से तथा पुण्य, बुद्धि और पराक्रम द्वारा चम्पा का राज्य प्राप्त किया था, पितृपितामहक्रम से नहीं (तपःफलविशेषाच्च पुण्यबुद्धिपराक्रमात्,··· नृपः प्राप्तो न पितुर्न पितामहात्)। शुरू में इन्द्रवर्मा द्वितीय को श्री लक्ष्मीचन्द्र भूमीश्वर ग्रामस्वामी' कहा जाता था, और बाद में 'श्री जय इन्द्रवर्मा महाराजाधिराज' कहा जाने लगा। इससे सूचित होता है कि मूलतः उसकी स्थिति एक जागीरदार (भूमीश्वर) और ग्राम के नायक (ग्रामस्वामी) की थी। अपने समय की परिस्थितियों से लाभ उठाकर वह चम्पा का राजा बन गया। यह नई स्थिति उसने किस प्रकार प्राप्त की, यह अभिलेखों द्वारा स्पष्ट नहीं होता। दोंग दुओंग के अभिलेख में इन्द्रवर्मा द्वितीय की वंशावली भी दी गई है। उसके अनुसार परमेश्वर का पुत्र उरोज था, जो सारे संसार का स्वामी था। उसका पुत्र धर्मराज हुआ। धर्मराज का पुत्र राजा श्रीभववर्मा था। श्रीभववर्मा का पुत्र ख्यातयशा भद्रवर्मा हुआ, जिसके पुत्र श्री इन्द्रवर्मा ने महेश्वर की कृपा से चम्पा का राज्य प्राप्त किया। इसी अभिलेख में इन्द्रवर्मा के वंश का प्रवर्तक भृगु ऋषि को कहा गया है, जिसके कारण उसके वंश को ऐतिहासिक ने भृगुवंश नाम दिया है। इन्द्रवर्मा द्वितीय के शासनकाल की कोई महत्त्वपूर्ण घटना ज्ञात नहीं है। ८७७ ईस्वी में उसने अपना दूतमण्डल चीन भेजा था, जिससे चम्पा और चीन के संबंधों का सौहार्दपूर्ण होना सूचित होता है। इस राजा के अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें उस द्वारा स्थापित मन्दिरों तथा उन्हें प्रदान की गई दान-दक्षिणा का उल्लेख है। ८८९ ईस्वी में उत्कीर्ण बो नंग अभिलेख में इन्द्रवर्मा को 'शास्त्रज्ञ' तथा 'लोकधर्मवित्' बताया गया है, और उसके मन्त्री मणिचैत्य द्वारा स्थापित श्रीमहालिङ्ग-देव के मन्दिर का उल्लेख किया गया है। मन्त्री मणिचैत्य के छोटे भाई का नाम ईश्वर-देव था। उसने श्री ईश्वरदेवादिदेव का मन्दिर बनवाया था। इन मन्दिरों के लिए राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय ने कृषियोग्य भूमि तथा दास प्रदान किए थे (श्री महालिङ्गदेवाय

प्रादात् क्षेत्रं सदासकम्) एक अन्य अभिलेख में इस राजा द्वारा श्री भाग्यकान्तेश्वर मन्दिर के लिए दी गई दान-दक्षिणा का उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजा इन्द्रवर्मा शैव धर्म का अनुयायी था, पर बौद्धधर्म को भी वह श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। उस द्वारा लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर विहार की भी स्थापना करायी गई थी, जिसके भग्नावशेष माइसोन के दक्षिण-पूर्व में दोंग दुओंग में विद्यमान हैं। बौद्ध धर्म के प्रति इस राजा की भक्ति इस बात से भी प्रमाणित होती है कि मृत्यु के पश्चात् उसे 'परम-बुद्धलोक' का विरुद प्रदान किया गया था।

जयसिंहवर्मा—८९८ ईस्वी के लगभग इन्द्रवर्मा द्वितीय की मृत्यु हुई, और जयसिंह वर्मा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इन्द्रवर्मा से उसका क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। जयसिंहवर्मा के शासनकाल के पाँच अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनसे यह तो ज्ञात होता है कि इस राजा ने किन मन्दिरों का निर्माण कर उनके लिए क्या कुछ दान-दक्षिणा प्रदान की थी, पर उनसे किसी राजनीतिक घटना का आभास नहीं मिलता। उस द्वारा यवद्वीप (जावा) को भेजे गये एक दूतमण्डल का उल्लेख एक अभिलेख में अवश्य विद्यमान है (यवद्वीपपुरं भूपानुज्ञातो दूतकर्मणि, गत्वा यः प्रतिपत्तिस्थः सिद्धयात्रः समागमत्), जिससे यह सूचित होता है कि इस समय चम्पा और जावा के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो गये थे।

भद्रवर्मा तृतीय—जयसिंहवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र जयशक्तिवर्मा चम्पा का राजा बना। उसके शासनकाल की कोई घटना अभी प्रकाश में नहीं आयी है। सम्भवतः उसने बहुत कम समय राज्य किया था। जयशक्तिवर्मा का उत्तराधिकारी भद्रवर्मा तृतीय था। इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। पर यह भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि भद्रवर्मा ने किसी षड्यन्त्र, विद्रोह या अन्य अनुचित उपाय द्वारा राजसिंहासन प्राप्त नहीं किया था, क्योंकि अभिलेखों में राजद्वार नामक एक राज-पदाधिकारी का उल्लेख आया है, जो राजा जयसिंहवर्मा के समय में राजकीय सेवा में नियुक्त था, फिर जयशक्तिवर्मा की सेवा में रहा और फिर भद्रवर्मा तृतीय के शासन-काल में भी उच्च पद पर आसीन रहा। इससे यह परिणाम निकलना असंगत नहीं होगा, कि इन राजाओं के समय में चम्पा में कोई गम्भीर राजनीतिक उथल-पुथल नहीं हुई थी। राजद्वार जयसिंहवर्मा की रानी त्रिभुवन महादेवी का चचेरा भाई था। ऐसा प्रतीत होता है, कि भद्रवर्मा के समय में चम्पा की राजशक्ति अक्षुण्ण थी। इस राजा के पाँच अभिलेख मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि पड़ोस के देशों के साथ भद्रवर्मा का राजनयिक सम्बन्ध विद्यमान था और उसके राजदूत उसके राजदरबार में आया करते थे। क्वांग-नाम प्रदेश के बन-अन स्थान से प्राप्त अभिलेख में दूसरे देशों से आये हुए राजदूतों के समूह का उल्लेख है (देशान्तरागतमहीपतिदूतसंघः)। होअ-कुए अभिलेख में भद्रवर्मा के एक मन्त्री के विषय में यह कहा गया है, कि सब देशों से राजाओं के जो सन्देश आते हैं, वह मन्त्री उन्हें देखकर एक क्षण में उनके सम्पूर्ण अभिप्राय को समझ लेता है (**सर्व्वदेशान्तरायातभूभुक्सन्देशमागतं, निरीक्ष्यैकक्षणं वेत्ति निश्शेषार्थमतीहया**)। जयसिंहवर्मा द्वारा जो दूतमण्डल यवद्वीप (जावा) भेजा गया था, उसका नेता राजद्वार

था। भद्रवर्मा तृतीय ने भी उसी के नेतृत्व में एक दूतमण्डल जावा भेजा था, जिसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी (यवद्वीपपुरं भूयः क्षितिपानुज्ञया सुधीः, द्विवारमपि यो गत्वा सिद्धयात्रामुपागमत्)। ६०५ ईस्वी के लगभग भद्रवर्मा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उसने ६ वर्ष तक राज्य किया। ६११ ई० में उसके पुत्र इन्द्रवर्मा तृतीय ने चम्पा का राज्य प्राप्त कर लिया।

इन्द्रवर्मा तृतीय—चम्पा के राजाओं में इन्द्रवर्मा तृतीय का स्थान अत्यंत महत्व का है। ६१४ ईस्वी के पौनगर के उसके अभिलेख में उसे षड्दर्शन, व्याकरण, कोश, आख्यान, शैव आगम और बौद्ध दर्शन आदि का मर्मज्ञ विद्वान् कहा गया है। अभिलेख का निम्नलिखित श्लोक उद्धरण के योग्य है—

मीमांसषट् तर्क जिनेन्द्र सून्मिस्स काशिका व्याकरणोदकौघः।
आख्यान शैवोत्तर कतपमीनः पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम्॥

राजा इन्द्रवर्मा ने ६१४ ईस्वी में देवी भगवती की एक सुवर्णनिर्मित (कलधौत-देहा) मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की थी। पर यह राजा देर तक न सुखपूर्वक शासन कर सका और न षड्दर्शन, व्याकरण आदि के अध्ययन में ही अपना मन लगा सका, क्योंकि कम्बुज देश के राजा ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया, और इन्द्रवर्मा द्वारा स्थापित देवी भगवती की सोने की मूर्ति को भी वह उठाकर ले गया। कम्बुज के राजा राजेन्द्रवर्मा, जो इन्द्रवर्मा का समकालीन था, के अभिलेखों में उस द्वारा चम्पा पर किये गए आक्रमण का उल्लेख विद्यमान है। उसके बत चुम अभिलेख में राजेन्द्रवर्मा को 'चम्पादि परराष्ट्राणां दग्धा कालानलाकृतिः' कहा गया है। इन्द्रवर्मा देवी भगवती की 'कलधौतदेहा' मूर्ति को कम्बुज देश से वापस नहीं करा सका। उसके स्थान पर पत्थर की मूर्ति को प्रतिष्ठापित करके ही उसे संतुष्ट रह जाना पड़ा। इन्द्रवर्मा तृतीय ने ६७२ ईस्वी तक चम्पा का शासन किया।

(५) अव्यवस्था का काल और अनाम के आक्रमण

राजा इन्द्रवर्मा तृतीय के सुदीर्घ शासन काल में चम्पा की राजशक्ति का जो ह्रास हुआ था और जिसके कारण कम्बुज देश की सेनाएँ भी उसे आक्रान्त कर सकी थीं, उसने अन्य भी अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न किए। इन्द्रवर्मा तृतीय के बाद का लगभग एक सदी का चम्पा का इतिहास प्रायः अन्धकारमय है, क्योंकि इस काल का कोई अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इन्द्रवर्मा के बाद का जो पहला अभिलेख मिला है, वह ९९१ ई० का है और वह अत्यन्त संक्षिप्त है।

परमेश्वरवर्मा—इन्द्रवर्मा के पश्चात् परमेश्वरवर्मा ९७२ ईस्वी में चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके शासनकाल की मुख्य घटना अनाम के साथ संघर्ष है। चम्पा राज्य के उत्तर में अनाम तथा तोन्किन की स्थिति थी, जो पहले चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन प्रदेशों पर चीन का प्रभुत्व अस्वाभाविक एवं अनुचित था, क्योंकि इनके निवासी जाति, नसल, भाषा आदि की दृष्टि से चीनी लोगों से भिन्न थे। इसी कारण ये समय-समय पर चीन के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह करते रहते थे। ९०७ ई०

में चीन के शक्तिशाली तांग वंश का पतन हो गया था, और वहाँ अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी। अनाम के लोगों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और अपने को चीन के प्रभुत्व से स्वतन्त्र घोषित कर दिया। जिस प्रतापी व्यक्ति ने अनाम को स्वतन्त्र कर वहाँ एक पृथक् राजवंश के शासन का प्रारम्भ किया था, उसका नाम न्गो क्युएन था। उसके नेतृत्व में अनाम एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था, यद्यपि नाम को वह अब भी चीन के आधिपत्य को स्वीकार करता था। पर न्गो क्युएन द्वारा स्थापित अनाम का स्वतन्त्र राज्य देर तक अपनी राजनीतिक एकता को कायम नहीं रख सका। शीघ्र ही वह बारह छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, जिनमें परस्पर संघर्ष चलता रहता था। ९६८ ईस्वी में दिन्ह बो लिन्ह नामक प्रतापी राजा ने अनाम के अन्य सब राजाओं को जीत लिया और वह सम्पूर्ण अनाम देश का एकच्छत्र सम्राट् बन गया। दिन्ह बो लिन्ह द्वारा परास्त राजाओं में एक न्गोन्हुत खन्ह था, जिसने चम्पा जाकर शरण ग्रहण की थी। वहाँ रहते हुए वह उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। ९७९ ईस्वी में दिन्ह बो लिन्ह की हत्या हो गयी। ज्योंही यह समाचार न्गो न्हुत खन्ह को ज्ञात हुआ, उसने अनाम पर आक्रमण कर अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने की योजना बनायी और इसमें चम्पा के राजा परमेश्वरवर्मा से सहायता की याचना की। वह इसके लिये तुरन्त तैयार हो गया, और चम्पा के जंगी जहाजों का बेड़ा अनाम तथा तोन्किन पर आक्रमण के लिये भेज दिया गया। परमेश्वरवर्मा स्वयं इस अभियान का नेतृत्व कर रहा था। पर अभी यह बेड़ा अनाम के समुद्रतट के समीप नहीं पहुँच पाया था, कि समुद्र में एक भयंकर तूफान आ गया जिसके कारण बहुत-से जहाज नष्ट हो गये। न्गो न्हुत खन्ह भी इनके साथ ही पानी में डूब गया। पर भाग्यवश उस राजकीय जहाज को कोई नुकसान नहीं पहुँचा, जिस पर परमेश्वरवर्मा सवार था, और वह सुरक्षित चम्पा को वापस लौट आया। इस के कुछ समय बाद अनाम के प्रमुख पुरुषों ने ल होअन नामक कुलीन पुरुष को अपने देश का राजा निर्वाचित कर लिया (९८० ईस्वी)। ल होअन एक योग्य एवं कुशल शासक था। उसने यत्न किया कि चम्पा के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करे। इसी प्रयोजन से उसने अपना एक दूत चम्पा भेजा, पर परमेश्वरवर्मा ने उसे कैद कर लिया। चम्पा के राजा का यह कार्य राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था। अतः ल होअन का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। उसने तुरन्त चम्पा पर आक्रमण कर दिया। परमेश्वरवर्मा की सेनाएँ उसका सामना नहीं कर सकीं, वे परास्त हो गयीं और राजा भी युद्ध में मारा गया। अनाम की सेनाएँ आगे बढ़ती हुई चम्पा राज्य की नई राजधानी इन्द्रपुरी तक चली आईं। उसे उन्होंने बुरी तरह से लूटा और वहाँ के मन्दिरों को नष्ट किया। चम्पा से अपने देश को वापस जाते हुए ल होअन जो बहुत-सी लूट अपने साथ ले गया, उसमें अन्तःपुर की सौ स्त्रियाँ और एक भारतीय भिक्षु भी था (९८२ ईस्वी)।

इन्द्रवर्मा चतुर्थ—यद्यपि ल होअन अनाम वापस लौट गया था, पर चम्पा के विजित प्रदेश का शासन करने के लिये उसने वहाँ अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये थे। इस दशा में परमेश्वरवर्मा के उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मा चतुर्थ ने चम्पा राज्य के दक्षिणी प्रदेश को अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ से एक ब्राह्मण को अपना दूत बनाकर इस उद्देश्य से चीन

के सम्राट् की सेवा में भेजा, ताकि अनाम के विरुद्ध चीन की सहायता प्राप्त की जाए (६८५ ईस्वी)। पर चीन का सम्राट् अनाम और चम्पा के झगड़े में हस्तक्षेप करने को उद्यत नहीं हुआ। इन्द्रवर्मा को यह परामर्श दिया गया कि वह अपने राज्य की रक्षा स्वयं करे और अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखे। इस बीच में अनाम की दशा भी व्यवस्थित नहीं रही थी। वहाँ राजशक्ति के लिए संघर्ष जारी थे। जब ल होअन चम्पा के विरुद्ध संघर्ष में व्यापृत था, ल्यू-की-तोंग (जो सम्भवतः ल होअन द्वारा उत्तरी चम्पा के शासन के लिये नियुक्त था), ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। ल होअन ने उसे वश में लाने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हुआ।

विजयश्री हरिवर्मा द्वितीय—इसी बीच में इन्द्रवर्मा चतुर्थ की मृत्यु हो गयी थी। अब चम्पा में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह गया, जो ल्यू-की-तोंग के विरुद्ध खड़ा हो सके। उसने अपने को सम्पूर्ण चम्पा का राजा घोषित कर दिया। चम्पा के लोगों को ल्यू-की-तोंग का विदेशी शासन सहन नहीं हुआ, और उन्होंने बड़ी संख्या में अपनी जन्मभूमि का परित्याग कर चीन में बसना प्रारम्भ कर दिया। ल्यू-की-तोंग के शासन के विरुद्ध चम्पा की जनता में जो असंतोष था, उसी के कारण वहाँ एक राष्ट्रीय नेता का प्रादुर्भाव हुआ। उसने चम्पा को विदेशी शासन से स्वतन्त्र किया और ९८६ ईस्वी में वह विजयश्री हरिवर्मा के नाम से चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस राजा ने दक्षिणी चम्पा में विजय (विन्ह दिन्ह) को अपनी राजधानी बनाया पर अभी हरिवर्मा का मार्ग निष्कण्टक नहीं हुआ था। ल होअन ने फिर चम्पा पर आक्रमण कर दिया, जिसका प्रतिरोध करने के लिये हरिवर्मा ने चीन की सहायता प्राप्त करना आवश्यक समझा। इसके लिए उसने एक दूतमण्डल बहुत-से भेंट उपहारों के साथ चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा। चीनी सम्राट् ने ल होअन को आदेश दिया कि वह चम्पा के विरुद्ध युद्ध को बन्द कर दे। साथ ही, हरिवर्मा ने भी इस अवसर पर ल होअन के प्रति मैत्री की भावना रखी। अनाम में ल होअन के विरुद्ध विद्रोह हो रहे थे, और विद्रोही सरदार हरिवर्मा की सहायता प्राप्त करने को उत्सुक थे। पर हरिवर्मा उन्हें सहायता देने के लिए तैयार नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि ल होअन और हरिवर्मा में मैत्री हो गई, और अनाम की सेनाएँ चम्पा से वापस लौट गई (९९२ ईस्वी)। इसी समय चीन के सम्राट् ने हरिवर्मा की सेवा में एक दूतमण्डल चम्पा भेजा जो अपने साथ बहुत-से उपहार भी लाया था। हरिवर्मा ने अपने दूत अनाम के राजदरबार में भी भेजे थे, और ल होअन के साथ मैत्री सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिये अपने पौत्र को भी उसके पास भेज दिया था। हरिवर्मा द्वितीय का एक अभिलेख माइसोन के मन्दिर के एक फलक पर उत्कीर्ण है, जिसमें श्रीजय ईशान भद्रेश्वर की मूर्ति को पुनः प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। यह अभिलेख ९९१ ईस्वी में उत्कीर्ण कराया गया था।

हरिवर्मा द्वितीय के उत्तराधिकारी—हरिवर्मा द्वितीय के बाद विजयश्री चम्पा का राजा बना। अनाम के आक्रमणों के कारण चम्पा की पुरानी राजधानी इन्द्रपुरी की दुर्दशा हो गई थी अतः अब विजय को स्थायी रूप में राजधानी बना लिया गया।

९९९ ईस्वी में विजयश्री ने अपना दूतमण्डल चीन भेजा था। उसका उत्तराधिकारी हरिवर्मदेव तृतीय था, जिसने १०१०, १०११ और १०१५ में अपने दूतमण्डल चीन भेजे थे। १०११ में उसने अनाम के राजदरबार में भी अपना दूत भेजा था। हरिवर्मदेव की ओर से जो दूत १०११ ईस्वी में चीन गये थे, उनके साथ कुछ शेर भी चीनी सम्राट् की सेवा में भेंट के रूप में भेजे गए थे, जिन्हें देखकर चीन के दरबारियों को बहुत कौतूहल हुआ था। हरिवर्मदेव तृतीय के बाद परमेश्वरवर्मा द्वितीय चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस राजा ने भी १०१८ ईस्वी में अपने दूत चीन भेजे थे। अनाम के साथ परमेश्वरवर्मा के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रहे। इसीलिए १०२१ ईस्वी में अनाम की सेना ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया, पर उसे विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। परमेश्वर वर्मा द्वितीय का उत्तराधिकारी श्रीविक्रान्तवर्मा चतुर्थ था, जिसने १०३० ईस्वी में एक दूतमण्डल चीन भेजा था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस राजा का शासनकाल शान्तिमय नहीं था। राज्य में विद्रोह हो रहे थे, और गृह-युद्ध का भी सूत्रपात हो गया था। यही कारण है, जो १०३८ और १०३९ ईस्वी में दो बार उसके पुत्र ने अनाम जाकर शरण ग्रहण की थी।

जयसिंहवर्मा—श्रीविक्रान्तवर्मा चतुर्थ के बाद उसका पुत्र जयसिंहवर्मा चम्पा का राजा बना। अनाम के साथ उसके सम्बन्ध कटु थे। सम्भवतः, श्रीविक्रान्तवर्मा के शासनकाल में जो विद्रोह एवं गृहयुद्ध हुए थे, उनमें अनाम का रुख जयसिंहवर्मा के प्रतिकूल था। इसीलिए राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर उसने जंगी जहाजों के बेड़े को लेकर समुद्र मार्ग से अनाम पर आक्रमण किया। पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस समय अनाम का राजा फत मा था। वह जयसिंहवर्मा के आक्रमण को विफल बना कर ही संतुष्ट नहीं हो गया, अपितु एक शक्तिशाली जलसेना को लेकर उसने चम्पा पर आक्रमण भी कर दिया। न्गू वो नदी के मुहाने पर अनाम और चम्पा में घोर युद्ध हुआ, जिसमें चम्पा की पराजय हुई। जयसिंहवर्मा अपने तीस हजार सैनिकों के साथ इस युद्ध में मारा गया, और फत मा की सेनाओं ने दक्षिण दिशा में आगे बढ़ विजय नगरी पर कब्जा कर लिया। चम्पा की राजधानी को बुरी तरह से लूटा गया, और वहाँ से बहुत-सी धन सम्पत्ति अनाम ले जायी गई। विजय के अन्तःपुर की सब स्त्रियों को भी फत मा अपने साथ ले गया। कहा जाता है, कि जब चम्पा के अन्तःपुर की एक महिला को जहाज में फत मा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया, तो उसने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए समुद्र में छलांग लगा दी। इस प्रकार जयसिंहवर्मा के साथ चम्पा के उस राजवंश का अन्त हुआ, जिसका प्रारम्भ ९८९ ईस्वी में विजयश्री हरिवर्मा द्वितीय द्वारा किया गया था। जयसिंहवर्मा की मृत्यु १०४६ ईस्वी में हुई थी।

जयपरमेश्वरवर्मा—अनाम के राजा फत मा के आक्रमण के कारण चम्पा में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर अनेक सामन्त राजा अपने-अपने प्रदेश में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लग गये थे, और इन्द्रपुर व विजय की केन्द्रीय राज्यशक्ति सर्वथा निस्तेज हो गई थी। चम्पा की इस दुरवस्था का अन्त जय-परमेश्वरवर्मा द्वारा किया गया। यह राजा चम्पा के पुराने राजवंश का था, और एक

अभिलेख में इसे उरोजवंशज कहा गया है। इन्द्रवर्मा द्वितीय ने जिस भृगु वंश का प्रारम्भ किया, उसका भी उरोज के साथ सम्बन्ध था, जैसा कि इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। इससे यह माना जा सकता है कि जयपरमेश्वरवर्मा भी पुराने भृगु वंश से सम्बद्ध था। छः वर्ष की अव्यवस्था के पश्चात् १०५० ईस्वी में यह राजा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ, और इसने देश में फिर से शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की। फत मा के आक्रमण से लाभ उठाकर जिन स्थानीय सामन्तों ने स्वतंत्र रूप से आचरण प्रारम्भ कर दिया था, उनमें पाण्डुरंग का सामन्त राजा प्रमुख था। उसने अपने को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया था, और इस प्रदेश के निवासी भी उसका साथ दे रहे थे। जयपरमेश्वरवर्मा ने सबसे पूर्व पाण्डुरंग की ओर ध्यान दिया। उसके विरुद्ध तीन सेनाएँ भेजी गईं। जिनमें से एक का नेतृत्व राजा ने स्वयं किया, और दो अन्य सेनाओं के सेनापति राजा के दो भानजे (जिन्हें अभिलेखों में युवराजमहासेनापति और देवराजमहासेनापति कहा गया है), नियुक्त किए गये। पाण्डुरंग के विद्रोही इन सेनाओं के सम्मुख नहीं टिक सके और सदा के लिए पत्थर की भांति मूक हो गये। पाण्डुरंग प्रदेश के सब निवासियों को कैद कर लिया गया। बाद में आधे लोगों को तो रिहा कर दिया गया, और शेष आधों को दास-दासियों के रूप में मन्दिरों व मठों को दे दिया गया। विजय की स्मृति में दो विजय-स्तम्भों की स्थापना की गई, और दोनों महा-सेनापतियों ने दो शिवलिंगों को भी प्रतिष्ठापित किया। पाण्डुरंग को परास्त कर चुकने पर अन्य विद्रोहियों का दमन करने में कठिनता नहीं हुई, और शीघ्र ही सम्पूर्ण चम्पा में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई।

अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर जयपरमेश्वरवर्मा ने कम्बुज देश की ओर ध्यान दिया। इस समय कम्बुज के राजसिंहासन पर उदयादित्यवर्मा विराजमान था। उसके शासनकाल में जो विद्रोह हुए और उनका दमन करने के लिए सेनापति संग्राम ने जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया, उस पर कम्बुज देश के इतिहास को लिखते हुए प्रकाश डाला जा चुका है। यह स्वाभाविक था कि जयपरमेश्वरवर्मा जैसा प्रतापी एवं सफल राजा इस स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न करे और कम्बुज के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार करे। युवराज महासेनापति के नेतृत्व में चम्पा की एक शक्तिशाली सेना ने कम्बुज पर आक्रमण कर दिया और उदयादित्यवर्मा की सेना को परास्त कर शम्भुपुर पर कब्जा कर लिया। चम्पा की सेनाओं ने इस नगरी को बुरी तरह से ध्वंश किया, और वहां से बहुत-से मन्दिर उस द्वारा नष्ट कर दिये गए। इस युद्ध में शम्भुपुर के जो बहुत-से नरनारी युवराज महासेनापति ने बन्दी बनाए, उन्हें चम्पा के श्री ईशान-भद्रेश्वर के मन्दिर को अर्पित कर दिया गया। पिछले वर्षों की अव्यवस्था और अनाम के आक्रमणों के कारण चम्पा के बहुत-से मन्दिर नष्ट हो गए थे। जयपरमेश्वरवर्मा ने उनके जीर्णोद्धार पर विशेष ध्यान दिया, और उनके लिए बहुत-सी धन-सम्पत्ति प्रदान की। जयपरमेश्वरवर्मा जहां शक्तिशाली योद्धा था, वहां साथ ही चतुर राजनीतिज्ञ भी था। चीन और अनाम के साथ उसने मैत्री सम्बन्ध कायम रखा, और अपने शासनकाल में अनेक बार अपने दूतमण्डल इन देशों में भेजे।

रुद्रवर्मा चतुर्थ—जयपरमेश्वरवर्मा के पश्चात् चम्पा के राजसिंहासन पर कौन आरूढ़ हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। पर १०६० में वहाँ का राजा रुद्रवर्मा था, जिस द्वारा बहुत-से पालतू हाथी चीन के सम्राट् की सेवा में भेजे गये थे। सम्भवतः, इसने १०६० ई० में चम्पा के शासन सूत्र को अपने हाथों में लिया था। रुद्रवर्मा जयपरमेश्वरवर्मा के कुल में ही उत्पन्न हुआ था, पर उसका अपने से पूर्ववर्ती राजा के साथ क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। जयपरमेश्वरवर्मा ने अनाम के प्रति मैत्री का भाव रखा था। पर रुद्रवर्मा चतुर्थ ने इस नीति का परित्याग कर दिया, और राजगद्दी पर बैठते ही अनाम से युद्ध करने की तैयारी आरम्भ कर दी। १०६२ ई० में उसने अनाम के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए एक दूतमण्डल चीन भेजा। चीन के सम्राट् ने चम्पा के दूतमण्डल का स्वागत किया और भेंट- उपहार भी प्रदान किये, पर अनाम के विरुद्ध सैनिक सहायता प्रदान करने का उसने कोई वचन नहीं दिया। इस पर रुद्रवर्मा ऊपर-ऊपर से अनाम के प्रति मैत्री भाव प्रदर्शित करता रहा, पर अन्दर-अन्दर वह लड़ाई की तैयारी में व्यापृत रहा। १०६३, १०६५ और १०६८ ई० में उसने अपने दूतमण्डल भी अनाम भेजे। जब युद्ध की सब तैयारी हो गई, तो १०६८ ई० के अन्त में रुद्रवर्मा चतुर्थ ने अनाम पर आक्रमण कर दिया। इस समय अनाम का राजा ल्यी थन्ह तोन था। उसने न केवल चम्पा के आक्रमण का सफलतापूर्वकमुकाबला किया, अपितु एक बड़ी जलसेना को साथ लें चम्पा पर चढ़ाई भी कर दी। श्रीवनोई के बन्दरगाह पर उतर कर अनाम की सेना निरन्तर आगे बढ़ती गई। चम्पा की सेना उनकी गति को नहीं रोक सकी, और बुरी तरह से परास्त हो गई। रुद्रवर्मा चतुर्थ अपने परिवार के साथ कैद कर लिया गया, और अनाम की विजयी सेना चम्पा की राजधानी विजयनगरी में प्रविष्ट हो गई (१०६९)। विजय के राजप्रासाद पर कब्जा कर राजा ल्यी थन्ह तोन ने खूब खुशियाँ मनाई, भोज और नाच रंग के आयोजन किए गये। चार मास तक यह क्रम चलता रहा। इसके बाद ल्यी थन्ह तोन ने आदेश दिया, कि विजयनगरी को अग्निदेव के अर्पण कर दिया जाए। चम्पा की इस वैभवपूर्ण राजधानी को भस्म कर ल्यी थन्ह तोन अपने देश को वापस लौट गया। चम्पा के जिन लोगों को कैदी बनाकर वह अपने साथ अनाम ले गया, उनकी संख्या ५० हजार के लगभग थी। रुद्रवर्मा चतुर्थ भी इन कैदियों में था। पर वह देर तक अनाम की कैद में नहीं रहा। कैदी का जीवन बिताते हुए अनाम के राजा के साथ वह सन्धि की बातचीत करता रहा। अन्त में उसे सफलता प्राप्त हो गई, और अपने राज्य के तीन उत्तरी प्रदेशों को अनाम को देना स्वीकार कर उसने ल्यी थन्ह तोन के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि का परिणाम यह हुआ कि क्वांगत्री तक के उत्तरी प्रदेश चम्पा से अनाम ने प्राप्त कर लिए। अत्यन्त अपमानजनक सन्धि करके जब रुद्रवर्मा अपने देश को वापस आया, तो उसने देखा कि सर्वत्र अव्यवस्था मची हुई है, कितने ही व्यक्तियों ने विभिन्न प्रदेशों में अपने को राजा घोषित किया हुआ है, और चम्पा अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त है। इस स्थिति में अपने देश वापस आकर रुद्रवर्मा चतुर्थ ने क्या कर्तृत्व प्रदर्शित किया, यह ज्ञात नहीं है। चम्पा की अराजक दशा का अन्त राजा हरिवर्मा चतुर्थ द्वारा किया गया, जिसके राजसिंहासन की प्राप्ति के साथ चम्पा के इतिहास में एक ऐसे नए युग का

प्रारम्भ हुआ, जो चम्पा के उत्कर्ष तथा वैभव का काल था।

(६) हरिवर्मा चतुर्थ और चम्पा में नई शक्ति का संचार

हरिवर्मा चतुर्थ—अनाम के राजा ल्यी थन्ह तोन द्वारा रुद्रवर्मा चतुर्थ के परास्त हो जाने के पश्चात् उत्पन्न हुई अवस्था के कारण जो अनेक राजा चम्पा के विविध प्रदेशों में स्वतंत्र रूप से शासन करने लग गये थे, उनमें हरिवर्मा भी एक था। एक अभिलेख में उसे प्रालेयेश्वर धर्मराज का पुत्र तथा नारिकेल वंश का (नारिकेलान्वय) कहा गया गया है। सम्भवतः, वह एक प्रादेशिक सामन्त कुल में उत्पन्न हुआ था। अपने प्रतिस्पर्धियों को परास्त कर हरिवर्मा ने चम्पा राज्य के बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। पर उसका कार्य सुगम नहीं था। चम्पा के कतिपय प्रदेश अब भी ऐसे थे, जहाँ उसके प्रतिस्पर्धी स्वतंत्र रूप से राज्य कर रहे थे। साथ ही अनाम का राजा भीचम्पा की अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। १०७० ईस्वी में उसने चम्पा पर फिर आक्रमण कर दिया। कम्बुज का राजा भी इस समय शान्त नहीं बैठा था। उसकी सेनाओं ने भी चम्पा के उन प्रदेशों पर धावे बोलना शुरू कर दिया, जो कम्बुज देश की सीमा के साथ लगते थे। पर हरिवर्मा ने इन सबका वीरतापूर्वक सामना किया। माइसोन के एक अभिलेख के अनुसार उसने बारह बार शत्रु-सेनाओं को रणक्षेत्र में परास्त किया, और नौ बार शत्रु राजाओं, सेनापतियों तथा सामन्तों के सिर धड़ से अलग किये। सोमेश्वर नामक स्थान पर कम्बुज की सेना को हरा कर उसके सेनापति श्रीनन्दवर्मदेव को उस द्वारा बन्दी बना लिया गया। जिन अनेक राजाओं तथा सेनापतियों का हरिवर्मा द्वारा शिरच्छेद किया गया था, वे वही होंगे जो चम्पा में उसके प्रतिस्पर्धी थे। इसमें सन्देह नहीं, कि चिरकाल के संघर्ष एवं युद्धों के अनन्तर हरिवर्मा अपने सब प्रतिस्पर्धियों को परास्त कर चम्पा का एकच्छत्र राजा बनने में समर्थ हो गया था, और अपनी सैन्य शक्ति द्वारा उसने कम्बुज तथा अनाम के आक्रमणों को विफल बनाने में भी सफलता प्राप्त की थी। इस प्रकार अपने सब बाह्य तथा आभ्यन्तर शत्रुओं का विनाश कर हरिवर्मा ने अपना राज्याभिषेक कराया, और इस अवसर पर 'उत्कृष्टराज' की उपाधि ग्रहण की।

पर अभी हरिवर्मा का कार्य पूरा नहीं हुआ था। विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक अव्यवस्था के कारण चम्पा राज्य के प्रमुख नगर प्रायः ध्वंस हो गये थे, और उनके प्रासाद तथा मन्दिर नष्ट कर दिये गये थे। अब हरिवर्मा ने इनके जीर्णोद्धार पर ध्यान दिया। उस द्वारा बहुत-से मन्दिरों की मरम्मत करायी गई, उनमें नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई, और धर्म स्थानों के खर्च को चलाने के लिए जागीरें तथा धन-सम्पत्ति प्रदान की गई। चम्पा नगरी के भग्न भवनों का उसने पुनः निर्माण कराया और उसके प्रयत्न से चम्पा राज्य की इस प्राचीन राजधानी ने अपने लुप्त गौरव व वैभव को फिर से प्राप्त कर लिया।

हरिवर्मा चतुर्थ अभी ४१ वर्ष का ही था, कि उसे राजसुख से वैराग्य हो गया और उसने अपने शेष जीवन को भगवान् शिव की उपासना में व्यतीत करने का निश्चय

किया। उसके पुत्र का नाम राजद्वार था, और अभी उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। हरिवर्मा चतुर्थ के स्वेच्छापूर्वक राजसिंहासन का परित्याग कर देने पर उसके इसी पुत्र को श्रीजयइन्द्रवर्मदेव के नाम से राजगद्दी पर बिठाया गया (१०८१ ई०)।

परमबोधिसत्त्व—पर राजद्वार या जयइन्द्रवर्मा के लिए चम्पा के शासन-सूत्र को संभाल सकना सम्भव नहीं था। चम्पा की इस समय जो दशा थी, उसमें कोई ऐसा व्यक्ति ही सफलतापूर्वक राज्य का संचालन कर सकता था, जो योग्य तथा अनुभवी हो। नौ वर्ष के बालक के लिए राज्य के भार को वहन कर सकना सर्वथा असम्भव था। इस स्थिति में राज्य के प्रमुख व्यक्तियों ने यह निश्चय किया, कि हरिवर्मा चतुर्थ के छोटे भाई श्री युवराज महासेनापति कुमार पान् से राजा बनने के लिए प्रार्थना की जाए। माईसोन के अभिलेख के अनुसार, क्योंकि राजा जयइन्द्रवर्मदेव बहुत कम आयु का था, अतः उसे यह ज्ञान ही नहीं था कि राज्य के लिए कौन-सी बात अच्छी है और कौन-सी बुरी है, और उसके सब कार्य राजनीति के विपरीत होते थे। इस दशा में राज्य के सब सेनानायकों, ब्राह्मणों, ज्योतिषियों, पण्डितों, आचार्यों और श्रीहरिवर्मदेव की रानियों ने किसी ऐसे कुमार को ढूंढ़ना प्रारम्भ किया जो राज्य के शासन-सूत्र को संभालने में समर्थ हो। उनका ध्यान श्रीयुवराज महासेनापति कुमार पान् की ओर गया, जो श्री जयइन्द्रवर्मदेव का चाचा और श्री हरिवर्मदेव का छोटा भाई था, जिसमें राजचक्रवर्ती महाराज के सब लक्षण तथा गुण विद्यमान थे और जिसे अच्छे और बुरे में विवेक कर सकने की क्षमता थी। सेनापतियों और ब्राह्मणों आदि के निर्णय के अनुसार कुमार पान् ने राजा का पद स्वीकार कर लिया, और वह परमबोधिसत्त्व के नाम से चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। परमबोधिसत्त्व भी अपने बड़े भाई के समान ही वीर तथा सुयोग्य शासक था। चम्पा के राज्य में पाण्डुरंग का प्रदेश अब तक भी ऐसा था, जिसमें एक स्थानीय सामन्त स्वतन्त्र रूप से शासन कर रहा था। इस राजा ने उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया, और इस प्रकार चम्पा की राजनीतिक एकता को अविकल रूप से स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। अपने राज्य की सुख समृद्धि के लिए परमबोधिसत्त्व ने अनुपम कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया। ध्वंस हुए मन्दिरों और उजड़ी हुई नगरियों के जीर्णोद्धार के जिस कार्य को हरिवर्मा चतुर्थ ने प्रारम्भ किया था, इस राजा ने उसे जारी रखा। इसी का यह परिणाम हुआ, कि एक अभिलेख के अनुसार उसकी प्रजा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्ग उसके शासन में सम्पन्न तथा संतुष्ट थे।

जयइन्द्रवर्मा पंचम—परमबोधिसत्त्व ने चार साल (१०८१-१०८५) तक राज्य किया। इसके पश्चात् उसके उसी भतीजे श्री जयइन्द्रवर्मदेव ने राजा का पद प्राप्त किया, जिसे वयस्क न होने के कारण राज्य के प्रमुख व्यक्तियों ने शासन के अयोग्य समझा था। जयइन्द्रवर्मा ने भी अपने पिता तथा चाचा के समान चम्पा नगरी तथा अन्य नगरियों को फिर से आबाद करने और उन्हें समृद्ध बनाने के कार्य पर विशेष ध्यान दिया। अब चम्पा राज्य की आन्तरिक दशा इतनी व्यवस्थित हो गई थी, कि जयइन्द्रवर्मा ने अपने राज्य के उन प्रदेशों को भी पुनः प्राप्त करने का कार्य प्रारम्भ किया, जिन्हें अनाम को

प्रदान करना स्वीकार कर रुद्रवर्मा चतुर्थ ने ल्यी थन्ह तोन के कैदखाने से छुटकारा पाया था। चम्पा राज्य के इन उत्तरी प्रदेशों के प्रश्न को लेकर चम्पा और अनाम के सम्बन्ध बहुत कटु हो गए थे। ११०३ में एक शरणार्थी अनाम से चम्पा आया, और उसने राजा जयइन्द्रवर्मा को यह सूचित किया कि इस समय अनाम की आन्तरिक दशा अत्यन्त अस्त-व्यस्त है और उसके विरुद्ध लड़ाई प्रारम्भ करके चम्पा देश अपने खोये हुए प्रदेशों को फिर प्राप्त कर सकता है। जयइन्द्रवर्मा ने अनाम की अस्त-व्यस्त दशा से लाभ उठाकर उस पर आक्रमण कर दिया और अपने देश के तीनों उत्तरी प्रदेशों को अनाम की अधीनता से मुक्त किया। पर चम्पा की यह विजय देर तक कायम नहीं रह सकी। अनाम के राजा ने शक्ति का प्रयोग कर इन प्रदेशों में फिर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसके बाद जयइन्द्रवर्मा ने अनाम के साथ मैत्री सम्बन्ध कायम रखने में ही अपना हित समझा, और वह उसके राजदरबार में बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ अपने दूतमण्डल भेजता रहा।

श्री जयहरिवर्मदेव—१११४ ईस्वी में राजा जयइन्द्रवर्मा की मृत्यु हुई, और उसका भतीजा श्री जयहरिवर्मदेव (पञ्चम) चम्पा का राजा बना। उसके शासनकाल की कोई महत्त्वपूर्ण घटना ज्ञात नहीं है। १११४ ई० में उत्कीर्ण माइसोन के एक अभिलेख में श्री ईशान भद्रेश्वर के मन्दिर को इस राजा द्वारा दी गई दान-दक्षिणा का उल्लेख है।

(७) कम्बुज देश और चम्पा में संघर्ष

जयइन्द्रवर्मा षष्ठ—सम्भवतः, राजा जयहरिवर्मदेव के कोई सन्तान नहीं थी। इस राजा की मृत्यु के पश्चात् जो व्यक्ति चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, उसका नाम जयइन्द्रवर्मा (षष्ठ) था। अभिलेख के अनुसार उसका जन्म १०२८ शकाब्द (११०६ ई०) में हुआ था, ११२९ में उसे देवराज (महासेनापति) के पद पर नियुक्त किया गया था, और ११३३ ई० में युवराज (महासेनापति) के पद पर। चम्पा में ये अत्यन्त उच्च राजकीय पद हुआ करते थे। इन पर अधिष्ठित रह चुकने के कारण राज्य में स्वाभाविक रूप से वही ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति था, जो जयहरिवर्मदेव की मृत्यु के पश्चात् राजसिंहासन का अधिकारी था। ११३९ ई० में उसने राजा का पद प्राप्त कर लिया।

जयइन्द्रवर्मा षष्ठ के शासनकाल में चम्पा को अनेक युद्धों में फँसना पड़ा। १११३ ई० में कम्बुज के राजसिंहासन पर राजा सूर्यवर्मा आरूढ़ हुआ था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी तथा प्रतापी राजा था। पड़ोस के राज्यों को जीतकर वह अपने राज्य के विस्तार के लिए प्रयत्नशील हुआ। इसीलिए ११२८ ईस्वी में उसने अनाम पर आक्रमण के लिए अपनी सेना भेजी, जिसमें बीस हजार सैनिक थे। सूर्यवर्मा चाहता था, कि चम्पा भी इस अभियान में उसकी सहायता करे। चम्पा इसके लिए तैयार भी हो गया और उसकी एक सेना अनाम पर आक्रमण के लिए चल भी पड़ी। पर इससे पूर्व कि इन दोनों देशों की सेनाएँ आपस में मिल सकतीं, अनाम ने इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से परास्त कर दिया। इसके बाद ११३२ ई० में कम्बुज देश ने चम्पा के सहयोग से एक बार

फिर अनाम पर आक्रमण किया, पर इस वार भी उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। पर सूर्यवर्मा इससे निराश नहीं हो गया। ११३७ ईस्वी में उसने फिर अनाम को आक्रान्त किया, पर इस बार चम्पा ने उसका साथ नहीं दिया। इस पर सूर्यवर्मा के क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहा, विशेषतया इस कारण से कि इस बार भी उसे अनाम के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। वह समझता था, कि यदि चम्पा की सेना पूर्ववत् उसकी सहायता के लिए आ जाती, तो वह अनाम को परास्त कर सकता था। अनाम को जीत सकने में अपने को असमर्थ पाकर कम्बुजराज सूर्यवर्मा ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया, और उसके अन्यतम प्रदेश विजय पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया (११४५ ई०)। सम्भवतः, जयइन्द्रवर्मा षष्ठ या तो इस युद्ध में मारा गया था और या कैद कर लिया गया था। यह सुनिश्चित है, कि ११४५ में चम्पा से उसके शासन का अन्त हो गया था।

रुद्रवर्मा परमब्रह्मलोक—कम्बुजराज सूर्यवर्मा आक्रमण के कारण चम्पा की राजशक्ति पुनः अस्त-व्यस्त हो गई थी। इस दशा में राजा परमबोधिसत्त्व के वंशज रुद्रवर्मा परमब्रह्मलोक ने अपने राजा को घोषित कर दिया, और पाण्डुरंग को केन्द्र बनाकर उसने चम्पा के शासन को संभालने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। पर ११४७ ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गई।

श्री जयहरिवर्मदेव षष्ठ—रुद्रवर्मा परमब्रह्मलोक के पुत्र का नाम रत्नभूमिविजय था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह श्रीजयहरिवर्मदेव कुमार शिवनन्दन के नाम से चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। जिस समय इस राजा ने चम्पा के शासन सूत्र को अपने हाथों में लिया, राज्य पर चारों ओर से विपत्ति की काली घटाएँ घिर रही थीं। कम्बुज की सेनाओं ने विजय के प्रदेश को तो हस्तगत कर ही लिया था, वे चम्पा के अन्य प्रदेशों को भी आक्रान्त करने में तत्पर थीं। अनाम भी इस समय शान्त नहीं बैठा था। उसकी सेनाओं ने भी उत्तर की ओर से चम्पा पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे, और दोनों राज्यों की सीमा पर निवास करने वाली किरात जातियों ने भी चम्पा के प्रदेशों में लूटमार शुरू कर दी थी। पर जयहरिवर्मदेव इससे घबराया नहीं। उसने बड़ी वीरता से अपने शत्रुओं का सामना किया, और उन सब को परास्त करने में सफलता प्राप्त की।

जयहरिवर्मदेव के शासन-सूत्र को संभालते ही कम्बुज के राजा सूर्यवर्मा द्वितीय ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया (११४७ ई०)। अपने प्रधान सेनापति शंकर को उसने चम्पा पर चढ़ाई करने का आदेश दिया। विजय राज्य (जो चम्पा का ही अन्यतम भाग था, और ११४५ ई० में कम्बुज की अधीनता में आ चुका था) की सेना भी इस अभियान में शंकर की सहायता के लिए रणक्षेत्र में आ गई। पर सेनापति शंकर को इस आक्रमण में सफलता प्राप्त नहीं हुई। चकल्यंग् के रणक्षेत्र में जयहरिवर्मदेव ने उसे परास्त कर दिया। पर सूर्यवर्मा इससे निराश नहीं हुआ। अगले साल ११४८ म उसने एक बहुत बड़ी सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिये भेजी। पर इस बार भी उसे निराश होना पड़ा, और कयेव के रणक्षेत्र में जयहरिवर्मदेव ने उसे परास्त कर दिया। कम्बुज की सेनाओं को दो बार परास्त कर जयहरिवर्मदेव ने यह विचार किया

कि अब उसे रक्षात्मक नीति के बजाय आक्रमणात्मक नीति अपनानी चाहिये। इसीलिए उसने स्वयं कम्बुज देश पर आक्रमण करने का निश्चय किया। जब यह समाचार सूर्यवर्मा द्वितीय को ज्ञात हुआ, तो वह चम्पा की सेनाओं का सामना करने के लिए तैयार हो गया। जयहरिवर्मदेव चाहता था, कि सबसे पूर्व विजय प्रदेश को कम्बुज की अधीनता से मुक्त कराया जाए। उसकी इस योजना का प्रतिरोध करने के लिए सूर्यवर्मा ने अपने स्याल (पत्नी के भाई) हरिदेव को विजय का शासक नियुक्त किया, और उसकी सहायता के लिए शक्तिशाली सेना वहाँ भेज दी। पर चम्पा के राजा ने महीश के रणक्षेत्र में हरिदेव को परास्त कर दिया और विजय पर से कम्बुज के आधिपत्य की समाप्ति कर दी। अब विजय का प्रदेश भी जयहरिवर्मदेव के शासन में आ गया, और वहाँ बड़ी धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक किया गया (११४९)।

यद्यपि कम्बुजराज सूर्यवर्मा की महीश के रणक्षेत्र में बुरी तरह से हार हुई थी, पर अब भी उसने हिम्मत नहीं छोड़ी। चम्पा राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों में जो अनेक किरात् जातियाँ निवास करती थीं, अब उसने उन्हें जयहरिवर्मदेव के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ किया। पर उसकी यह योजना भी सफल नहीं हुई। स्लय् नामक गाँव के समीप चम्पा की सेना और किरातों में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें किरातों की हार हुई। बाह्य शत्रुओं को परास्त करने में जयहरिवर्मदेव ने अनुपम सफलता प्राप्त की थी। पर उसे आभ्यन्तर शत्रुओं का भी सामना करना पड़ा, और उन्हें वशीभूत करने में भी वह सफल हुआ। उसके अपने स्याल (रानी के भाई) वंशराज ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर किया, और किरात सरदारों का समर्थन प्राप्त कर मध्यमग्राम में अपने को राजा घोषित कर दिया। जयहरिवर्मदेव ने वंशराज के विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग किया, और जो किरात सरदार उसकी सहायता कर रहे थे, उन्हें रणक्षेत्र में परास्त किया। किरातों को पूर्णतया वश में ले आने में जयहरिवर्मदेव ने सफलता प्राप्त कर ली थी, पर वंशराज उसके हाथ नहीं आया था। चम्पा से भागकर उसने अनाम में शरण ग्रहण की थी। उसने अनाम के राजा से जयहरिवर्मदेव के विरुद्ध सहायता की याचना की। अनाम का राजा स्वयं चम्पा के उत्कर्ष से बहुत चिन्तित था। वह वंशराज को सहायता देने के लिए उद्यत हो गया, और बहुत से सेनापतियों के नेतृत्व में एक लाख सैनिक चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेज दिए गये। साथ ही, उसने वंशराज को चम्पा का वैध राजा भी घोषित कर दिया। पर अनाम का यह आक्रमण सफल नहीं हो सका। युद्ध में जयहरिवर्मदेव की विजय हुई और अनाम के बहुत-से सेनापति और सैनिक मौत के घाट उतार दिए गये (११५०)। पर जयहरिवर्मदेव की कठिनाइयों का अभी तक अन्त नहीं हुआ था। चम्पा में ऐसे सामन्त राजाओं की कमी नहीं थी, जो अवसर पाते ही अपनी स्वतंत्रता तथा सम्पूर्ण चम्पा देश को अपने शासन में ले आने के लिए प्रयत्नशील हो जाते थे। ११५१ ई० में अमरावती में जयहरिवर्मदेव के विरुद्ध विद्रोह हुआ, और ११५५ में पाण्डुरंग में। पर इनका दमन करने में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, और ११६० तक यह स्थिति आ गई थी कि न उसे किसी आभ्यन्तर शत्रु का भय रहा था और न बाह्य शत्रु का। अब वह चम्पा का एकच्छत्र राजा बन गया था। जैसा कि उसके एक अभिलेख

में लिखा है, अब उसने 'आसिन्धुभूतलपतित्व' प्राप्त कर लिया था। देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित कर जयहरिवर्मदेव ने ध्वस्त मन्दिरों के जीर्णोद्धार तथा उजड़ी हुई नगरियों को बसाने पर भी ध्यान दिया। पर इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए वह अधिक समय जीवित नहीं रहा। ११६२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। युद्धों में निरन्तर व्यापृत रहते हुए भी उसने अपने माता-पिता की स्मृति में दो मन्दिरों का निर्माण कराया था, और महीशपर्वत पर एक शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। माइसोन के एक अभिलेख में मन्दिरों के जीर्णोद्धार तथा दान-दक्षिणा के सम्बन्ध में जो कार्य इस राजा ने किये थे, उनका उल्लेख है।

चम्पा के राजाओं में जयहरिवर्मदेव षष्ठ का स्थान अत्यन्य महत्त्वपूर्ण है। वह परम प्रतापी एवं सुयोग्य शासक था। माइसोन के एक अभिलेख से सूचित होता है, कि उसने चिर संघर्ष के पश्चात् चम्पा का राजसिंहासन प्राप्त किया था। युवावस्था में स्वदेश छोड़कर वह विभिन्न देशों में भटकता रहा था, और चिरकाल के बाद चम्पा वापस आया था (विहाय यस्स्वदेशं प्राक् परेषु सुखदुःखभाक्, देशेषु चिरकालेन चम्पायां पुनरागतः) इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशों में देर तक संघर्ष करने के कारण वह पूरी तरह से मंज गया था, और इस प्रकार जो सामर्थ्य उसने प्राप्त किया था उसी से वह बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से अपने देश की पूरी तरह रक्षा कर सका था।

जयइन्द्रवर्मा सप्तम—११६२ ई० में जयहरिवर्मदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जयहरिवर्मदेव सप्तम चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दो अभिलेखों में उसका उल्लेख मिलता है। पर वह देर तक शासनसूत्र का संचालन नहीं कर सका। ११६३ में चम्पा का राज्य श्री जयइन्द्रवर्मा सप्तम के हाथों में आ गया। वह ग्रामपुर-विजय का निवासी था, और जयहरिवर्मदेव षष्ठ व सप्तम के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। सम्भवतः, उसने जयहरिवर्मदेव सप्तम के विरुद्ध षड्यन्त्र करके राजसिंहासन पर अधिकार किया था। अवैध रूप से चम्पा का राज्य प्राप्त कर उसने चीन के सम्राट् की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयत्न किया, और बहुत-से बहुमूल्य उपहारों के साथ एक दूतमण्डल उसकी सेवा में भेजा। चीन का सम्राट् इतने अधिक उपहार स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुआ, और उसे जब यह ज्ञात हुआ कि उपहार में भेजी गई सम्पत्ति अरब व्यापारियों से लूटकर प्राप्त की गई है, तो उसने उसका कोई भी भाग ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

पर जयइन्द्रवर्मा सप्तम को अपने बाहुबल पर भरोसा था। चम्पा में उसकी स्थिति पूर्णतया सुदृढ़ थी। अब उसने कम्बुज के विरुद्ध अपनी शक्ति को प्रयुक्त करने का निश्चय किया। अनाम की ओर से निश्चिन्त होने के लिए उसने बहुत-से उपहार उसके राजा की सेवा में भेजे, और उसकी सद्भावना को प्राप्त कर लिया। ११७० ई० में उसने कम्बुज पर आक्रमण कर दिया। इस समय वहाँ का राजा त्रिभुवनादित्यवर्मा था। जयइन्द्रवर्मा ने उसके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी, और युद्धविद्या में अपने सैनिकों को प्रशिक्षित करने के लिए चीन के एक व्यक्ति को नियुक्त किया, जो जहाज के डूब जाने के कारण चम्पा में आश्रय लेने के लिए विवश हुआ था। पर स्थलयुद्ध में जयइन्द्रवर्मा धरणीन्द्र

वर्मा को परास्त नहीं कर सका। अब उसने समुद्र के मार्ग से कम्बुज पर आक्रमण करने का निश्चय किया। एक चीनी अधिकारी के नेतृत्व में चम्पा के जहाजी बेड़े ने समुद्र-तट के साथ-साथ कम्बुज की ओर प्रस्थान किया, और ११७७ ईस्वी में मेकोंग नदी के मुहाने पर पहुँच गया। वहाँ से वह नदी के मार्ग से कम्बुज की राजधानी की ओर अग्रसर हुआ। कम्बुज की सेना उसके सम्मुख नहीं टिक सकी। वह परास्त हो गई, और चम्पा की सेना ने राजधानी को लूटकर अपार धन-सम्पत्ति वहाँ से प्राप्त की। इस सम्पत्ति का उपयोग चम्पा के मन्दिरों को दान देने के लिए किया गया। जयहरिवर्मदेव षष्ठ द्वारा चम्पा के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था। अब जयइन्द्र वर्मा सप्तम के शासनकाल में यह देश शक्ति तथा उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय चम्पा की सैन्यशक्ति बहुत बढ़ गई थी। अनयुअन के एक अभिलेख से सूचित होता है, कि तीन राजपुरुषों ने जयइन्द्रवर्मा के प्रति भक्ति तथा आजन्म सैनिक सेवा करने की शपथ ग्रहण की थी। सम्भवतः, इस काल में ऐसे सैनिकों का एक वर्ग संगठित हो गया था, जो राजा के प्रति भक्ति रखते हुए जीवन-पर्यन्त सैनिक सेवा की प्रतिज्ञा किया करते थे।

जयइन्द्रवर्मा सप्तम के अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनमें उस द्वारा किये गये दान-पुण्य का उल्लेख है, उसने बुद्धलोकेश्वर, जयेन्द्र लोकेश्वर, भगवती श्री जयइन्द्रेश्वरी, और भगवती इन्द्रगौरीश्वरी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की थीं। माइसोन के एक अभिलेख में इस राजा को व्याकरण, ज्योतिष और नारदीय व भार्गवीय धर्मशास्त्रों का पारंगत पण्डित कहा गया है।

त्रिभुवनादित्यवर्मा की मृत्यु के पश्चात् जयवर्मा सप्तम ने कम्बुज देश के शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया था (११८१)। उसने चम्पा के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा, और जयइन्द्रवर्मा की सेनाओं को कम्बुज छोड़कर चले जाने के लिए विवश किया। जयवर्मा सप्तम एक महान् विजेता था। वह चम्पा की सेनाओं को अपने देश से बाहर निकालकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, अपितु चम्पा पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन करने में भी समर्थ हुआ। कम्बुज देश का राजनीतिक इतिहास लिखते हुए जयवर्मा सप्तम की इन विजयों का विशदरूप से उल्लेख किया जा चुका है। श्रीसूर्यवर्मदेव (जो मूलतः चम्पा का निवासी था) के नेतृत्व में कम्बुज सेनाएँ चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेजी गईं। उन्होंने चम्पा को बुरी तरह से परास्त किया, और वहाँ के राजा जयइन्द्रवर्मा सप्तम को बन्दी बनाकर वे कम्बुज ले आईं। जयवर्मा सप्तम ने शासन के लिए चम्पा को दो भागों में विभक्त किया। दक्षिणी भाग का शासक श्रीसूर्यवर्मदेव को नियुक्त किया गया, और उत्तरी भाग का सूर्यजयवर्मदेव को, जो जयवर्मा का स्याल (पत्नी का भाई) था। दक्षिणी भाग की राजधानी राजपुर बनायी गई, और उत्तरी भाग की विजयनगरी।

श्रीसूर्यवर्मदेव—दक्षिणी चम्पा का शासन करने में श्रीसूर्यवर्मदेव को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पर उत्तरी चम्पा में रघुपति नामक सामन्त ने सूर्यजयवर्मदेव के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और जयइन्द्रवर्मदेव के नाम से अपने को राजा घोषित कर दिया। कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम ने रघुपति को पदच्युत करने के लिए, जो सेना भेजी,

वह पहले राजपुर गई और वहां के राजा श्रीसूर्यवर्मदेव के सेनापतित्त्व में उत्तरी चम्पा (विजय) की ओर अग्रसर हुई। रघुपति (जयइन्द्रवर्मदेव) इसके सम्मुख नहीं टिक सका। वह परास्त हो गया, और उसे मौत के घाट उतार दिया गया। अब चम्पा के दोनों भाग श्रीसूर्यवर्मदेव के शासन में आ गये। रघुपति को परास्त करने के लिए जो सेना कम्बुज भेजी गयी थी, उसके साथ चम्पा का भूतपूर्व राजा जयइन्द्रवर्मा सप्तम भी था, जिसे ११६० में वन्दी बनाकर कम्बुज ले आया गया था। जयवर्मा की इच्छा थी, कि उसे उत्तरी चम्पा का राजा बना दिया जाए, ताकि चम्पावासियों की राष्ट्रीय भावना सन्तुष्ट की जा सके। वह चाहता था, कि जयइन्द्रवर्मा उसके अधीनस्थ राजा के रूप में उत्तरी चम्पा का शासन करे। पर श्रीसूर्यवर्मदेव ने उसकी योजना को क्रियान्वित नहीं होने दिया। उसने उत्तरी चम्पा को भी अपने शासन में ले लिया, और वह सम्पूर्ण चम्पा पर स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने लगा। जयइन्द्रवर्मा ने जब सेना एकत्र कर उसका विरोध करने का प्रयत्न किया, तो श्रीसूर्यवर्मदेव ने उसके विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग किया और मैक के रणक्षेत्र में उसे न केवल परास्त ही किया, अपितु उसका वध भी कर दिया। इस प्रकार उस प्रतापी चम्पा नरेश का करुण अन्त हुआ, जिसने जल-मार्ग द्वारा कम्बुज को आक्रान्त किया था, और उस देश की राजधानी को बुरी तरह से विनष्ट किया था।

पर श्रीसूर्यवर्मदेव शान्तिपूर्वक चम्पा का शासन नहीं कर सका। कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम ने उसे अपना वशवर्ती बनाने के लिए अनेक बार चम्पा पर आक्रमण किये। १२०३ ईस्वी में एक कम्बुज सेना उसके विरुद्ध भेजी गई, जिसका सेनापति युवराज ओंधनपति था। यह श्रीसूर्यवर्मदेव का चाचा था, और मूलतः चम्पा का निवासी था। सम्भवतः, वह भी अपने भतीजे के साथ चम्पा से कम्बुज गया था, और जयवर्मा सप्तम का आश्रय प्राप्त कर उसने भी कम्बुज के शासनतंत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। ओंधनपति के नेतृत्त्व में जो सेना श्रीसूर्यवर्मदेव के विरुद्ध भेजी गई थी, उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। श्रीसूर्यवर्मदेव परास्त हो गया, और कम्बुजराज जयवर्मा सप्तम द्वारा चम्पा का शासन युवराज ओंधनपति के सुपुर्द कर दिया गया। उसके शासन के विरुद्ध जो भी विद्रोह चम्पा में हुए, उनका दमन करने में भी उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। इस प्रकार अब चम्पा पर कम्बुज का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था, क्योंकि ओंधनपति कम्बुजराज जयवर्मा की ओर से ही वहां का शासक नियुक्त था। कम्बुज के साम्राज्य की सीमा अब अनाम के साथ आ लगी थी, और यह स्वाभाविक था कि इन देशों में युद्ध प्रारम्भ हो जाए। अनाम और कम्बुज के संघर्ष में कबुज की सैन्यशक्ति का बहुत ह्रास हुआ और उसके लिए चम्पा पर भी अपना आधिपत्य रख सकना कठिन हो गया। यह स्थिति थी, जबकि जयपरमेश्वरवर्मा ने चम्पा में अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया (१२२६ ईस्वी)।

जयपरमेश्वरवर्मा चतुर्थ—जयपरमेश्वरवर्मा चम्पा के पुराने राजकुल में उत्पन्न हुआ था। वह राजा जयहरिवर्मदेव सप्तम का पुत्र था, और उसके पश्चात् चम्पा के राजसिंहासन पर उसी का अधिकार था। पर ११६३ ईस्वी में जब श्रीजयइन्द्रवर्मा ने

चम्पा पर अधिकार कर लिया, तो जयपरमेश्वरवर्मा अपने देश को छोड़कर अन्यत्र प्रवास करने के लिए विवश हो गया, और अनेक स्थानों पर प्रवास करने के पश्चात् उसने भी कम्बुज जाकर आश्रय ग्रहण किया। कम्बुज के राजा जयवर्मा सप्तम ने उसे भी 'युवराज' की पदवी से विभूषित कर अपने राज्य में उच्च स्थान प्रदान किया था। अनाम के युद्धों के कारण जब कम्बुज की सैन्यशक्ति क्षीण हो गई, और उसके लिए अन्य देशों को अपने अधीन रख सकना कठिन हो गया, तो जयपरमेश्वरवर्मा ने इस दशा से लाभ उठाया और चम्पा के राजसिंहासन को अधिगत कर लिया। चम्पा का राजा बनकर जयपरमेश्वर वर्मा ने शान्तिपूर्वक शासन का संचालन किया, और उसे किन्हीं अन्य युद्ध में फँसने की आवश्यकता नहीं हुई। उसका शासनकाल उस क्षति को दूर करने में व्यतीत हुआ, जो कम्बुज के साथ ३२ वर्ष के लगभग के सुदीर्घ संघर्ष के कारण चम्पा को उठानी पड़ी थी। इस राजा के भी अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें उस द्वारा विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करने तथा मन्दिरों को प्रदान किये गये दान का उल्लेख है। १२३३ में उत्कीर्ण कराये गये पो नगर के अभिलेख के अनुसार उसने पो नगर की देवी भगवती के लिए ख्मेर, चम, चीनी तथा सियामी दास-दासियाँ अर्पित की थीं। एक अन्य अभिलेख में उस द्वारा श्रीलिङ्गलोकेश्वर, श्रीजिनपरमेश्वर, श्रीजिनबुद्धेश्वरी, श्रीजिनलोकेश्वर और श्रीसौगतदेवेश्वर के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है।

जयइन्द्रवर्मा (दशम)—जयपरमेश्वरवर्मा चतुर्थ के पश्चात् उसका छोटा भाई जयइन्द्रवर्मा चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने १२४३ ईस्वी के लगभग राजा का पद प्राप्त किया था। इस काल में चम्पा के बहुत-से साहसी व्यक्ति नौकाओं द्वारा अनाम के समुद्रतट पर बहुधा लूटमार करते रहते थे। अनाम के राजा ने इस बात की ओर जयइन्द्रवर्मा का ध्यान आकृष्ट किया, और उससे इस लूटमार को बन्द करवाने का आग्रह किया। चम्पा के राजा ने इसका यह उत्तर दिया, कि चम्पा के जो तीन उत्तरी प्रदेश अनाम द्वारा अवैध रूप से अधिकृत हैं, पहले उन्हें वापस लौटा दिया जाए। इस उत्तर से अनाम के राजा के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा, और उसने एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर चम्पा पर आक्रमण कर दिया। वह चम्पा के किसी अन्य प्रदेश को तो अपने अधीन नहीं कर सका, पर अपने देश को वापस लौटते हुए बहुत-से चम्पावासियों को कैदी बनाकर साथ ले गया, जिनमें एक रानी और चम्पा के कतिपय राजपुरुष भी थे।

जयसिंह या इन्द्रवर्मा एकादश—१२५७ ईस्वी में जयइन्द्रवर्मा के भानजे जयसिंह वर्मा ने अपने मामा की हत्या कर दी, और राजसिंहासन को अधिकृत कर इन्द्रवर्मा के नाम से अपना राज्याभिषेक कराया। जयसिंहवर्मा शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहता था। इसीलिए उसने अनाम और चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये; और उनके राजदरबारों में अपने दूतमण्डल प्रेषित किये।

(८) मंगोलों से संघर्ष

बारहवीं सदी के अन्त में चीन के उत्तर में निवास करने वाली मंगोल जाति में एक

वीर एवं प्रतिभाशाली नेता का प्रादुर्भाव था, जिसका नाम चंगेज खाँ था (११६२-१२२७)। विविध मंगोल कबीलों को एक सूत्र में संगठित कर चंगेज ने एशिया और यूरोप के बहुत-से प्रदेशों की विजय कर ली, और एक विशाल मंगोल साम्राज्य का निर्माण किया। चंगेज खाँ के पोते कुबले खाँ ने चीन पर भी अपना शासन स्थापित किया और पेकिंग को राजधानी बनाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। १२७९ ईस्वी तक वह सम्पूर्ण चीन का एकच्छत्र सम्राट् बन गया था। अनाम और चम्पा के राजा पहले भी चीन के सम्राटों के प्रति सम्मान का भाव रखते थे, और भेंट-उपहार भेजकर उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया करते थे। कुबले खाँ ने यत्न किया, कि इन पड़ोसी देशों के राजा उसे अपना अधिपति स्वीकार कर लें, और उनकी स्थिति अधीनस्थ या सामन्त राजाओं के सदृश हो जाए। इसी प्रयोजन से उसने इन दोनों देशों के राजाओं के पास यह सन्देश भेजा, कि वे मंगोल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर लें। चम्पा का राजा जयसिंहवर्मा या इन्द्रवर्मा एकादश इसके लिए उद्यत हो गया, और उसने १२८१ ईस्वी में अपने राजदूत पेकिंग भेज दिये ताकि वे वहाँ जाकर मंगोल सम्राट् के प्रति चम्पाराज का सम्मान प्रगट कर सकें। इस समय से कुबले खाँ चम्पा को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत मानने लगा, और वहाँ के शासन पर अपना हाथ रखने के लिए उसने सगतू खाँ को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। राजा इन्द्रवर्मा ने तो इस अपमान को सहन कर लिया, पर उसका पुत्र हरिजित् यह नहीं सह सका कि कोई विदेशी व्यक्ति चम्पा के शासन में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप करे। उसके नेतृत्व में चम्पा की जनता सगतू खाँ के विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और इस मंगोल सरदार के लिए चम्पा में रह सकना असम्भव हो गया। वह अपने देश को वापस चला गया। कुबले खाँ को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने एक शक्तिशाली सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेजी, और सगतू खाँ को ही इस सेना का सेनापति बनाया गया। समुद्र के मार्ग से जब मंगोल सेना ने चम्पा में प्रवेश किया, तो कुमार हरिजित् ने उसका वीरतापूर्वक मुकाबला किया। पर वह देर तक मंगोल सैनिकों के सम्मुख नहीं टिक सका। सम्मुख युद्ध में परास्त होकर उसने पर्वतों में जाकर आश्रय ग्रहण किया और वहाँ से सगतू के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। चम्पा में अपनी सैन्यशक्ति में वृद्धि करने के प्रयोजन से कुबले खाँ ने १५,००० सैनिकों की नई सेना स्थलमार्ग से चम्पा भेजी। चम्पा पहुँचने के लिए इस सेना को अनाम होकर जाना था। अनाम के राजा ने इस सेना का प्रतिरोध किया। अनाम की सेनाओं के मुकाबले में पहले तो मंगोलों की विजय हुई, पर अन्त में वे हार गये और स्थल के मार्ग से चम्पा पहुँच सकने में असमर्थ रहे। उधर सगतू खाँ को भी चम्पा में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, और कुबले खाँ इस देश को अपने साम्राज्य का अंग बना सकने में असफल रहा। पर चम्पा का राजा इन्द्रवर्मा यह भली-भाँति समझता था, कि मंगोल सम्राट् के सामने देर तक टिक सकना सम्भव नहीं होगा। अतः उसने एक दूतमण्डल १२८५ ईस्वी में पेकिंग भेजा, जो बहुत-सी धन-सम्पत्ति भी कुबले खाँ की सेवा में अर्पित करने के लिए साथ ले गया। कुबले खाँ ने भी यही उचित समझा, कि चम्पा के शासन में अधिक हस्तक्षेप न किया जाए। इस प्रकार राजा इन्द्रवर्मा

मंगोलों से अपने देश की रक्षा करने में समर्थ हुआ। १२८७ ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गई।

जयसिंहवर्मा तृतीय—इन्द्रवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र हरिजित् जयसिंहवर्मा (तृतीय) के नाम से चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। मंगोल आक्रान्ता सगतू खाँ के विरुद्ध उसने अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया था, और चम्पा की स्वतन्त्रता की रक्षा के सम्बन्ध में उसका कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। पर राजा बनकर उसने एक ऐसा कार्य किया, जिसे देशद्रोह कहा जा सकता है। उसका पहला विवाह यवद्वीप (जावा) की राजकुमारी के साथ हुआ था, जिसका नाम तापसी था। बाद में उसने अनाम के राजा की पुत्री से विवाह करना चाहा, और इसके लिए उसके पिता न्होन् तोन की स्वीकृति भी प्राप्त कर ली। यह राजा अपने पुत्र अन्ह तोन को राजगद्दी सुपुर्द कर तीर्थ यात्रा के लिए निकला हुआ था; और इसी सिलसिले में वह चम्पा भी आया था। वहाँ जयसिंहवर्मा ने उसकी बहुत आवभगत की, और अनाम की राजकुमारी से विवाह के सम्बन्ध में उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली। पर राजकुमारी का भाई तथा अनाम के अन्य प्रमुख राजपुरुष इसके लिए तैयार नहीं हुए। इस पर जयसिंहवर्मा ने उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा, कि यदि उन्होंने अनाम की राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दिया, तो चम्पा के उत्तरी प्रान्त क्यांगत्री का दक्षिणी भाग और क्वांग-नाम का उत्तरी भाग अनाम को प्रदान कर दिया जायगा। चम्पा के तीन उत्तरी प्रदेश पहले ही अनाम की अधीनता में जा चुके थे, अब इन दो प्रदेशों को भी अनाम को प्रदान करने का प्रस्ताव कर जयसिंहवर्मा ने अपने देश के प्रति ऐसा द्रोह किया, जिसे क्षमा नहीं किया जा सकता। अन्ह तोन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, और चम्पा के दो उपजाऊ एवं समृद्ध प्रदेशों को प्राप्त कर अपनी बहिन का विवाह जयसिंहवर्मा के साथ कर दिया। विवाह के पश्चात् वह राजकुमारी परमेश्वरी के नाम से प्रख्यात हुई। पर जयसिंहवर्मा देर तक परमेश्वरी के साथ दाम्पत्य जीवन नहीं बिता सका। १३०७ ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गई।

(९) अनाम से संघर्ष और चम्पा का उत्कर्ष

महेन्द्रवर्मा—जयसिंहवर्मा तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र 'हरिजितात्मज' महेन्द्रवर्मा चम्पा का राजा बना। उसके पिता ने जिस प्रकार क्यांगत्री के दक्षिणी भाग और क्वांग-नाम के उत्तरी भाग को अनाम नरेश को प्रदान कर दिया था, वह इसकी आँखों में शूल की तरह से चुभ रहा था। साथ ही, इन प्रदेशों के निवासियों को भी विदेशी शासन असह्य था। परिणाम यह हुआ, कि उनमें निरंतर विद्रोह होने लगे और अनाम के उपनिवेशकों तथा राजकर्मचारियों के लिए वहाँ रह सकना सम्भव नहीं रहा। अनाम का राजा समझता था, कि इन विद्रोहियों की पीठ पर चम्पा के शासनतन्त्र का हाथ है। अतः उसने चम्पा पर आक्रमण करने का निश्चय किया, और अनाम की एक शक्तिशाली सेना ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी। अनाम का तत्कालीन राजा अन्ह होअंग स्वयं इस सेना का सेनापतित्व कर रहा था। महेन्द्रवर्मा के लिए इस सेना का

सामना कर सकना कठिन था। वह सपरिवार समुद्र मार्ग से अनाम के राजा के पास गया, और वहाँ उसने आत्मसमर्पण कर दिया। पर चम्पा की सेना राजा के समान कायर नहीं थी। उसने डटकर शत्रु सेना का मुकाबला किया, यद्यपि अन्त में वह परास्त हो गई। चम्पा की सेना के कर्त्तव्य को देखकर अन्ह होअंग बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसने महेन्द्रवर्मा को कैद में डाल दिया। अब चम्पा अनाम की अधीनता में आ गया, और उसका शासन करने के लिए अनाम के राजा द्वारा चे-नांग की नियुक्ति की गई (१३१२ ई०)। यह चे-नांग महेन्द्रवर्मा का भाई था, पर अब चम्पा में इसकी स्थिति अनाम के अधीनस्थ राजा की थी।

कुछ समय पश्चात् अनाम के राजा अन्ह होअंग ने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया, और उसका पुत्र निन्ह होअंग अनाम का राजा बना। चे-नांग ने इस राजपरिवर्तन से लाभ उठाना चाहा, और उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। पर उसके लिए अनाम की शक्ति के मुकाबले में अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रख सकना सुगम नहीं था। अनाम की सेनाओं द्वारा उसे परास्त कर दिया गया, और उनकी कैद से बचने के लिए वह चम्पा से जावा चला गया (१३१८)। इस प्रकार चम्पा के उस राजवंश का अन्त हुआ, जिसका प्रारम्भ ११४५ ईस्वी में रुद्रवर्मा परमब्रह्मलोक द्वारा किया गया था। चे-नांग का भारतीय नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है।

चम्पा की स्वतन्त्रता—१३१८ में चम्पा पर अनाम का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, और वहाँ कोई राजा नहीं रह गया था। इस दशा में अनाम के राजा द्वारा आ-नान नामक सेनापति को चम्पा का शासक नियुक्त किया गया। सम्भवत:, आ-नान चम्पा का निवासी था, और उसका सम्बन्ध वहाँ के किसी कुलीन सैनिक परिवार के साथ था। चम्पा के शासन-सूत्र को संभाल कर आ-नान ने भी चे-नांग का अनुसरण किया, और अनाम की अधीनता से मुक्त होकर चम्पा का स्वतन्त्र राजा बन जाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। इसी उद्देश्य से उसने मंगोलों से सम्पर्क स्थापित किया, और चीन के मंगोल सम्राट से सहायता की याचना की। आ-नान के इस रुख को देखकर अनाम के राजा ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया (१३२६)। पर अनाम की सेना आ-नान को परास्त नहीं कर सकी। अब वह पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया, और निन्ह होअंग उसे वशवर्ती बना सकने में असमर्थ रहा। आ-नान एक शक्तिशाली एवं योग्य राजा था उसने न केवल चम्पा को अनाम की अधीनता से मुक्त ही किया, अपितु उसकी समृद्धि तथा उन्नति के लिए भी बहुत कार्य किया।

आ-नान के बाद उसका जामाता बो दे चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पर आ-नान का एक पुत्र भी था, जिसका नाम चे मो था। वह राजगद्दी पर अपना अधिकार समझता था। उसने बो दे के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया, पर सफल नहीं हो सका। इस पर उसने अनाम के राजा की शरण ली, और उसकी सहायता से चम्पा पर चढ़ाई कर दी। पर वह बो दे को परास्त नहीं कर सका, और युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई (१३५३)। क्योंकि चे मो की सहायता के लिए भेजी गई अनाम की सेनाओं को मुंह की खानी पड़ी थी, अतः बो दे की हिम्मत बहुत बढ़ गई। उसने यत्न किया कि

सैन्यशक्ति का प्रयोग कर चम्पा के उन उत्तरी प्रदेशों को अधिगत कर ले, जो अनाम के अधीन थे। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई।

चम्पा का उत्कर्ष—१३६० ईस्वी के लगभग चे बोंग न्गा चम्पा का राजा बना। बो दे के साथ उसका क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। चम्पा का यह राजा भी अनाम से अपने देश के उत्तरी प्रदेशों को प्राप्त कर लेने के लिए उत्सुक था। इसीलिए उसने जल और स्थल मार्गों से अनाम पर हमले करने शुरू कर दिये, और वहाँ के अनेक नगरों में लूट मार कर प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त की। इस पर अनाम के राजा दू होअंग ने एक शक्तिशाली सेना चम्पा पर आक्रमण करने के लिए भेजी, जो चे बोंग न्गा द्वारा बुरी तरह से परास्त कर दी गई। जून, १३६९ में दू होअंग की मृत्यु हो गई, और वहाँ की राजगद्दी के सम्बन्ध में झगड़े शुरू हो गये। दू होअंग के पुत्र को कैद में डालकर उसके भाई न्घिआ-होअंग ने राजगद्दी प्राप्त कर ली थी, जिस पर दू होअंग की विधवा रानी ने चम्पा आकर वहाँ के राजा चे बोंग न्गा से सहायता की याचना की। चम्पा का राजा तो इस अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहा था। उसने समुद्र मार्ग द्वारा अनाम पर आक्रमण कर दिया, और उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। वहाँ के राजप्रसाद को ध्वंश कर लूट में प्राप्त की गई बहुत-सी धनसम्पत्ति के साथ वह अपने देश को वापस आया (१३७१)।

१३७२ ईस्वी में न्घिआ होअंग ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया और उसके स्थान पर खाम होअंग अनाम का राजा बना। जनवरी, १३७७ में उसने एक बड़ी सेना को साथ लेकर चम्पा पर आक्रमण किया। इस सेना में सैनिकों की संख्या १,२०,००० से भी अधिक थी। चम्पा में अग्रसर होती हुई यह सेना विजय नगरी तक पहुँच गई, पर वहाँ चम्पा की सेना ने अनुपम रणनीति प्रदर्शित की और अनाम की बुरी तरह हार हुई। वहाँ का राजा खाम होअंग भी इस लड़ाई में मारा गया। पर चे बोंग न्गा अनाम की सेना को परास्त करके ही संतुष्ट नहीं हो गया, उसने तुरन्त एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े द्वारा अनाम पर आक्रमण कर दिया, और उसकी राजधानी को बुरी तरह से लूटा। खाम होअंग की मृत्यु के पश्चात् गिअन होअंग अनाम के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। वह चम्पा की सेनाओं का मुकाबला करने में असमर्थ रहा, और चे बोंग न्गा ने कई बार अनाम को आक्रान्त कर वहाँ मनमाने ढंग से लूटमार मचाई। उसके आक्रमणों से अनाम में इतना आतंक छा गया था, कि वहाँ के राजा गिअन होअंग ने अपना राजकोश राजधानी से हटाकर पहाड़ी गुफाओं में छिपा दिया था। चे बोंग न्गा ने अनाम पर बार-बार आक्रमण किए, और १३८९ में प्रायः सम्पूर्ण अनाम उसकी अधीनता में आ गया। पर वह स्थायी रूप से उस पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सका। अभी वह अनाम की विजय को पूरा करने में लगा हुआ था, कि उसकी मृत्यु हो गई। चम्पा की सेना का एक सेनापति शत्रु से मिला हुआ था। उसने अपनी सेना के भेद अनाम को दे दिये, और यह बता दिया कि चे बोंग न्गा जिस जाहज पर रहकर सेना का संचालन करता है, उसका रंग हरा है। यह ज्ञात होते ही अनाम की सेना ने इस जहाज पर गोलों की बौछार शुरू कर दी, और चम्पा के

प्रतापी राजा चे बोंग न्गा का देहावसान हो गया। राजा के मरते ही चम्पा की सेना में भगदड़ मच गई। ला खै नामक सेनापति ने चम्पा की सेना को अनाम से वापस लौटने का आदेश दिया, और दिन-रात चलकर यह सेना अपने देश पहुँचने में समर्थ हुई (१३९०)।

(१०) चम्पा का पतन और अनाम की विजय

वीरभद्रवर्मदेव—चम्पा पहुँचते ही ला खै ने अपने को राजा घोषित कर दिया। चे बोंग न्गा के दो पुत्र भी थे, और चम्पा के राजसिंहासन पर उन्हीं का अधिकार था। पर ला खै ने इसकी कोई परवाह नहीं की। इन पुत्रों ने अनाम जाकर शरण ली, पर उन्हें राजगद्दी दिलाने का कोई प्रयत्न अनाम द्वारा नहीं किया गया। ला खै द्वारा चम्पा में एक नए राजवंश का प्रारंभ किया गया, जो ब्रिशुवंश कहाता है। इस राजा का असली नाम श्रीजयसिंहवर्मदेव श्रीहरिजात्ति वीरसिंह चम्पापुर था। १३९० से १४०१ तक उसने चम्पा पर शासन किया, और उसके बाद श्रीब्रिशु विष्णुजात्ति वीरभद्रवर्मदेव चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। चम्पा और अनाम में जो संघर्ष चिरकाल से चला आ रहा था, उसका अब पुनः उग्र रूप से प्रारंभ हो गया। वीरभद्रवर्मदेव के शासन-सूत्र को संभालते ही अनाम की सेना ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया (१४०१), पर उसे परास्त होकर वापस लौट जाना पड़ा। अगले साल १४०२ में अनाम का एक अन्य आक्रमण चम्पा पर हुआ, जिसमें चम्पा का सेनापति मारा गया। इससे वीरभद्रवर्मदेव घबड़ा गया, और अनाम से सन्धि कर लेने में ही उसने अपना हित समझा। पर अनाम का राजा केवल इस शर्त पर सन्धि करने के लिए तैयार हुआ कि क्वांग-नाम और क्वांग न्गी के प्रदेश उसके सुपुर्द कर दिए जाएँ। चम्पा का अमरावती प्रान्त इन्हीं प्रदेशों में था, और इन्द्रपुरनगरी की स्थिति भी इसी क्षेत्र में थी। विवश होकर वीरभद्रवर्मदेव को यह शर्त स्वीकार करनी पड़ी, और चम्पा देश का सबसे समृद्ध भाग अनाम को प्रदान किया गया। पर कुछ समय पश्चात् वीरभद्रवर्मदेव को अपने किये पर पश्चाताप हुआ, और अनाम के विरुद्ध चीन से सहायता प्राप्त करने के लिये उसने चीनी सम्राट की सेवा में दूत भेजे। चीन के सम्राट् ने अनाम के राजा को यह परामर्श दिया कि वह अपने पड़ौसी के प्रति मैत्री का भाव रखे, और उसके प्रदेशों को अधिगत न करे। इस पर अनाम के राजा ने स्थल और जल दोनों मार्गों से चम्पा पर आक्रमण कर दिया, इसमें दो लाख सैनिक थे। अनाम के राजा द्वारा अपने परामर्श की उपेक्षा की बात चीन के सम्राट् को सहन नहीं हुई। उसने वीरभद्रवर्मदेव की सहायता के लिये जंगी जहाजों का बेड़ा भेज दिया, जिसके सम्मुख अनाम की जलसेना नहीं टिक सकी। अनाम की जिन सेनाओं ने चम्पा पर आक्रमण किया था, वे तुरन्त अपने देश को वापस लौट गईं। पर चीनी सम्राट् का क्रोध इससे शान्त नहीं हो सका। वीरभद्रवर्मदेव भी उसे अनाम के विरुद्ध उकसा रहा था। चीन ने अनाम पर आक्रमण कर दिया, जिसमें वहाँ का राजा अपने परिवार के साथ चीन की सेना द्वारा कैद कर लिया गया (जुलाई, १४०७)। चीन की कैद में ही अनाम के राजपरिवार की मृत्यु हुई। अब वीरभद्रवर्मदेव ने उन

प्रान्तों को भी प्राप्त कर लिया, जिन्हें कि १४०२ की सन्धि द्वारा उसने अनाम के राजा को प्रदान कर दिया था। अनाम की तरफ से निश्चिन्त होकर उसने कम्बुज देश पर भी आक्रमण किया, और वहाँ भी उसे सफलता प्राप्त हुई।

महाविजय—१४४१ ईस्वी में राजा वीरभद्रवर्मदेव की मृत्यु हुई, और उसका भानजा महाविजय चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह चाहता था, कि चम्पा के उन उत्तरी प्रदेशों को भी अधिगत कर ले, जो चिरकाल से अनाम की अधीनता में विद्यमान थे। इसीलिए उसने अनाम पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए, पर उनमें उसे विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन आक्रमणों से परेशान होकर अनाम के शासनतन्त्र ने चम्पा पर चढ़ाई करने का निश्चय किया, और उसकी एक सेना चम्पा में अग्रसर होती हुई विजयनगरी तक पहुँच गई (१४४६ ईस्वी)। महाविजय अपनी सेना को विजय के दुर्ग में ले गया, और उसने वहाँ से अनाम की सेना का सामना करने की योजना बनाई। पर महा कुई लाई नाम के एक राजपुरुष ने, जो महाविजय के परिवार का ही था, शत्रुसेना को दुर्ग का भेद दे दिया। अब अनाम की सेना को विजय के दुर्ग को अधिगत करने में कठिनाई नहीं हुई। महाविजय को उसके परिवार के साथ कैद कर लिया गया, और अनाम ने बहुत-सी धन-सम्पत्ति विजयनगरी की लूट से प्राप्त की।

चम्पा का पतन और अनाम की विजय—महा कुई लाई ने राजगद्दी प्राप्त करने के लिये ही विजय के दुर्ग का भेद शत्रु सेना को दिया था। पर वह देर तक राजसुख का उपभोग नहीं कर सका। १४४९ ईस्वी में उसके छोटे भाई कुई-दो ने उसे कैद में डाल दिया और स्वयं राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। पर कुई-दो के विरोधियों की भी कमी नहीं थी। एक षड्यन्त्र द्वारा उसकी हत्या कर दी गई, और महाबन-ला-भा न्युयेत ने चम्पा के शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया (१४५७ ईस्वी)। इस राजा के शासनकाल में चम्पा और अनाम का संघर्ष फिर प्रारंभ हो गया। तीन साल तक राजसुख का उपभोग कर न्युयेत ने राजगद्दी का परित्याग कर दिया, और उसका छोटा भाई बन ला-त्रा तोअन चम्पा का राजा बना। अनाम और चम्पा के संघर्ष ने अब उग्र रूप प्राप्त कर लिया। त्रा-तोअन ने १४६९ में एक जंगी जहाजी बेड़ा अनाम पर आक्रमण करने के लिए भेजा, और अगले साल एक लाख सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना ने स्थल मार्ग से अनाम पर चढ़ाई कर दी। इस समय अनाम के राजसिंहासन पर थन्ह तोन विराजमान था। उसने भी लड़ाई की तैयारी की। एक लाख सैनिकों ने समुद्र के मार्ग से चम्पा पर आक्रमण किया, और डेढ़ लाख सैनिकों ने स्थल के मार्ग से। राजा थन्ह तोन स्वयं स्थल सेना का नेतृत्व कर रहा था। चम्पाराज त्रा-तोअन ने ५,००० हाथियों की एक सेना अपने भाई के सेनापतित्व में अनाम की सेना का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए भेजी, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। अनाम की सेना चम्पा में निरन्तर आगे बढ़ती गई। शीघ्र ही, वह विजयनगरी पहुँच गई, जो उस समय चम्पा की राजधानी थी। यहाँ चम्पा के ६०,००० नागरिक मौत के घाट उतार दिये गए, और ३०,००० कैद कर लिए गए। चम्पा के राजा त्रा-तोअन को भी कैद कर लिया गया, और जब उसे जहाज पर अनाम ले जाया जा रहा था, तो मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो

गई। इस युद्ध के कारण विजय प्रान्त तक का सम्पूर्ण प्रदेश अनाम के शासन में आ गया था।

अब केवल पाण्डुरंग और कौठार के प्रदेश ऐसे बचे थे, जो अनाम के आधीन नहीं हुए थे। बो त्री नामक एक सेनापति इन प्रदेशों में अपने को चम्पा का राजा घोषित कर दिया, और अनाम के कोप से बचने के लिए उसने अनाम के अधीनस्थ राजा के रूप में रहना स्वीकार कर लिया। बो त्री के शासन में जो प्रदेश थे, वे सम्पूर्ण चम्पा राज्य के पाँचवें भाग से भी कम थे। चम्पा के पुरातन गौरव का अब लोप हो गया था, और बो त्री की स्थिति भी अनाम के राजा की कृपा पर निर्भर थी।

बो त्री के उत्तराधिकारियों के शासन की कोई ऐसी घटना नहीं है, जो उल्लेखनीय हो। वे एक प्रकार से स्थानीय राजा थे। १५०५ ईस्वी में चम्पा (पाण्डुरंग और कौठार) के राजसिंहासन पर चा-कु-पु-लो आरूढ़ हुआ, जिसने अपने को अनाम की अधीनता से मुक्त करने का प्रयत्न किया। पर वह सफल नहीं हो सका। उसे कैद करके एक पिंजरे में बन्द कर दिया गया, जहाँ तड़प-तड़प कर उसने प्राण त्याग दिये। अनाम के राजा ने केवल चम्पा के राजा को कैद ही नहीं किया, अपितु उसके राज्य के कतिपय अन्य प्रदेशों को भी अधिगत कर लिया। अब अनाम के साम्राज्य की सीमा चम्पा में फनरंग नदी तक हो गई। जो थोड़ा-सा प्रदेश इस समय भी अनाम के सीधे शासन में नहीं आया था, उस पर चम्पा के राजाओं का अधिकार कायम रहा, यद्यपि सतरहवीं और अठारहवीं सदियों में भी अनाम की सेनाएं इन राजाओं को परेशान करती रहीं। चम्पा का अन्तिम राजा पो चोंग था। अनाम की ज्यादतियों को सह सकने में अपने को असमर्थ पाकर उसने कम्बुज जाकर शरण ली (१८२२), और इस प्रकार चम्पा के प्राचीन भारतीय उपनिवेश की स्वतंत्र एवं पृथक् सत्ता का अन्त हुआ।

ग्यारहवाँ अध्याय

चम्पा पर भारत का सांस्कृतिक प्रभाव

(१) शासन-व्यवस्था

कम्बोडिया के समान दक्षिणी वियत-नाम से भी संस्कृत के बहुत-से अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, जिनकी संख्या एक सौ से भी अधिक है। इनके अनुशीलन से चम्पा की राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक दशा का जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, उस पर भारत का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। कम्बुज के समान चम्पा में भी शासन कार्य के लिए संस्कृत भाषा का उपयोग होता था, वेदशास्त्र-पुराण आदि का अध्ययन होता था, शिव और विष्णु आदि पौराणिक देवी देवताओं तथा बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं और वर्णाश्रम को सामाजिक संगठन का आधार माना जाता था। कम्बुज देश की संस्कृति पर विशद रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। चम्पा कम्बुज का पड़ोसी राज्य था, और सांस्कृतिक दृष्टि से उनमें अधिक भेद नहीं था। अतः चम्पा के सांस्कृतिक जीवन पर अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं होगी।

राजा—कम्बुज के समान चम्पा में भी राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। राजा को देवताओं के अंश से निर्मित माना जाता था, और उसकी शक्ति को मर्यादित करने वाली कोई ऐसी सभा या संस्था नहीं थी जिसे जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता हो। ७९९ ईस्वी में उत्कीर्ण यंगतिकुल अभिलेख में राजा इन्द्रवर्मा के लिये 'ब्रह्मांशप्रभवः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। वहाँ लिखा है—

ब्रह्मांशप्रभवः प्रभूतविभवो भाग्यप्रभावान्वितः।
शक्त्या विष्णुरिव प्रमथ्य च रिपून् धर्मस्थितिं पालयेत्॥

जिस राजा को दैवी माना जाता हो, उसकी शक्ति का अनियन्त्रित होना सर्वथा स्वाभाविक है। पर राजा के लिये वीर तथा प्रजा का पालक होना आवश्यक माना जाता था। एकतन्त्र शासन तभी सफल हो सकते हैं, जब राजा योग्य तथा गुणी हो। चम्पा में भी राजा से यह आशा की जाती थी कि वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करे। राजा प्रकाशधर्मा के भद्रेश्वर महादेव के दानपत्र में राजा कंदर्प्पधर्मा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि व्यसनों से विरहित वह राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था, और वह साक्षात् धर्म के समान था (**श्रीमान् कंदर्प्पधर्मेति साक्षाद्धर्म इवापरः, प्रजा यस्स्वं-धर्मैर्व्यसनरहितः पाति सुतवत्**)। राज्य में सम्पूर्ण जनता जब समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर हो (सर्व्वप्रजानां समुदेति यत्र मनोरथो विश्वसृजीव सर्गः), तभी राजा को सफल माना जाता था। राजा से आशा की जाती थी, कि वह जनता के हित के लिए ही आत्मतेज का प्रयोग करेगा (प्रकृतिहितमधीप्सन् सन्तनोत्यात्मतेजो)। राजा के लिये

इन्द्रियजयी होना तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं हर्ष के वशीभूत न होने वाला होना आवश्यक समझा जाता था।

सम्भवतः, कम्बुज के समान चम्पा में भी राजा को परामर्श देने के लिये सभा की सत्ता थी। वोचन के अभिलेख में 'आज्ञापितं सदसि राजवरेण' आया है, जिससे सभा की सत्ता का संकेत मिलता है। राजा के पद पर किस व्यक्ति की नियुक्ति की जाए या किसे राजा बनाया जाए, इस सम्बन्ध में भी राज्य के प्रमुख व्यक्तियों का हाथ रहता था। १०८१ ईस्वी में राजा हरिवर्मदेव चतुर्थ के स्वेच्छापूर्वक राजसिंहासन का परित्याग कर देने पर जब उसका पुत्र श्रीराजद्वार इन्द्रवर्मदेव के नाम से राजा बना, तब उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी। वह शासनसूत्र का संचालन कर सकने के अयोग्य था। माइसोन के एक अभिलेख के अनुसार इस दशा में राज्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय, पण्डित, ज्योतिषी और आचार्य एकत्र हुए और उन्होंने विचार-विमर्श के अनन्तर यह पाया कि श्रीराजद्वार के चाचा श्री युवराज महासेनापति कुमार पान् में राजा होने के सब आवश्यक गुण हैं और उन्होंने इस कुमार को राजा के पद पर अधिष्ठित किया। अन्य भी अनेक अवसरों पर राज्य के प्रमुख व्यक्तियों ने राजा के वरण में हाथ बटाया था, इसके संकेत चम्पा के अभिलेखों में विद्यमान हैं।

तीन प्रान्त—शासन के प्रयोजन से चम्पा का राज्य तीन प्रान्तों में विभक्त था। ये प्रान्त निम्नलिखित थे—(१) अमरावती—यह राज्य का उत्तरी प्रान्त था। वर्तमान समय का क्वांग-नाम प्रदेश इसी को सूचित करता है। अमरावती प्रान्त में दो मुख्य नगर थे—चम्पापुर और इन्द्रपुर। ये दोनों विभिन्न समयों में चम्पा की राजधानी भी रहे। जहाँ आजकल दोंग दुओंग है, वहीं प्राचीन समय में इन्द्रपुर की सत्ता थी। (२) विजय —यह चम्पा राज्य का मध्यवर्ती प्रान्त था। वर्तमान समय में इसे बिन्ह दिन्ह कहते हैं। इसके मुख्य नगर का नाम भी विजय था, और यह नगर भी चम्पा की राजधानी रहा था। (३) पाण्डुरंग—यह चम्पा का दक्षिणी प्रान्त था, और इसका मुख्य नगर वीरपुर था। वीरपुर को राजपुर भी कहते थे। यह नगर भी कुछ समय के लिये चम्पा की राजधानी रहा था। कौठार (वर्तमान खन्ह-होआ) का प्रदेश भी पाण्डुरंग प्रान्त के अन्तर्गत था। पर ऐसे अवसर भी आये, जबकि कौठार के प्रदेश ने चम्पा राज्य के एक पृथक प्रान्त की स्थिति प्राप्त कर ली थी। प्रत्येक प्रान्त अनेक जिलों या विषयों में विभक्त था। चीनी ग्रन्थों के अनुसार राजा हरिवर्मा तृतीय के समय (१०८० ईस्वी) में चम्पा के इन जिलों की कुल संख्या ३८ थी। प्रत्येक जिले में कुछ नगर और बहुत-से गाँव होते थे। प्रान्तों के शासन के लिये राजा द्वारा जो पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे, उन में शासक और सेनापति प्रधान थे। प्रायः राजकुल के ही किसी व्यक्ति को प्रान्त के शासन के लिये भेजा जाता था। पो नगर के एक अभिलेख के अनुसार राजा हरिवर्मदेव ने अपने पुत्र विक्रान्तवर्मा को पाण्डुरंग का शासक या 'पुराधिपति' नियुक्त किया था, और उसके साथ एक सेनापति की भी नियुक्ति की थी। क्योंकि प्रान्तों के शासक प्रायः राजकुल के व्यक्ति होते थे और अपने क्षेत्र में उनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं के सदृश रहती थी, अतः कभी-कभी वे राजा के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र हो जाने का भी प्रयत्न

किया करते थे। ऐसे ही एक विद्रोह को शान्त करने के लिये राजा जयपरमेश्वरवर्मा ने अपने भानजे श्री देवराज महासेनापति को पाण्डुरंग भेजा था (१०५० ईस्वी)। प्रान्तों के अन्तर्गत जिलों या विषयों पर भी वंशक्रमानुगत सामन्त राजाओं का शासन होता था। सम्भवतः, चम्पा राज्य में एक प्रकार की सामन्त पद्धति का विकास हो गया था, और वहाँ के सामन्त राजा अवसर पाते ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हो जाने के लिये कटिबद्ध रहा करते थे। विशेषतया, पाण्डुरंग एक ऐसा प्रान्त था, जहाँ के निवासियों में अपने प्रदेश के पृथक्त्व की भावना बहुत प्रबल थी। प्रान्तों के शासन के लिये जो बहुत से राजकर्मचारी नियुक्त किये जाते थे, चीनी ग्रन्थों के अनुसार उसकी संख्या ५० के लगभग रहती थी। इनका एक मुख्य कार्य राजकीय करों को वसूल करना होता था। वेतन के बजाय इन्हें जागीरें देने की भी प्रथा थी, जिसकी आमदनी से ये अपना खर्च चलाया करते थे। वेतन के बदले में जागीरें प्राप्त कर राजकर्मचारियों की स्थिति अपनी जागीर के स्वामी की हो जाती थी, और ये स्वतन्त्र आचरण करने लगते थे। चम्पा में बहुधा गृह-कलह तथा अव्यवस्था का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

राजकीय आय—राजकीय आमदनी का प्रधान साधन भूमि-कर था। उपज का षड्भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। कर की यह पद्धति पूर्णतया भारतीय परम्परा के अनुकूल थी। विशेष दशाओं में भूमिकर की दर घटाकर दस प्रतिशत भी कर दी जाती थी। पर यह रियायती दर राजा के अनुग्रह पर निर्भर थी। चो दिक अभिलेख में राजा भद्रवर्मा द्वारा भद्रेश्वर महादेव के मन्दिर के लिये एक भूमिखण्ड के भूमि-कर को अक्षय-नीवी के रूप में दिये जाने का उल्लेख है, और उसके भूमि-कर की रियायती दस प्रतिशत दर की भी बात कही गई है (जनपदमर्यादाषड्भागेऽपि स्वामिना दशभागेन अनुगृहीता देवस्य देयेति)। यद्यपि जनपद की मर्यादा के अनुसार उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में ग्राह्य था, पर स्वामी (राजा) ने अनुग्रह करके उपज का दसवाँ भाग प्रदेय निर्धारित कर दिया था। जो भूमि किसी मन्दिर की सम्पत्ति होती थी, उस पर प्रायः भूमिकर नहीं लगता था। चम्पा के अनेक अभिलेखों में मन्दिरों की भूसम्पत्ति पर भूमि-कर की छूट का उल्लेख है। दोंग-दुओंग अभिलेख के अनुसार राजा श्रीजयसिंहवर्मदेव ने श्रीइन्द्रपरमेश्वर आदि के अनेक मन्दिरों का भूमि-कर माफ कर दिया था। राजकीय आमदनी के अन्य साधन वे कर थे, जो निष्काम्य (निर्यात) और प्रवेश्य (आयात) पण्य पर लगाये गये थे, या जो कल-कारखानों की पैदावार पर लगाये जाते थे। इन करों की दर प्रायः २० प्रतिशत होती थी।

न्याय व्यवस्था—चम्पा के अभिलेखों से सूचित होता है कि कानून प्रधानतया मनु, नारद तथा भार्गव की स्मृतियों या धर्मशास्त्रों पर आधारित थे। एक अभिलेख के अनुसार राजा जयइन्द्रवर्मदेव मनुमार्ग (मनुद्वारा प्रतिपादित मार्ग) का अनुसरण करने वाला था, और वह सब धर्मशास्त्रों, विशेषतया नारदीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्रों में निष्णात था। पर न्याय करते हुए केवल स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित कानून को ही दृष्टि में नहीं रखा जाता था, अपितु लोकधर्म (जनता में प्रचलित प्रथाओं पर आधारित कानून) के अनुसार भी न्याय किया जाता था। इसीलिए ८८६ ईस्वी में

उत्कीर्ण वों नंग के अभिलेख में राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय को 'शास्त्रज्ञ' के साथ-साथ 'लोकधर्मवित्' भी कहा गया है।

चीन के प्राचीन ग्रंथों से भी चम्पा राज्य की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध से कुछ बातें ज्ञात होती हैं। अनेक जघन्य अपराधियों के लिए बेंत या कोड़े मारने का दण्ड दिया जाता था। इसके लिए अपराधी को जमीन पर लिटा दिया जाता था, दो आदमी उसके दायीं ओर खड़े होते थे और दो आदमी बायीं ओर। ये क्रमशः उस पर बेंतों व कोड़ों से चोट करते थे, जिनकी संख्या ५०, ६० या १०० तक हुआ करती थी। चोरी या डकैती के अपराध में प्रायः उंगलियां या हाथ काट डालने का दण्ड दिया जाता था। अत्यधिक जघन्य अपराधों के लिए मृत्यु की भी व्यवस्था थी। मृत्यु दण्ड के अनेक ढंग थे। अपराधी को वृक्ष से बांध कर भाले से उसकी गरदन पर प्रहार किया जाता था और फिर सिर को धड़ से अलग कर दिया जाता था। हत्या के अपराध में अपराधी को या तो हाथी के पैर से कुचलवा देते थे और या उसे मृत व्यक्ति के कुटुम्बियों के सुपुर्द कर देते थे जो उसे अपने ढंग से मार सकते थे। कतिपय अपराधों के लिए धन संपत्ति के जब्त कर लेने और देश-निकाले का भी विधान था। कर्ज की मात्रा को अदा न करने पर अधमर्ण को दास बनने का दण्ड दिया जा सकता था। अपराध का पता लगाने के लिए दैवी-परीक्षा का भी सहारा लिया जाता था। शेर आदि हिंस्र पशु के सामने ले जाने पर यदि अपराधी को पशु कुछ न कहे, तो उसे निरपराध मान लिया जाता था। राज द्रोही से अपना अपराध स्वीकार कराने के लिए उसे किसी निर्जन स्थान पर वृक्ष आदि से बांध देने की प्रथा थी, और उसे तब तक बांधे रखा जाता था जब तक कि वह अपना अपराध स्वीकार न कर ले।

सेना—चम्पा में सेना का बहुत महत्व था। उसके राजाओं को अनाम और कम्बुज से निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ा, और इसीलिए उन्होंने सैन्यशक्ति की वृद्धि तथा सेना के संगठन पर बहुत ध्यान दिया। सेना दो प्रकार की थी, स्थल-सेना और जल-सेना। स्थल-सेना के तीन विभाग थे—पदातिसेना, अश्वारोही सेना और हस्तिसेना। भारत में सेना के चार अंग हुआ करते थे, और इसीलिए उसे 'चतुरंगबल' कहा जाता था। सेना का चौथा भाग रथ सेना का होता था। पर चम्पा में संभवतः रथसेना नहीं थी। सैनिक लोग भालों, बरछों, धनुषबाण, ढाल, तलवार आदि का युद्ध में प्रयोग किया करते थे। बारहवीं सदी के उत्तरार्ध में चीन के एक सैनिक ने चम्पा के अश्वारोहियों को घोड़े पर बैठे हुए बाण चलाने की शिक्षा दी थी। धनुष बाण चलाने के लिए दोनों हाथों का प्रयोग करना पड़ता है। घोड़े पर बैठे हुए दोनों हाथों से काम लेना सुगम नहीं होता। पर कम्बुजराज धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय के विरुद्ध चम्पा के राजा जयइन्द्रवर्मा ने जब अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग किया, तो उसमें ऐसे अश्वारोही सैनिक भी थे, जो घोड़े पर चढ़े हुए तीर कमान चला सकते थे। इसका प्रशिक्षण उन्होंने चीन के एक सैनिक से ही प्राप्त किया था। चम्पा की स्थल सेना में हाथियों का प्रधान स्थान था। मौर्य युग के भारत के समान चम्पा की सेना में भी हस्तिबल को प्रधानता दी जाती थी। चौदहवीं सदी में ओदोरिक द पोर्दनोन नामक यात्री चम्पा गया था। उसने लिखा है,

कि चम्पा के राजा के पास १४,००० पालतू हाथी थे। निश्चय ही इन हाथियों का उपयोग युद्ध के लिए किया जाता होगा। चौथी सदी में जब फन वेन चम्पा का राजा था, चम्पा की सेना के सैनिकों की संख्या पचास हजार के लगभग थी। बाद में इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही। चम्पा की जलसेना भी बहुत शक्तिशाली थी। अनाम और कम्बुज के विरुद्ध युद्धों में चम्पा के राजाओं ने किस प्रकार बार-बार अपने जंगी बेड़े को प्रयुक्त किया; यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। भारत के प्राचीन नगरों के समान चम्पा के नगरों का निर्माण भी प्रायः दुर्गों के रूप में किया जाता था, जिनके चारों ओर प्राचीर होती थी जो जल से भरी परिखा से घिरी रहती थी।

विदेशों से सम्बन्ध—चम्पा राज्य के उत्तर में अनाम की स्थिति थी, और पश्चिम में कम्बुज देश की। चीन के साथ भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था, और वहां के राजा चीन के सम्राट की सेवा में बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ अपने दूतमण्डल भेजते रहते थे। अनाम, कम्बुज और चीन जैसे समीपवर्ती देशों के साथ सम्पर्क को कायम रखने के लिए ऐसे राजपुरुषों या राजदूतों की आवश्यकता थी जो राजनय में प्रवीण हों। चम्पा के अनेक अभिलेखों में ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख आया है। न्हनबियो के अभिलेख के अनुसार राजद्वार नामक राजपुरुष दूतकर्म में अत्यन्त निपुण था। यह धर्म्य (धार्मिक) कुशल, नीतिमान्, स्वनयोपेत (राजनय में निष्णात) और धीमान् था। राजा के आदेशों का वह पूर्ण भक्ति के साथ पालन करता था, और राजा को वह नायक (राजपदाधिकारी) अत्यन्त प्रिय था (नृपतेरतिवल्लभो नायकोऽयम्)। इस सुयोग्य राजपुरुष ने चार राजाओं (जयसिंहवर्मा, जयशक्तिवर्मा, भद्रवर्मा और इन्द्रवर्मा) के शासन काल में (जिनका समय ८९८ ईस्वी से ९७२ ईस्वी तक था) राजसेवा की, और उसे अनेक बार राजदूत बनाकर अन्य देशों में भेजा गया। जयसिंहवर्मा ने उसे यवद्वीप (जावा) में अपना राजदूत बनाकर भेजा था, और वहां उसे कार्यसिद्धि भी हुई थी। बाद में राजा भद्रवर्मा द्वारा भी उसे राजदूत के रूप में जावा भेजा गया था। उसके दौत्यकर्म के सम्बन्ध में अभिलेख के निम्नलिखित श्लोक उद्धरण के योग्य हैं—

> यवद्वीपपुरं भूपानुज्ञातो दूतकर्मणि,
> गत्वा यः प्रतिपत्तिस्थः सिद्धयात्रां समागपत् ॥
> यवद्वीपपुरं भूयः क्षितिपानुज्ञया सुधीः
> द्विवारमपि यो गत्वा सिद्धयात्रामुपागमत् ॥
> कर्म्मोपचितात्मभावः क्षितीशनीतिप्रतिबद्धबुद्धिः
> इष्टेस्वनिष्टेषु नराधिपस्य किंचित्प्रकर्तुं खलु यः समर्थः ॥

राजद्वार जैसे कुशल राजपुरुष की बुद्धि उसी नीति से प्रतिबद्ध थी जो राजाओं को अभीष्ट हो। कौन-सी बात राजा के हित के लिए है, और कौन-सी राजा के अनिष्ट के लिए, इस सब का उसे समुचित ज्ञान था और वह सदा राजा के हित के लिये कुछ कर डालने के लिए ही प्रयत्नशील रहता था।

होआ-कुए अभिलेख में राजा भद्रवर्मा तृतीय (९०५-९११ ईस्वी) के एक मन्त्री का उल्लेख है, जो सब देशों से दूतों द्वारा लाये हुए राजकीय सन्देशों को केवल एक क्षण

तक देख कर ही उनके अभिप्राय को अविकल रूप से जान लेता था। निःसन्देह, चम्पा के शासनतन्त्र में ऐसे राजपदाधिकारी विद्यमान थे जो राजनय में अत्यन्त चतुर थे और जिन द्वारा वहाँ के राजाओं का विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित था।

(२) सामाजिक जीवन

चम्पा का सामाजिक जीवन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। भारत से जो उपनिवेशक वहाँ बसने के लिए गये थे, वर्णों और आश्रमों की परम्परा वे अपने साथ चम्पा ले गए थे। इन उपनिवेशकों में प्रधानतया ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लोग थे, यद्यपि बहुत-से वैश्य वर्ण के व्यक्ति भी व्यापार आदि के लिए वहाँ बस गए थे। शूद्र लोग भी भारत से चम्पा जाकर बसे हों, यह कह सकना कठिन है। पर चम्पा के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ के जनसमाज में दासों और दासियों की अच्छी बड़ी संख्या थी, और राजा तथा अन्य सम्पन्न लोग मन्दिरों के लिए जब धन-सम्पत्ति प्रदान करते थे, तो साथ-में बहुत-से दासां और दासियों को भी दान में दे दिया करते थे। ये दास शूद्रस्थानीय थे, और ये भारत के उपनिवेशकों में से न होकर चम्पा के मूल-निवासियों में से थे, यह कल्पना असंगत नहीं होगी। युद्ध में परास्त हुए देश के नर-नारियों को बन्दी बनाकर ले जाने और उन्हें दास बना लेने की प्रथा भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों में विद्यमान थी। अतः उच्चवर्ग के लोगों को भी दास्य जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ता होगा।

दासों की सत्ता के सम्बन्ध में बहुत-से संकेत चम्पा के अभिलेखों में विद्यमान हैं। ८८९ ईस्वी के बो नंग अभिलेख में शास्त्रज्ञ और लोकधर्मवित् राजा जयइन्द्रवर्मा द्वारा श्रीमहालिंगदेव के मन्दिर के लिये दासों सहित कृपियोग्य भूमि के दान का उल्लेख है (श्रीमहालिंगदेवाय प्रादात् क्षेत्रं सदासकं, श्रीजयइन्द्रवर्मेदं शास्त्रज्ञो लोकधर्मवित्)। इसी प्रकार ७९९ ईस्वी के यंगतिकुल अभिलेख में रजत, सुवर्ण, रत्न, हार, गौ, भैंस आदि के साथ ऐसी-दासियों के दान किए जाने का भी वर्णन है, जो 'अन्तःपुरविलासनी' थीं (**सकल कोश कोष्ठागार रजत सुवर्ण मुकुट रत्न हीरादि परिभोग सान्तःपुर विलासनी दासदासीगोमहिषक्षेत्रादिद्रव्यं तस्मै तेन दत्त चित्तप्रसादेन**)। मन्दिर को दान दिये गए ये दास तथा दासी पहले राजा के अन्तःपुर में विलास का जीवन व्यतीत करते रहे होंगे, इसीलिए इनके साथ 'अन्तःपुरविलासिनी' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

यद्यपि चम्पा और भारत के समाज में पर्याप्त अन्तर था, पर वहाँ के भारतीय या भारतीय संस्कृति को अपनाये हुए राजा वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना के आदर्श को सदा अपने सम्मुख रखते थे। ७९९ ईस्वी के राजा इन्द्रवर्मा प्रथम के अभिलेख में उसकी राजधानी के सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि उसकी अपनी शक्ति के प्रभाव के कारण वह पूर्णतया निरुपद्रव थी, वहाँ वर्ण तथा आश्रम भली-भाँति सुव्यवस्थित थे, और वह सुरनगरी के समान थी (**स्वशक्ति प्रभावोर्जित निरुपद्रववर्णाश्रम व्यवस्थिति······ स्सुरनगरीव राजधान्यासीत्**)। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजा का यह प्रधान कर्तव्य प्रतिपादित किया गया है, कि वह प्रजा को वर्णाश्रम धर्म में स्थित रखे। भारत के

राजशासन प्रणेताओं की दृष्टि में वही राजा सफल माना जाता था, जो 'कृतवर्णाश्रम-स्थितिः' हो। यही आदर्श चम्पा के राजाओं के सम्मुख भी रहता था यह इस अभिलेख द्वारा स्पष्ट है।

चम्पा के समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का प्रमुख स्थान था। ब्राह्मण की हत्या को घोर पाप माना जाता था। ६५७ ईस्वी के माइसोन अभिलेख में राजा द्वारा प्रतिष्ठापित भगवान ईशानेश्वर, श्रीशम्भूभद्रेश्वर की मूर्तियों की निरन्तर पूजा की व्यवस्था के उल्लेख के पश्चात् यह कहा गया है, कि जो कोई इन्हें किसी भी प्रकार से क्षति पहुँचायेगा उसे ब्राह्मण की हत्या का पाप लगेगा, और जो कोई इनकी भलीभाँति रक्षा करेगा उसे अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होगा। ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं है, और अश्वमेध से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है (ये ध्वंसयन्ति ते ब्रह्महत्याफलमनन्त-कल्पेष्वस्त्रजमनुभवन्ति ये परिपालयन्ति तेऽश्वमेधफलं, ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरित्यागमादिति प्रतिज्ञातम्)। इससे स्पष्ट है, कि ब्राह्मणों को समाज में अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था, और उन्हें किसी भी प्रकार से क्षति पहुँचाना अक्षम्य अपराध था। पर राजसत्ता के उस युग में जबकि राजा को 'ब्रह्मांशप्रभव' माना जाता हो, यदि ब्राह्मण की तुलना में राजा की स्थिति ऊँची समझी जाए, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। इसीलिए एक अभिलेख में अन्य राजाओं और क्षत्रियों के साथ-साथ ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा भी राजा के चरणों को स्पर्श करने का उल्लेख है (ब्राह्मण-पुरोहिताग्रासनक्षत्राग्न्यनरपतिवृन्दजुष्टचरणारविन्दः)। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि समाज में ब्राह्मणों की तुलना में क्षत्रियों का स्थान अधिक ऊँचा था। वस्तुतः ये दोनों ही वर्ण समाज में उच्च स्थान रखते थे, और चम्पा का समाज 'ब्रह्मक्षत्रप्रधान' था (ब्रह्मक्षत्रप्रधानो जगति दिवि तथा यज्ञभागैर्म्महेन्द्रः)।

कम्बुज देश के समान चम्पा में भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विवाह सम्बन्ध प्रचलित था। ६५७ ई० के माइसोन अभिलेख में चम्पा के राजाओं की जो वंशावली दी गई है, उसके अनुसार राजा रुद्रवर्मा का पिता एक श्रेष्ठ ब्राह्मण था, और उसकी माता (क्षत्रिय) मनोरथवर्मा की (दौहित्री) थी (तस्यकीर्तियशोऽऽश्रीमनोरथवर्मणः, दौहित्रीतनयो योऽभूत् द्विजात्मप्रवरात्मजः)। इसी प्रकार राजा प्रकाशधर्मा, जो क्षत्रिय था, की सगी बहिन का विवाह सत्यकौशिकस्वामी नामक ब्राह्मण के साथ हुआ था। अभिलेख में इस विवाह की उपमा अनुसूया और अत्रिमुनि के विवाह से दी गई है। सत्यकौशिकस्वामी का पुत्र भद्रस्वामी था। अभिलेख के अनुसार भद्रवर्मा ने क्षत्रकुल और ब्राह्मकुल दोनों को प्रकाशमान किया था। इस सम्बन्ध में अभिलेख के तीन श्लोक उद्धरण के योग्य हैं—

प्रभासधर्मनृपतेस्सोदर्या यस्य यानुजा समभूत्
जगतां हितायंजननी विश्वसृजः कर्मसिद्धिरिव ॥
···जन्माच्छन्दस्यसत्यकौशिकस्वामी
तस्याः पतित्वमागादनुसूयाया इवात्रिमुनिः।

'''पत्यं किल यो वभूव प्रख्यातवीर्यंथ्वतिरूपकान्तिः
क्षत्रं कुलं ब्राह्मयद्वयं हि निरन्तरं यः प्रकटीचकार ॥

चम्पा के राजा पड़ोस के भारतीय राज्यों से भी विवाह सम्बन्ध किया करते थे। सत्यकौशिकस्वामी के पौत्र जगद्धर्म का विवाह शर्वाणी के साथ हुआ था, जो कम्बुजराज ईशानवर्मा की पुत्री थी। यह शर्वाणी सोमवंश में उत्पन्न हुई थी (तस्यां श्रीशर्वाण्यां सत्यां सोमान्वयप्रसूताम्, वरविक्रमं प्रियसुतं यमजनयच्छ्रीजगद्धर्मः)।

कार्य के अनुसार ब्राह्मणवर्ण के व्यक्ति भी पुरोहित, अग्रास (जिन्हें प्रमुख आसन प्रदान किया जाए), पण्डित और तापस सदृश वर्गों के होते थे। ८०१ ईस्वी में उत्कीर्ण ग्लै लमोव अभिलेख में पुरोहित आदि के गुणों का उल्लेख है (**सर्वाणीमानि वचनानि पुरोहिताग्रासब्राह्मणपण्डिततापसगणानां यदा श्रीपरमपुरोहितेन हूयमाने**), जिससे यह संकेत मिलता है कि पुरोहितों, अग्रासों, पण्डितों और तापसों के गणों या संगठनों की भी चम्पा में सत्ता थी, जिन्हें महापुरोहितों द्वारा सम्बोधित किया जाता था।

राजवंशों में उत्तराधिकार केवल पिता-पुत्र क्रम के अनुसार ही नहीं चलता था, अपितु अनेक वार राजा का भानजा उसका उत्तराधिकारी होता था। ऐसे अनेक उदाहरण अभिलेखों से ज्ञात होते हैं। पृथ्वीन्द्रवर्मा के पश्चात् उसके भानजे सत्यवर्मा और इन्द्रवर्मा क्रमशः चम्पा के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए थे। इसी प्रकार इन्द्रवर्मा के वाद पहले उसका वहनोई और फिर भानजा राजा वने। अनेके विद्वानों ने इससे यह परिणाम निकाला है, कि दक्षिणी भारत के कतिपय राजवंशों के समान चम्पा के राजवंश में भी मातृसत्ताक प्रथा की सत्ता थी। पर ये उदाहरण अपवाद रूप में भी हो सकते हैं, जबकि किसी राजा के पुत्र न होने की दशा में उसके दौहित्र अथवा भानजे ने राज्य को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था।

रहनसहन तथा वेशभूषा—ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा चम्पा के निवासियों के सम्भ्रान्त व उच्चवर्ग का निर्माण होता था। एक अभिलेख से इस वर्ग के व्यक्तियों की वेशभूषा तथा रहन-सहन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजा भद्रवर्मा का एक उच्च पदाधिकारी आज्ञा महासामन्त था। वह शीर्ष पर माला धारण करता था (मालाशीर्षो), मस्तक पर उत्तम तिलक लगाता था (उत्तमश्रीवरतिलकरुचिः), उसके कान पूरे-पूरे आभूषणों से ढके रहते थे (कर्णभूषा समस्ता, श्रेष्ठकर्णावतंसो), उसकी कमर में सोने की काञ्ची पड़ी होती थी (रुक्मकाञ्ची), सुनहरी मियान में उसने तलवार रखी होती थी (सत्खड्गी रुक्मकोशोऽपि), मोर के पंखों से वना छत्र वह धारण करता था (मायूरच्छत्रं) और उसके शरीर पर दो वस्त्र होते थे (युगलवसनं)। वह ऐसी पालकी में वैठकर चलता था, जिसके डण्डे चाँदी के वने होते थे (दोलिका रूप्यदंडा)। जब वह कहीं आता-जाता था, तो सैनिक तथा वाजे वाजाने वाले उसके साथ-साथ चला करते थे (वाद्यैस्सह वलैरस्याश्चावतरति)। अभिलेख के इस विवरण से चम्पा के सम्भ्रान्त राजपदाधिकारियों की वेशभूषा तथा रहन-सहन का स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध में एक चीनी राजदूत चम्पा आया था। उसने राजा

हरिवर्मा के विषय में लिखा है कि राजा सोने की जरी से कढ़े हुए रेशमी वस्त्र पहनता है और उन पर एक लम्बा चोगा डाल देता है जो सात सोने की लड़ियों से बँधा रहता रहता है। सिर पर वह सुनहरा मुकुट पहनता है, जिसमें सात प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े होते हैं। जब वह बाहर निकलता है, तो उसके पीछे दस स्त्रियां और पचास पुरुष चलते हैं जिनके हाथों में पान सुपारी से भरी सोने की थालियाँ रहती हैं। चीनी राजदूत द्वारा राजा की वेशभूषा का जो वर्णन किया गया है, उसकी पुष्टि अभिलेखों द्वारा होती है। पो नगर के एक अभिलेख में राजा विक्रान्तवर्मा को सिर पर मुकुट पहने हुए, कमर में कटि-सूत्र धारण किये हुए, कानों में कुण्डल तथा गले में हार पहने हुए वर्णित किया गया है। केवल राजा ही नहीं, अपितु सम्भ्रांत वर्ग के अन्य लोग भी सिर पर मुकुट पहना करते थे। ८०१ ईस्वी के ग्लैं लमोव अभिलेख में राजा का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है कि विबुध लोगों के मस्तक पर धारण किए हुए मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणों से उसके पैर जगमगाते रहते थे (विबुधगणमस्तककिरीटमणिकिरण-विच्छुरितपादविम्बः)। जब सम्भ्रांत लोग अपने मस्तक राजा के चरणों में झुकाते थे, तो उनके मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणों से राजा के चरण जगमगा उठते थे। शरीर पर सुगन्ध, चन्दन आदि लगाने की प्रथा भी चम्पा में विद्यमान थी। उच्च वर्ग के लोगों के शरीरों पर लगाये गये चन्दन तथा कस्तूरी की सुगन्ध से वायुमण्डल के सुगन्धित हो जाने का उल्लेख भी अभिलेखों में पाया जाता है (मृगदर्पणोत्करसुगन्ध-चन्दनानुलेपनभवलिनोरस्यलवायुद्वयेन)। सम्भ्रांत वर्ग के लोगों की वेशभूषा में मुकुट, कटि-सूत्र तथा मयूरच्छत्र का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि मन्दिरों में पूजा के लिए भी इन्हें दान में दिए जाने की प्रथा थी। १०५० इस्वी में उत्कीर्ण पो नगर मन्दिर के अभिलेख में राजा परमेश्वरवर्मा द्वारा इन वस्तुओं के पूजार्थ प्रदान किये जाने का वर्णन है।

चम्पा के मन्दिरों में जो विविध चित्रावलियां उत्कीर्ण हैं, उनसे भी वहाँ के लोगों की वेशभूषा पर प्रकाश पड़ता है। इनमें स्त्रियों और पुरुषों दोनों के शरीरों के कटि से ऊपर के भाग को नंगा दिखाया गया है। चित्रों में स्त्रियों ने लहँगे के ढंग का एक वस्त्र पहना हुआ है, जो नीचे पैरों तक जाता है। पुरुषों का अधोवस्त्र घुटने तक जाता है। स्त्री-पुरुष दोनों के अधोवस्त्र पेटी द्वारा कमर पर बँधे हुए रहते हैं। सम्पन्न नर-नारियों की ये पेटियां विविध प्रकार के रत्नों से अलंकृत की जाती थीं। पुरुष जो अधोवस्त्र पहनते थे, वह धोती के ढंग का होता था। चम्पा के कुछ चित्रों में पुरुषों को दुपट्टा ओढ़े हुए भी प्रदर्शित किया गया है। पर उत्तरीय का अधिक रिवाज नहीं था। स्त्री और पुरुष दोनों ही कटि से ऊपर का भाग प्रायः नंगा रखते थे, यद्यपि सम्पन्न लोग कण्ठ, छाती तथा कटि पर अनेकविध आभूषण धारण किया करते थे, जिनसे शरीर के ये अंग आंशिक रूप से ढके रहते थे। चम्पा की चित्रावलियों में तापसों और दासों को केवल लँगोटी पहने हुए दिखाया गया है। लोग प्रायः नंगे पैर रहते थे, यद्यपि सम्पन्न लोग जूतों का भी प्रयोग किया करते थे। जूते प्रायः कपड़े के बने होते थे। मन्दिरों की भित्तियों आदि पर उत्कीर्ण मूर्तियों व चित्रों में पुरुषों और स्त्रियों की केश-सज्जा

जिस ढंग से प्रदर्शित की गई है, वह बहुत कलात्मक है। वे बालों को सावधानी से सँवारकर उन्हें अनेक प्रकार के जूड़ों में बांधा करते थे, और उन्हें रत्नों से जटित आभूषणों तथा पुष्पमालाओं आदि द्वारा विभूषित भी किया करते थे। एक चीनी ग्रंथ के अनुसार चम्पा के लोगों में रंग-बिरंगे वस्त्र पहनने का भी रिवाज था। सम्भवतः, ऐसे वस्त्र केवल सम्पन्न व्यक्ति ही पहना करते थे।

आमोद-प्रमोद—कम्बुज देश के समान चम्पा में भी लोगों के आमोद-प्रमोद के मुख्य साधन वाद्यवादन, संगीत तथा नृत्य थे। चम्पा के मन्दिरों की भित्तियों आदि पर जो बहुत-सी चित्रावलियाँ उत्कीर्ण हैं, उनमें अनेक गायक, वादक तथा नर्तक भी अंकित हैं। माइसोन के एक उत्कीर्ण चित्र में बाँसुरी बजाने का दृश्य दिखाया गया है। एक अन्य चित्र में एक मनुष्य नृत्य की मुद्रा में अंकित है। उसने बाएँ पैर को ऊपर उठाया हुआ है, और जाँघ पर बांया हाथ टेक रखा है। चम्पा के भग्नावशेषों में नर्तक की एक मूर्ति मिली है, जो वर्तमान समय में तूरेन के संग्रहालय में विद्यमान है। नर्तकी की यह मूर्ति अत्यंत सुन्दर एवं कलात्मक है। इसके सिर पर एक ऊंचा मुकुट है, रत्नों से अलंकृत पेटी द्वारा अधोवस्त्र कटि से बंधा है, पर अधोवस्त्र द्वारा नर्तकी की केवल एक टाँग ढकी है दूसरी टाँग नंगी है। नर्तकी के गले, बाँह, हाथ, कान, छाती सब पर आभूषण बनाए गएं हैं। इस मूर्ति को देखकर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि चम्पा में नृत्यकला बहुत उन्नत दशा में थी। अनेक अभिलेखों में भी गायकों, वादकों एवं नर्तकों का उल्लेख आया है। माइसोन के एक अभिलेख में श्रीयुवराज महासेनापति द्वारा श्री ईशानभद्रेश्वर के निमित्त प्रदान किए गये नर्तकों तथा गायकों का उल्लेख विद्यमान है। इसी प्रकार पो-नगर के एक अभिलेख के अनुसार सूर्यदेवी ने भगवती के मन्दिर के लिए नर्तकियाँ अर्पित की थीं। सम्भवतः, वादन, गायन और नृत्य का कार्य मुख्यतया: दास-दासियों द्वारा ही किया जाता था। इसीलिए इन कलाओं में कुशल दास-दासियों को मन्दिरों के निमित्त प्रदान करने की प्रथा थी।

शिल्प तथा व्यवसाय—चम्पा के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार खेती थी। वहाँ मुख्यतया चावल की पैदावार होती थी। और वही लोगों का मुख्य भोजन था। गेहूँ का उल्लेख चम्पा के किसी अभिलेख में नहीं मिलता। सिंचाई के लिए नदियों पर बाँध बाँध कर नहरें भी निकाली जाती थीं। राजा श्री विक्रान्तवर्मा ने सत्यमुख लिङ्ग को दान दिए गये भूखण्ड की सिंचाई के निमित्त नहर का निर्माण कराया था। ऐसे ही कतिपय अन्य उदाहरण भी अभिलेखों से दिये जा सकते हैं। खेती के अतिरिक्त अनेक शिल्पों का अनुसरण भी चम्पा में किया जाता था। इनमें तन्तुवाय (जुलाहे), स्थपति, सुवर्णकार आदि के शिल्प प्रमुख थे। महीन वस्त्रों पर सोने और चाँदी की जरी का काम किया जाता था, और उन पर रत्न भी जड़े जाते थे। गहने पहनने का चम्पा में बहुत रिवाज था। मुकुट, कंठहार, केयूर, कंकण आदि बहुत प्रकार के आभूषण सुवर्णकारों द्वारा बनाये जाते थे। सुवर्णकार केवल आभूषण ही नहीं बनाते थे, अपितु सोने और चाँदी के वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प आदि बनाकर उनसे राजभवन को सुसज्जित भी किया करते थे (बहुतर-कनकरजततरुलतावगुण्ठित तुहिनगिरि शिखर गहन विवरान्तर

स्थितोऽपि)। तांबे व पीतल सदृश धातुओं के तो बर्तन बनते ही थे, साथ ही सोने और चांदी को भी बरतन बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। १०५० ईस्वी के पो-नगर अभिलेख में राजा परमेश्वरवर्मा द्वितीय द्वारा चांदी के लोटे (रूपमयभृङ्गार) को पूजा के लिए काम में लाने के प्रयोजन से मन्दिर को दान में दिये जाने का उल्लेख है। इसी अभिलेख में एक बहुत बड़े बरतन (पृथुभाजन) का भी मन्दिर को दिया जाना लिखा गया है। सोने चांदी के बरतनों पर नक्काशी का काम भी किया जाता था (रूप्यं राजतभाजनत्रयमिदं श्रीरञ्जितं चान्तरे)। धूप जलाने तथा पान रखने के प्रयोगों में आने वाले सुवर्ण पात्रों का भी उल्लेख अभिलेखों में है। इसमें सन्देह नहीं, कि बरतन बनाने का शिल्प चम्पा में बहुत उन्नत था। इसी प्रकार अस्त्र-शस्त्र बनाने, नौकाएं व जहाज बनाने और हाथी दांत का काम करने में भी बहुत-से शिल्पी व्यापृत रहा करते थे। भवन निर्माण का शिल्प भी चम्पा में बहुत उन्नत था। मन्दिरों और राजप्रासादों के अतिरिक्त वहां कोष्ठागार भी बड़ी संख्या में बनाये जाते थे, जिनमें अन्न जमा करके रखा जाता था। चम्पा के अभिलेखों में राजकीय कोश के साथ बहुधा कोष्ठागारों का भी उल्लेख किया गया है।

(३) भाषा और साहित्य

चम्पा में राजकीय कार्यों और शिक्षा के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता था। वहां से संस्कृत के जो अभिलेख अभी तक प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ से भी अधिक है। ये अभिलेख ऐसी कृतियों में उत्कीर्ण हैं, जो भारतीय हैं। इन्हें पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि चम्पा के संभ्रान्तवर्ग के लोग अपने दैनिक व्यवहार में संस्कृत भाषा को ही प्रयुक्त किया करते थे। भारत से जो उपनिवेशक चम्पा में जाकर बसे थे, वे संस्कृत भाषा के साथ-साथ संस्कृत साहित्य को भी अपने साथ वहां ले गए थे। यही कारण है कि चम्पा में चारों वेदों से लगाकर रामायण, महाभारत, पुराण, षड्दर्शन, व्याकरण काव्य आदि संस्कृत वाङ्मय के सभी अंगों का पठन-पाठन हुआ करता था। माइसोन के एक अभिलेख में राजा भद्रवर्मा के चारों वेदों का ज्ञाता (चातुर्वैद्य) कहा गया है। ९१४ ईस्वी में उत्कीर्ण पो-नगर के अभिलेख के अनुसार राजा इन्द्रवर्मा (तृतीय) मीमांसा, षट्तर्क (षट् दर्शन), जिनेन्द्रसूर्मिः (बौद्ध दर्शन), काशिकासहित व्याकरण, आख्यान और शैव उत्तरकल्प (शैव आगम) में निष्णात तथा विद्वानों में मूर्धन्य था। पो-नगर अभिलेख का श्लोक इस प्रकार है—

मीमांसाषट्-तर्क जिनेन्द्र सूर्म्मि स्साकशिका व्याकरणोदकौघः।
आख्यान शैवोत्तर कल्पमीनः पटिष्ठ एतेष्वपि सत्कवीनाम्॥

१०८१ में उत्कीर्ण माइसोन के अभिलेख के अनुसार राजा हरिवर्मा वाक्पति (बृहस्पति) के समान शास्त्रों का पण्डित था, और नानाविध विषयों के ज्ञाता (नाना-ज्ञानविदोऽपि) भी उसके सम्मुख अपना मुख नहीं खोल सकते थे। इसी प्रकार चम्पा के अन्य अनेक राजाओं को भी शास्त्रों में पारंगत कहा गया है। जयइन्द्रवर्मा (सप्तम) व्याकरण, ज्योतिष तथा महायान दर्शन का पूर्ण पण्डित होने के साथ-साथ नारदीय

तथा भार्गवीय धर्मशास्त्रों में भी निष्णात था। अभिलेख में उपलब्ध इन संकेतों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण आदि भारतीय शास्त्रों का चम्पा में भली-भाँति पठन-पाठन होता था, और वहाँ के राजा भी इनमें पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना गौरव की बात समझते थे।

रामायण, महाभारत, पुराण तथा संस्कृत काव्यों का चम्पा में इतना अधिक प्रचार था, कि वहाँ के अभिलेखों में बार-बार रामायण आदि के पात्रों के नाम देकर उनसे राजाओं की तुलना की है। दशरथ और उनके पुत्र राम का अभिलेखों में अनेक बार उल्लेख हुआ है (दशरथनृपजोऽस्यं राम इत्याशया यं श्रयति विधि पुरोगा श्रीरहो युक्तिरूपम्)। गोवर्धन को धारण करने वाले, मधु कंस केशी और चाणूर आदि का संहार करने वाले और मधुकैटभारि कृष्ण से भी अनेक अभिलेखों में राजा की तुलना की गई है। इस प्रसंग में ८०१ ईस्वी में उत्कीर्ण ग्लै लमोव अभिलेख के ये वाक्य उल्लेखनीय हैं—**"गोवर्धनगिरि धरण सुरासुर मुनि विनिन्दित चरणारविन्दस्तु कृतमधुकंसासुरकेशि चाणूर रिष्ट प्रलम्बनिधनोऽपि मधुकैटभ रुधिरसन्ध्यायमान चरणनख मणिदर्पणः"**। राजा प्रकाशधर्म के माइसोन अभिलेख में द्रोणपुत्र अश्वत्थामा का उल्लेख है (अश्वत्थामो द्विज श्रेष्ठाद् द्रोणपुत्रादवाप्य तं)। इसी प्रकार युधिष्ठिर, दुर्योधन, धनंजय, पाण्डुपुत्र आदि का भी अभिलेखों में अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि पौराणिक देवी देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ तो चम्पा के लोगों को भली-भाँति ज्ञात थीं ही। ऊपर जो थोड़े-से उदाहरण अभिलेखों से दिये गये हैं, वे यह प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त हैं कि चम्पा में भारत के धार्मिक एवं लौकिक साहित्य का उसी ढंग से पठन-पाठन होता था जैसे कि स्वयं भारत में होता था। चम्पा में भारत के ग्रन्थों की कितनी अधिक संख्या में सत्ता थी, इसका परिचय एक चीनी ग्रन्थ से भी मिलता है, जिसके अनुसार चीन के सेनापति लियू फंग ने ६०५ ईस्वी में जब चम्पा पर आक्रमण किया था, तो चम्पापुर से जो लूट वह अपने साथ ले गया था, उसमें १३५० बौद्ध ग्रन्थ भी थे।

(४) धर्म

याज्ञिक धर्म—चम्पा के लोग मुख्यतया पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, यद्यपि बौद्धधर्म भी वहाँ प्रचलित था। पर जैसे पौराणिक धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत में यज्ञप्रधान वैदिकधर्म की सत्ता थी, और पौराणिक धर्म के प्रचार के बाद भी यज्ञों का अनुष्ठान होता रहा, सम्भवतः वही दशा चम्पा में भी थी। इसीलिये चम्पा के अनेक अभिलेखों में यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है। 'धर्ममहाराज' श्री भद्रवर्मा के चोदिन्ह अभिलेख में **'अग्नये त्वा जुष्टं करिष्यामि'** मन्त्र द्वारा यज्ञ में आहुति देने के लिये प्रयुक्त होने वाले घृत आदि को पवित्र किये जाने का उल्लेख है। वाजसनेय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक अनुष्ठान में हवि को पवित्र करने के लिये इसी ढंग के मन्त्र का विधान है **"अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि, वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि, बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"** ब्राह्मणग्रन्थों के इस मन्त्र की स्पष्ट छाया श्रीभद्रवर्मा के

अभिलेख पर विद्यमान है। यह तभी सम्भव था, जबकि चम्पा में याज्ञिक कर्मकाण्ड का भी भली-भांति प्रचार हो। वो-चन्ह में उपलब्ध श्रीमार राजकुल के अभिलेख में विश्वजित् अतिरात्र यज्ञ का स्पष्ट रूप से संकेत विद्यमान है। यह सर्वमेध यज्ञ का अन्यतम अंग था, और इसे अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति अपना सर्वस्व दान कर दिया करता था। इस अभिलेख में यज्ञकर्ता द्वारा वह सब सुवर्ण रजत तथा सब स्थावर व जंगम धन सम्पत्ति दान कर दी गई थी, जो उसके पास थी (यत्किञ्चिद् रजतं सुवर्णमपि वा सस्थावरजङ्गमं कोष्ठागारक···नं प्रियहिते सर्व्वं विसृष्टं मया)। राजा प्रकाशधर्म के माईसोन अभिलेख में अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है, और उसे सर्वाधिक पुण्य देने वाला कहा गया है। अभिलेखो में अनेक स्थानों पर यज्ञों, यज्ञक्रियाओं तथा यज्ञ भाग का उल्लेख आया है, और एक स्थल पर तो पार्वत्य प्रदेश (गिरिप्रदेश) में राजा श्रीन्द्रवर्मा द्वारा भक्ति और शुद्ध मन से शिव क्षेत्र तथा यज्ञक्षेत्र के प्रदान किये जाने का भी उल्लेख है (शिवयज्ञक्षेत्रद्वयं शिखिशिखागिरिप्रदेशं भक्तया शुद्धेन मनसैव दत्तवान्)।

शैव धर्म—कम्बुज देश के समान चम्पा में भी पौराणिक धर्म के शैव सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रचार था। चम्पा में तीन ऐसे स्थान हैं, जहाँ बहुत-से प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें दो ऐसे हैं, जहाँ शैव मन्दिरों की ही सत्ता है। ये स्थान माइसोन और पो-नगर हैं। इनके मन्दिरों का निर्माण शिव तथा उनसे सम्बन्द्ध देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करने के लिये ही किया गया था। सम्भवतः, राजा भद्रवर्मा द्वारा निर्मित भद्रेश्वर शिव का मन्दिर चम्पा में सबसे पुराना शिवमन्दिर था। अपने नाम से शिव का विशेषण (भद्रवर्मा से भद्रेश्वर) रखने की जो प्रथा इस राजा द्वारा प्रारम्भ की गई थी, बाद के राजाओं ने उसका अनुसरण किया, और शम्भुवर्मा से शम्भुभद्रेश्वर, इन्द्रवर्मा से इन्द्रभद्रेश्वर व इन्द्रपरमेश्वर, विक्रान्तवर्मा से विक्रान्तरुद्रेश्वर हरिवर्मा से हरिवर्मेश्वर और जयहरिवर्मा से जयहरिलिङ्गेश्वर आदि नामों से शिवलिङ्गों को स्थापित किया गया। राजा भद्रवर्मा द्वारा भद्रेश्वर शिव के जिस मन्दिर का निर्माण चौथी सदी के अन्त या पांचवीं सदी के शुरू में किया गया था, वह चम्पा का सर्वप्रधान सर्व-मान्य राष्ट्रीय मन्दिर की स्थिति प्राप्त कर गया और बाद में उसके समीप अन्य भी बहुत-से मन्दिरों का निर्माण किया गया। कोई एक सदी के लगभग बाद यह मन्दिर आग लगने से ध्वंस हो गया था, और राजा शम्भुवर्मा द्वारा इसका जीर्णोद्धार किया गया था (य इमं शम्भुभद्रेशं पुनः स्थापितवान् भुवि)। तब से इसे शम्भुभद्रेश्वर का मन्दिर कहा जाने लगा। भद्रवर्मा, शम्भुवर्मा, प्रकाशधर्म, इन्द्रवर्मा द्वितीय आदि कितने ही राजाओं ने अपार धनसम्पत्ति, खेत, दास आदि इस शिवमन्दिर के लिये प्रदान किये थे। समझा जाता था, कि यह शम्भुभद्रेश्वर शिव चम्पा राज्य का रक्षक देवता है, और उसके राजा तथा प्रजा का सुख व हित इसी की अनुकम्पा पर निर्भर है। ८७५ ईस्वी के एक अभिलेख के अनुसार भद्रेश्वर का यह लिङ्ग भगवान् शिव द्वारा स्वंय भृगु को दिया था। भृगु ने इसे उरोज को प्रदान किया, और उरोज द्वारा यह चम्पा में प्रतिष्ठापित किया गया। चम्पा में यह विश्वास दृढ़मूल हो गया था, कि भद्रेश्वर शिवलिङ्ग साक्षात् शिव द्वारा पूजा के लिये चम्पा भेजा गया है, और उसकी महिमा अपरम्पार है। चम्पा के राजा

अपने को उरोज का वंशज मानते थे, और इस लिङ्ग के प्रति विशेष भक्ति का भाव रखते थे। राजा जयइन्द्रवर्मा सप्तम ने इस प्राचीन लिङ्ग के मन्दिर को विभूषित करने के लिये उसके शिखरों को सोने से और अन्य अनेक भागों को चाँदी से मढ़वाया था। इस कार्य में उसने एक मन के लगभग सोना तथा चार सौ पचास मन के लगभग चाँदी खर्च की थी। निस्सन्देह, चम्पा के निवासियों की दृष्टि में भद्रेश्वर शिव की अपूर्व महिमा थी।

भद्रेश्वर या शम्भुभद्रेश्वर के शिव-मन्दिर के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से शिव-मन्दिर चम्पा में विद्यमान थे, जिनका निर्माण विविध राजाओं द्वारा कराया गया था, और जिनके लिये उन्होंने बहुत-सा धन तथा भूमिखण्ड दान में दिये थे। अभिलेखों में शिवलिङ्गों को प्रतिष्ठापित करने तथा उनके लिए प्रदान किये गये धन का विशद रूप से वर्णन है। पो-नगर में शिव का एक मुखलिङ्ग स्थापित था। उसकी भी बहुत महिमा थी। अनुश्रुति के अनुसार इसे राजा विचित्रसागर ने द्वापर युग के ५९११वें वर्ष में प्रतिष्ठापित कराया था। ७७४ ईस्वी में मुखलिङ्ग का यह मन्दिर कतिपय विदेशी जातियों के आक्रमणों के कारण नष्ट हो गया था। इन आक्रान्ताओं ने समुद्रमार्ग से चम्पा में प्रवेश किया था। राजा सत्यवर्मा ने इस मन्दिर का पुनः निर्माण कराया और तब से इसमें प्रतिष्ठापित मुखलिङ्ग-'सत्यमुखलिङ्ग' कहा जाने लगा। नौवीं सदी के प्रारम्भ में राजा इन्द्रवर्मा ने वीरपुर में एक मन्दिर का निर्माण कर उसमें इन्द्रभोगेश्वर शिव के लिङ्ग को प्रतिष्ठापित कराया था। ८८९ ईस्वी में राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय ने महालिङ्गदेव की स्थापना की थी। इसी प्रकार से कितने ही शिवलिङ्गों की स्थापना के सम्बन्ध में चम्पा के अभिलेखों से परिचय प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं, कि चम्पा में शिवलिङ्गों को प्रतिष्ठापित करना और उनके लिये दान देना पुण्य का कार्य समझा जाता था, और राजाओं के अतिरिक्त अन्य सम्भ्रान्त व्यक्ति भी शिव-मन्दिरों के निर्माण तथा उनमें शिवलिङ्गों की स्थापना के लिये तत्पर रहा करते थे। राजा इन्द्रवर्मा द्वितीय का मन्त्री मणिचैत्य था। उसके छोटे भाई ईश्वरदेव ने 'श्रीश्वरदेवादिदेव' शिव के लिङ्ग को प्रतिष्ठापित किया था।

यद्यपि शिव की पूजा के लिए मुख्यतया लिङ्ग का ही आश्रय लिया जाता था, पर मानव के रूप में शिव की मूर्तियाँ बनाकर मन्दिरों में उन्हें प्रतिष्ठापित करने की पद्धति भी चम्पा में विद्यमान थी। मानव के रूप में शिव की जो मूर्तियाँ चम्पा में प्राप्त हुई हैं, उनके सिर पर मुकुट हैं और जटाएँ कन्धे पर फैली हुई हैं। सांप उनके कण्ठ में लिपटे हुए हैं। शिव की मानवाकार मूर्तियाँ बैठी हुई भी बनायी गई थीं, और खड़ी हुई भी। एक मूर्ति में शिव को ताण्डव नृत्य करते हुए भी प्रदर्शित किया गया है।

चम्पा के अभिलेखों में शिव की महिमा को जिस ढंग से वर्णित किया गया है। वह पुराणों में प्रतिपादित शिव के गुणों तथा उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली कथाओं के पूर्णतया अनुरूप है। ब्रह्मा, विष्णु, सुर, असुर, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, व सब देवता जिसका सम्मान करते हैं, जिसकी महिमा तथा वैभव का कोई अंत नहीं है, वह शिव स्वयं श्मशान भूमि में विचरण करता है, यह कैसी अद्भुत बात है (**यो ब्रह्मविष्णुत्रिदशाधिपादि सुरा-**

सुरअह्मनृपर्षिमान्यः, त्र्यापि भूत्यै जगतामनृत्यच्श्मशानभूमावतिचित्रमेतत्)। शिव संसार का गुरु है, आदिपुरुष है त्रिपुर का विजयी है और योगियों द्वारा ही साध्य है (जगद्गुरुराद्यस्त्रिपुरविजयी योगिभिः साध्यः)। शिव की शक्ति असीम है, महान् असुरों के पुरों का मर्दन कर उन्होंने अपने विक्रम को प्रगट किया है। श्वेत भस्म को वह अपने शरीर पर लपेटे रहते हैं। सिद्ध, चारण, यक्ष—सब उनके उपासक हैं। कामदेव को उन्होंने भस्म किया था। उनके तीन नेत्र होते हैं। शिव के सम्बन्ध में ये एवं इस प्रकार की जो भी बातें पौराणिक साहित्य में पायी जाती हैं, चम्पा के अभिलेखों में भी वे विद्यमान हैं। चम्पा के धार्मिक मन्तव्यों एवं विश्वासों पर भारत का कितना अधिक प्रभाव था, यह इससे स्पष्ट है। अभिलेखों में शिव के लिए महादेव, महेश्वर, परमेश्वर, शम्भु, रुद्र, शर्व, शंकर, पशुपति आदि जो बहुत-से नाम प्रयुक्त किए गये हैं, वे भी चम्पा पर भारतीय प्रभाव के सूचक हैं।

शिव के अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय के अन्य देवी-देवताओं की भी चम्पा में पूजा की जाती थी। पौराणिक परम्परा में 'देवी' को शिव की शक्ति माना गया है, और उमा, पार्वती, गौरी, भगवती आदि अनेक नामों से इस शक्ति को प्रगट किया जाता है। शिव के समान देवी या भगवती की मूर्तियां भी चम्पा में अनेक स्थानों पर प्रतिष्ठापित की गई थीं। ८८९ ईस्वी में उत्कीर्ण वो नंग अभिलेख में श्री महालिङ्ग की स्थापना के साथ-साथ शिव की प्रिय (ईशप्रिया) देवी की मूर्ति के प्रतिष्ठापित किये जाने का भी उल्लेख है। ९१४ ईस्वी में उत्कीर्ण पो-नगर के अभिलेख से ज्ञात होता है, कि राजा इन्द्रवर्मा तृतीय ने सुवर्ण से निर्मित (कलधौतदेहा) देवी की मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया था। जब कम्बुज देश ने चम्पा पर आक्रमण किया, तो उसके सैनिक इस मूर्ति को भी उठा ले गये थे। बाद में इसके स्थान पर प्रस्तरनिर्मित मूर्ति स्थापित की गई। चम्पा के अन्यतम दक्षिण प्रदेश कौठार में भगवती कौठारेश्वरी देवी के मन्दिर विद्यमान थे। परमेश्वरवर्मा, परमबोधिसत्त्व, हरिवर्मा और जयइन्द्रवर्मा सप्तम द्वारा इस मन्दिर के लिए दिये गए दान का उल्लेख अभिलेखों में किया गया है। कौठारेश्वरी देवी के मन्दिर के अवशेष इस समय भी पो-नगर में उपलब्ध हैं। कौठार में इस देवी की बहुत महिमा थी।

पौराणिक परम्परा के अनुसार गणेश और स्कन्द (कार्तिकेय) को शिव के पुत्र माना जाता है। चम्पा में गणेश की बहुत-सी मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियां प्रायः बैठी हुई दशा में हैं। गणेश का शरीर स्थूल है और उनका मुख हाथी के मुख के सदृश है। उनके बायें हाथ में पात्र है, दायें में मोदक। शरीर पर उन्होंने यज्ञोपवीत भी धारण किया हुआ है। माईसोन से प्राप्त एक मूर्ति के गणेश चार हाथों में माला, लेखनी, पात्र और हार लिये हुए हैं। गणेश की ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं, जिन्हें खड़ी हुई दशा में बनाया गया है।

चम्पा में स्कन्द (कार्तिकेय अथवा कुमार) की भी पूजा प्रचलित थी। इस समय तक स्कन्द की पांच मूर्तियां चम्पा से उपलब्ध हुई हैं। साथ ही, वहां के अभिलेखों में भी अनेक स्थानों पर इस देवता का उल्लेख मिलता है। चम्पा में उपलब्ध हुई कार्तिकेय

(स्कन्द) की दो मूर्तियों में उन्हें मयूर पर आरूढ़ बनाया गया है, और दो में गेंडे पर। भारत की पौराणिक परम्परा के अनुसार कार्तिकेय का वाहन मोर को माना जाता है, गेंडे को नहीं। पर चम्पा में गेंडे पर आरूढ़ स्कन्द की मूर्ति की सत्ता इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि चम्पा में पौराणिक देवी-देवताओं के सम्बन्ध में कतिपय नई मान्यताओं का भी विकास हो गया था।

शिव का वाहन नन्दी को माना जाता है। मन्दिरों के प्रवेशद्वारों तथा आँगनों से नन्दी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ चम्पा में मिली हैं।

वैष्णव धर्म—शैव सम्प्रदाय के साथ-साथ वैष्णव सम्प्रदाय का भी चम्पा में प्रचार था। चम्पा के अभिलेखों में नारायण, पुरुषोत्तम, हरि, गोविन्द, माधव आदि अनेक नामों से विष्णु का उल्लेख किया गया है। अनेक राजाओं के शौर्य को प्रदर्शित करने के लिए विष्णु से उनकी उपमा दी गई है। ७६६ ईस्वी में उत्कीर्ण इन्द्रवर्मा प्रथम के अभिलेख में राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने विष्णु के समान अपनी शक्ति द्वारा शत्रुओं का विनाश किया था (शक्त्या विष्णुरिव प्रमथ्य च रिपून् धर्मस्थिति पालयेत्)। इसी प्रकार ग्लै लमोव अभिलेख (८०१ ई०) के अनुसार इस राजा के सम्मुख कोई शत्रु वैसे ही नहीं टिक पाता था, जैसे कि विष्णु के सामने असुर अपने को असहाय पाते थे (**तस्य सम्मुखतः स्थातुं न शक्तो वा परो युधि, विष्णोर्य्यथा|सुरश्चाभूद् दृष्ट्वा तन्तु पराङ्मुखः**। विष्णु को जहाँ शक्ति का प्रतीक माना गया है, वहाँ साथ ही उन्हें अनादि भी कहा गया है (भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनादेः)। चम्पा के निवासी भगवान विष्णु या नारायण को सम्पूर्ण संसार का पालन करने वाला (समस्तभुवनपरिरक्षणसमर्थभावः), क्षीर सागर में शेषनाग की शय्या बनाकर शयन करने वाला (क्षीरार्ण्णवतरङ्गसाङ्घतलशयनानन्तभोगभुजगपरिसेवित), चार भुजाओं वाला (चतुर्भुज) और अनादि मानते थे। वे विष्णु के अवतार के रूप में राम और कृष्ण की भी पूजा किया करते थे। चम्पा के अभिलेखों में गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले और कंस चाणूर आदि का संहार करने वाले कृष्ण का उल्लेख किया गया है।

चम्पा में विष्णु की भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। एक मूर्ति में भगवान् विष्णु पद्मासन लगाये बैठे हैं। उनके चार हाथों में पद्म, चक्र, शंख और गदा हैं। उन्होंने यज्ञोपवीत भी पहना हुआ है। कुछ मूर्तियों में वे गरुड़ पर आसीन हैं, और कुछ में अनन्तनाग पर लेट कर विश्राम कर रहे हैं। उनकी नाभि से कमल निकला हुआ है, जिस पर ब्रह्मा ध्यानावस्था में बैठे हैं। एक ऐसी मूर्ति भी मिली है, जिसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया हुआ है। पौराणिक परम्परा में गरुड़ को विष्णु का वाहन माना गया है। चम्पा में जहाँ विष्णु को गरुड़ पर आरूढ़ दिखाया गया है, वहाँ गरुड़ की पृथक् मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन मूर्तियों में मुख तो गरुड़ पक्षी का है, पर शेष शरीर सिंह का है। जैसे शिव की शक्ति देवी या उमा को माना गया है, वैसे ही विष्णु की शक्ति लक्ष्मी, श्री या पद्मा है। इनका भी उल्लेख चम्पा के अभिलेखों में विद्यमान है। लक्ष्मी की भी अनेक मूर्तियाँ चम्पा में उपलब्ध हुई हैं। कुछ मूर्तियों में उनके चार हाथ दिखाये गए हैं, और कुछ में दो।

ब्रह्मा—पौराणिक हिन्दू धर्म में जिन तीन देवों की त्रिमूर्ति की उपासना की जाती है, उनमें शिव और विष्णु के अतिरिक्त तीसरे देव ब्रह्मा हैं। 'चतुर्मुख' तथा 'स्वयमुत्पन्न (स्वयम्भू) के नाम से चम्पा के अभिलेखों में इनका उल्लेख है। राजा भद्रवर्मा के अभिलेख में महेश्वर, उमा और विष्णु के साथ ब्रह्मा को भी नमस्कार किया गया है **(नमो महेश्वरं उमाञ्च प्र···ब्रह्माणं विष्णुमेव च)**। चो मिन्ह के अभिलेख के अनुसार राजा जयपरमेश्वरवर्मा ने अपने सेनापति रामदेव को स्वयमुत्पन्न (स्वयम्भू या ब्रह्मा) की मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने का आदेश दिया था। ब्रह्मा की मूर्तियों को भी चम्पा में प्रतिष्ठापित किया जाता था। यही कारण है, कि वहाँ इस देव की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

अन्य पौराणिक देवी-देवता—शिव, विष्णु और ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा चम्पा में प्रचलित थी, और उनकी मूर्तियों को भी वहाँ के मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया जाता था। इन अन्य देवताओं में इन्द्र, कुबेर, वासुकि, वरुण, सूर्य, चन्द्र और पृथिवी प्रधान थे। राजा भद्रवर्मा ने अपने अभिलेख में महेश्वर, उमा, विष्णु और ब्रह्मा के अतिरिक्त पृथिवी, वायु, आकाश, अप (जल या वरुण) और ज्योति (अग्नि) को भी नमस्कार किया है। निस्सन्देह, ये सब भी देवता माने जाते थे, और चम्पा में इनकी भी पूजा की जाती थी। इन्द्रवर्मा द्वितीय के दोंग दियोंग अभिलेख में ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के अतिरिक्त इन्द्र, वासुकि, सूर्य, चन्द्र, वरुण, ऋषि, अग्नि और अभयद (बुद्ध) का भी उल्लेख है। इन्द्र देवता का उल्लेख अनेक अन्य अभिलेखों में भी आया है। एक स्थान पर उसे वज्रहस्त (वज्रपाणि) नाम से कहा गया है (सोऽहनत् परसैन्यानि वज्रहस्त इवासुरान्)। चम्पा में इन्द्र की दो मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनके साथ ऐरावत हाथी भी बनाया गया है। यम के लिये चम्पा के अभिलेखों में 'धर्मराज' शब्द का प्रयोग किया गया है, और कुबेर के लिए 'धनद' का। राजा प्रकाशधर्म ने सातवीं सदी में कुबेर के एक मन्दिर का भी निर्माण कराया था। चम्पा के निवासी कुबेर को धन सम्पदा की वृद्धि करने वाला तथा अहित से रक्षा करने वाला मानते थे।

चम्पा में पौराणिक धर्म की सत्ता पर प्रकाश डालते हुए यह बता देना भी आवश्यक है कि भारत में स्वर्ग और नरक तथा लोक व परलोक आदि के जो विचार प्रचलित थे, वे चम्पा में भी विद्यमान थे। चम्पा के अभिलेखों में स्वर्ग और नरक का बहुत बार उल्लेख हुआ है। देव मन्दिरों को दी गई दान-दक्षिणा एवं धन-सम्पत्ति का हरण करने वाले व्यक्ति सदा-सदा के लिए (यावच्चन्द्र दिवाकरौ) अपने परिवार सहित नरक में निवास करते हैं, और देवमन्दिरों की सम्पत्ति की रक्षा करने वाले व्यक्ति सुरगणों के साथ स्वर्ग में रमण करते हैं, इस भाव के श्लोक या वाक्य प्रायः उन सभी अभिलेखों में विद्यमान हैं, जिनमें किसी मन्दिर को दिए गये दान का उल्लेख हो। ऐसे श्लोक निम्न-लिखित हैं—

इन्द्र भद्रेश्वरस्यैव सर्व्वद्रव्यं महीतले
ये रक्षन्ति रमन्त्येते स्वर्गे सुरगणैस्सदा ॥

ये हरन्ति पतन्त्येते नरके वा कुलैस्सह
यावत्सूर्योऽस्ति चन्द्रश्च तावन्नरकदु:खिताः ॥

बौद्ध धर्म—यद्यपि चम्पा में प्रधानतया पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था, पर उसके साथ-साथ बौद्ध धर्म की भी वहाँ सत्ता थी। सम्भवतः, शुरू में चम्पा में बौद्ध धर्म ही अधिक प्रचलित था। सातवीं सदी के शुरू में जब चीन के एक सेनापति लिऊ फंग ने चम्पापुर पर आक्रमण किया था (६०५ ई०), तो वहाँ से जो लूट वह अपने देश को ले गया था, उसमें १३५० बौद्ध ग्रन्थ भी थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री यि-त्सिग सातवीं सदी के उत्तरार्ध में चम्पा आया था। उसने लिखा है, कि इस देश में बहुसंख्यक बौद्ध आर्य-सम्मितीय निकाय के हैं, और कुछ सर्वास्तिवाद निकाय के। ८२९ ईस्वी में समन्त नामक एक व्यक्ति ने जिन (बुद्ध) और शंकर की दोनों की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित किया था। ये सब तथ्य यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि सातवीं सदी से पूर्व ही चम्पा में बौद्ध धर्म का भली-भांति प्रचार हो चुका था, और वह शैव तथा वैष्णव धर्मों के साथ-साथ वहाँ फलता-फूलता रहा। माइसोन और पो-नगर में पौराणिक हिन्दू मन्दिर बड़ी संख्या में विद्यमान हैं, और दोंग दुओंग में बौद्ध मन्दिर। इससे सूचित होता है, कि दोंग दुओंग चम्पा में बौद्ध धर्म का प्रधान केन्द्र था। वहाँ से बुद्ध, तथा बोधिसत्वों आदि की मूर्तियाँ भी अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं।

चम्पा के अभिलेखों में बुद्ध के लिये जिन, लोकेश्वर, सुगत, अभयद, शाक्यमुनि आदि विभिन्न नामों का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार बहुत-से अभिलेखों में राजाओं तथा अन्य सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा शिवलिङ्ग तथा पौराणिक मूर्तियों के प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख है, वैसे ही कुछ अभिलेखों में बौद्ध मूर्तियों की स्थापना की भी बात कही गई है। राजा जयइन्द्रवर्मा ने ८७५ ईस्वी में लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी, और भिक्षुसंघ के लिये एक विहार का भी निर्माण कराया था। मृत्यु के पश्चात् इस राजा को 'परमबुद्धलोक' नाम दिया गया, जिससे सूचित होता है कि इसने बौद्ध धर्म को अपना लिया था। पर जयइन्द्रवर्मा ने श्रीमहालिङ्ग शिव के लिये भी दासों सहित कृषियोग्य भूमि को दान में दिया था (श्रीमहालिङ्गदेवाय प्रादात् क्षेत्रं सदासकं, श्रीजयइन्द्रवर्मदेशास्त्रज्ञो लोकधर्मवित्)। वस्तुतः, पौराणिक और बौद्ध धर्म चम्पा में साथ-साथ फल-फूल रहे थे, और वहाँ के राजा भी दोनों धर्मों के मन्दिरों का निर्माण करा के तथा दोनों को धन-सम्पत्ति दान कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा-भावना प्रगट किया करते थे। जयइन्द्रवर्मा ने जिस लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी, वह अवलोकितेश्वर बोधिसत्व न होकर तथागत बुद्ध थे, जो पद्मासन से बैठकर जनता को उपदेश देते थे। ९०२ ईस्वी में स्थविर नागपुष्प ने 'प्रमुदित लोकेश्वर विहार' का निर्माण कराया था, और उसकी प्रशस्ति में ये श्लोक लिखवाये थे

वज्रधातुरसौ पूर्वं श्रीशाक्यमुनि शासनात्
शून्योऽपि वज्रधृद्धेतुः बुद्धानामालयोऽभवत् ॥
पद्मधातुरतो लोकेस्वरहेतुर्जिनालयः
अमिताभवचो युक्त्या महाशून्योबभूव ह ॥

चक्रधातुरसौ शून्यातीतो वैरोचनाज्ञया
वज्रसत्त्वस्य हेतुः स्यात् तृतीयोऽभूज्जिनालयः ॥

इस प्रशस्ति का एक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इससे सूचित होता है, कि दसवीं सदी के प्रारम्भ में चम्पा में महायान सम्प्रदाय ही नहीं, अपितु वज्रयान का भी प्रचार हो चुका था। वज्रधातु, पद्मधातु, चक्रधातु और वज्रसत्त्व सदृश शब्द सम्प्रदाय की सत्ता की ओर स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं।

दोंग दुओंग में बौद्ध मन्दिरों के जो भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, विस्तार की दृष्टि से वे माइसोन और पो-नगर के शैव मन्दिरों की तुलना में अधिक विशाल हैं। वहाँ से बुद्ध की बहुत-सी मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें एक मूर्ति पाँच फीट के लगभग ऊँची है। बुद्ध की एक कांस्य मूर्ति भी वहाँ से प्राप्त हुई है, जिसे खड़ी हुई दशा में बनाया गया है। चम्पा में अब तक जो भी बुद्ध मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें इस कांस्य मूर्ति को सबसे अधिक कलात्मक समझा जाता है। दोंग दुओंग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थानों से बुद्ध की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि चम्पा में बौद्ध धर्म का भी प्रचार था। बुद्ध के अतिरिक्त अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व तथा प्रज्ञापारमिता आदि की बौद्ध मूर्तियाँ भी चम्पा से मिली हैं। बुद्ध की कुछ मृण्मूर्तियों पर धर्मचक्रप्रवर्तन, बुद्ध की अभयमुद्रा आदि भी अंकित हैं। चम्पा में कोई बौद्ध स्तूप या उसके भग्नावशेष अब तक नहीं मिले हैं, यद्यपि मिट्टी के कतिपय खिलौनों पर स्तूप के चित्र अंकित हैं।

(५) चम्पा में भारतीय संस्कृति के मूर्त अवशेष

कम्बुज देश के अङ्कोर वात एवं जावा के बरोबदूर मन्दिरों के समान किसी विशाल मन्दिर या विहार के अवशेष चम्पा में उपलब्ध नहीं हुए हैं। चम्पा में मन्दिरों के निर्माण के लिये प्रायः ईंटों का उपयोग किया गया था। यही कारण है, कि वे देर तक कायम नहीं रह सके। वे प्रायः नष्ट हो गये हैं, और उनमें जो बहुत अधिक मजबूत थे वे भी अब जीर्ण तथा भग्न दशा में हैं। पर चम्पा के मन्दिरों के इन भग्नावशेषों को देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इस देश में भी भवननिर्माण तथा स्थापत्य के शिल्प अच्छी उन्नत दशा में थे। चम्पा में प्राचीन मन्दिरों के अवशेष मुख्यतया तीन स्थानों पर विद्यमान है, माइसोन, पो-नगर और दोंग दुओंग। इन तीनों स्थानों के मन्दिरों का संक्षिप्त रूप से परिचय देना उपयोगी है।

माइसोन—चम्पा राज्य के उत्तरी क्षेत्र में तूरेन के दक्षिण-पूर्व में २१ मील की दूरी पर एक घाटी है, जो पहाड़ियों से घिरी हुई है। यह घाटी प्रायः वृत्ताकार है, और एक पहाड़ी से सामने की दूसरी पहाड़ी के बीच की दूरी प्रायः एक मील के लगभग है। इस घाटी में प्रवेश का केवल एक मार्ग है, जो एक छोटी-सी नदी के साथ-साथ जाता है। माइसोन की घाटी में विद्यमान मन्दिरों की संख्या तीस से भी अधिक है, और प्रत्येक मन्दिर के साथ सम्बद्ध अन्य भी कई इमारतें हैं। मन्दिरों का निर्माण ऊँचे धरातलों पर किया गया है, जो ऊँचाई में प्रायः साढ़े छह फीट के लगभग हैं। इनके ऊपर बने मन्दिर

तक के पहुँचने लिए पश्चिम की ओर सीढ़ियाँ बनायी गई हैं। माइसोन के मन्दिर मुख्यतया शैव सम्प्रदाय के हैं, और उनमें शिव के साथ-साथ गणेश, उमा तथा स्कन्द की भी मूर्तियाँ हैं। कतिपय मन्दिरों में पौराणिक हिन्दू धर्म के अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों की भी सत्ता है।

दोंग-दुओंग—माइसोन के दक्षिण-पूर्व में १२ मील की दूरी पर दोंग दुओंग की स्थिति है। इस स्थान के मन्दिर जिस क्षेत्र में विद्यमान हैं, वह लम्बाई में ३२८ गज और चौड़ाई में १६४ गज है। इस सारे क्षेत्र के चारों ओर ईंटों की एक दीवार बनी है, जिसमें प्रवेश करने का केवल एक द्वार है जो पूर्व की ओर बना है। ३२८ गज लम्बा और १६४ गज चौड़ा यह आयताकार क्षेत्र तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग की लम्बाई ३२८ गज है, पर चौड़ाई में वे तीनों भाग एक बराबर नहीं हैं। इनमें से जो बीच का भाग है, उसके पश्चिमी खण्ड में दोंग दुओंग का प्रधान मन्दिर विद्यमान है, जिसके चारों ओर अन्य चार मन्दिर हैं। ये पाँचों मन्दिर एक ही ऊँचे धरातल पर बने हैं। इस मन्दिर-समूह के सामने एक अन्य विशाल इमारत है, जिसके साथ दो अन्य मन्दिर तथा दो ऐसी इमारतें हैं जिनका उपयोग निवास के लिए किया जाता था। इन सब मन्दिरों एवं इमारतों के चारों ओर भी एक दीवार बनी हुई है। इस दीवार के कारण जो बहुत बड़ा-सा आंगन बन गया है, उसमें सात छोटे मन्दिर भी दीवार के साथ बनाए गये हैं। ३२८ गज लम्बे तथा १६४ गज चौड़े क्षेत्र के मध्यवर्ती भाग के अतिरिक्त जो अन्य दो भाग हैं, उनमें भी इसी प्रकार के दीवार से घिरे आंगन हैं, जिनमें विविध प्रकार के भवन बने हुए हैं। दोंग दुओंग के इसी क्षेत्र से जयइन्द्रवर्मा का वह अभिलेख उपलब्ध हुआ है, जिसमें उस राजा द्वारा लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर की मूर्ति को प्रतिष्ठापित करने तथा भिक्षु संघ के निवास के लिये एक विहार के निर्माण का उल्लेख है। सम्भवतः, दोंग दुओंग के बौद्ध मन्दिरों तथा अन्य इमारतों के निर्माण का सूत्रपात राजा जयइन्द्रवर्मा द्वारा ही नौवीं सदी में किया गया था। बाद में अन्य राजाओं व संभ्रान्त पुरुषों ने भी वहाँ मन्दिरों आदि का निर्माण कराया था। इस स्थान के भग्नावशेषों में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध बहुत-सी मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं।

पो-नगर—चम्पा देश के दक्षिणी क्षेत्र में खन्ह-होआ का प्रदेश है, जिसके न्हयंग नामक स्थान के समीप पो-नगर के मन्दिरों के भग्नावशेषों की सत्ता है। ये मन्दिर संख्या में छह हैं और एक पहाड़ी के ऊपर उत्तर से दक्षिण की ओर दो पंक्तियों में स्थित हैं। सामने की पंक्ति में प्रधान मन्दिर है, जो वर्तमान समय में भी अच्छी दशा में है। प्रधान मन्दिर उत्तर की ओर है, और उसके दक्षिण में दो अन्य मन्दिर हैं। पिछली पंक्ति में भी तीन मन्दिर बने हैं। इन छह मन्दिरों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक इमारतों के भग्नावशेष पो-नगर की पहाड़ी पर मन्दिरों के समीपवर्ती स्थान पर विद्यमान हैं। इन सब मन्दिरों का सम्बन्ध पौराणिक हिन्दू धर्म से है, और इनमें शिव तथा उनसे सम्बद्ध देवी देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं। पो-नगर के ही मन्दिर थे, जिन्हें जावा (यवद्वीप) से जलमार्ग द्वारा आए हुए सैनिक संघों ने आठवीं सदी में विनष्ट कर दिया था, और बाद में जिन्हें राजा सत्यवर्मा द्वारा पुनः बनवाया गया था।

अन्य मन्दिर—माइसोन, दोंग दुओंग और पो-नगर के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से स्थानों पर प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। फनरंग के उत्तर में न्होन सोन गाँव के समीप अनेक मन्दिर खण्डहर रूप में पड़े हैं, जिनके खम्बों तथा मेहरावों में सुन्दर नक्काशी की गई है। इन्हें लताओं और पत्र पुष्पों द्वारा अलंकृत किया गया है। फनरी नगरी के समीप एक पहाड़ी पर छह मन्दिर विद्यमान हैं, जो पो-दम के मन्दिर कहाते हैं इनमें मुख्य मन्दिर बहुत अलंकृत है, और एक छोटे मन्दिर की छत का उपरला भाग गोलाई लिए हुए है। थिएन-छन गाँव के समीप पहाड़ी के ऊपर तीन मन्दिर हैं, जिनके द्वार पूर्व की ओर हैं। इनमें जो मुख्य मन्दिर है, उसकी छत के किनारों पर बुर्ज नहीं बने हैं। चम्पा के मन्दिरों में प्रायः छत के किनारों पर बुर्ज बने रहते हैं, जिनकी शृंखला छत की उपरली मंजिलों पर भी चलती जाती है। पर थिएन-छन के समीप स्थित इस मन्दिर में ऐसा नहीं है। फन-रंग के समीप पो-क्लोंग-गराई के मन्दिर हैं, जो पर्याप्त रूप से अच्छी दशा में हैं। इनका निर्माण तेरहवीं सदी में हुआ था। दुओंग-लोंग नामक स्थान पर भी प्राचीन मन्दिरों के कुछ भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिनके स्तम्भों आदि पर विविध प्रकार के चित्र उत्कीर्ण किए गये हैं।

चम्पा के मन्दिर—भवन निर्माण कला की दृष्टि से चम्पा के मन्दिरों में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जिनके कारण इन्हें कम्बुज के मन्दिरों से भिन्न प्रकार का कहा जा सकता है। चम्पा के सब मन्दिर एक जैसे नहीं हैं, उनमें बहुत-सी भिन्नताएँ हैं। पर भिन्नताओं के होते हुए भी उनमें कतिपय तत्त्व एक सदृश हैं। उनके निर्माण के लिए ईंटों का प्रयोग किया गया है, यद्यपि द्वारों, लिन्टल तथा कार्निश के लिए प्रस्तर भी प्रयुक्त हुए हैं। मन्दिर ऊँचे धरातल पर बनाये गए है। प्रायः सभी मन्दिर वर्गाकार हैं और उनकी ऊँचाई लम्बाई-चौड़ाई की तुलना में अधिक है। मन्दिरों के गर्भगृह में केवल एक द्वार है, जो प्रायः पूर्व की ओर है। शेष तीन दीवारों में आलों के रूप में नकली द्वार बनाए गये हैं। इन आलों में पूजा के लिए दीप रखे जाते थे, और मूर्ति को गर्भगृह के मध्य भाग में प्रतिष्ठापित किया गया था। गर्भगृह के द्वार के सामने एक छता हुआ ओसारा रहता है, जिसके आगे भी एक बड़ा द्वार होता है। इस द्वार के दोनों ओर कलात्मक एवं अलंकृत प्रस्तर-स्तम्भ रहते हैं। इसी प्रकार द्वार के ऊपर के लिन्टल के प्रस्तर पर भी सुन्दर चित्र उत्कीर्ण किए गए हैं। गर्भगृह और उसके सामने के ओसारा जिस धरातल पर बने होते हैं, वह चारों ओर की भूमि से छह फीट के लगभग ऊँचा होता है, अतः उस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनायी जाती हैं,जो ओसारे के बाह्य द्वार तक पहुँचती हैं। मन्दिर की छत पिरामिड के सदृश बनी है, जो नीचे से ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। पिरामिड की आकृति की इस छत में प्रायः तीन मंजिलें रहती हैं। प्रत्येक मंजिल के चारों कोनों पर चार बुर्ज बने रहते हैं, जो स्वयं मन्दिर की आकृति के होते हैं। ऊपर की मंजिल निचली मंजिल की तुलना में छोटी होती जाती है। सबसे ऊपर एक शिखर रहता है, जिसका निचला भाग कमल के सदृश और उपरला भाग आग की लौ जैसा बनाया जाता है। मन्दिर के बहिरंग को अलंकृत करने के लिए पंख फैलाये हुए हंसों, मकरों और अप्सराओं आदि की प्रतिमाओं को पत्थर पर उत्कीर्ण

किया गया है। ईंटों द्वारा निर्मित इन मन्दिरों में जो प्रस्तर खण्ड प्रयुक्त हुए हैं, वे प्राय: सब भी लताओं, पत्र-पुष्पों और विविध प्रकार के अन्य दृश्यों से विभूषित हैं।

मूर्तियाँ—चम्पा के भग्नावशेषों में बहुत-सी प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनसे इस देश की मूर्ति निर्माण कला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शिव की दो मानवाकार खड़ी मूर्तियाँ माइसोन से मिली हैं, जो प्राय: एक जैसी हैं। इनमें शरीर के विविध अंग भली-भाँति संतुलित हैं, और मुखमण्डल पर प्रसन्नता का भाव अभिलक्षित है। शिव की एक मूर्ति नृत्य मुद्रा में उपलब्ध हुई है। उनके एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरा हाथ टूट गया है। बायाँ पैर नृत्य की मुद्रा में ऊपर की ओर उठा हुआ है। उनके कानों में कुण्डल हैं, बाहों में बाजूबन्द हैं, हाथों में कंगन हैं, वक्षस्थल पर माला है, और पैरों में नूपुर हैं। उन्होंने सिर पर ऊँचा मुकुट धारण किया हुआ है, जो मालाओं से अलंकृत है। विन्ह-दिन्ह से प्राप्त एक मूर्ति ध्यानावस्था में बैठे हुए शिव की है। उनके माथे पर तीसरा नेत्र है, जो खुला हुआ है। कुण्डल, कंगन आदि आभूषणों के अतिरिक्त शिव ने सर्प भी धारण किया हुआ है। शिव के मुखमण्डल पर मन्द स्मित है, और उनकी आँखें ध्यान में अर्धोन्मीलित हैं। सिर पर जटाओं और मुकुट के साथ चन्द्रमा भी अंकित है।

माइसोन के एक मन्दिर के बाह्य भाग के एक शिलाखंड पर शेषशायी विष्णु की मूर्ति बनायी गई है। शेषनाग को शय्या बनाकर विष्णु लेटे हुए हैं। उनकी नाभि से कमल निकल रहा है, जिस पर ब्रह्मा विराजमान हैं। मूर्ति के दोनों सिरों पर दो गरुड़ बनाये गये हैं, जिन्होंने अपने दोनों हाथों में साँप पकड़े हुए हैं। इन गरुड़ों का ऊपर का भाग मनुष्य के आकार का है, और नीचे का पक्षी के आकार का। चम्पा से प्राप्त विष्णु मूर्तियों में एक ऐसी भी है, जिसमें विष्णु को खड़े हुए बनाया है। चतुर्भुज विष्णु के दायीं ओर के दो हाथों में से एक ऊपर की ओर उठा हुआ है और दूसरा आगे की ओर छाती पर था, जो अब टूट गया है। बायें हाथ टूटे हुए हैं। सिर पर मुकुट है, जिसका उपरला भाग आमलक की तरह का है। मुखमण्डल पर गम्भीरता है, भौंहें कमानीदार हैं और परस्पर मिली हुई हैं। ओठों पर पतली-सी मूँछें भी बनायी गई हैं। शरीर के अधोभाग पर जो वस्त्र है वह धोती के सदृश है, और कमर पर वह एक चौड़ी पेटी से बँधा हुआ है। विष्णु की यह मूर्ति इस समय तूरेन के संग्रहालय में है। चम्पा के भग्नावशेषों में पौराणिक देवी-देवताओं की अन्य भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं, जो प्राय भग्न दशा में हैं। चम्पा में बुद्ध तथा बोधिसत्वों आदि की भी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, पर पौराणिक देवी-देवताओं के समान वे अधिक संख्या में नहीं हैं। दोंग-दुओंग से प्राप्त एक मूर्ति ध्यानावस्था में बैठे हुए बुद्ध की है। पर बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए न होकर पैर लटका कर बैठे हुए हैं, और उनके दोनों हाथ घुटनों पर हैं। सिर के बाल घुंघराले हैं, जैसा कि प्राय: भारत की बुद्ध मूर्तियों में होते हैं। पर इस मूर्ति में वह सौन्दर्य एवं कलात्मकता नहीं है जो भारत की बुद्ध मूर्तियों में पायी जाती है।

चम्पा से प्राप्त नर्तकी की एक मूर्ति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति अत्यन्त आकर्षक एवं उत्कृष्ट है। माइसोन के एक मन्दिर के स्तम्भ पर एक चित्र उत्कीर्ण है, जिसमें तीन नर्तक नृत्य करते हुए अंकित किये गये हैं। बीच

के नर्तक का शरीर बहुत लचकीला है। और उसने अपने हाथों और पैरों को नृत्य की मुद्रा में फैलाया हुआ है। अन्य दो नर्तक भी नृत्य मुद्रा में हैं। अन्यत्र प्राप्त एक प्रस्तर फलक पर तीन नर्तकियों को नृत्य करते हुए अंकित किया गया है। माइसोन के एक मन्दिर में जहां शिव का ताण्डव नृत्य अंकित है, ऐसे दृश्य भी उत्कीर्ण हैं जिनमें नृत्य और वाद्य-वादन प्रदर्शित किये गए हैं। एक दृश्य में एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है, दूसरे के सामने दो तबले रखे हैं और साथ में नृत्य हो रहा है। इसी प्रकार के नृत्य और संगीत के अन्य भी दृश्य चम्पा के प्राचीन मन्दिरों के बाह्य भागों पर अंकित हैं। मन्दिरों के द्वारों, लिन्टलों तथा कार्निश आदि को चित्रित करने के लिए वहां पुष्प-पत्र, लता, पशु-पक्षी, नाग, गान्धर्व, अप्सरा, हाथी, सिंह, मकर, गरुड़ आदि की आकृतियों का आश्रय लिया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि चम्पा में भी भवन निर्माण कला, मूर्तिकला और चित्रकला अच्छी उन्नत दशा में थीं।

चम्पा के मन्दिरों पर जो अनेक मंजिलों वाली ऐसी छतें बनाने की प्रथा थी जो नीचे की तुलना में ऊपर की ओर लगातार छोटी होती जाती थीं, वह सम्भवतः भारत की द्रविड़ शैली से ली गई थी। सातवीं सदी में निर्मित मामल्लपुरम् के रथमन्दिरों और कांजीवरम् तथा बादामी के मन्दिरों की छतें भी प्रायः इसी ढंग की हैं। मामल्ल-पुरम् के धर्मराज रथ अर्जुन और रथ मन्दिरों की छतों की यदि चम्पा के बहुत्व संख्यक मन्दिरों की छतों से तुलना की जाए, तो उनमें सादृश्य दिखाई देगा। धर्मराज-शिव का मन्दिर है, जिसे 'अत्यन्तकामपल्लवेश्वर' भी कहते हैं। चम्पा के शम्भु-भद्रेश्वर सदृश कितने ही मन्दिरों के नाम भी इसी ढंग के हैं। पल्लव राजाओं द्वारा अपने नाम पर स्वनिर्मित मंदिरों के नाम रखने की प्रथा का चम्पा में भी अनुकरण किया गया है। भारत के जो उपनिवेशक चम्पा में जाकर बसे थे, वे भारत की भाषा, शासन व्यवस्था और धर्म के समान भारत की कला को भी अपने नये देश में ले गये थे। अतः यदि भारतीय भवन-निर्माण-कला तथा मूर्तिकला का चम्पा की कला पर प्रभाव दिखाई पड़े, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

वारहवाँ अध्याय

सियाम या थाईलैण्ड

(१) सियाम में भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात

बरमा के पूर्व और कम्बोडिया के पश्चिम में सियाम या थाईलैण्ड राज्य की स्थिति है। दक्षिण-पूर्वी एशिया का यह देश भी उस भूखण्ड के अन्तर्गत था, प्राचीन भारतीय जिसे स्थूल रूप से सुवर्णभूमि कहा करते थे। बरमा के समान सियाम में भी वर्तमान समय में बौद्ध धर्म का प्रचार है, और वहाँ की भाषा, कला, संस्कृति आदि पर भारत की छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। दो लाख वर्गमील के लगभग क्षेत्रफल के इस देश की जनसंख्या पौने तीन करोड़ से कुछ अधिक है, और वहाँ के निवासियों में थाई लोगों की प्रधानता है। थाई जाति के कारण ही अब इस देश को थाईलैण्ड कहा जाता है। पर वहाँ थाई जाति का प्रवेश बारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ था, और तेरहवीं सदी में ही यह जाति वहाँ अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुई थी। इस काल से पूर्व वहाँ बहुत-से भारतीय उपनिवेश विद्यमान थे, जिनके निवासी पौराणिक हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। ईस्वी सन् की पहली दो सदियों तक वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति अवश्य ही स्थापित हो चुकी थी। यह भी सम्भव है, कि इससे पहले भी वहाँ भारतीय उपनिवेश कायम होने शुरू हो गये हो। प्र पथोम नामक स्थान की खुदाई में अनेक भारतीय मूर्तियाँ मिली हैं, जो दूसरी सदी ईस्वी या उससे भी कुछ पहले की हैं। प्र पथोम से बीस मील दूर पश्चिम में पोंग तुक नामक स्थान पर एक पुराने मन्दिर के भग्नावशेष विद्यमान हैं, जिनसे बुद्ध की एक मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। इन अवशेषों को भी इसी सदी का ही माना जाता है। सियाम के अन्य भी बहुत-से स्थानों पर बौद्ध तथा पौराणिक देवी-देवताओं की प्राचीन मूर्तियाँ पायी गई हैं, मूर्तिकला की दृष्टि से जो गुप्त युग की शैली में निर्मित हैं। मुंग सी तेप नामक स्थान पर अनेक शैव तथा वैष्णव मूर्तियाँ मिली हैं, और उनके साथ संस्कृत का एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ईस्वी सन् के प्रारम्भकाल में ही सियाम में भारतीयों के उपनिवेशों का सूत्रपात हो गया था।

पर सियाम का कोई भी प्राचीन भारतीय उपनिवेश शक्तिशाली राज्य का रूप प्राप्त नहीं कर सका। इसका कारण यह था; कि इसी प्राचीन काल में कम्बोडिया के प्रदेश में एक शक्तिशाली भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसे चीनी लोग फूनान नाम से पुकारते थे। फूनान के राजा सियाम के भारतीय उपनिवेशों को भी अपना वशवर्ती बनाने में समर्थ हुए थे, और इसीलिये उन्हें अपना उत्कर्ष करने का अवसर नहीं मिल पाया था। पर सातवीं सदी में जब फूनान की शक्ति का ह्रास होने लगा तो सियाम के

राज्यों को स्वतन्त्र होने और उन्नति करने का अवसर प्राप्त हो गया, और उन्होंने उसका भली-भाँति उपयोग किया। सियाम के इन भारतीय राज्यों में द्वारवती मुख्य था। इस राज्य के विषय में पिछले एक अध्याय में भी लिखा जा चुका है। बरमा के मूल निवासियों की एक जाति मों थी, जिसका निवास दक्षिणी बरमा में था। भारतीय उपनिवेशकों के सम्पर्क में आकर मों लोगों ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति आदि को पूर्ण रूप में अपना लिया था, और वे पूरी तरह से भारतीय रंग में रंग गये थे। बाद में मों लोगों ने उत्तर की ओर भी अपना प्रसार किया, और बरमा से लगते हुए सियाम के पश्चिमी प्रदेश में द्वारवती नामक अपना राज्य स्थापित किया। इसकी राजधानी लवपुरी (लोपभुरी) थी। फूनान की शक्ति क्षीण होने पर सातवीं सदी में द्वारवती अच्छा शक्तिशाली राज्य बन गया था, और ६३८ ईस्वी में उसके राजा की ओर से चीन के सम्राट् की सेवा में दूतमण्डल भी भेजे गये थे। उत्तरी सियाम में एक अन्य भारतीय राज्य था, जिसे हरिपञ्जय कहते थे। सियाम के पुराने ग्रन्थों के अनुसार इसकी स्थापना ऋषि वासुदेव द्वारा ६६१ ईस्वी में की गई थी। दो वर्ष बाद लवपुरी (द्वारवती) की राजकुमारी चामदेवी वासुदेव के निमन्त्रण पर हरिपञ्जय गई, और वहाँ उसे राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया गया। चामदेवी के वंशज देर तक हरिपञ्जय में शासन करते रहे, और उन द्वारा उस देश में बौद्ध धर्म का भली-भाँति प्रचार किया गया। सियाम के इन भारतीय राज्यों का वृत्तान्त वहाँ के पुराने ग्रन्थों में संकलित है, और उससे वहाँ के राजाओं के नामों को जाना जा सकता है। ये सब नाम भारतीय हैं।

सियाम के जो भारतीय राज्य फूनान की अधीनता से मुक्त होने में समर्थ हुए थे, वे देर तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम नहीं रख सके। दसवीं सदी में जब कम्बुज (कम्बोडिया) के राजाओं ने अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया, तो उन्होंने सियाम पर भी आक्रमण किये और धीरे-धीरे सम्पूर्ण सियाम पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कम्बुज का यह प्रभुत्व तेरहवीं सदी तक कायम रहा। इस काल में थाई लोगों ने सियाम में प्रवेश आरम्भ कर दिया था; और वहाँ उन्होंने अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। थाई लोगों का मूल निवास चीन के दक्षिणी व दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में था, और वहीं से वे सियाम में आये थे। सियाम में विद्यमान भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर थाई लोगों ने भी भारत के धर्म, संस्कृति आदि को अपना लिया था। थाई लोगों द्वारा जो अनेक राज्य सियाम में कायम किये गये, हम उन पर अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर बारहवीं सदी तक के सियाम पर भारत का प्रभाव किस रूप में था, इस विषय में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। सियाम में, विशेषतया द्वारवती के क्षेत्र में जो प्राचीन मूर्तियां मिली हैं, वे भारत के गुप्त युग की मूर्तियों से बहुत अधिक सादृश्य रखती हैं। इन मूर्तियों की मुखाकृतियाँ भी भारतीयों के मुखों के सदृश हैं। बाद के समय की जो मूर्तियाँ वहाँ प्राप्त हुई हैं, उनकी मुखाकृतियों पर मंगोल प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। पर कई सदियों तक द्वारवती आदि में ऐसी मूर्तियाँ बनती रहीं, जिनमें और गुप्त युग की भारतीय मूर्तियों में कोई भी भेद नहीं है। मुखाकृति के अतिरिक्त इन मूर्तियों की जो वेशभूषा प्रदर्शित की गई

है, वह भी विशुद्ध भारतीय है। सियाम में बौद्धधर्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं, जिनमें धर्मचक्र और मृग भी अंकित हैं, और मानव शरीर के रूप में बुद्ध को प्रस्तुत नहीं किया गया है। ईस्वी सदी के प्रारम्भ से पहले भारत में भी एक ऐसा समय रह चुका है, जबकि मानव आकृति में बुद्ध की मूर्तियां नहीं बनायी जाती थीं, और धर्मचक्र सदृश लक्षणों (चिह्नों) से बुद्ध का ध्यान किया जाया करता था। सियाम में भी ऐसी प्रतिमाओं की उपलब्धि यह सूचित करती है, कि उस देश में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईस्वी सदी से पहले ही हो गया था। यह बात भी महत्व की है, कि सियाम में बौद्ध और पौराणिक धर्मों की प्राचीन मूर्तियां ऐसे स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं, जो समुद्रतट से बहुत दूर हैं। बहुत प्राचीन समय में ही भारतीयों ने वहाँ बसना शुरू कर दिया था, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। पोंग तुक से प्राप्त हुई बुद्ध की कांस्य मूर्ति का निर्माण अमरावती की मूर्तिकला की शैली में हुआ है। मूर्तिकला की अमरावती शैली भारत में दूसरी सदी तक विकसित हो गई थी, और बाद में उसका स्थान गुप्त शैली ने ले लिया था। अतः पोंग तुक की कांस्य मूर्ति को दूसरी सदी का समझा जा सकता है। सियाम में मिली कतिपय मूर्तियां ऐसी भी हैं जिन पर अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। इन अभिलेखों के आधार पर इन्हें पांचवीं और छठी सदियों का माना गया है। सियाम के अति प्राचीन काल के कोई मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में विद्यमान नहीं हैं यद्यपि अनेक स्थानों पर उनके भग्नावशेष पाये जाते हैं। सवङ्कलोक नामक स्थान पर एक पुराने मन्दिर की पाषाणवर्तनी के कुछ खण्ड मिले हैं, जो साञ्ची के स्तूप की पाषाणवर्तनी से मिलते-जुलते हैं। थाई लोगों के सियाम में प्रवेश से पूर्व वहाँ भारतीय संस्कृति की जिस रूप में सत्ता थी, उसका कुछ आभास इन तथ्यों से प्राप्त हो जाता है।

(२) थाई जाति के प्राचीन राज्य

गान्धार—सियाम में प्रवेश से पूर्व थाई जाति का निवास वर्तमान चीन के दक्षिणी व दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में था। तब ये प्रदेश चीन के अन्तर्गत नहीं समझे जाते थे, और यहाँ थाई लोगों के अनेक स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे। वर्तमान चीन का प्रान्त युन्नान है। थाई राज्यों की स्थिति इसी युन्नान प्रान्त में थी। चीन के राजा इन राज्यों पर बहुधा आक्रमण करते रहते थे, और कभी-कभी उन्हें थाई राज्यों को अपना वशवर्ती बनाने में सफलता भी प्राप्त हो जाती थी। पर चीन इन्हें स्थायी रूप से अपने अधीन नहीं कर सका। सातवीं सदी तक ये इस स्थिति में आ गये कि चीन के भय से मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास कर सकें। युन्नान के थाई राज्य को चीनी लोग नान-चाओ कहते थे, पर उसका वास्तविक नाम गान्धार था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में वह इसी नाम से विख्यात था। गान्धार का एक भाग विदेह राज्य था, और उसकी राजधानी मिथिला कहाती थी। थाई लोगों के इस गान्धार राज्य में एक ऐसी लिपि प्रचलित थी, जिसका उद्गम भारत में हुआ था। युन्नान की स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार अवलोकितेश्वर ने भारत से आकर इस देश को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। वहाँ यह कथा भी प्रचलित है, कि आठवीं सदी में गान्धार के एक राजा का झुकाव भारत

की तुलना में चीन की ओर होने लग गया था। यह जानकर भारत से सात धर्माचार्य वहाँ आये, और उन्होंने राजा को पथभ्रष्ट होने से बचाया। नवीं सदी के पूर्वार्ध में चन्द्रगुप्त नाम का एक हिन्दू धर्माचार्य युन्नान गया था, और वहाँ उसने अपने धर्म का प्रचार किया था। चन्द्रगुप्त मगध का निवासी था और मागध कहाता था। चीनी ग्रन्थों के अनुसार नान-चाओ (गान्धार) के राजा 'महाराज' कहाते थे, और युन्नान की एक स्थानीय अनुश्रुति में वहाँ के राजवंश को अशोक का वंशज कहा गया है। इस प्रदेश से ग्यारहवीं सदी के दो घण्टे प्राप्त हुए हैं, जिन पर संस्कृत और चीनी के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। जिन भारतीयों के सम्पर्क में आकर युन्नान के थाई लोगों ने भारतीय भाषा, धर्म तथा संस्कृति को पूर्ण रूप से अपना लिया था, और अपने देश को भी गान्धार तथा विदेह कहने लगे थे, उन्हीं के कारण थाई लोगों की बौद्ध धर्म के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा हो गयी कि युन्नान में भी ऐसे स्थानों की परिकल्पना कर ली गई, जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन के साथ था। गृद्ध्रकूट और बोध गया युन्नान में भी परिकल्पित कर लिए गए। यह समझा जाने लगा कि बुद्ध ने जिस पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगा कर ज्ञान प्राप्त किया था, वह बोधिवृक्ष युन्नान में ही था। ये सब बातें यह सूचित करने के लिए पर्याप्त हैं, कि सियाम में प्रवेश से पूर्व थाई लोग जब युन्नान में निवास करते थे, तभी वे पूर्णतया भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गये थे।

युन्नान के प्रदेश में विद्यमान थाई लोगों का गान्धार एक शक्तिशाली राज्य था। अपने पड़ोसी चीन के साथ उसके सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण थे। पर यह दशा देर तक नहीं रही। ७५० ईस्वी में कोलोफ़ेंग गान्धार का राजा बना। उसने ताली-फू को अपनी राजधानी बनाया। कोलोफेंग और ताली-फू चीनी नाम हैं। इनके असली भारतीय नाम अज्ञात हैं। कोलोफेंग स्वयं चीन गया, पर वहाँ उसका समुचित सम्मान नहीं हुआ। वह क्रुद्ध होकर गान्धार वापस आया, और उसने चीन पर आक्रमण कर बत्तीस नगरों व बस्तियों को जीत लिया। उसके विरुद्ध जो सेनाएं चीन द्वारा भेजी गई, उन्हें उसने तीन बार परास्त किया। तिब्बत के राजा खि-स्दे-त्सन्-वर्तन् के साथ मैत्री कर ७५४ ईस्वी में उसने चीन को बुरी तरह से परास्त किया। कोलोफेंग की मृत्यु के पश्चात् उसका पोता इमोशुन ७७० ईस्वी में गान्धार के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने भी तिब्बत से मिलाकर चीन पर आक्रमण किया, पर परास्त होकर वापस लौट आया। अब उसने चीन के साथ सुलह कर ली, और तिब्बत के प्रभाव से मुक्त होने के लिए उन तिब्बतियों को मौत के घाट उतार दिया, जो गान्धार में रह रहे थे। इमोशुन ने तिब्बत पर आक्रमण भी किया, और उसके सोलह नगरों को जीत लिया। पर गान्धार और चीन की मैत्री देर तक कायम नहीं रही। इमोशुन के एक उत्तराधिकारी ने ८२० ईस्वी में चीन पर आक्रमण कर दिया, और उसकी सेनाओं को परास्त कर वहाँ से बहुत-से कैदी गान्धार ले आया जिनमें अनेक शिल्पी भी थे। अब गान्धार की शक्ति इतनी बढ़ गई थी, कि उसके राजा ने सम्राट् की उपाधि धारण कर ली। चीन के तांग वंशी सम्राट् को यह बुरा लगा, और उसने गान्धार के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, और ८६२ में गान्धार ने अनाम की विजय कर ली। अब चीन ने यही उचित समझा, कि गान्धार से सुलह कर ली जाए। ८८४ ईस्वी

में चीन के सम्राट् ने अपनी कन्या का विवाह गान्धार के युवक सम्राट् के साथ कर युद्ध की समाप्ति कर दी, और इस प्रकार से इन दोनों राज्यों में फिर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुआ। गान्धार का यह शक्तिशाली हिन्दू राज्य १२५३ ईस्वी तक कायम रहा। तेरहवीं सदी में चंगेज खाँ और उसके उत्तराधिकारियों ने जिस विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसकी सीमाएँ गान्धार से भी आ लगी थीं। किवले खाँ ने १२५३ ईस्वी में गान्धार पर आक्रमण कर दिया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। विश्वविजयी मंगोल सेनाओं के सम्मुख गान्धार देर तक नहीं टिक सका, और उसके राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया।

सम्भवतः, मंगोलों के इसी आक्रमण का यह परिणाम हुआ, कि गान्धार के थाई लोगों ने दासता का जीवन बिताने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा समझा, कि अपने देश का सदा के लिए परित्याग कर अन्यत्र जा बसें। उन्होंने दक्षिण और पश्चिम की ओर फैलना शुरू कर दिया, और उसकी एक शाखा (अहोम) असम में जा बसी, तथा एक अन्य शाखा (शान) न उत्तरी बर्मा के पर्वतप्रधान प्रदेश को आबाद किया। पर गान्धार के थाई लोगों की मुख्य शाखा दक्षिण दिशा में अग्रसर हुई, और वह उस प्रदेश में जा बसी जो थाईलैण्ड या सियाम कहाता है। वहाँ उन्होंने अपना जो राज्य स्थापित किया, वह आज तक भी विद्यमान है।

थाई लोगों के अन्य प्राचीन राज्य—युन्नान के गान्धार राज्य के अतिरिक्त थाई लोगों के अन्य भी अनेक राज्य थे, जिनकी स्थिति गान्धार के समीपवर्ती प्रदेशों में थी। चीनी ग्रन्थों में ता-त्सिन नामक एक राज्य का उल्लेख है, जिसे वहाँ ब्राह्मण राज्य कहा गया है। यह मणिपुर और असम के पूर्व में स्थित था। ता-त्सिन के पूर्व में १५० मील की दूरी पर चिन्दविन नदी के पार एक अन्य हिन्दू राज्य विद्यमान था। एक हिन्दू राज्य इरावदी तथा सालवीन नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में भी था, जिसका नाम कौशाम्बी था। युन्नान और कम्बोडिया तथा सियाम के मध्य में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जिनके नाम अलाविराष्ट्र, खमेरराष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गशिला, योनकराष्ट्र और हरिपुञ्जय थे। पालि भाषा के ऐसे अनेक प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें इन राज्यों के पुराने इतिवृत्त संकलित हैं। इन राज्यों के निवासी प्रायः थाई या उससे सम्बद्ध जातियों के थे, पर उन्होंने भारतीय धर्म तथा संस्कृति आदि को अविकल रूप से अपना लिया था। इनके प्रदेशों में जो प्राचीन मूर्तियाँ व अन्य अवशेष प्राप्त हुए हैं, उन द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

भारतीय संस्कृति का केन्द्र—युन्नान—नसल की दृष्टि से थाई लोगों का भारतीयों की तुलना में चीनियों से अधिक सादृश्य हैं। जिस प्रदेश में वे निवास करते थे, वह भी चीन के साथ लगा हुआ था। अतः यह आश्चर्य की बात है, कि उन्होंने चीनी भाषा, संस्कृति आदि को न अपनाकर भारतीय संस्कृति को अपनाया। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इसका कारण यह है, कि प्राचीनकाल में भारत से चीन जाने-आने के लिये एक स्थल मार्ग भी प्रयुक्त किया जाता था, और यह मार्ग युन्नान होकर जाता था। बहुत-से भारतीय व्यापारी इस मार्ग से चीन जाया करते थे, और उनके साथ-साथ

भारतीय धर्मप्रचारक तथा विद्वान् भी सुदूर पूर्व के प्रदेशों की यात्रा किया करते थे। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में चीन के सम्राट् ने चाङ्-कियन नामक राजदूत को युइशियों के साथ सम्पर्क करने के लिये मध्य एशिया तथा वल्ख (वैक्ट्रिया) भेजा था। वल्ख के वाजार में चीनी रेशम और वांस की वनी वस्तुओं को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। पूछने पर उसे बताया गया, कि दक्षिण की ओर शिन्-तू (सिन्धु-हिन्द) देश है, जहाँ से ये वल्ख लायी जाती हैं। चीन के श्जेचुअन प्रान्त से व्यापारिक माल को स्थल के मार्ग से युन्नान लाया जाता है, और वहाँ से उत्तरी वरमा, असम तथा उत्तरी भारत में। युन्नान का स्थल मार्ग दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में कितना महत्त्वपूर्ण था, यह इसी एक वात से स्पष्ट हो जाता है कि उस रास्ते से लाये हुए पण्य को सम्पूर्ण भारत तथा अफगानिस्तान को पार कर वल्ख तक विक्री के लिये ले जाया जाता था। चीनी यात्री यि-त्सिंग के अनुसार ईसा की पहली, दूसरी तथा तीसरी शताब्दियों में चीन से वीस तीर्थयात्री युन्नान होकर भारत गये थे। ६६४ ईस्वी में चीन के सम्राट् ने इसी मार्ग से अपने तीन सौ धर्मदूत इस प्रयोजन से भारत भेजे थे, ताकि वे वहाँ से वौद्ध ग्रन्थों का संग्रह कर चीन ले जाएँ। वर्तमान समय में इस स्थल मार्ग का अधिक उपयोग नहीं किया जाता। पर प्राचीन काल में यह वहुत प्रयुक्त होता था, और भारत के व्यापारियों तथा धर्मप्रचारकों द्वारा इस मार्ग का प्रयोग करने के कारण युन्नान के थाई लोगों को भारत तथा उसकी संस्कृति से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। क्योंकि भारतीय संस्कृति उत्कृष्ट थी, अतः उन्होंने उसे अपना लिया था।

(३) सियाम के थाई राज्य

मंगोल आक्रमणों के कारण जव थाई लोग युन्नान को छोड़कर अन्यत्र प्रवास के लिये विवश हुए, तो उन्होंने सियाम में आकर वहाँ अपने अनेक राज्यों की स्थापना की। १२५३ ईस्वी में उनके प्रमुख राज्य गान्धार का पतन हुआ था, और उसके वाद ही प्रवास की उस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण सियाम ने थाईलैण्ड या थाईभूमि का रूप प्राप्त कर लिया। वस्तुतः, सियाम नाम भी 'श्याम' का रूपान्तर है, और थाई लोगों की एक शाखा उसी प्रकार से श्याम या स्याम कहाती थी, जैसे कि अन्य शाखाएँ शान, अहोम आदि।

सुखोदय या सुखोयई—सियाम के क्षेत्र में थाई लोगों ने जो अनेक राज्य स्थापित किये थे, उनमें सुखोदय सर्वप्रधान था। उसकी स्थापना इन्द्रादित्य द्वारा की गई थी। सियाम पहले कम्बुज के अधीन था, और उसके उत्तरी क्षेत्र में (गान्धार के दक्षिण में) जो अनेक छोटे-छोटे थाई राज्य थे, उनकी स्थिति भी कम्बुज राजा के अधीनस्थ सामन्तों के सदृश थी। इन्द्रादित्य भी इसी प्रकार का एक सामन्त था। पर वह अपनी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। अवसर पाकर उसने कम्बुज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और अपने को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया। उसे वशवर्ती वनाने के लिये जो सेनाएँ कम्बुज के राजा द्वारा भेजी गईं, वे इन्द्रादित्य द्वारा परास्त कर दी गईं। इस प्रकार कम्बुज के प्रभुत्व से मुक्त होकर इन्द्रादित्य ने जिस स्वतन्त्र राज्य को

स्थापित किया, उसकी राजधानी सुखोथई या सुखोदय नगरी थी। इन्द्रादित्य बड़ा प्रतापी राजा था। समीप के अनेक छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी, और 'श्रीसूर्यफाः महाराजा धर्माधिराज' उपाधि से अपने को विभूषित किया था। इन्द्रादित्य ने अपने शत्रुओं से जो युद्ध किये थे, उनमें उसके पुत्र राम खम्हेङ् ने प्रमुख भाग लिया था। पिता और बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् १२८३ ईस्वी में वह सुखोदय के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और अपने राज्य की उन्नति के लिये उसने अनेक कार्य किये। उसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य सियामी भाषा के लिये नई लिपि का निर्माण कराना था। अपने एक अभिलेख में उसने इस बारे में लिखा है—"पहले सियामी लिखने के लिये कोई अक्षर नहीं था। १२८३ ईस्वी में अजवर्म के राजकुमार खुनराम खम्हेङ् के मन में इच्छा हुई और उसने सियामी लिपि के अक्षर बनाये।" राम ने यह नई लिपि कम्बुज देश की लिपि के आधार पर बनायी थी। अनेक राज्यों को जीतकर उसने अपने राज्य की शक्ति में भी वृद्धि की थी। उसके एक अभिलेख में उन राज्यों के नाम दिये गये हैं, जिन्हें जीतकर उसने अपने अधीन किया था। इनमें कतिपय राज्य ऐसे भी हैं, जिनकी स्थिति बरमा और मलाया प्रायद्वीप में थी। सम्भव है कि राम खम्हेङ् की विजय-यात्राओं के विवरणों में अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह एक प्रतापी राजा था और उसके शासनकाल में सुखोदय राज्य का बहुत उत्कर्ष हुआ था। उसने अपनी राजधानी सुखोदय को विभूषित करने के लिये भी प्रयत्न किया था, और वहाँ उसने अनेक विहारों का निर्माण कराया था। अपने अभिलेख में उसने सूचित किया है, कि "पश्चिम की ओर एक वनाराम है। राजा खुन-राम खम्हेङ् ने उसे बनवाकर फ्राः महास्थविर को दे दिया। महास्थविर नायक भिक्षु और थिन्मान हैं। त्रिपिटक में पारंगत, अपने संघ के मुखिया, अपने देश के सभी आचार्यों के ऊपर हैं। वह सीधम्मरति (श्रीधर्मराष्ट्र) से यहाँ आये हैं। वन वाले आराम के बीच में एक मन्दिर-भवन है, जो बहुत लम्बा, चौड़ा, ऊँचा और अत्यन्त सुन्दर है। उसमें अठारह हाथ ऊँची एक खड़ी मूर्ति है।" न्याय को सुलभ बनाने के लिये राम ने एक घण्टी टंगवा दी थी, जिसे बजाकर कोई भी व्यक्ति उसके पास पहुँच सकता था, और उससे न्याय की याचना कर सकता था।

राम का पुत्र श्रीधर्मराज था, जो अपने पिता के जीवनकाल में फ्राः महाउपराज के पद पर नियुक्त था। अभिलेखों से ज्ञात होता है, कि पिता के बीमार पड़ने पर सामन्तों ने उसे पदच्युत करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। १३५५ ई० में उसने राजसिंहासन प्राप्त किया, और 'फ्राः पाद्-कामरत न-अन् श्री सूर्यवंश राम महाधर्मराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की। यद्यपि वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था, पर पौराणिक हिन्दू धर्म पर भी उसकी श्रद्धा थी। इसीलिये उसने शिव और विष्णु की मूर्तियों को भी प्रतिष्ठापित कराया था। बौद्धों के लिये तो उसने अनेक विहार तथा चैत्य बनवाए ही थे। १३५७ ईस्वी में उसने खम्-फेन्-फेत् (नगरजम्) में श्रीरत्नमहाधातु की प्रतिष्ठा के लिये एक विहार का निर्माण कराया था और वह इसी विहार में रहने लगा था। वह स्वयं भी जनता में बौद्ध धर्म का प्रचार किया करता

था। धर्मप्रचार की लगन में उसने अनुभव किया, कि शुद्ध बौद्ध धर्म सिंहल में है, अतः वहाँ से किसी धर्माचार्य को आमन्त्रित कर अपने देश के धर्म में सुधार करना उपयोगी होगा। इसीलिये १३६२ ईस्वी में महास्वामी संघराज को सिंहल से लाने के लिये उसने सुखोदय से राजपण्डित को भेजा। संघराज के सियाम पधारने पर उनका धूम-धाम से स्वागत किया गया, और राजा ने हाथ जोड़कर उनसे कहा—"मैं चक्रवर्ती-सम्पत्ति, इन्द्रसम्पत्ति एवं ब्रह्मा की सम्पत्ति नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ, बुद्ध होना जिससे भवसागर में निमग्न होते हुए प्राणियों की सहायता कर सकूं।" फिर राजा ने भिक्षुव्रत ग्रहण कर लिया। बुद्धत्व प्राप्त करने की धुन में राजा श्रीधर्मराज ने राजकीय कर्त्तव्यों की उपेक्षा शुरू कर दी, जिसके कारण राज्य में अव्यवस्था प्रादुर्भूत होने लगी। जब यह बात महास्वामी संघराज ने सुनी, तो उसने राजा को शासनकार्य संभालने का आदेश दिया जिससे राज्य में पुनः व्यवस्था स्थापित हुई। पर राजा धर्मराज की वृत्ति के कारण सर्योदय राज्य को जो क्षति पहुँची थी, उसकी पूर्ति हो सकना सम्भव नहीं हुआ और उसकी शक्ति का ह्रास हो गया।

अयोध्या का उत्कर्ष—सियाम में सुवनपुनी या उतोंग नाम का एक अन्य थाई राज्य था, जो सर्वोदय के अधीन था। श्रीधर्मराज के बौद्ध धर्म के प्रति अगाध अनुराग के कारण जब सुखोदय के शासन में शिथिलता आने लगी, तो उतोंग को अपनी शक्ति में वृद्धि करने का अवसर हाथ लग गया और उसने सुखोदय राज्य के कुछ प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। १३५० ईस्वी में वहाँ के राजा ने अयोध्या (अयुथिया) नाम के एक नये नगर की स्थापना की, और उसे अपनी राजधानी बना लिया। सुखोदय के विरुद्ध विद्रोह कर इस राजा ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, और रामाधिपति नाम से शासन करना प्रारम्भ किया। रामाधिपति एक प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसके नेतृत्व में अयोध्या के राज्य ने बहुत उन्नति की, और वह सियाम का प्रमुख थाई राज्य बन गया। सुखोदय के राजाओं को उसके अधीनस्थ होकर रहने के लिये विवश होना पड़ा, और बाद में तो उनकी स्थिति प्रान्तीय शासकों के समान रह गई। अयोध्या के राजा केवल सियाम के विविध राज्यों को ही अपना वशवर्ती बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने पूर्व की ओर विद्यमान लाओस को भी जीत लिया और फिर कम्बोडिया (कम्बुज) पर आक्रमण कर उसके भी कुछ प्रदेशों को अपने अधीन किया। पर पश्चिम की ओर बरमा की विजय करने में अयोध्या के राजाओं को सफलता नहीं हुई। लाओस और कम्बोडिया पर भी उनका आधिपत्य स्थायी नहीं रहा। पर इसमें सन्देह नहीं कि अयोध्या को राजधानी बनाकर रामाधिपति के उत्तराधिकारी सम्पूर्ण सियाम पर शासन करते रहे और अवसर पाकर समीप के अन्य राज्यों को भी अपना वशवर्ती बनाने में तत्पर रहे। अयोध्या के राजाओं के लिये सबसे विकट समस्या बरमी आक्रमणों की थी जिनसे उन्हें सदा आशंकित रहना पड़ता था। बरमा के एक आक्रमण के कारण ही १७६७ ईस्वी में अयोध्या नगरी ध्वस्त हो गई, जिसके कारण बैंगकाक को सियाम की नई राजधानी बनाया गया। वर्तमान समय में बैंगकाक ही उसकी राजधानी है।

अयोध्या क राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। राजा परम राजाधिराज (१४१७-३७) के समय में सियाम में उसी प्रकार बुद्धपद की स्थापना हुई, जैसे कि गया में विष्णुपद और कम्बुज में शिवपद थे। अयोध्या के बौद्ध राजाओं ने बहुत-से विहारों, चैत्यों तथा स्तूपों का सियाम में निर्माण कराया, जिनकी वास्तुकला पर भारतीय कला की छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि सियाम के राजा और प्रजा दोनों बौद्ध थे, पर साथ ही पौराणिक हिन्दू धर्म की भी वहाँ सत्ता थी। पौराणिक देवी-देवताओं के बहुत-से मन्दिर भी वहाँ थे, और उनमें ब्राह्मण, पुजारी आदि भी रहा करते थे। अब तक भी कुछ ब्राह्मण वहाँ रहते हैं, जो राजाओं के अभिषेक तथा अन्य धार्मिक कृत्यों में पौरोहित्य करते हैं। सियाम में ब्राह्मण शब्द बिगड़कर फ्राम हो गया है। बैंकाक में एक हिन्दू मन्दिर (वत्-तोत्-फाम) इस समय भी है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति की विशाल प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित हैं।

सियाम की भाषा पर भी भारत का प्रभाव है। उसके बहुत-से शब्द संस्कृत और पालि से लिए गए हैं। वहाँ मन्त्री को मोन्त्री, अमात्य को अमंच, पुरोहित को परोहित, पटरानी (अग्रमहिषी) को अक्खमहेसी और घोड़े (अश्व) को असुसव कहा जाता है। इसी प्रकार के सैकड़ों शब्द हैं, जो सियामी भाषा में संस्कृत तथा पालि से लिये गए हैं। बरमा और श्रीलंका के समान सियाम में भी बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति की परम्परा सुदृढ़ रूप से विद्यमान है, और भारत के सांस्कृतिक प्रभाव का वहाँ से अन्त नहीं हुआ है।

तेरहवाँ अध्याय

बरमा

(१) भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात

प्राचीन भारतीय साहित्य में जिन प्रदेशों को सुवर्णभूमि कहा गया है, बरमा भी उनमें से एक है। पन्द्रहवीं सदी में उत्कीर्ण कराये गए कल्याणी के शिलालेखों में रामञ्ञदेश का सुवर्णभूमि के रूप में उल्लेख है (सुवण्णभूमिरट्ठसंखात रामञ्ञदेश)। रामञ्ञदेश की स्थिति बरमा में सालविन नदी के मुहाने के समीपवर्ती प्रदेश में थी। बरमा सुवर्णभूमि का पश्चिमी अपरान्त (सीमान्त) प्रदेश था, और भारत की पूर्वी सीमा उसके साथ लगती थी।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के समान बरमा के साथ भी भारत का सम्बन्ध सबसे पूर्व व्यापार के लिए हुआ। पर बाद में उपनिवेश बसाने और धर्मप्रचार के प्रयोजन से भी भारत के लोग बरमा जाने लगे। बरमा की एक प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार कपिलवस्तु का शाक्य राजकुमार अभिराज एक सेना के साथ उत्तरी बरमा गया था, और वहाँ उसने अपने राज्य की स्थापना की थी। इस राज्य के शासन के लिए उसने संकिस्सा (तगौंग) नगरी का निर्माण किया और उसे ही अपने राज्य की राजधानी बनाया। संकिस्सा नगरी इरावदी नदी की उपरली घाटी में थी। अभिराज के दो पुत्र थे। छोटा पुत्र संकिस्सा का राजा बना, और बड़े पुत्र ने अराकान में अपना नया राज्य स्थापित किया। ३१ पीढ़ी बाद बुद्ध के समय में गंगा की घाटी से क्षत्रियों की एक अन्य मण्डली इस प्रदेश में आयी। ये क्षत्रिय १३ पीढ़ी तक इस देश का शासन करते रहे। बाद में उत्तरी बरमा उनके हाथ से निकल गया, और उन्होंने दक्षिणी बरमा में एक नया राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी श्रीक्षेत्र थी। श्रीक्षेत्र की स्थिति प्रोम के समीप थी, और उसके भग्नावशेष प्रोम से पाँच मील दक्षिण में ह्मावजा नामक स्थान पर अब भी विद्यमान हैं।

दक्षिणी बरमा के समुद्रतट के समीपवर्ती प्रदेशों में बसे हुए मों या तलैंग लोगों में यह अनुश्रुति चली आ रही है, कि भारत की कृष्णा और गोदावरी नदियों के मुहानों से ऊपर के प्रदेशों से किसी प्राचीन काल में भारतीय उपनिवेशक समुद्र पार करके वहाँ आये थे, और इरावदी नदी के मुहाने तथा उसके समीपवर्ती प्रदेश में उन्होंने अपनी बस्तियाँ कायम की थीं। अराकान की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वहाँ का पहला राजा वाराणसी के एक राजा का पुत्र था।

बरमा के विविध प्रदेशों में प्रचलित अनुश्रुतियों द्वारा इस बात का संकेत मिल जाता है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान वहाँ भी प्राचीन समय में भारतीयों ने अनेक उपनिवेशों व राज्यों की स्थापना की थी। इस बात की पुष्टि अन्य

भी अनेक प्रकार से होती है। बरमा में अनेक स्थानों पर ऐसे प्रस्तरखण्ड मिले हैं, जिन पर ब्राह्मी वर्णमाला के अक्षर उत्कीर्ण हैं। यह तभी सम्भव हो सकता था, जबकि वहाँ भारतीयों की बस्तियां स्थापित रही हों। बरमा में ऐसे पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जो उस देश में संस्कृति तथा पालि भाषाओं के प्रचार को सूचित करते हैं। वहां न केवल बौद्ध धर्म का ही प्रचार था, अपितु पौराणिक हिन्दू धर्मों की भी वहां सत्ता थी। दक्षिणी बरमा के समुद्रतट के समीपवर्ती प्रदेश में रामञ्ञ देश था, जहां के निवासी मों जाति के लोगों ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति को अपना लिया था। मों लोगों ने उत्तर तथा पूर्व दिशाओं में बढ़कर उत्तरी सियाम और लाओस में भी अपनी शक्ति का विस्तार किया था, और इन प्रदेशों में उन्होंने अपने अनेक राज्य कायम किये थे। कतिपय पालिग्रन्थों में इन राज्यों के राजवंशों का इतिवृत्त संकलित है, और उनमें इन राज्यों के राजाओं के जो नाम दिये हैं, वे भारतीय हैं। मों लोगों द्वारा स्थापित इन राज्यों के राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और उन्होंने जो बौद्ध विहार व चैत्य स्थापित किये, उनका विवरण भी पालिग्रन्थों में विद्यमान है।

मों लोगों का प्रदेश (रामञ्ञदेश) दक्षिणी बरमा में सालविन के मुहाने तथा उसके समीपवर्ती समुद्रतट के साथ था। उसके उत्तर में प्यू जाति का निवास था। प्यू लोगों द्वारा आबाद प्रदेश में भारतीय उपनिवेशकों ने एक राज्य की स्थापना की थी, जिसकी राजधानी श्रीक्षेत्र थी। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, संकिस्सा (तगौंग) के राजकुल के एक व्यक्ति द्वारा ही श्रीक्षेत्र में अपना राज्य स्थापित किया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जिन भारतीयों ने उत्तरी बरमा में संकिस्सा को राजधानी बनाकर एक भारतीय राज्य की स्थापना की थी, उन्होंने ही आगे चलकर दक्षिणी बरमा के उस प्रदेश में प्रवेश कर लिया था, जहां कि प्यू जाति का निवास था। प्यू लोगों को भारतीय संस्कृति तथा धर्म के प्रभाव में ले आने में ये भारतीय उपनिवेशक पूर्णतया सफल हुए थे। यही कारण है, कि इस क्षेत्र से प्यू भाषा के जो लेख मिले हैं, वे भी भारतीय लिपि में हैं। संस्कृत और पालि भाषाओं के भी बहुत-से लेख वहाँ से प्राप्त हुए हैं। श्रीक्षेत्र के राजाओं के नाम भी भारतीय थे। बुद्ध की मूर्ति के आधार-स्थान पर उत्कीर्ण सातवीं सदी का एक लेख श्रीक्षेत्र में मिला है, जिसमें राजा जयचन्द्रवर्मा का उल्लेख है। उससे पहले हरिविक्रम, सिंहविक्रम और सूर्यविक्रम नाम के राजा श्रीक्षेत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो चुके थे।

संकिस्सा और श्रीक्षेत्र के समान अराकान में भी एक भारतीय राजवंश का शासन था। अराकान की पुरानी राजधानियां रामावती और धन्यवती थीं। पर बाद में वहाँ के चन्द्र राजवंश ने वैशाली नगर को अपनी राजधानी बनाया। यह वंश श्रीधर्मराजानुजवंश भी कहाता था। इसके राजाओं के नाम बालचन्द्र, देवचन्द्र-धर्मचन्द्र आदि थे, और ६०० ईस्वी से १००० ईस्वी तक का इस राजवंश का इतिवृत्त प्राप्य भी है। राजा धर्मचन्द्र और वीरचन्द्र के तो सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। वैशाली नगरी अब ध्वंस हो चुकी है, पर उसके भग्नावशेष म्रोहोङ् के उत्तर-पश्चिम में आठ मील दूर अब भी विद्यमान हैं। इस स्थान को आजकल वेथली कहते हैं, जो वैशाली

का ही अपभ्रंश है।

जिन भारतीयों ने उत्तरी बरमा में संकिस्सा नगरी बसायी थी, सम्भवतः उन्होंने ही उत्तर तथा पूर्व की ओर भी प्रसार किया था। दक्षिणी चीन के युन्नान प्रान्त की सीमा बरमा के साथ लगती है। वहाँ भारतीयों का एक उपनिवेश था, जिसका नाम गान्धार था। इसी के एक भाग को विदेह राज्य भी कहा जाता था।

भारतीयों के प्रवेश से पूर्व बरमा के विविध प्रदेशों में मों तथा प्यू जातियों का निवास था। जब भारतीय उपनिवेशक इन जातियों द्वारा आबाद प्रदेशों में बस गये और उन्होंने वहाँ अपने राज्य स्थापित कर लिए, तो इन जातियों ने भी भारतीयों के धर्म तथा संस्कृति को अपना लिया। बरमी जाति इस देश में बाद में आयी थी। भाषा विज्ञान द्वारा ज्ञात होता है, कि बरमी और तिब्बती भाषाओं में उसी ढंग से साम्य है, जैसे कि ईरानी और भारतीय आर्य भाषाओं में है। सम्भवतः बरमी जाति का निवास पहले तिब्बत के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश में था। पर जब सातवीं सदी में स्रोङ्‌गचन-गस्म्-पो के नेतृत्व में तिब्बत का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ और इस शक्तिशाली राजा ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए सब ओर आक्रमण शुरू किये, तो दक्षिणी सीमान्त पर निवास करने वाली बरमी जाति को और दक्षिण की ओर ढकेल दिया गया और धीरे-धीरे वह सम्पूर्ण उत्तरी बरमा पर छा गई। वहाँ इस जाति ने अपना राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी पगान थी। बरमा के भारतीय उपनिवेशों के सम्पर्क में आकर बरमी लोगों ने भी भारत के बौद्ध धर्म को अपना लिया, और वह भी भारतीय संस्कृति के रंग में रंग गई।

(२) बरमा में बौद्ध धर्म का प्रचार

प्राचीन काल में बरमा में पौराणिक हिन्दू धर्मों का भी प्रचार रह चुका है, इसके संकेत केवल पुरातत्त्व-सम्बन्धी उपनिवेशों से मिलते हैं। वर्तमान समय में वहाँ के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और इस भारतीय धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रभाव भी उन पर विद्यमान है।

महावंश में उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार राजा अशोक के समय (तीसरी सदी ईस्वी पूर्व) में सोण और उत्तर नामक स्थविर सुवर्णभूमि में धर्मप्रचार के लिये गये थे, यह पिछले एक अध्याय में लिखा जा चुका है। वहाँ एक राक्षसी थी, जो समुद्र से निकलकर राजमहल में उत्पन्न होने वाले बच्चों को खा जाती थी। जब सोण और उत्तर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी राजमहल में एक बच्चा पैदा हुआ। स्थविरों को देखकर लोगों ने समझा, ये भी राक्षसी के साथी हैं। वे शस्त्र लेकर उन्हें मारने के लिये आगे बढ़े। इस पर स्थविरों ने उनसे कहा—'हम शीलवन्त भिक्षु हैं, राक्षसी के साथी नहीं हैं। उसी समय वह राक्षसी समुद्र से बाहर निकली। उसे देखकर लोगों ने बड़ा कोलाहल किया। स्थविरों ने अपने योगबल से दुगने भयंकर राक्षस उत्पन्न करके राक्षसी को चारों ओर से घेर लिया। राक्षसी ने समझा, यह देश इन्हें मिल गया है, अतः वह डर कर भाग गई। चारों ओर से इस देश की रक्षा की व्यवस्था करके स्थविरों ने उस

समागम में ब्रह्मजाल सुत्त का उपदेश दिया। उसे सुन बहुत-से व्यक्तियों ने धर्म और शील को ग्रहण किया। साठ हजार लोगों के धर्मचक्षु खुल गए। साढ़े तीन हजार कुमारों और डेढ़ हजार कुमारियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय से राजकुल में उत्पन्न होने वाले वालकों का नाम स्थविर सोण और उत्तर के नाम पर 'सोणुत्तर' रखा जाने लगा (महावंश १२।४४-५४)।

राजा अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) की अध्यक्षता में जिन अनेक प्रचारक मण्डलों के विविध देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भेजे जाने का वृत्तान्त महावंश में लिखा है, पहले उसकी सत्यता में सन्देह किया जाता था। पर साञ्ची और उसके समीप सोनरिया तथा अधरा के स्तूपों में दूसरी-तीसरी सदी ईस्वी पूर्व की लिपि में अंकित कितने ही अस्थिकरंड मिले हैं, जिनमें उपगुप्त द्वारा भेजे गये प्रचारकमण्डलों के कितने ही सदस्यों के नाम हैं। महावंश के वृत्तान्त के अनुसार स्थविर मज्झिम को हिमवन्त देश में प्रचार के लिए भेजा गया था। सोनरिया के स्तूप में 'सपुरिसस मझिमस कोड्डिनिपुतस' (कोण्डिनीपुत्र सत्पुरुष मज्झिम का) के साथ ही 'सपुरिसस कोटिपुतस कसपगोतस सवहेमवतचरियस' (सारे हिमवन्त के आचार्य सत्पुरुष काश्यपगोत्र कोटिपुत्र का) भी आया है। ये नाम महावंश की कथा की सचाई की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त हैं।

स्थविर उत्तर और सोण ने सुवर्णभूमि के किस प्रदेश में जाकर वहां के हजारों निवासियों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया, यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं है। पर सुवर्णभूमि का पश्चिमी अपरान्त वरमा ही था, और यह कल्पना करना असंगत नहीं होगा कि अशोक के समय में सुवर्णभूमि के इसी प्रदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया था। सोण और उत्तर द्वारा वहां धर्मप्रचार के जिस कार्य का प्रारम्भ किया गया था, वह उनके बाद भी जारी रहा। आन्ध्र प्रदेश में श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोण्ड) से दूसरी-तीसरी सदी के बहुत-से शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें से एक इक्ष्वाकुवंशीय श्रीवीरपुरिसदत्त माढ़रिपुत्र का है। इसमें तंवपन्न (ताम्रपर्णी) के थेरवादी भिक्षुओं के लिए एक विहार बनवाने का उल्लेख है, और यह कहा गया है, कि इन भिक्षुओं ने "काश्मीर-गान्धार-चीन-चिलात-तोसली-अवरंत-वंग-वनवासी-यवन-दमिल-पलूरा-तंवपन्नि" को धर्म में दीक्षित किया था। इस लेख में 'चिलात' शब्द से सम्भवतः किरात अभिप्रेत है। ये किरात सुवर्णद्वीप के क्षेत्र के निवासी थे, यह पिछले एक अध्याय में रामायण के एक श्लोक (आममीनाशनाश्चापि किरात द्वीपवासिनः) के आधार पर लिखा जा चुका है। श्रीपर्वत के शिलालेख में जिस 'चिलात' में ताम्रपर्णी के भिक्षुओं द्वारा धर्मप्रचार का उल्लेख है, वह सुवर्णभूमि का वही प्रदेश प्रतीत होता है जहां कि किरात लोगों का निवास था, और ये किरात वरमा क्षेत्र के मूल निवासी थे।

पाँचवीं सदी से वरमा में भी ऐसी पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री प्राप्त होने लग जाती है, जो इस देश की धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालती है। प्यू जाति द्वारा आवाद प्रदेश के पुराने भारतीय राज्य की राजधानी श्रीक्षेत्र के भग्नावशेष आधुनिक प्रोम से पाँच मील दक्षिण में ह्मावजा नामक स्थान पर पाये गए

हैं। ह्मावजा के समीप मौङ्-गन से दो सुवर्णपत्र अभिलेख मिले है, जिन पर दक्षिणी भारत की चौथी पांचवीं सदी की कदम्ब लिपि में पालि भाषा के निम्नलिखित बुद्ध वचन उत्कीर्ण हैं—

"ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ति।
चत्वारो इद्धिपादा चत्वारो सम्मप धाना...।"

एक पत्र पर उपरिलिखित वचन हैं, और दूसरे पत्र पर उत्कीर्ण वचन इस प्रकार हैं—

"ये धम्मा हेतुप्पभवा (ते) सं हेतु तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ति।
इति पि सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो...।"

सुवर्णपत्रों के ये अभिलेख सिंहल (लंका) के पालि त्रिपिटक के हैं, जिससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि वरमा में भी वौद्ध धर्म के उसी सम्प्रदाय का पांचवीं सदी में प्रचार था, जो सिंहल तथा दक्षिणी भारत के श्रीपर्वत आदि मे विद्यमान था। ह्मावजा से शिलालेखों के खण्ड भी मिले हैं, जो पालि भाषा में हैं। १९२६ ई० में तो वहाँ से एक ऐसी पोथी भी उपलब्ध हो गई थी जो वीस सुवर्णपत्रों पर लिखी हुई है। यह भी पालि भाषा में है।

प्यू जाति के प्रदेश के साथ ही दक्षिणी वरमा में तलैङ् जाति का निवास था। वर्तमान समय में इस प्रदेश के वहुसंख्यक निवासी वरमी जाति के हैं, पर तलैङ् जाति के लोगों की अब तक भी वहाँ सत्ता है। तलैङ् जाति के क्षेत्र में भी भारतीयों ने अपनी वस्तियां वसायी थीं, और वहाँ की मुख्य नगरियां सुधर्मावती (थातोन) और हंसावती (पेगू) थीं। पांचवीं सदी तक इस प्रदेश में भी वौद्ध धर्म का प्रचार हो गया था, और थातोन वौद्धों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र वन गया था। पर वौद्ध धर्म के साथ-साथ इस प्रदेश में पौराणिक हिन्दू धर्म का भी प्रचार था, और अनेक ऐसे अवसर भी आते रहते थे, जबकि इन धर्मों में विरोध और विद्वेष की अग्नि भड़क उठती थी। वरमा की पुरानी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार ग्यारहवीं सदी के मध्य भाग में पेगू का राजा तिस्स (१०४३-५७) था, जो पौराणिक हिन्दू धर्म का अनुयायी था और वौद्धों से विद्वेष रखता था। उसने वुद्ध की मूर्तियों को खाइयों और खड्डों में फेंकवा दिया था। पेगू की एक वणिक् कन्या भद्रादेवी वुद्ध की भक्त थी। एक दिन जब वह स्नान करने के लिए सरोवर पर गई तो वहाँ उसे वुद्ध की एक धातुनिर्मित मूर्ति मिल गई। राजा के आदेश को जानते हुए भी वह मूर्ति को अपने साथ ले गई, और उसे मन्दिर में प्रतिष्ठापित किया। राजा तिस्स को जब यह मालूम हुआ, तो उसे वहुत क्रोध आया। पर भद्रादेवी की अपने विश्वास पर दृढ़ता से वह प्रभावित हुआ। और उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसने उससे विवाह भी कर लिया। भद्रादेवी के प्रभाव से तिस्स ने भी वौद्धधर्म को स्वीकार किया। प्यू और तलैङ् जातियों के प्राचीन राज्यों का इतिहास इस समय उपलब्ध नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इनके प्रदेशों में भारतीयों ने अपने जो उपनिवेश वसाये थे, उनके कारण तथा भारतीय प्रचारकों के उपदेशों को श्रवण कर इनमें

बौद्ध तथा पौराणिक हिन्दू धर्म का भली-भांति प्रचार हो गया, और इन्होंने भारत की संस्कृति तथा भाषाओं को भी अपना लिया।

सातवीं सदी में बरमी जाति ने उत्तर की ओर से बरमा में प्रवेश किया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। धीरे-धीरे यह जाति उत्तरी बरमा पर छा गई। उसकी राजधानी अरिमर्दनपुर (पगान) थी, और ग्यारहवीं सदी में उसका राजा अनुरुद्ध (अनवरहत) था। बरमी जाति के लोग भी इस समय तक बौद्ध धर्म को अपना चुके थे। पर उनमें बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का प्रचार हुआ था, और यह महायान भी वज्रयान में मिश्रित था। वज्रयान में वे सब तत्त्व विद्यमान थे, जो पौराणिक हिन्दू धर्म के वाम मार्ग सम्प्रदाय में थे। तन्त्र-मन्त्र में वज्रयान विश्वास रखता था, और बरमी लोगों में प्रचलित बौद्ध अनुष्ठानों तथा पूजा-विधि में भी तान्त्रिक क्रियाओं का प्राधान्य हो गया था। हिन्दू शिन् नामक एक तलैङ् भिक्षु ने इस दशा में सुधार किया, और पगान के राजा अनुरुद्ध को वज्रयान मिश्रित महायान सम्प्रदाय को त्याग कर हीनयान को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने में सफलता प्राप्त की। शिन् अर्हन् हीनयान को स्थविरवाद संप्रदाय के अनुयायी थे। सिंहल तथा दक्षिणापथ में भी इसी सम्प्रदाय का प्रचार था। प्यू, तलैङ् और मों लोगों ने भी इसी सम्प्रदाय को अपनाया हुआ था। पर उत्तर की ओर से बरमा में प्रविष्ट हुई बरमी जाति के लोगों में पहले महायान सम्प्रदाय का प्रचार था। इसे किन प्रचारकों ने महायान का अनुयायी बनाया, यह ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, यह प्रचारक स्थलमार्ग द्वारा उत्तरी भारत से बरमा गये थे, क्योंकि महायान का प्रचार प्रधानतया इसी क्षेत्र में था। बरमा के इतिहास में राजा अनुरुद्ध का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उसके समय में वहां हीनयान का बहुत उत्कर्ष हुआ, और बौद्ध धर्म की जिस उन्नति का सूत्रपात हुआ, वह अब तक भी जारी है। बरमा में बौद्ध धर्म का प्रधान स्थान है, और उसके माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रभाव वहां विद्यमान है। वहां के बौद्ध पालि भाषा के त्रिपिटक का अध्ययन करते हैं, जो भारत की ही भाषा है।

(३) बरमा के प्राचीन भारतीय राज्य

बरमा में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना किस प्रकार हुई, इस पर इसी अध्याय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। वर्तमान समय में जिस जाति का इस देश में प्रधान रूप से निवास है, वह ब्रम्म या ब्रह्म हैं। उसी से इस देश का नाम ब्रह्मा पड़ा, जो बिगड़ कर अंग्रेजी में बरमा हो गया। पर ब्रम्म लोगों से पहले बरमा में मों और प्यू जातियों का निवास था, जिन्होंने भारतीय उपनिवेशकों के सम्पर्क में आकर भारत के धर्म, भाषा तथा संस्कृति को अपना लिया था, और सांस्कृतिक दृष्टि से जो पूर्णतया भारतीय बन गई थीं। मों जाति तलैङ् भी कहाती है। मों जाति द्वारा आबाद प्रदेशों में जिन भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे, वे सम्भवतः तलिङ्गाना से वहां गए थे, और तैलङ्ग कहाते थे। भारत से गये तैलङ्गों ने मों लोगों के बीच में बसकर उन्हें अपनी संस्कृति के रंग में रंग दिया था, और उनके साथ एकरूपता स्थापित कर ली। इसीलिए

मों लोग भी तैलङ्ग या तलैङ् कहाने लगे थे। पर मों जाति द्वारा आबाद दक्षिणी बरमा के प्रदेशों में भारत से जा कर केवल तैलङ्ग लोगों ने ही अपने उपनिवेश नहीं बसाये थे, अपितु बंगाल से भी उपनिवेशक वहाँ गए थे। १४७६ ईस्वी के कल्याणी शिलालेखों के अनुसार अशोक के समय में बौद्ध प्रचारक जब बरमा गए थे, तो वहाँ की राजधानी गोलमत्तिका नगरी थी, और वह समुद्रतट पर स्थित थी। इसका गोलमत्तिका नगरी नाम इसलिए पड़ा था, क्योंकि मिट्टी से बने हुए इसके मकान गोल देश के मकानों के सदृश थे। सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि गौड़ (बंगाल) देश को ही इन अभिलेखों में 'गोल' कहा गया है। दक्षिणी बरमा के एक प्रदेश का नाम 'उत्कल' भी था। सम्भवतः, तलिङ्गाना और बंगाल के समान उत्कल (उड़ीसा) से भी कुछ उपनिवेशक बरमा गये थे, और मों लोगों के क्षेत्र में उन्होंने भी अपनी बस्तियाँ बसायी थीं। प्राचीन ग्रंथों तथा अभिलेखों में दक्षिणी बरमा की अन्य भी अनेक बस्तियों के नाम आए हैं, जिनमें रामावती, असिताञ्जननगर (रंगून के समीप), कुसिमनगर (बसीन) रामपुर (मौलमीन) और मुत्तिम मण्डल (मर्तबान) मुख्य हैं। ये सब भारतीय बस्तियाँ भी मों लोगों के क्षेत्र में ही थीं, और सभ्यता तथा संस्कृति में उन्नत भारतीयों के सम्पर्क से मों लोग भी भारतीय रंग में रंग गये थे। भारतीय रंग में रंगे हुए मों लोगों के विविध प्रदेशों की सामूहिक संज्ञा 'रमञ्ञदेश' थी। इस रमञ्ञदेश के विविध मों राज्यों के जो वृत्तांत पालि ग्रंथों में मिलते हैं, उन्हें यहाँ लिख सकना संभव नहीं है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इन राज्यों के राजाओं के नाम भारतीय थे और उन्होंने बौद्ध धर्म को अपनाया हुआ था। सातवीं सदी में मों लोगों का प्रमुख राज्य द्वारवती था। तो-ल-प-ती नाम से ह्यु एन्-त्सांग ने भी इस का उल्लेख किया है। द्वारवती की राजधानी लवपुरी (लोप्‌भुरी) थी। उसके खण्डहरों में मों लोगों के अनेक अभिलेख भी मिले हैं, जो एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। द्वारवती के अतिरिक्त मों जाति के अन्य भी अनेक राज्य थे, जिनके राजाओं द्वारा म्लेच्छों को पराजित किये जाने के वृत्तान्त बरमा के पालि साहित्य में विद्यमान हैं।

श्रीक्षेत्र—दक्षिणी बरमा के मों जाति द्वारा आबाद प्रदेश के उत्तर में प्यू जाति का निवास था। प्यू लोगों के प्रदेश में भी भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये थे, जिनके सम्पर्क में आकर प्यू जाति भी भारतीय रंग में रंग गई थी। प्यू लोगों के भारतीय राज्य की राजधानी श्रीक्षेत्र थी, जिसके खण्डहर म्हावजा नामक स्थान पर विद्यमान हैं। म्हावजा से प्यू लोगों के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, पर उनके आधार पर उनका क्रमबद्ध इतिहास जान सकना सम्भव नहीं है। पर इन अभिलेखों से यह भली-भांति प्रमाणित हो जाता है, कि प्यू लोगों की इस नगरी को भारतीय संस्कृति ने पूर्णरूप से प्रभावित किया हुआ था। म्हावजा (श्रीक्षेत्र) का एक अभिलेख बुद्ध की एक मूर्ति के आधार-स्थान पर उत्कीर्ण है। यह शुद्ध संस्कृत में है, और इसका समय सातवीं सदी के लगभग है। अभिलेख से सूचित होता है, कि राजा जयचन्द्रवर्मा ने अपने गुरु के कहने पर उस बुद्ध मूर्ति को इस प्रयोजन से प्रतिष्ठापित कराया था, ताकि राजा का अपने छोटे भाई हरिविक्रम से सौमनस्य बना रहे। म्हावजा

में प्राप्त कुछ लेख प्यू भाषा में भी हैं, जिनमें वहाँ के तीन राजाओं के नाम दिये गए हैं, हरिविक्रम, सिह (सिंह) विक्रम और सुरिय (सूर्य) विक्रम। एक स्तूप पर उत्कीर्ण लेख भी म्हावजा से मिला है, जिस पर श्रीप्रभुवर्मा और श्रीप्रभुदेवी नाम दिये गये हैं। सम्भवतः, ये भी वहां के राजा और रानी के नाम हैं, और इन्हीं द्वारा उस स्तूप का निर्माण करवाया गया था। ह्यु एन्-त्सांग ने श्रीक्षेत्र का उल्लेख शी-ली-चन्त-लो नाम से किया है, और अनेक चीनी ग्रन्थों में 'पिआओ' नाम की एक जाति का उल्लेख मिलता है जिसका निवास बरमा में था। प्यू जाति के लिए ही चीनी ग्रन्थों में पिआओ शब्द का प्रयोग किया है, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। प्यू लोगों के राज्य का चीन के साथ सम्बन्ध था, और ८०२ ईस्वी में वहां राजा ने अपने पुत्र सुनन्दन के नेतृत्व में एक दूतमण्डल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इसके बाद ८०७ ईस्वी में भी एक दूतमण्डल प्यू राज्य (श्रीक्षेत्र) से चीन भेजा गया। चीनी लोगों को इन्हीं दूतमण्डलों द्वारा प्यू राज्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई थी। चीनी विवरणों के अनुसार पूर्व से पश्चिम की ओर इस राज्य की लम्बाई ५०० मील थी, और उत्तर से दक्षिण की ओर ७०० मील। १८ राज्य इसकी अधीनता स्वीकार करते थे, और ८ या ९ राज्य व दुर्ग इसमें विद्यमान थे। चीन के तांग वंश के इतिहास में इस राज्य के सम्बन्ध में लिखा है, कि इसका राजा 'महाराजा' कहाता है, और मुख्यमन्त्री के लिए 'महासेन' प्रयुक्त किया जाता है। राजधानी एक दुर्ग के रूप में है, जिसके प्राचीर की परिधि २७ मील है प्राचीर के चारों ओर परिखा है, जिसके किनारे ईंटें लगायी गई हैं। दुर्ग में निवास करने वाले परिवारों की संख्या हजारों में है। वहाँ सौ से ऊपर बौद्ध विहार हैं, जिनके कमरे सोने चांदी से विभूषित हैं। लोग प्राणियों की हिंसा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जब बालक और बालिकाएँ सात वर्ष की आयु के हो जाते हैं, तो वे सिर मुंडा कर विहारों में रहने लगते हैं। यदि वे भिक्षुव्रत ग्रहण न कर लें, तो बीस साल की आयु हो जाने पर वे सांसारिक जीवन बिताने के लिए अपने-अपने घरों को वापस चले जाते हैं।

श्रीक्षेत्र का यह प्यू राज्य नौवीं सदी के अन्त तक अच्छी समृद्ध दशा में कायम रहा। पर बाद में इसका ह्रास शुरू हो गया। दक्षिण की ओर से इस पर मों लोगों के आक्रमण होने लगे, और उत्तर की ओर से म्रम्म लोगों के। सम्भवतः, दसवीं सदी में ही दक्षिणी बरमा के मों लोगों ने श्रीक्षेत्र पर अधिकार कर प्यू लोगों की शक्ति का अन्त कर दिया था।

अराकान के वैशाली और ताम्रपट्टन राज्य—बरमा का जो पूर्वी प्रदेश बंगाल की खाड़ी से लगा हुआ है, वह अराकान कहाता है। लम्बाई में यह ३५० मील है। अराकान की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वाराणसी के एक राजकुमार ने वहाँ आकर अपना राज्य स्थापित किया था, जिसकी राजधानी रामावती नामक नगरी थी। यह अराकान का पहला राजवंश था। वहाँ दूसरे राजवंश की स्थापना एक ब्राह्मण द्वारा की गई, जिसने प्रथम राजवंश की राजकुमारी के साथ विवाह कर रामावती के राज-सिंहासन को प्राप्त किया था। इसके बाद दो अन्य राजवंशों ने अराकान में शासन

किया, और उन्होंने धान्यवती नामक नगरी को अपनी राजधानी बनाया। १४६ ईस्वी में राजा चन्द्रसूर्य वहाँ के राजसिंहासन पर विराजमान था। इस राजा ने 'महामुनि' बुद्ध की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित करायी थी, जिसे चिरकाल तक अराकान की अधिष्ठात्री देवता माना जाता रहा। अराकान के इन प्राचीनतम राजवंशों का प्रामाणिक इतिहास ज्ञात नहीं है। पर बाद के काल में जिन राजाओं ने अराकान में राज्य किया, उनका वृत्तान्त अधिक प्रामाणिक रूप में जाना जा सका है। इनका वृत्तान्त न केवल पुराने ग्रन्थों से ही ज्ञात होता है, अपितु इनके कुछ अभिलेख तथा सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। इन राजाओं के नामों का अन्त 'चन्द्र' से होता है, और इनकी राजधानी वेसली या वैशाली थी, जिसके भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं। अराकान के म्रोहोंग नामक स्थान पर मन्दिर के एक स्तम्भ पर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें श्रीधर्मराजानुज वंश के १६ राजाओं के नाम उनके शासन वर्षों के साथ दिये गये हैं। इन १६ राजाओं में अन्तिम आनन्दचन्द्र हैं, जिसके शासनकाल में यह अभिलेख उत्कीर्ण कराया गया था। अभिलेख में आनन्दचन्द्र के विषय में यह कहा गया है, कि उसने बहुत-से बौद्ध विहारों तथा ताम्र की सुन्दर मूर्तियों का निर्माण कराया था, और आर्यसंघ के भिक्षुओं के लिये बहुत-से भवन भी बनवाये थे। वह प्रतिदिन भिक्षुओं को वस्त्र का दान दिया करता था, और ५० ब्राह्मणों को भी उसने भूमि दान में दी थी। म्रोहोंग के इस स्तम्भ लेख में जिन राजाओं के नाम आये हैं, उनमें से प्रीतिचन्द्र, नीतिचन्द्र और धर्मविजय के सिक्के भी मिले हैं। अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं है, कि ये सिक्के श्रीधर्मराजानुजवंश के इन राजाओं के ही हैं। पर अराकान से बहुत-से पुराने सिक्के ऐसे राजाओं के भी प्राप्त हुए हैं, जिनके नाम म्रोहोंग के स्तम्भ-लेख में नहीं हैं। ये सिक्के वीरचन्द्र, धर्मचन्द्र आदि के हैं। इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि अराकान में दो राजवंश पृथक्-पृथक् प्रदेशों में राज्य कर रहे थे। उनमें से एक की राजधानी वैशाली थी, और दूसरे की ताम्रपट्टन। म्रोहोंग के स्तम्भलेख में श्रीधर्मराजानुज वंश को ताम्रपट्टन का शासक कहा गया है। सम्भवतः, वैशाली और ताम्रपट्टन के दोनों राजवंशों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था, या वे एक ही राजवंश की दो शाखाएँ थीं। इनके शासनकाल में अराकान भारतीय संस्कृति का केन्द्र था, वहाँ संस्कृति का प्रचार था और गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि लिखने के लिये प्रयुक्त की जाती थी। वैशाली के खण्डहरों में कांस्य का एक घण्टा मिला है, जो सातवीं सदी का है। इस पर संस्कृत का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। वहीं संस्कृत का एक अन्य अभिलेख भी प्राप्त हुआ है, जो गुप्तलिपि में लिखित है और सम्भवतः आठवीं सदी का है। म्रोहोंग के स्तम्भ लेख को उत्कीर्ण कराने वाला राजा आनन्दचन्द्र बौद्ध धर्म का अनुयायी था, पर ब्राह्मणों को भी उसने भूमि दान में दी थी। अराकान से 'चन्द्र' नाम वाले राजाओं के जो सिक्के मिले हैं, उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन पर शैव और वैष्णव धर्मों के चिह्न अंकित हैं। इससे यह संकेत मिलता है, कि वहाँ बौद्ध धर्म के अतिरिक्त पौराणिक हिन्दू धर्म का भी प्रचार था, या वहाँ के बौद्ध राजा शैव और वैष्णव धर्मों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे। अराकान के इन भारतीय राज्यों की पृथक्ता व स्वतन्त्रता का अन्त तब हुआ,

जबकि उत्तरी बरमा के अरिमर्दनपुर के प्रतापी राजा अनिरुद्ध (ग्यारहवीं सदी) ने अपने राज्य का विस्तार करते हुए उत्तरी अराकान की विजय कर ली।

अरिमर्दनपुर—म्रम्म या ब्रम्म जाति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसका निवास उत्तरी बरमा में था, और यह उन प्रदेशों में बसी हुई थी जो प्यू राज्य के उत्तर में स्थित थे। जिस समय मों जाति के आक्रमणों के कारण प्यू राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गई, म्रम्म लोगों को अपने उत्कर्ष का अवसर हाथ लग गया, और उन्होंने दक्षिण की ओर उन प्रदेशों को अधिगत करना प्रारम्भ कर दिया जो पहले प्यू राज्य के अन्तर्गत थे। म्रम्म लोगों के इस अभियान का प्रारम्भ नौवीं सदी में ही हो गया था। बरमा के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार जब मों लोगों ने प्यू राज्य की पुरानी राजधानी श्रीक्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया था, तो प्यू लोगों ने उत्तर दिशा में आगे बढ़कर इरावदी नदी के तट पर एक नई नगरी की स्थापना की थी, जिसका नाम पगान था। पर प्यू लोग वहां भी शान्ति के साथ नहीं रह सके। म्रम्म जाति ने इस नगरी को जीत लिया, और इसे केन्द्र बनाकर अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। पगान का प्राचीन नाम अरिमर्दनपुर था, और वह जिस राज्य की राजधानी थी, उसे ताम्रदीप कहते थे। अरिमर्दनपुर पर अधिकार स्थापित कर म्रम्म जाति के जिन राजाओं ने वहां शासन किया, उनके नाम तथा उनसे सम्बद्ध अनेक कथाएं प्राचीन बरमी इतिवृत्ति में विद्यमान हैं। पर इतिहास की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं है। जिस समय म्रम्म जाति ने अरिमर्दनपुर में अपना राज्य स्थापित किया, सभ्यता की दृष्टि से वह बहुत पिछड़ी हुई थी। न उसका कोई साहित्य था, और न लिपि। प्यू और मों लोग उसकी तुलना में बहुत अधिक सभ्य थे। अतः जब म्रम्म लोग इन सभ्य जातियों के सम्पर्क में आये, तो यह स्वाभाविक था कि वे प्यू तथा मों संस्कृति को अपना लें। क्योंकि इन जातियों की संस्कृति भारतीय थी, अतः म्रम्म लोग उसके सम्पर्क द्वारा भारतीय संस्कृति के रंग में रंगने लग गये।

अरिमर्दनपुर के जिस म्रम्म या बरमी राजा के विषय में हमें प्रामाणिक रूप से परिचय प्राप्त है, उसका नाम अनिरुद्ध था। वह १०४४ ईस्वी में अरिमर्दनपुर (पगान) के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त करने का साधन केवल अनुश्रुति व साहित्य ही नहीं है, अपितु उनके अनेक अभिलेख आदि भी उपलब्ध हैं। अनिरुद्ध एक महान् विजेता था, और उसने पड़ोस के बहुत-से राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया। दक्षिणी बरमा में मों जाति के जो अनेक राज्य थे, उन्हें उसने आक्रान्त किया और परास्त कर अपने अधीन किया। श्रीक्षेत्र भी उसके कोप से नहीं बच सका। यद्यपि रणक्षेत्र में अनिरुद्ध ने प्यू और मों लोगों को परास्त कर दिया था, पर संस्कृति के क्षेत्र में वह उनसे पराभूत हो गया। उसने उनके धर्म, साहित्य, भाषा और लिपि को अपना लिया। यही कारण है, कि प्यू तथा मों लोगों की बरमा में पृथक् सत्ता का प्रायः लोप हो गया, और वे उस म्रम्म, ब्रह्न या बरमी जाति के अंग बन गये जिसने कि उनकी संस्कृति को पूर्णरूप में स्वीकार कर लिया था। अनिरुद्ध ने अराकान पर

भी आक्रमण किया, और वहाँ के पुराने भारतीय राज्यों को भी अपने अधीन किया। पूर्व दिशा में शान राज्य भी उस द्वारा जीत लिये गये। इस प्रकार यह म्रम्म राजा प्रायः सम्पूर्ण वरमा पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हुआ। अनिरुद्ध केवल विजेता ही नहीं था, अपने राज्य की समृद्धि के लिये भी उसने अनेक कार्य किये। भूमि की सिंचाई के लिये उसने अनेक नहरें निकलवाईं, और खेती की उन्नति के लिये अनेक अन्य उपाय किये। उसका विवाह वैशाली की राजकुमारी पञ्चकल्याणी के साथ हुआ था। सम्भवतः, वह अराकान की वैशाली की राजकुमारी न होकर उत्तरी बिहार के वैशाली के राजकुल की कन्या थी।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण कार्य राजा अनिरुद्ध द्वारा किये गये, संक्षेप से उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उत्तरी वरमा में तन्त्रप्रधान महायान सम्प्रदाय का प्रचार था, जिसके पुरोहित आरी कहाते थे। वे लम्बे बाल तथा लम्बी दाढ़ी रखा करते थे, और काले कपड़े पहनकर तान्त्रिक साधना किया करते थे। पगान के दक्षिण में थमहती गाँव उनका प्रधान केन्द्र था। आरी आचार्यों की संख्या तीस थी, पर उनके शिष्य ६०,००० के लगभग थे। जनता उन्हें मानती थी, और उन्हीं की शिक्षा के अनुसार धर्म का पालन करती थी। शिन् अर्हन् नाम के एक 'धर्मदर्शी' ब्राह्मण स्थविर ने तन्त्रप्रधान महायान के स्थान पर विशुद्ध बौद्ध धर्म के प्रचार का उत्तरी वरमा में प्रयत्न किया। राजा अनिरुद्ध उनके ज्ञान से प्रभावित हो गया, और उसने वज्रयान से संयुक्त महायान का परित्याग कर स्थविरवाद (हीनयान) को स्वीकार कर लिया। पर उत्तरी वरमा में बौद्ध धर्म के मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे। राजा के पूछने पर शिन् अर्हन् ने बताया, कि मों जाति के थातोन राज्य में बौद्ध त्रिपिटक के मूल ग्रन्थ विद्यमान हैं, और उन्हें वहां से प्राप्त किया जा सकता है। अनिरुद्ध ने अपने एक चतुर मन्त्री को भेंट-उपहार देकर थातोन के राजा मनुहा (मनोहर) के पास भेजा, और उससे धर्मग्रन्थ भेजने के लिये अनुरोध किया। मनोहर ने इसका उत्तर देते हुए कहा—तुम्हारे जैसे मिथ्यादृष्टि वाले व्यक्ति के पास त्रिपटक नहीं भेजे जा सकते। सिंहराज केसरी की वसा (चरबी) सुवर्णपात्र में ही रखी जा सकती है, मिट्टी के पात्र में नहीं (केसरसिंह राजस्स वसा सुवण्णपातियं येव न मत्तिभाजने)। यह सुनकर अनिरुद्ध को बहुत क्रोध आया, और उसने एक बड़ी सेना के साथ थातोन पर आक्रमण कर दिया। राजा मनोहर को सपरिवार पगान ले आया गया। साथ ही, त्रिपिटक तथा अनेक योग्य बौद्ध विद्वान् भी थातोन से पगान ले आये गये। जिन हाथियों पर त्रिपिटक तथा अन्य धर्मग्रन्थों को पगान लाया गया था, उनकी संख्या तीस थी। शिन् अर्हन् की विद्वत्ता तथा वाग्मिता और राजा अनिरुद्ध के उत्साह के कारण सर्वास्तिवाद का उत्तरी वरमा में भी प्रचार हो गया, और हीनयान के इस सम्प्रदाय के केन्द्र के रूप में पगान (अरिमर्दनपुर) की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई।

अनिरुद्ध बौद्ध धर्म का प्रबल समर्थक एवं संरक्षक था। इसीलिए दक्षिणी भारत के चोल राजा से त्रस्त हुए सिंहल देश के राजा विजयबाहु (१०६५-११२०) ने उससे सहायता की याचना की। चोलराज से सिंहल की रक्षा करने के लिये अनिरुद्ध को अपनी

सेना भेजने की आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि विजयवाहु ने उसे पहले ही परास्त कर दिया था। पर चोल आक्रमणों के कारण सिहल में बौद्ध धर्म को जो क्षति पहुँची थी, उसकी पूर्ति करने के लिए अनिरुद्ध ने वहुत-से भिक्षु तथा धर्मग्रन्थ वहाँ भेजे। वदले में उसने भगवान् बुद्ध की दन्त-धातु के लिए इच्छा प्रगट की। सिंहल के राजा ने इसे स्वीकार कर लिया, और अनिरुद्ध ने इस दन्त-धातु पर स्वेजिगोन का महास्तूप वनवाना शुरू किया, जिसे वाद में उसके पुत्र केन्जित्था द्वारा पूरा किया गया।

१०७७ ईस्वी में राजा अनिरुद्ध की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र सवलू (शल्य) अरिमर्दनपुर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पर वह अयोग्य तथा निर्बल था। मों लोगों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और वे आक्रमण करते हुए पगान तक पहुँच गये। राजा उन्हीं के हाथों मारा गया (१०८४)। मों आक्रमण के समय अनिरुद्ध के छोटे पुत्र केन्जित्था ने उत्तर की ओर भागकर अपनी जान वचायी थी। अवसर पाते ही उसने पगान पर आक्रमण कर दिया, और मों सेना को परास्त कर वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया। राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर उसने श्रीत्रिभुवनादित्य महाराज की उपाधि धारण की। वरमा के इतिहास में केन्जित्था का स्थान अत्यन्त महत्व का है। उसने न केवल स्वेजिगोन के महास्तूप को पूरा कराया था, अपितु कितने ही नये स्तूपों तथा चैत्यों का भी निर्माण कराया था। उस द्वारा निर्मित आनन्दविहार वहुत प्रसिद्ध है। वरमा में भारतीय वास्तुशिल्प का वह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। केन्जित्था का भारत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। उसका विवाह वैशाली (उत्तरी विहार) की राजकुमारी के साथ हुआ था। वहुत-से वौद्ध और वैष्णव विद्वान् उसके समय में भारत से वरमा गये थे, और केन्जित्था ने उनका समुचित सम्मान किया था। कहते हैं, कि तीन मास तक निरन्तर उसने भारत के आठ भिक्षुओं को अपने हाथ से भोजन कराया था, और उनसे भारत के विहारों तथा मन्दिरों के विषय में सव ज्ञानकारी प्राप्त कर ली थी। इसी जानकारी से उसने आनन्द विहार का नक्शा तैयार कराया था, और यह प्रयत्न किया था कि यह विहार पूर्णतया भारत के विहारों के सदृश हो। जव उसे ज्ञात हुआ, कि वोधगया का मन्दिर जीर्ण हो गया है, तो उसने उसकी मरम्मत की भी व्यवस्था की। वरमी ग्रन्थों में लिखा है, कि राजा केन्जित्था ने नानाविध रत्नों को एकत्र कर उन्हें गया के पवित्र विहार के पुनःनिर्माण के लिये भेजा था, और उसे अव पहले से अच्छा वनवा दिया गया था।

१११२ ईस्वी में केन्जित्था की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी राजा अलौङ्-सित्थू (१११२-११६७) ने अपने एक सामन्त (अराकान के राजा) द्वारा वोधगया मन्दिर की मरम्मत के काम को पूरा कराया। अलौङ्-सित्थू के वाद अरिमर्दनपुर (पगान) के राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया, विविध राजकुमारों में राज्य के लिये झगड़े शुरू हो गये, और अन्तःपुर के षड्यन्त्रों के कारण शासन का सुचारु रूप से सञ्चालन कर सकना सम्भव नहीं रहा। इन राजाओं का वृत्तान्त लिखने से कोई लाभ नहीं है। तेरहवीं सदी में जव मंगोल सम्राट कुवले खाँ दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर हुआ, उसका ध्यान वरमा की ओर भी गया। १२७१ में कुवलेखाँ

ने अपने दूत पगान भेजे, और उन्होंने वहां के राजा नरसिंहपति से मंगोल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। पर नरपतिसिंह इसके लिये तैयार नहीं हुआ। इस पर चीन के दक्षिणी प्रान्त युन्नान के शासक ने बरमा पर आक्रमण कर दिया, जिसके कारण नरपति को पगान छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। मंगोलों ने बरमा पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, और वहाँ के राजा से अधीनता स्वीकृत कराके ही वे संतुष्ट हो गये। पर नरसिंहपति के लिये अब शासन सम्भाल सकना कठिन हो गया। सर्वत्र उसके विरुद्ध विद्रोह होने लगे, और १२८७ ईस्वी में विद्रोहियों ने उसकी हत्या कर दी। इस पर कुबले खां की एक सेना ने फिर बरमा पर आक्रमण किया, और पगान पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार अरिमर्दनपुर के उस समृद्ध राज्य का अन्त हुआ, जिसकी स्थापना दो सदी पूर्व हुई थी। मंगोलों ने बरमापर स्थायी रूप से शासन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। पर उसके आक्रणम का यह परिणाम हुआ, कि बरमा में कोई शक्तिशाली राज्य नहीं रह गया। वहां अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये, जो निरन्तर आपस की लड़ाइयों में व्यापृत रहा करते थे। बरमा के इतिहास में अगली डेढ़ सदी का काल अन्धकार का युग है। बौद्ध धर्म वहां इस काल में कायम रहा, और धर्म के माध्यम से भारत के साथ भी उसका सम्बन्ध बना रहा। भारतीय संस्कृति की जो परम्परा वहाँ विद्यमान थी, वह नष्ट नहीं हुई, यद्यपि उसमें कुछ शिथिलता अवश्य आने लग गई। बरमी बौद्धों का सिंहल (श्रीलंका) के बौद्धों के साथ सम्बन्ध बढ़ता गया। इस समय भारत से बौद्ध धर्म का प्रायः लोप हो चुका था। अतः यदि भारत और बरमा के सांस्कृतिक सम्बन्ध में शिथिलता आने लगे, तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

(४) बरमा पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

मलाया, सुमात्रा, जावा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में इस्लाम का प्रचार हो जाने के कारण भारतीय धर्मों का लोप हो गया था। पर बरमा के निवासी इस समय भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। पालि भाषा का वहाँ अध्ययन-अध्यापन होता है, और वहां के लोग बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मन्तव्यों को मानते हुए उसी प्रकार से जीवन यापन करते हैं जैसे कि प्राचीन समय में भारतीय बौद्ध किया करते थे। पर पौराणिक हिन्दू धर्म का अब बरमा से लोप हो चुका है। किसी समय वहां शैव और वैष्णव धर्मों का भी प्रचार रह चुका है, यह पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेषों द्वारा प्रमाणित है।

सातवीं सदी के बाद भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और बाद में वह इस देश से प्रायः लुप्त ही हो गया। पर बरमा में न केवल वह प्रचलित ही रहा, अपितु उसके साहित्य तथा दर्शन में निरन्तर विकास भी होता रहा। बहुत-से पालि ग्रन्थ बरमा में लिखे गये, और वहां के स्थविर और विद्वान् बौद्ध दर्शन तथा पालि साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे। पालि भाषा उसी तरह से भारतीय भाषा है, जैसे कि संस्कृत है। बरमा में उसके साहित्य का कितना अधिक विकास हुआ था, इसका एक संकेत १४४२ ईस्वी के एक अभिलेख से मिलता

है, जिसे कि बरमा के एक शासनाधिकारी ने उत्कीर्ण कराया था। इस अभिलेख में उस शासनाधिकारी तथा उसकी पत्नी द्वारा बौद्ध संघ को दिये गये दान का वर्णन है। उसने उद्यान, खेत, दास आदि के अतिरिक्त बहुत-से ग्रन्थ भी संघ को प्रदान किए थे, जिनकी पूरी सूची अभिलेख में विद्यमान है। इस सूची में उल्लिखित ग्रन्थों की संख्या २९५ है। इनमें बहुसंख्यक ग्रंथ पालि के हैं, पर अनेक ग्रन्थ संस्कृत के भी हैं। पन्द्रहवीं सदी के मध्य भाग में बरमा में किस साहित्य का अध्ययन हुआ करता था, इस सूची द्वारा यह भली-भांति जाना जा सकता है। बौद्ध साहित्य के विकास की जो परम्परा भारत में अवरुद्ध हो गई थी, बरमा में कायम रही। बरमा के समान लंका (सिंहल) में भी स्थविरवाद का प्रचार था, अतः धार्मिक क्षेत्र में बरमा का लंका के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वहाँ के स्थविर व विद्वान् धर्म के मामलों में लंका के बौद्धों से प्रेरणा प्राप्त करने लगे। पर राजनीति और कानून सदृश विषयों में बरमा का प्रेरणास्रोत भारत ही रहा। वहाँ के धम्मसथ नाम के ग्रन्थों का सम्बन्ध कानून और लौकिक आचार-विचार के साथ है। ये ग्रन्थ पालि में हैं, और इन्हें वहाँ के कानून का आधार माना जाता है। इनकी रचना मनु, नारद और याज्ञवल्क्य आदि के हिन्दू धर्मशास्त्रों के आधार पर की गई थी। दक्षिणी बरमा के अन्यतम राजा वगरु ने तेरहवीं सदी के अन्तिम चरण में धम्मसथ का संकलन कराया था, जो तलैङ् भाषा में था। सोलहवीं सदी में बुद्धघोष ने उसे मनुसार नाम से पालि भाषा में अनूदित किया। इस धम्मसथ का मनुसार नाम होना ही यह सूचित करता है, कि मनुस्मृति या मानव संहिता के आधार पर इसकी रचना की गई थी। धम्मसथ वर्ग के जो अनेक अन्य ग्रन्थ सतरहवीं और अठारहवीं सदियों में बरमा में लिखे गये, उनके साथ भी मनु का नाम जुड़ा हुआ है। इसका कारण यही है, कि बरमा का कानून तथा विधान शास्त्र भारत के प्राचीन स्मृति ग्रन्थों पर आधारित था।

बरमा पर भारत का प्रभाव इतना अधिक रहा है, कि वहाँ के कितने ही प्रदेशों तथा नगरों के नाम भारतीय थे। जो भारतीय उपनिवेशक वहाँ गये, उन्होंने अपने नगरों तथा बस्तियों आदि के वे ही नाम रखे, जिनसे वे भारत में परिचित थे। इसीलिये बरमा में भी प्रदेशों के नाम अवन्ति, गान्धार, कम्बोज, अपरान्त और असिताञ्जन आदि रखे गये, और वाराणसी, चम्पानगर, कुसुमपुर, मिथिला, पुष्करावती, राजगृह, संकाश्य, वैशाली आदि नाम की नगरियां वहाँ बसायी गई। श्रीक्षेत्र, द्वारवती हंसावती आदि जिन नगरियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनके नाम भी भारत से ही लिये गये थे। बौद्ध धर्म के अनुयायी जो लोग भारत से जाकर बरमा में बसे, वे अपने मूलदेश के उन स्थानों को नहीं भूल सके जिनका भगवान् बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध था। उन्होंने अपने नये देश में अनेक स्थानों का सम्बन्ध बुद्ध से जोड़ दिया, ताकि उन्हें भी उसी प्रकार से पवित्र समझा जा सके, जैसे कि भारत में बोधगया, सारनाथ, कपिलवस्तु आदि पवित्र माने जाते थे। उन्होंने कल्पना की, कि बुद्ध बरमा भी गये थे और उनके जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनाएँ बरमा में घटी थीं। अपने नये देश के अनेक राज्यों के राजवंशों का सम्बन्ध भी उन्होंने शाक्यकुल के साथ जोड़ दिया, क्योंकि

बुद्ध का जन्म इसी कुल में हुआ था। राजा अशोक मौर्य का बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी राजा के समय में देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए महान् उद्योग हुआ था। इस दशा में बरमा के बौद्ध अशोक और उसके कुल को भी कैसे भूल सकते थे। उत्तरी बरमा में इरावदी नदी के तट पर एक प्रदेश को 'मौर्य' नाम भी दिया गया, और उन स्थानों को भी बसाया जाने लगा, जिन्हें कि अशोक के समय के बौद्ध प्रचारकों ने अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। बरमा में बसे हुए भारतीयों को अपने मूलदेश के प्रति इतनी अधिक ममता थी, कि उन्होंने बरमा में एक ऐसे नये भारत के निर्माण का प्रयत्न किया, जो असली भारत से मिलता-जुलता हो।

पगान (अरिमर्दनपुर) के राजाओं ने बरमा में जिन स्तूपों, विहारों और मन्दिरों आदि का निर्माण कराया था, वे भारतीय वस्तुशिल्प के अनुसार बनाये गए थे। राजा अनिरुद्ध द्वारा निर्मित स्वेजिगान का स्तूप एक विशाल ठोस महास्तूप है, जिसके चारों ओर देवताओं के तीस मन्दिर हैं। इन्हें महास्तूप की पूजा करता हुआ प्रदर्शित किया गया है। स्वेजिगान के महास्तूप तथा समीपवर्ती मन्दिरों का निर्माण भारतीय वास्तुशिल्प के अनुसार किया गया था। उस समय बौद्ध स्थविर व भिक्षु बड़ी संख्या में भारत से बरमा जाया करते थे, और बरमी भिक्षु भी तीर्थयात्रा आदि के लिए भारत आते रहते थे। बरमा की एक पुरानी कथा के अनुसार बरमा का एक महानाविक प्रतिवर्ष भारत जाया करता था, और वाराणसी से मूर्तियाँ खरीदकर उन्हें पेगू में बेच देता था। यह स्वाभाविक था, कि मूर्तियां बरमा की मूर्तिकला को प्रभावित करें। राजा केनजित्था ने जिस आनन्द विहार का निर्माण कराया था, वह पूर्णतया भारत के विहारों की अनुकृति है। इस विशाल विहार के प्रत्येक पार्श्व की लम्बाई १७५ फीट है, और इसके चारों ओर जो आंगन है वह ५६४ फीट लम्बा और इतना ही चौड़ा है। विहार के बीच में ८ फीट ऊँचे सिंहासन पर विशाल बुद्ध मूर्ति प्रतिष्ठापित है, जो ३१ फीट ऊँची है। विहार की पहिली परिक्रमा की दीवारों में ८० गवाक्ष हैं, जिनमें बुद्ध के जीवन के प्रारम्भ से बुद्धत्व प्राप्ति तक की घटनाएँ अंकित हैं। दीवारों और विहार की ढलानों पर कलई वाली मिट्टी की रूपावलियां बनायी गई हैं। दूसरे तल पर मिट्टी की चमकीली रूपावलियां हैं, जिनमें साढ़े पांच सौ जातक कथाएँ अंकित हैं। सारे मूर्ति-अंकनों की संख्या १४७२ हैं। इस विहार पर भारत का कितना प्रभाव है, यह फ्रेञ्च विद्वान् दुरोईजल् के इस कथन से स्पष्ट हो जाएगा—"इसमें कोई सन्देह नहीं, कि जिन वास्तुशिल्पियों ने आनन्द विहार का निर्माण किया था, वे भारतीय ही थे। शिखर से लेकर आधार तक इस विहार में जो कुछ भी है, सब भारतीय है। इसके गलियारों में जो प्रस्तर मूर्तियां हैं और इसकी दीवारों तथा ढलानों पर मिट्टी की जो रूपावलियां हैं, सब पर भारत की प्रतिभा तथा शिल्प की छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है।···यद्यपि इस आनन्द विहार का निर्माण बरमा की राजधानी में किया गया था, पर इसे एक भारतीय विहार ही माना जा सकता है।"

पगान (अरिमर्दनपुर) के चारों ओर का १०० वर्गमील का प्रदेश ऐसा है, जिसमें पुराने विहारों तथा मन्दिरों आदि के भग्नावशेष सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। अनुमान किया

गया है, कि जिन मन्दिरों आदि के ये अवशेष हैं, वे संख्या में १००० के लगभग थे। इनमें से बहुसंख्यक तो अब पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं, पर कुछ ऐसे भी हैं जो पर्याप्त रूप से सुरक्षित दशा में हैं। उन्हें देखकर यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है, कि आनन्द विहार के समान इनका निर्माण भी भारतीय वास्तुशिल्प के अनुसार किया गया था। इनका काल भी ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों का माना जाता है। पगान के अवेयदान और कुब्योविक विहारों के भित्तिचित्रों में बुद्ध और बोधिसत्त्वों के साथ-साथ ब्रह्मा, शिव, विष्णु, गणेश आदि को भी प्रदर्शित किया गया है, जिससे यह संकेत मिलता है, कि भारत के समान वरमा में भी धार्मिक समन्वय की सत्ता थी, और वहाँ के लोगों की वृत्ति भी सहिष्णुता की थी।

चौदहवाँ अध्याय

श्रीलंका

(१) सिंहल राज्य की स्थापना

वर्तमान समय में श्रीलंका एक पृथक् एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है। पर सांस्कृतिक दृष्टि से उसे भारत का एक भाग समझा जा सकता है। रामायण की कथा में रावण जिस लंका का राजा था, वह श्रीलंका ही थी, या उसकी स्थिति कहीं अन्यत्र थी, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लंका भारत का सबसे पुराना उपनिवेश है, और ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कई सदी पहले भारतीयों ने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया था। दीपवंश और महावंश नाम के पालि भाषा के दो ग्रन्थ हैं, जिनमें श्रीलंका का प्राचीन इतिहास संकलित है। महावंश की रचना छठी सदी में हुई थी, और उसके लेखक का नाम महानाम था। दीपवंश उससे दो सदी पुराना है, पर उसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इन ग्रन्थों द्वारा श्रीलंका के प्राचीन इतिहास को तैयार किया जा सकता है, यद्यपि इनमें बहुत-सी बातें ऐसी भी हैं जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं है।

श्रीलंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार लाट (गुजरात) देश का राजकुमार विजयसिंह अपने साथियों के साथ उसी साल लंका में उतरा था, जिस साल कि भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ था (४८३ ईस्वी पूर्व)। उस समय इस द्वीप को ताम्रपर्णी कहते थे। राजा अशोक के शिलालेखों में भी इसी नाम से इस द्वीप का उल्लेख किया गया है। विजयसिंह के पिता का नाम सिंहबाहु या सिंहल था। उसी के नाम से ताम्रपर्णी का 'सिंहल' नाम पड़ा। वर्तमान समय में इस द्वीप के बहुसंख्यक निवासी सिंहल हैं, और उनकी भाषा भी सिंहल कहाती है। पर इसका अधिक प्रसिद्ध नाम लंका या श्रीलंका ही है।

कतिपय विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है, कि कुमार विजयसिंह गौड़ देश (बंगाल) का निवासी था, और वह ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से जहाज द्वारा ताम्रपर्णी द्वीप गया था। इस मन्तव्य का आधार यह है, कि लंका की प्राचीन अनुश्रुति में विजयसिंह को 'लाल' का निवासी कहा गया है, और 'लाल' को 'राढ़' से मिलाकर यह मान लिया गया है कि विजयसिंह राढ़ देश से ताम्रपर्णी गया था। राढ़ की स्थिति बंगाल में थी। पर पालि भाषा के 'लाल' से जैसे राढ़ बन सकता है, वैसे ही 'लाट' भी बन सकता है, जो गुजरात का पुराना नाम था। अनुश्रुति के अनुसार विजयसिंह ने सूर्पारक (सोपारा) के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था, जो भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित था। अतः यह मानना अधिक युक्तिसंगत होगा, कि श्रीलंका में प्रथम भारतीय उपनिवेश को स्थापित करनेवाला कुमार विजयसिंह लाट (गुजरात) का निवासी था,

और सोपारा के बन्दरगाह से उसने लंका के लिये प्रस्थान किया था। विजयसिंह और उसके साथी लंका के उत्तरी समुद्रतट पर उतरे थे, और वहां उन्होंने तम्बपञ्ञि, उज्जैनी, उरुवेला आदि अनेक बस्तियां कायम की थीं। पांचवीं सदी ईस्वी पूर्व में लंका के मूल निवासी सभ्यता की आदि दशा में थे, और शिकार, मधु तथा मूल फल के सञ्चय से अपना निर्वाह किया करते थे। उनके कुछ हजार वंशज वर्तमान समय में भी लंका में हैं, जिन्हें 'वेद्दा' कहा जाता है। मूल निवासियों को परास्त करने में विजयसिंह को कोई कठिनाई नहीं हुई, और उस द्वारा वहां भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का श्रीगणेश कर दिया गया। पर विजयसिंह के साथ केवल पुरुष ही लंका गये थे। सन्तान की परम्परा के लिये उन्हें स्त्रियों की भी आवश्यकता थी। लंका की पुरानी अनुश्रुति के अनुसार समुद्रपार के एक राजा से विजयसिंह ने अनुरोध किया, कि एक हजार परिवारों को लंका में बसने के लिये भेज दिया जाए। राजा ने यह बात स्वीकार कर ली, और उसने जिन परिवारों को लंका भेजा, उनमें बहुत-सी कुमारियां भी थीं। विजयसिंह और उसके साथियों ने इन कुमारियों के साथ विवाह कर लिये। समुद्र पार के जिस राज्य से ये कुमारियां लंका गई थीं, उसकी स्थिति दक्षिणी भारत में ही रही होगी। इस प्रकार लंका में दक्षिणी भारत के लोगों का भी प्रवेश हुआ।

भारत के उपनिवेशों द्वारा लंका में अपने उपनिवेश स्थापित करने के सम्बन्ध में जिस अनुश्रुति का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसकी पुष्टि कतिपय प्राचीन अभिलेखों द्वारा भी होती है। लंका के उत्तरी तथा दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में कतिपय ऐसे उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुए हैं, जो आर्य भाषा परिवार की किसी पुरानी भाषा (हेलु या एलु) में हैं और जिन्हें लिखने के लिये एक ऐसी लिपि का प्रयोग किया गया है जो दूसरी-तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में प्रचलित भारतीय लिपि से मिलती-जुलती है। एक आर्य भाषा तथा भारतीय लिपि के पुराने अभिलेखों की उपलब्धि से यह स्पष्ट है, कि ईस्वी सन् के प्रारंभ होने से कुछ सदी पूर्व लंका में ऐसे लोग निवास करने लगे थे जो भारत की आर्य जाति से सम्बन्ध रखते थे। लंका की सिंहल भाषा का विकास उसी एलु या हेलु भाषा से हुआ है, जिसके अभिलेखों का हमने अभी उल्लेख किया है।

(२) बौद्ध धर्म का प्रचार

दीपवंश और महावंश में लंका का जो पुरातन इतिहास संकलित है, उसके अनुसार विजयसिंह के कोई सन्तान नहीं थी। अतः उसने लाट देश में अपने भाई को लंका आने और वहां की राजगद्दी संभालने के लिए लिखा। उसका भाई तो स्वदेश छोड़कर लंका नहीं आ सका, पर उसका पुत्र (विजयसिंह का भतीजा) पाण्डु वासुदेव लंका गया और विजयसिंह के पश्चात् वहां का राजा बना। उसकी तीन पीढ़ी बाद देवानांपिय तिस्स लंका के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह राजा अशोक का समकालीन था, और उसने मौर्य सम्राट् के पास विविध प्रकार के बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ एक दूतमण्डल भी प्रेषित किया था। इस समय तक लंका के लोग बौद्ध धर्म के सम्पर्क में नहीं आये थे। वहां इस धर्म का प्रवेश देवानांपिय तिस्स के समय में हुआ, और अशोक

के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा ने इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अशोक के समय में आचार्य मोग्गलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में बौद्धों की जो तीसरी संगीति (महासभा) हुई थी, उस द्वारा संघ के आन्तरिक मतभेदों को दूर कर विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए एक योजना भी तैयार की गई थी। इस योजना के अनुसार जिन-जिन देशों में प्रचारकों की मण्डलियाँ भेजी गई थीं, उनके नाम सामन्तपासादिका ग्रन्थ में विद्यमान हैं, और साथ ही वहाँ उन स्थविरों व आचार्यों के नाम भी दे दिये गए हैं, जिनके नेतृत्व में ये मण्डलियाँ प्रचार के लिए गई थीं। जो प्रचारक-मण्डली लंका भेजी गई थी, उसका नेता स्थविर महेन्द्र था और उसके साथ जो अन्य स्थविर वहाँ गये थे, उनके नाम इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल थे। महेन्द्र राजा अशोक का पुत्र था, और तीसरी बोध संगीति तक वह प्रव्रज्या ग्रहण कर बौद्ध भिक्षु बन चुका था। साथ ही, इस समय तक महेन्द्र की छोटी बहिन संघमित्रा भी भिक्षुव्रत ग्रहण कर चुकी थी।

लंका के राजा देवानांपिय तिस्स ने जो दूतमण्डल अशोक के पास भेजा था, उसका नेता तिस्स का भानजा महाअरिट्ठ था। पाँच मास तक यह दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। उसे विदा करते हुए अशोक ने महाअरिट्ठ द्वारा तिस्स के पास सन्देश भेजा —"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ, मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ, मैं संघ की शरण में चला गया हूँ। मैंने शाक्य मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धम्म तथा संघ के त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिए अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।" इधर तो अशोक का यह सन्देश लेकर महाअरिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर स्थविर महेन्द्र लंका में धर्मप्रचार के लिए अपने साथियों के साथ जाने को कटिबद्ध था। महेन्द्र ने अशोक की अनुमति से लंका जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों से मिलने का विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लग गये। महेन्द्र की माता देवी उन दिनों विदिशा में रह रही थी। वह अपने पुत्र से मिलकर बहुत प्रसन्न हुई। विदिशा में महेन्द्र अपनी माता के बनवाये हुए वैदिशगिरि महाविहार में ही ठहरा। विदिश से महेन्द्र सीधा लंका गया। वहाँ अनुराधपुर से आठ मील पूर्व की ओर जिस जगह वह उतरा, उसका नाम 'महिन्दतल' पड़ गया। अशोक के सन्देश को प्राप्त कर लंका का राजा तिस्स पहले ही बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग रखने लग गया था। जब उसे महेन्द्र के आगमन का समाचार मिला, तो वह उससे मिलने के लिए गया। महेन्द्र ने उसे चूलहत्थिपदोपम सुत्त का उपदेश दिया। उपदेश को सुनकर तिस्स ने चवालीस हजार मनुष्यों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी सहचारियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पड़ा। महेन्द्र ने तिस्स से कहा—' महाराज, हमें स्त्रियों को प्रव्रज्या देना विहित नहीं है। पाटलिपुत्र में मेरी बहिन संघमित्रा थेरी है, उसे बुलवाओ। महाराज, ऐसा पत्र भेजो, जिससे संघमित्रा बोधि (बोधगया के बोधिवृक्ष की शाखा) भी साथ लेती आये।" यह सुनकर राजा तिस्स ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व में एक

दूतमण्डल फिर पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे, संघमित्रा को लंका आने के लिए निमंत्रित करना और बोधिवृक्ष की एक शाखा को लाना। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से विमुक्त नहीं होना चाहता था, पर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति प्रदान कर दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानों के साथ सुवर्णनिर्मित कुठार से बोधिवृक्ष की शाखा काटी गई, और उसे सुरक्षित रूप से लंका पहुँचाने की व्यवस्था की गई। इस शाखा के लंका पहुँचाने का वर्णन लंका के बौद्ध ग्रंथों से विशद रूप से किया गया है। सम्मानपूर्वक लंका में बोधिवृक्ष को आरोपित किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह वृक्ष अब तक भी विद्यमान है। और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में एक है। राजा तिस्स ने संघमित्रा के निवास के लिए एक विहार बनवाया था, जो 'उपासिका-विहार' कहाता था। महेन्द्र के लिए भी एक पृथक् विहार का निर्माण कराया गया था। जब थेरी संघमित्रा लंका पहुँच गई, तो राजकुमारी अनुला ने पांच सौ राजकन्याओं तथा पाँच सौ अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ उससे प्रव्रज्या ग्रहण की।

महेन्द्र और संघमित्रा के शेष जीवन के विषय में महावंश में लिखा है—"उन्होंने सम्बुद्ध के सुन्दर धर्म, बुद्धवाक्य तदनुसार आचरण और निर्वाण आदि फलों की प्राप्ति का लंकाद्वीप में प्रकाश किया। लंका के लिए बुद्ध के समान स्थविर महामहेन्द्र ने लंका वासियों का बहुत-बहुत हित करके ८० वर्ष की आयु में···चैत्यपर्वत पर वर्षावास करते हुए आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन निर्वाण प्राप्त किया।···धर्म के कार्य और लोगों का हित साधन करती महासिद्धा, महामति संघमित्रा महाथेरी ७९ वर्ष की आयु में··· हत्थाल्हक विहार में रहती हुई परिनिर्वाण को प्राप्त हुई।" लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले इन भाई-बहनों की जब मृत्यु हुई, तो उस देश के राजसिंहासन पर राजा उत्तिय विराजमान थे। तिस्स की मृत्यु पहले हो चुकी थी। लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही है।

(३) लंका की प्रगति

देवानांपिय तिस्स के बाद जिन राजाओं ने सिंहल, ताम्रपर्णी या लंका पर शासन किया, उनके सम्बन्ध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। तिस्स की मृत्यु २०७ ई० पू० में हुई थी। उसके बाद उसका भाई उत्तिय राजा बना था, और उत्तिय के बाद उसके अन्य दो भाई। इनमें अन्तिम सूरतिस्स (१८७-१७७ ई० पू०) था, जिसके शासनकाल में दक्षिणी भारत के तमिल लोगों ने सिंहल पर आक्रमण कर उसके उत्तरी भाग को जीत लिया था। लंका के तमिल शासकों में एलार का नाम उल्लेखनीय है। वह एक न्यायकारी राजा था, और शासन करते हुए मित्र, शत्रु, स्वजन आदि में कोई भेद नहीं करता था। उसके न्याय के संबंध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उसके अपने पुत्र से अनजाने में गोहत्या हो गई थी, पर क्योंकि गोहत्या के लिए प्राणदंड का विधान था, अतः एलार ने उसे भी मृत्यु का दंड दिया। उसके न्याय की ऐसी ही अनेक कथाएँ शिलप्पदिकारम् सदृश तमिल ग्रंथों में विद्यमान हैं। पर तमिल लोग देर तक लंका में अपना शासन कायम नहीं रख

सके। दुट्ठगामणी (१०१-७७ ईस्वी पूर्व) नामक प्रतापी सिंहल राजा ने तमिलों को परास्त कर लंका में पुनः राजनीतिक एकता स्थापित की, और अनुराधपुर को फिर से अधिगत कर वहाँ से सम्पूर्ण देश का शासन किया। लंका के राजाओं में दुट्ठगामणी अत्यन्त प्रसिद्ध है। तमिल आक्रान्ताओं को परास्त कर जहाँ उसने लंका की राजशक्ति को पुनः स्थापित किया, वहाँ साथ ही बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के लिए भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उसी द्वारा लंका का सबसे बड़ा स्तूप रत्नमाल्य चैत्य बनवाया गया।

दुट्ठगामणी के बाद अनुराधपुर के राजसिंहासन पर जो राजा आरूढ़ हुए, उन का क्रमबद्ध इतिहास महावंश में विद्यमान है। पर इस ग्रंथ में इन सब राजाओं के नाम तक दे सकना असम्भव है। कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। राजा वट्टगामणी (२९-१७ ई० पू०) का शासनकाल बौद्ध धर्म के लिए विशेष महत्त्व का था। अब तक बुद्ध के उपदेश लेखबद्ध नहीं हुए थे। स्थविरों और भिक्षुओं के वे कण्ठस्थ रहते थे, और श्रुति परम्परा द्वारा शिष्य गुरु से उनका ज्ञान प्राप्त किया करते थे। पिछले वर्षों में तमिलों के जो आक्रमण लंका पर होते रहे थे, उनके कारण बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी संकट उत्पन्न हो गया था, और उनके लिए निश्चिन्त होकर बुद्धवचनों का स्मरण करते रहना सुगम नहीं रहा था। वट्टगामणी के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद लंका में एक घोर दुर्भिक्ष भी पड़ा, जिसके कारण भिक्षुओं के लिए अपना जीवन निर्वाह कर सकना भी कठिन हो गया। इस दशा में बुद्धवचनों की निरन्तर आवृत्ति करते हुए उनकी रक्षा भी कर सकना एक समस्या थी। जब दुर्भिक्ष की समाप्ति हो गई, तो भिक्षुओं ने यह विचार किया कि यदि भविष्य में फिर कभी ऐसा ही उपद्रव उठ खड़ा हो, तो शायद बुद्ध के वचन लुप्त ही हो जायेंगे। अतः उचित यह होगा, कि उन्हें लेखबद्ध कर दिया जाए। अनुराधपुर के महाविहार में भिक्षुओं का महासंघ एकत्र हुआ, और वहाँ विनय, सूत्र, अभिधर्म और उनकी टीकाओं (अण्टकथाओं) का पारायण किया गया। इसके पश्चात् मातले के समीप अलुलेना (गुहा) में जाकर श्रुतिपरम्परा से चले आते सम्पूर्ण बुद्धवचन को लेखबद्ध किया गया। पालि भाषा का जो लेखबद्ध त्रिपटक इस समय बौद्धों का प्रामाणिक धर्मग्रन्थ है उसने वट्टगामणी के समय में ही अपना वर्तमान लिखित रूप प्राप्त किया था। इसी काल में लंका के बौद्धों में कुछ मतभेद भी प्रादुर्भूत होने लगे। राजा वट्टगामणी ने अभयगिरि नाम के विहार का निर्माण कराया था। जिसे उसने तिष्य नामक भिक्षु को प्रदान कर दिया था। तिष्य का सम्बन्ध राजवंश के साथ था, और उसका व्यक्तिगत आचरण ऐसा था, जिससे अन्य भिक्षु असन्तुष्ट हो गए और उन्होंने उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया। पर तिष्य ने अभयगिरि विहार नहीं छोड़ा, और उसके बहुत-से शिष्य अन्य स्थानों से आकर वहीं निवास करने लगे। इसी समय भारत से कुछ बौद्ध भिक्षु लंका आए। ये वज्जीपुत्त (वात्सीपुत्रीय) सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और आचार्य धर्मरुचि के शिष्य थे। लंका में इन्होंने अभयगिरि विहार में आश्रय लिया और इनके सम्पर्क से तिष्य तथा उसके अनुयायियों ने बौद्ध धर्म का एक नया निकाय (सम्प्रदाय) स्थापित किया, जिसे 'धर्मरुचि निकाय' नाम दिया गया। इस सम्प्रदाय

ने मातले में लेखबद्ध हुए पालि त्रिपिटक के बजाय 'वैपुल्यपिटक' को अपने धर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। वैपुल्य पिटक महायान सम्प्रदाय में मान्य है। धर्मरुचि सम्प्रदाय अभयगिरि को केन्द्र बनाकर लंका में फलता फूलता रहा, और वहाँ के प्रधान बौद्ध संघ से उसके मतभेद तथा विरोध में भी वृद्धि होती गई। लंका के पुराने बौद्ध संघ का केन्द्र इस समय अनुराधपुर का महाविहार था, और धर्मरुचि निकाय का अभयगिरि। राजा वोहारिक तिस्स (२६६-२९१ ईस्वी) ने महाविहार के भिक्षुओं के प्रभाव में आकर अभयगिरि के सम्प्रदाय को दबा देने का प्रयत्न किया, और कुछ समय के लिए उसे सफलता भी प्राप्त हो गई। पर शीघ्र ही अभयगिरि के भिक्षुओं ने फिर सिर उठाया, और वे महाविहार के बौद्ध संघ के विरुद्ध प्रचार करने में तत्पर हो गए। इस स्थिति में राजा गोठाभय (३०९-२२) ने महाविहार का पक्ष लेकर धर्मरुचि निकाय की सत्ता को कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया, और उसके साठ स्थविरों को देश छोड़कर अन्यत्र चले जाने के लिए विवश किया। लंका से ये स्थविर दक्षिणी भारत गये, और वहाँ के बौद्धों के सम्मुख उन्होंने इन अत्याचारों की कथा प्रस्तुत की, जो राजा गोठाभय द्वारा वैपुल्यवादी (धर्मरुचि) निकाय पर किये जा रहे थे। इन्हें सुनकर संघमित्र नामक विद्वान् ने यह निश्चय किया, कि लंका जाकर वह इस स्थिति में सुधार करेगा। वह लंका चला आया, और उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर राजा गोठाभय ने उसे अपने राजकुमारों का शिक्षक नियुक्त कर दिया। गोठाभय के दो पुत्र थे, जेट्ठतिस्स और महासेन। इनमें महासेन संघमित्र से बहुत प्रभावित हुआ, और उनका श्रद्धालु भक्त बन गया। गोठाभय की मृत्यु के पश्चात् जेट्ठतिस्स लंका का राजा बना, पर वह केवल दस साल (३२३-३३) तक शासन कर सका। फिर महासेन अनुराधपुर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह संघमित्र के इतने अधिक प्रभाव में था, कि उसकी प्रेरणा से उसने महाविहार के भिक्षुओं को धर्मरुचि निकाय को अपना लेने का आदेश दिया। जब वे इसके लिए तैयार नहीं हुए, तो उन पर घोर अत्याचार किए गए। उसने महाविहार की सब सम्पत्ति जप्त कर ली, और उसे अभयगिरि विहार को प्रदान कर दिया।

यद्यपि लंका में मुख्यतया हीनयान सम्प्रदाय का प्रचार था, और महाविहार के भिक्षु इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर उसके साथ-साथ वैपुल्यवाद (धर्मरुचि) निकाय के रूप में महायान सम्प्रदाय भी वहाँ फल फूल रहा था। बौद्ध धर्म के इन दो प्रमुख सम्प्रदायों के विरोध ने लंका में कैसा उग्र रूप धारण किया हुआ था, इसका अनुमान राजा वोहारिक तिस्स और महासेन के इतिवृत्त द्वारा किया जा सकता है। महासेन के शासनकाल में वैपुल्यवाद का बहुत उत्कर्ष हुआ था, पर बाद में उसके प्रभाव में निरन्तर कमी आती गई। छठी सदी के अन्त में ज्योतिःपाल नाम का एक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य भारत से लंका गया, और वहां उसने वैपुल्यवाद सम्प्रदाय के दोषों का प्रतिपादन किया। इसी आचार्य के प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि लंका से महायान सम्प्रदाय की उस शाखा का लोप हो गया, जो धर्मरुचि या वैपुल्यवाद निकाय के रूप में वहाँ फल फूल रही थी। ५९८ ईस्वी में अभयगिरि विहार के भिक्षुओं ने महाविहार की

अधीनता स्वीकार करली, और वे वहाँ के महासंघ की व्यवस्थाओं तथा नियमों का पालन करने लगे।

पर लंका में हीनयान का मार्ग अभी पूर्णतया निष्कण्टक नहीं हुआ था। सातवीं सदी में भारत में बौद्ध धर्म के अन्य सम्प्रदाय का बीजारोपण हुआ था, जिसे वज्रयान कहते थे। आठवीं और नौवीं सदियों में वज्रयान ने बहुत उन्नति की, और वह महायान का प्रमुख सम्प्रदाय बन गया था। इस सम्प्रदाय में तन्त्र-मन्त्र को बहुत महत्त्व दिया जाता था, और सिद्धि प्राप्त करने के लिए अनेकविध गुह्य अनुष्ठान किये जाते थे। नौवीं सदी के प्रारम्भ में वज्रयान सम्प्रदाय का एक भिक्षु लंका गया, और अपने मत का प्रचार करने में उसने अच्छी सफलता प्राप्त की। वहाँ के राजा को भी वह अपने प्रभाव में ले आया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि लंका में वज्रयान के सूत्रों का पठन-पाठन होने लगा, और लोग तन्त्र-मन्त्र के साधन में तत्पर हुए। अनुराधपुर का महाविहार भी वज्रयान के प्रभाव से अपने को नहीं बचा सका। अनुराधपुर के भग्नावशेषों का उत्खनन करते हुए एक स्तूप के खण्डहरों में तेरह ताम्रपत्र मिले हैं, जिनपर वज्रयान के अनेक मन्त्र उत्कीर्ण हैं। ये ताम्रपत्र आठवीं-नौवीं सदी के हैं, जिससे यह सूचित होता है कि उस काल तक लंका में वज्रयान का भी प्रवेश हो गया था।

बौद्धों के पारस्परिक मतभेदों और विरोधों के कारण तो लंका में बौद्ध धर्म को क्षति पहुँच ही रही थी, पर सम्भवतः इससे भी अधिक क्षति उसे तमिल देश के आक्रमणों के कारण हुई। दक्षिणी भारत के तमिल राज्य लंका के पड़ोसी हैं, कुछ मील चौड़ा समुद्र ही उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करता है। तमिल (चोल) देश के महत्त्वाकांक्षी राजा अपने राज्य का विस्तार करते हुए बहुधा लंका पर आक्रमण करते रहते थे, और अनेक बार उन्हें अपने अभियानों में सफलता भी प्राप्त हुई थी। एलार द्वारा लंका के उत्तरी प्रदेशों में अपने तमिल राज्य की स्थापना का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसके बाद भी लंका पर चोलों (तमिलों) के आक्रमण होते रहे, जिन सबका उल्लेख करने का कोई विशेष उपयोग नहीं है। दूसरी सदी ईस्वी के अन्तिम चरण में गजबाहु या गजबाहुकगामणी (१७४-१९६ ईस्वी) अनुराधपुर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसने न केवल अपने सब विरोधियों का दमन कर लंका में राजनीतिक एकता स्थापित की, अपितु चोलदेश पर भी आक्रमण किया। दक्षिणी भारत में अग्रसर होते हुए वह तिरुचरापल्ली के समीप उरैयूर तक चला आया, जो उस समय चोल राज्य की राजधानी थी। वहाँ आकर उसने चोल देश के राजा के साथ सन्धि कर ली, जिसका सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि लंका में भी अनेक हिन्दू मन्दिरों का निर्माण किया गया। चोल देश के राजा तथा निवासी पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, और लंका के बौद्ध धर्म के। पर लंका में भी तमिल जाति के बहुत-से लोग बसे हुए थे, जिनका अपना राज्य भी उसके उत्तरी प्रदेशों में रह चुका था। ये सब पौराणिक धर्म को मानते थे। इसलिये गजबाहु ने जब चोलराज से सन्धि कर ली, और उनके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो गये, तो लंका

में हिन्दू मन्दिरों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो गया। पुराने समय के कतिपय हिन्दू मन्दिर या उनके अवशेष अब भी वहाँ विद्यमान हैं।

पर लंका और तमिल राज्य का सौहर्द्रपूर्ण सम्बन्ध देर तक कायम नहीं रहा। चोल सेनाओं ने शीघ्र ही फिर लंका पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये, और उनके कारण अनुराधपुर आदि के विहारों को क्षति भी पहुँचती रही। पर लंका पर दक्षिणी भारत से एक बहुत बड़ा आक्रमण नौवीं सदी के मध्यभाग में उस समय हुआ, जबकि सेन शीलमेघ (८२४-४४) अनुराधपुर के राजसिंहासन पर विराजमान था। यह आक्रमण पाण्डय देश के राजा श्रीमार श्रीवल्लभ द्वारा किया गया था। अनुराधपुर पाण्डय सेनाओं के सम्मुख नहीं टिक सका और उन्होंने उस पर कब्जा कर लिया। राजा सेन शीलमेघ के राजकोष में जो भी बहुमूल्य वस्तुएँ थीं, विहारों में सोने की जो मूर्तियाँ आदि थीं और वहाँ जो धन सम्पत्ति संचित थी, पाण्डय सेनाओं द्वारा वह सब अपने देश को ले जायी गई। सेन शीलमेघ ने पाण्डय राजा की अधीनता स्वीकार कर लेने में ही अपना हित समझा, और उसे अपना वशवर्ती बनाकर श्रीमार श्रीवल्लभ अपने देश को वापस लौट गया। पर शीघ्र ही लंका को अपने अपमान का प्रतिशोध करने का अवसर मिल गया। सेन शीलमेघ के उत्तराधिकारी सेन द्वितीय (८४४-८७९) के शासनकाल में पाण्डय देश के एक राजकुमार ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर लंका में आश्रय ग्रहण किया, और सेन द्वितीय से पाण्डय पर आक्रमण करने के लिए अनुरोध किया। लंका की सेना ने पाण्डय पर आक्रमण कर उसकी राजधानी मदुरा पर कब्जा कर लिया, और अनुराधपुर तथा अन्यत्र से जो बहुमूल्य वस्तुएँ,तथा सोने की बुद्धमूर्तियाँ आदि श्रीमार श्रीवल्लभ द्वारा पाण्डय देश ले जायी गई थीं, वे सब पुनः लंका वापस ले आयी गयीं। पर अनुराधपुर का जो विनाश श्रीमार श्रीवल्लभ द्वारा किया जा चुका था, उसकी क्षतिपूर्ति कर सकना सम्भव नहीं हुआ। यद्यपि पाण्डय देश को लंका द्वारा परास्त कर दिया गया था, पर इससे लंका बाह्य आक्रमणों के भय से मुक्त नहीं हो गयी। इस समय दक्षिणी भारत में चोल राज्य बहुत तेजी से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। उसके राजा परान्तक प्रथम (९०७-९५३) ने पाण्डय देश को जीतकर 'मदुरान्तक' और 'मदुरैकोण्ड' (मदुरा का विजेता) की उपाधियां ग्रहण की थीं। पाण्डय को जीतकर उसने लंका पर आक्रमण किया, और वहाँ के राजा उदय चतुर्थ को परास्त कर लंका के उत्तरी प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। इस आक्रमण में भी लंका के अनेक विहारों का ध्वंश हुआ। पर परान्तक देर तक लंका पर अपना कब्जा नहीं रख सका। इसी समय राष्ट्रकूटों ने उत्तर-पश्चिम की ओर से चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया, जिसका मुकाबला करने के लिये परान्तक को लंका से प्रस्थान कर देना पड़ा।

परान्तक प्रथम के उत्तराधिकारियों में राजराज प्रथम (९८५-१०१२) अत्यन्त प्रतापी था। पाण्डय और केरल पर अपने प्रभुत्त्व को भली-भाँति स्थापित कर उसने लंका को आक्रान्त किया, और उसके उत्तरी प्रदेशों को अधिगत कर उन्हें मुम्मुडी-चोलमण्डलम् नाम प्रदान किया। लंका के कतिपय ग्राम उस द्वारा तांजोर के हिन्दू मन्दिरों को दान के रूप में भी दे दिये गए। राजराज प्रथम के बाद राजेन्द्र

(१०१२-१०४४) चोल साम्राज्य का स्वामी बना। वह देश का सबसे प्रतापी राजा था, और उसके समय में चोल साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। राजेन्द्र केवल उत्तरी लंका से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने लंका के उन दक्षिणी प्रदेशों को भी जीत लिया, जो अब तक चोलों के अधीन नहीं हुए थे और जो वहाँ के राजा महेन्द्र पञ्चम (९७९-१०२७) के शासन में थे। लंका के राजकोष में जो बहुत-से अमूल्य रत्न संचित थे, राजेन्द्र उन सबको अपने देश ले गया और साथ में महेन्द्र पंचम की महिषी (पटरानी) को भी। महेन्द्र ने जंगल में भागकर अपनी जान बचायी थी, पर उसे भी पकड़ लिया गया और उसका शेष जीवन चोल राज्य में व्यतीत हुआ। राजेन्द्र द्वारा लंका के बहुत-से विहार भी नष्ट किये गए और उनकी सुवर्ण-मूर्तियों को चोल देश में ले जाया गया। क्योंकि अनुराधपुर को पहले ही ध्वस्त किया जा चुका था, अतः अब पोलन्नरुव को नई राजधानी बनाया गया, और राजेन्द्र ने वहीं से लंका का शासन किया।

यद्यपि लंका के राजा महेन्द्र पञ्चम को कैद करके चोल देश भेज दिया गया था, पर उसका पुत्र काश्यप अभी लंका में ही था। लंका के एक दक्षिणी प्रदेश में वह जीवन व्यतीत कर रहा था, और राजेन्द्र इस प्रयत्न में था कि उसे भी अपना वशवर्ती बना लिया जाए। इसीलिये उसने उसके विरुद्ध एक बड़ी सेना भी भेजी थी। पर काश्यप उसके हाथ नहीं पड़ा, और रोहण नामक स्थान पर निवास करते हुए वह अपने राजकुल की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करता रहा। पर चोल सम्राटों ने वहाँ भी उसे शान्तिपूर्वक नहीं रहने दिया। १०३९ ईस्वी में काश्यप की तो मृत्यु हो गई थी, पर उसके उत्तराधिकारियों पर चोल सेनाएँ निरन्तर आक्रमण करती रहीं और दक्षिणी लंका से जो भी धन-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती थी उसे लूट लेने में वे तत्पर रहीं। साथ ही, लंका के राजकुल के व्यक्तियों के राजमुकुटों को भी वे गेंद की तरह से उछालती रहीं। राजेन्द्र के उत्तराधिकारी चोल सम्राट् राजाधिराज (१०४४-१०५२) ने अपने एक शिलालेख में दावा किया है, कि उसने सिंहल (लंका) के चार राजाओं को राजमुकुटों से वंचित किया था। इन राजाओं के नाम विक्रमबाहु, विक्रमपाण्डय, वीरशिलामेघ और श्रीवल्लभ मदनराज थे। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्यारहवीं सदी में लंका पर चोल सम्राटों का प्रभुत्व भलीभाँति स्थापित था। ये सम्राट् पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, और बौद्ध धर्म के प्रति इनका विरोध भी प्रगट होता रहता था। पोलन्नरुव में एक शैव मन्दिर है जिसमें चोल सम्राट् राजेन्द्र प्रथम के अनेक शिलालेख विद्यमान हैं। सम्भवतः, यह मन्दिर चोलों द्वारा ही बनवाया गया था। पर लंका पर चोलों का प्रभुत्व देर तक कायम नहीं रहा। ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध में वहाँ के पुराने राजवंश के साथ सम्बन्ध रखने वाले एक वीर पुरुष ने अपने देश को चोलों की अधीनता से स्वतंत्र किया। इस प्रतापी पुरुष का नाम कीर्ति या विजयबाहु श्रीसंघ-बोधि था। चोलों के विरुद्ध उसने अनेक युद्ध किये, और अपने देश के स्वतंत्रता-संघर्ष में सहायता प्रदान करने के लिए बरमा के बौद्ध राजा अनिरुद्ध से भी प्रार्थना की। पर बरमी सेनाओं के लंका पहुँचने से पूर्व ही विजयबाहु चोलों को पराभूत करने में

समर्थ हो गया। लंका को स्वतन्त्र कर उसने पोलन्नरुव को अपनी राजधानी बनाया, और उसका नाम बदलकर विजयराजपुर कर दिया। लंका के इतिहास में विजयबाहु का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उसने न केवल अपने देश को स्वतन्त्र ही किया, अपितु बौद्ध धर्म की श्रीवृद्धि के लिये भी अनेक कार्य किये। चोलों के आक्रमणों से लंका के बौद्ध धर्म को बहुत क्षति पहुँची थी। बहुत-से विहार नष्ट हो गये थे, और बौद्ध धर्मग्रन्थ भी ध्वंस से नहीं बच सके थे। भिक्षु इतने कम रह गये थे, कि संघ के नियमों के अनुसार पांच का कोरम भी पूरा नहीं हो पाता था। इस दशा में विजयबाहु का ध्यान बरमा की ओर गया, जहाँ अनिरुद्ध का शासन था और बौद्ध धर्म जहाँ खूब फल-फूल रहा था। उसने अनिरुद्ध को धर्मग्रन्थ तथा भिक्षु भेजने के लिये लिखा, ताकि लंका में बौद्ध धर्म को पुन:स्थापित किया जा सके। अनिरुद्ध ने विजयबाहु की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उस द्वारा भेजे गये भिक्षुओं ने लंका आकर वहाँ के युवकों को नियमपूर्वक भिक्षुव्रत की दीक्षा दी। इस प्रकार लंका में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का सूत्रपात हुआ।

विजयबाहु के उत्तराधिकारियों में पराक्रमबाहु (११५३-११८७) बहुत प्रसिद्ध है। उसकी नौसेना ने भारत तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कम्बुज देश पर आक्रमण किये, और वहाँ लंका की विजयपताका फहराई। अपनी राजधानी पोलुन्नरुव (विजयराजपुर) में उसने कितने ही चैत्यों तथा विहारों का निर्माण करया। लंका की पुरानी राजधानी अनुराधपुर का भी उसने जीर्णोद्धार किया, और वहाँ भी अनेक नये विहार बनवाये। महायान सम्प्रदाय का वैपुल्यवाद निकाय अब तक लंका में विद्यमान था। उसे दबाकर महाविहार के प्रभाव को स्थापित किया गया। बौद्ध संघ पर भी इस राजा ने अपना नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। अयोग्य व्यक्ति भिक्षु न बन सके और भिक्षुओं की शिक्षा-दीक्षा भी भली भांति हुआ करे, इसके लिये उसने शासन की ओर से अनेक आदेश जारी किये। बौद्ध साहित्य को समृद्ध करने के लिये भी राजा पराक्रमबाहु ने प्रयत्न किया। उसके संरक्षण में स्थविर काश्यप के तत्वावधान में त्रिपिटक की अट्ठकथाओं पर कितनी ही महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गईं। पराक्रमबाहु के उत्तराधिकारी अयोग्य और निर्बल थे। उनके समय लंका में फिर अशान्ति और अव्यवस्था शुरू हो गई, और कोई ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं रह गया जो संपूर्ण देश में सुव्यवस्थित रूप से शासन कर सके। तेरहवीं सदी से सोलहवीं सदी तक लंका की यही दशा रही। इस समय तक पोर्तुगीज लोगों ने अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाकर एशिया के देशों में आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था। वे व्यापार से ही संतुष्ट नहीं रहे, अपितु लोगों को उन्होंने बलपूर्वक ईसाई बनाने का भी यत्न किया। १५५२ ईस्वी में लंका के राजसिंहासन पर भुवनैकबाहु विराजमान था। उसने पोर्तुगीजों के प्रति मैत्री का व्यवहार किया, पर पोर्तुगीजों ने भुवनैकबाहु की सौहार्द की नीति से अनुचित लाभ उठाया। भुवनैकबाहु के पुत्र धर्मपाल को उन्होंने ईसाई बना लिया, और उसका नाम दॉन जुवान रखा दिया। दरबार के बहुत-से प्रमुख व्यक्तियों को भी ईसाई बनाने में उन्होंने सफलता प्राप्त की। ऐसे समय

लंका के राजकुल के एक कुमार राजसिंह ने पोर्तुगीजों के विरुद्ध तलवार उठाई। पर वह भी बौद्ध धर्म का शत्रु था, क्योंकि भिक्षु उसके घोर कुकृत्यों तथा पापों को क्षमा करने को उद्यत नहीं थे। उसने स्वयं अपने पिता की हत्या कर दी थी, जिस पाप को बौद्ध संघ से क्षमा करवाना चाहता था। पोर्तुगीजों के समान राजसिंह ने भी भिक्षु संघ पर अत्याचार प्रारम्भ किए और विहारों तथा मन्दिरों को लूटना लंका में एक साधारण बात हो गई। भिक्षुओं ने जंगलों में भागकर जान बचाई। राजसिंह के उत्तराधिकारी विमलसिंह सूरी ने इस दशा में सुधार करने का प्रयत्न किया, पर पोर्तुगीजों के अत्याचार को वह नहीं रोक सका। वस्तुतः, सोलहवीं सदी के बाद लंका की राजशक्ति बहुत क्षीण हो गई थी, और देश की राजनीतिक एकता का अन्त होकर वहाँ अनेक राज्य कायम हो गये थे, जिनके राजा अपने उत्कर्ष के लिये विदेशी पोर्तुगीजों का पक्ष लेने में भी संकोच नहीं करते थे।

सत्रहवीं सदी के मध्य तक एशिया में पोर्तुगीजों की शक्ति क्षीण होने लग गई थी, और उनका स्थान डचों ने ले लिया था। १५५६ ईस्वी में उन्होंने लंका से भी पोर्तुगीजों को मार भगाया था। डच पोर्तुगीजों के समान अत्याचारी व धर्मान्ध नहीं थे। लंका के आर्थिक राजनीतिक जीवन पर उन्होंने अपना प्रभाव अवश्य स्थापित कर लिया था, पर धर्म में वे अधिक हस्तक्षेप नहीं करते थे। पोर्तुगीजों और राजसिंह के कारनामों के कारण लंका में बौद्ध संघ छिन्न-भिन्न हो गया था। उसे पुनः स्थापित करने का कार्य शरणंकर नामक एक युवा द्वारा किया गया। लंका में बौद्ध धर्म और संघ की दुर्दशा देखकर उसने निश्चय किया कि संघ की पुनः स्थापना की जाए। १७४७ ईस्वी में लंका के राजसिंहासन पर कीर्ति श्रीराजसिंह आरूढ़ हुआ था। शरणंकर के अनुरोध पर राजा कीर्ति श्रीराजसिंह ने अपने राजदूत इस प्रयोजन से सियाम भेजे, ताकि वे वहाँ से कुछ स्थविरों व भिक्षुओं को लंका में बौद्ध संघ की पुनःस्थापना के लिये आमन्त्रित करें। सियाम के राजा धम्मिक ने लंका के राजदूतों का अपनी राजधानी अयोध्या में स्वागत किया, और सियाम के बौद्ध संघ के संघराज की स्वीकृति से महास्थविर उपालि को दस भिक्षुओं के साथ लंका भेजा। १७५६ की आषाढ़ पूर्णिमा के दिन काण्डी (श्रीवर्धनपुर) में सियाम के भिक्षुओं द्वारा लंका के अनेक व्यक्तियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे भिक्षु बन गये। शरणंकर भी इनमें एक थे। इस प्रकार लंका में बौद्ध संघ की पुनःस्थापना हुई, और राजा कीर्ति श्रीराजसिंह ने शरणंकर को लंका के बौद्ध संघ का संघराज नियुक्त किया।

यद्यपि लंका में बौद्ध धर्म की पुनःस्थापना हो गई थी, पर उसकी राजनीतिक दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ था। वहाँ की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर अंग्रेज किस प्रकार लंका के स्वामी हो गये, इस पर प्रकाश डालना यहाँ सम्भव नहीं है। १८१५ ई० में लंका के अन्तिम राजा विक्रमराजसिंह को निर्वासित कर अंग्रेजों ने इस देश के शासन को अधिगत कर लिया था। बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध के बाद उसने स्वतन्त्रता प्राप्त की।

(४) लंका पर भारत का सांस्कृतिक प्रभाव

भौगोलिक दृष्टि से लंका भारत का ही अंग है। उसका प्राचीन इतिहास प्रायः वैसा ही रहा है, जैसा कि भारत के अन्य जनपदों या प्रदेशों का था। बौद्ध युग में काशी और कोशल, मगध और वज्जिसंघ, तथा वत्स और अवन्ति में जैसे युद्ध होते रहते थे; या मध्यकाल में राष्ट्रकूट और चालुक्य तथा पाल और गुर्जर-प्रतिहारों में जिस ढंग के संघर्ष होते रहते थे, प्रायः वैसे ही संघर्ष लंका के राजाओं के दक्षिणी भारत के चोल व पाण्डय राजाओं के साथ हुए। कभी चोल या पाण्डय राजा विजयी हुए और सम्पूर्ण लंका या उसके उत्तरी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए, और कभी लंका के राजा विजय-यात्रा करते हुए मदुरा तक आ पहुँचे। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भारत और लंका का घनिष्ट सम्बन्ध रहा। जहाँ तक लंका के राजनीतिक इतिहास का सम्बन्ध है, उसे प्रायः उसी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे कि भारत का इतिहास लिखते हुए चोल, पाण्डय व केरल राज्यों के इतिहास पर प्रकाश डाला जाता है।

लंका और भारत का सम्बन्ध केवल युद्धों तक ही सीमित नहीं था। लंका के राजा श्रीमेघवर्ण ने अपने शासन के नौवें वर्ष में अपने दो दूत गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त की सेवा में इस प्रयोजन से भेजे थे, ताकि वे गया में एक बौद्ध विहार बनवाने की अनुमति प्राप्त करें। यह विहार लंका के राजा की ओर से बोध गया में बनवाया गया था। लंका और भारत के राजाओं में विवाह-सम्बन्ध भी होते रहते थे,। लंका के राजा महेन्द्र श्रीसंघबोधि (९५३-६९) का विवाह कलिङ्ग (उड़ीसा) की राजकुमारी के साथ हुआ था। ऐसे ही अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश भारत के स्थविरों और भिक्षुओं द्वारा ही हुआ था। भारत से लंका जाने वाले बौद्ध विद्वानों की परम्परा चिर-काल तक कायम रही। पांचवीं सदी के प्रारम्भ में आचार्य बुद्धघोष भारत से लंका गए थे, और वहाँ उन्होंने पालि की अट्ठकथाओं को देखकर अपनी अट्ठकथाएँ लिखी थीं। तुर्कों के आक्रमण के कारण जब नालन्दा, विक्रमशिला सदृश बौद्ध अध्ययन के भारतीय केन्द्र नष्ट हो गए, तो उनके विद्वान् भारत छोड़कर अन्यत्र चले गये। पर दक्षिणी भारत में अभी बौद्ध विद्वान् विद्यमान रहे, क्योंकि वह तुर्कों द्वारा आक्रान्त नहीं हुआ था। इसलिए राजा पराक्रमबाहु (११५३-८७) के बाद जब लंका में फिर अव्यवस्था छा गई और भिक्षु परम्परा लुप्त हो गई, तो उसके एक उत्तराधिकारी ने भिक्षु संघ की पुनःस्थापना के लिए चोल देश से बौद्ध भिक्षुओं को बुलवाया और उन द्वारा फिर से लंका से संघ का पुनरुद्धार कराया। लंका की प्रधान भाषा सिंहल है, जो उसी प्रकार से आर्य भाषा परिवार की है, जैसे कि हिन्दी, बंगाली आदि हैं। वहाँ की धार्मिक भाषा पालि है, जो अशोक के समय में भारत की राजभाषा थी। बौद्ध धर्म के जिस साहित्य व धार्मिक परम्पराओं का भारत में विकास हुआ था, लंका में वही अब तक भी विद्यमान है।

भाषा, धर्म तथा साहित्य के अतिरिक्त लंका की कला पर भी भारत का प्रभाव

है। लंका की प्राचीनतम इमारतों में अनुराधपुर का स्तूप, महांग्राम, का तिष्य महाराम अभयगिरि विहार, महाविहार आदि विशेष महत्त्व की है। ये अब अपने मूल रूप में नहीं हैं, क्योंकि बाद के समयों में इनमें निरन्तर वृद्धि की जाती रही। इन सबका काल ईस्वी सन् से पहले का है। चौथी सदी में राजा महासेन ने जेतवनाराम का निर्माण कराया था, जो ऊंचाई में २५१ फीट है, और जिस चबूतरे पर वह बना है उसका क्षेत्र-फल चालीस हजार गज है। लंका के इन विहारों तथा स्तूपों का निर्माण भारतीय वास्तुकला के अनुसार हुआ है, और ये प्राय: उसी ढंग के हैं जैसे कि प्राचीन काल के भारतीय स्तूप और विहार थे। इनमें जो मूर्तियां हैं, वे अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड की मूर्तिकला के अनुसार निर्मित हैं। कोलम्बो के संग्रहालय में कतिपय ऐसी प्राचीन मूर्तियां भी हैं, जो भारतीय शिल्पियों द्वारा निर्मित प्रतीत होती हैं। जिन मूर्तियों का निर्माण लंका के स्थानीय शिल्पियों द्वारा किया गया था, उनमें भी उन्होंने भारतीय शिल्प तथा कला को ध्यान में रखा था। लंका में कतिपय पौराणिक हिन्दू मन्दिरों का भी उस काल में निर्माण किया गया था, जब कि वहां चोल राजाओं का आधिपत्य था। ये पोलोन्नरुव, कोटरगाम, कैन्डी और रत्नपुर में बनवाये गये थे। इन हिन्दू मन्दिरों में से कुछ वर्तमान समय में भी विद्यमान हैं, और शेष के खण्डहर इन स्थानों पर पाये गए हैं। आजकल जो मन्दिर वहां हैं, उनमें उसी प्रकार से गर्भगृह, अन्तराल, अर्ध मण्डप और मण्डप आदि हैं, जैसे भारतीय मन्दिरों में होते हैं। पांचवीं सदी में राजा काश्यप प्रथम ने सिंहगिरि में एक विशाल प्रस्तर दुर्ग का निर्माण कराया था। इस दुर्ग के ऊपर अनेक भवन हैं, जिनकी दीवारों तथा गलियारों में उसी प्रकार के भित्तिचित्र हैं, जैसे कि भारत में अजन्ता के गुहा-मन्दिरों में हैं। लंका के हिन्दू मन्दिरों के भग्नावशेषों में नटराज शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, विष्णु, लक्ष्मी, सूर्य, बालकृष्ण, हनुमान आदि की कितनी ही मूर्तियां मिली हैं, जो ताम्र या कांस्य से निर्मित हैं। ये सब हिन्दू मूर्तिकला के अनुसार हैं। भारत की गुप्त और पल्लव शैलियों में निर्मित ये मूर्तियां लंका में भारत के सांस्कृतिक प्रभाव को निरूपित करती हैं।

115°

अङ्कोर

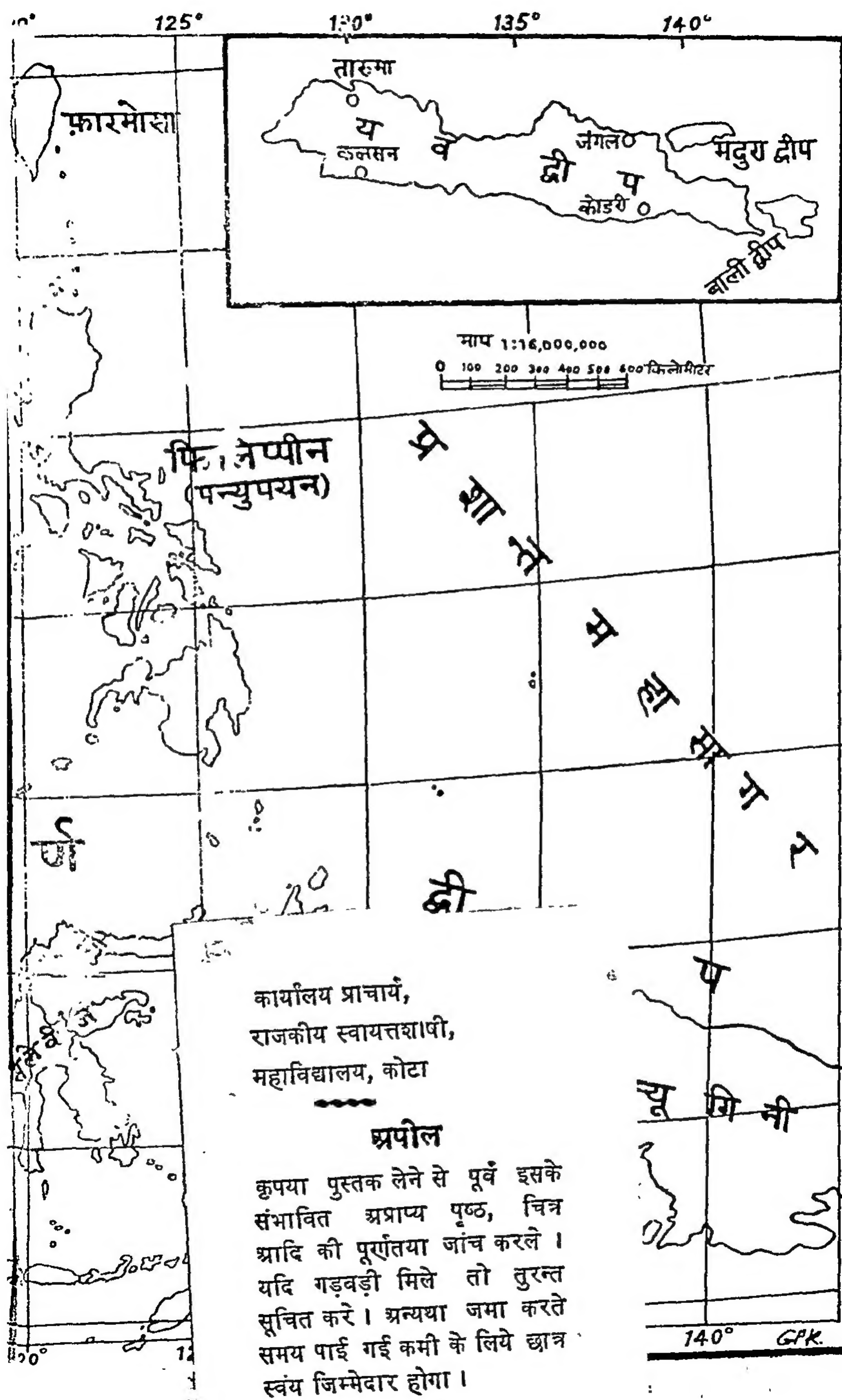
कटाह

धर्माश्रम

जाम्बी

श्रीविजय

य व द्वीप


125°
135°
140°
तारुमा
फ़ारमोसा
य
व
द्वी
प
जंगल
मदुरा द्वीप
कोडरी
बाली द्वीप
माप 1:16,000,000
0 100 200 300 400 500 600 किलोमीटर
(पन्युपयन)
न्यू गि नी
140°
GPK.